प्रकाशक—
'चाँद' कार्यालय,
इलाहाबाद ।

मुद्रक—
पण्डित रामप्रसाद वाजपेयी,
कृष्णा-प्रेस,
हिवेट रोड, प्रयाग ।

❀ श्रीश्रीजगदम्बिकायै नमः ❀

विनस्यो विषम-विषाद-तम,
हुलस्यो हिय-जलजात
प्रकट्यो पुण्य-प्रमोद-तम,
मंगल-मधुर-प्रभात ।

"हृदयेश"

मंगल प्रभात

प्रथम परिच्छेद

अनाथ भाई-बहिन
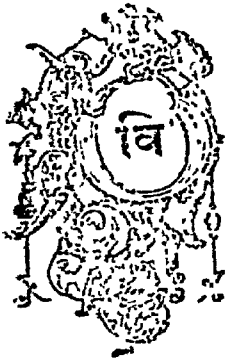
विश्वास धर्म की ज्योतिर्मयी आत्मा है। आपत्ति और अभाव की प्रज्वलित अग्नि के बीच में स्थित होकर वही मुस्करा सकता है जिसका सरल-सुन्दर हृदय बाल-भक्त प्रह्लाद के आलोकमय मनोमन्दिर की भाँति, इसी विमल विश्वास की मधुर श्री से विलसित हो। एक साधारण खेल के समान यह सरल बात नहीं है; यह तपोमय त्याग की कठोर साधना है। कैसी भी बुरी परिस्थिति हो, कैसी भी भयंकर विपत्ति हो, पर उन्हें जगदीश्वरी की कल्याणमयी इच्छा का मङ्गल विधान मान कर शान्ति और धैर्य्य के साथ, स्थिर गति से सत्पथ पर विहार करते रहना किसी विशाल हृदय वाले का काम है; साधारण जन तो उनके स्वरूप की कल्पना मात्र से चञ्चल होकर रोने लगता है और कभी कभी तो वह इतना भयभीत हो जाता है कि

वह आत्मघात करके इस विश्व को रङ्गभूमि को ही परित्याग कर देता है। "महामाया की मङ्गलमयी व्यवस्था की जय हो"— इस महा-मन्त्र को जो संयम और विश्वास के द्वारा सिद्ध कर लेता है, वह चाहे विद्वान् हो या मूर्ख, राजा हो या रंक, ब्राह्मण हो या शूद्र, उसका पवित्र आसन बहुत ऊँचा होता है और उस पर अपूर्व महिमा के साथ आसीन होकर वह विश्व की श्रद्धामयी पूजा को अङ्गीकार करता है। वह वास्तव में विश्वेश्वर की किसी व्यवस्था का भाष्य करने के लिये देवदूत बन कर विश्व की गोद में अवतीर्ण होता है, वह दोनों के प्रेम और विश्वास का पवित्र पात्र होता है।

बसन्तकुमार की अवस्था इस समय लगभग २१ वर्ष की है। सुन्दर गौर वर्ण है; तेजोमयी मधुर कान्ति है; परिपुष्ट बलिष्ठ शरीर है; परन्तु उसके मुखमण्डल पर एक प्रकार की गम्भीरता की छाया छाई रहती है। यद्यपि वह यौवन-युग के प्रथम चरण में प्रवेश कर चुका है पर स्वस्थ युवकों में जो एक प्रकार का उच्छृङ्खल-चाञ्चल्य इस समय उत्पन्न हो जाता है, बसन्तकुमार को उसकी छाया तक नहीं छू गई थी। हमारे कहने का तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि उसका यौवन-वन बसन्त-श्री की शोभा से विलसित हो रहा था, तथापि उनके मुख पर शान्ति-सुन्दर गम्भीरता की स्निग्ध छाया विराजती रहती थी। बसन्तकुमार सन्यास-यौवन का दैदीप्यमान चित्र था।

इस गम्भीरता का कारण था। बसन्तकुमार धनी कुल का प्रदीप था। उसका बाल्यजीवन आनन्द और सुख से व्यतीत

हुआ था। माता-पिता की आँखों का वह तारा था। विशाल सम्पत्ति का वह एक मात्र उत्तराधिकारी था। प्रेममयी जननी और वात्सल्यमय जनक की आनन्द और आशा का वह सङ्गम-क्षेत्र था; माता की मधुर सुन्दरता और पिता की तेजोमयी शक्ति के सम्मिलित सार का वह साकार स्वरूप था। किन्तु अभी वह बाल्य-वन की सीमा को पार करके किशोर-कानन में प्रविष्ठ हुआ ही था कि सहसा उसका सौभाग्य-सूर्य्य अस्त हो गया। उसे अनाथ और असहाय बना कर उसके माता पिता सहसा तीन महीने के अन्तर से इस असार संसार को छोड़ कर अक्षय स्वर्गधाम को प्रस्थान कर गये। चलते चलते वे उस असहाय बालक के कोमल हाथों में एक नौ वर्ष की किशोरिका को सौंप गये। बालक वसन्त इस मत्सरमय विश्व में अनाथ और आश्रयहीन होकर अपने चारों ओर घोर अन्धकार देखने लगा; उस अन्धकार के बीच में वह भय-विह्वल होकर बड़े करुण शब्दों में आदि-माता को गुहार उठा। जगज्जननी ने उसके हृदय को इस दारुण विपत्ति को सह सकने के योग्य शक्ति प्रदान की।

पर विपत्ति कभी अकेली नहीं आती है। कुछ तो उसके पिता पर ऋण था ही और कुछ लोगों ने झूठे दस्तावेज़ बना कर उस बालक के शेष अवलम्ब को भी उससे छीन लिया। बालक वसन्त, जो एक दिन सोने के कटोरे में दूध पीता था और चाँदी के खिलौने से खेला करता था, एक एक पैसे को तरसने लगा! इस असहाय अवस्था में उसको किसी ने आश्रय नहीं दिया! वह अपनी ९ वर्ष की कोमल बहिन को लेकर अनेक बन्धु-

बान्धवों के पास चार पग पृथ्वी और दो मुट्ठी अन्न की भीख माँगने के लिये गया पर भीख मिलना तो दूर, उसे सहानुभूति के दो शब्द भी सुनने को नहीं मिले। जो महीनों तक उसके पिता के जीवित-काल में उसके घर पर अतिथि के रूप में ठहर कर अपने विशाल उदर को अनेक स्वादिष्ठ भोजनों के द्वारा आवश्यकता से अधिक परिपूर्ण किया करते थे; उन्होंने, उसके पिता के उन नीच मित्रों ने, उन अनाथ किशोर और किशोरी को एक समय भी भोजन नहीं दिया! बेचारा बालक इस अभाव और आपत्ति के बीच में अत्यन्त व्याकुल हो उठा। परन्तु जब समस्त स्वार्थी संसार किसी अनाथ की रक्षा करने से मुँह मोड़ लेता है, तब स्वयँ मातेश्वरी उस अनाथ अनाश्रित अभागे की सहायता करती हैं—वे स्वयं अपने अञ्चल से उसके आँसू पोंछ कर उसकी शान्ति की मधुर व्यवस्था करती हैं। सच पूछिये तो वे संसार को इस बात का अवसर देती हैं कि वह उस अनाथ की सहायता करके अपने कर्तव्यपालन के साथ साथ अक्षय-पुण्य की भी उपलब्धि करे पर जब यह प्रमादी विश्व अहंकार और आलस्य से उद्भ्रान्त होकर अपने कर्तव्य-पथ से स्खलित हो जाता है; तब वे, संसार और निखिल सृष्टि को धारण करने वाली मातेश्वरी उसे अपना मधुर प्रश्रय प्रदान करती हैं। वे उस अनाथ और अनाश्रित के हृदय में एक ऐसी दिव्य शक्ति उत्पन्न कर देती हैं कि जिसके अक्षय बल से बलिष्ट होकर वह अभागा अभाव और आपत्ति का उपहास करने में सक्षम हो जाता है। वसन्तकुमार भी उसी दिव्य शक्ति के पुण्य प्रभाव

से स्फूर्तिमय होकर उस आकस्मिक वज्रपात और दरिद्रता को निर्विकार होकर सहन करने में समर्थ हुआ। अभाव और आपत्ति उसके लिये मङ्गलमय तप का कारण बन गई और उस १६ वर्ष के किशोर ने आदि-जननी की करुणा पर अविचल विश्वास प्रस्थापित करके इस विशाल विश्व के कर्म-क्षेत्र में पदार्पण किया। उसके उत्तप्त हृदय में धीरे धीरे शान्ति की शीतल छाया परिव्याप्त होने लगी और उसका प्रतिबिम्ब मधुर गम्भीरता के स्वरूप में उसके मुख-दर्पण पर प्रतिफलित होने लगा।

उसने अपनी छोटी बहिन को भी सान्त्वना दी। तारों भरी रात में एवं सुगन्धि भरे प्रभात में अपने पास बैठा कर उसने उसे मधुर वाणी में समझाया कि यह सारा विश्व जिस आदि-शक्ति के कटाक्ष मात्र से परिचालित होता है, उसकी मंगलमयी इच्छा के आगे प्रणिपात करके, अपने अभाव और आपत्ति को शान्ति-पूर्वक सहन करना ही हम दोनों का कर्तव्य है। उसने उस सुकुमार बालिका के कोमल हृदय पर अपने निरन्तर उपदेशों से यह बात भली भाँति अङ्कित कर दी कि जो अनाथों की जननी, अनाश्रितों को अवलम्ब देने वाली एवँ अनाहतों को कलेजे से लगा लेने वाली हैं, वही हमारी रक्षा करेगी, वही हमारी सुध लेगी और वही अपने हाथों से हमारे लालन-पालन की समुचित व्यवस्था करेगी। उसी के श्रीचरणों के प्रताप से हम इन अभाव और आवश्यकताओं के अत्याचार से अपने आप को बचा सकेंगे। बालिका की अवस्था तो नौ ही वर्ष की थी पर उसकी प्रतिभा अलौकिक थी। वह चाँदनी भरी रात में और

और आलोक भरे प्रात में एकान्त चित्त से अपने भाई के मधुर सुन्दर उपदेशों को सुना करती थी और बड़े मनोयोगपूर्वक उन पर विचार करती थी। इसी का यह शुभ परिणाम हुआ कि उसका विमल मनो-मन्दिर भी उसी विश्वासात्मक धर्म की उज्ज्वल ज्योति से जगमगा उठा। चैत्र की चाँदनी की भाँति उसके हृदय में शान्ति की धारा प्रवाहित होने लगी।

बसन्तकुमार के गुरु एक सन्यासी थे। उनका विशद् परिचय हम अगले परिच्छेद में देंगे। उन्हीं के आग्रह से वसन्तकुमार ने अपनी जन्म-भूमि को छोड़ देना ही उचित समझा। जब प्रभात के प्रथम प्रकाश में वह अपनी ६ वर्ष की सहोदरा को लेकर अपनी उस प्यारी जन्म-भूमि से विदा हुआ, उस समय उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। एक के उपरान्त दूसरी स्मृति उसके मानसिक लोचनों के सामने नाचने लगी। जहाँ की पवित्र धूलि से उसका शिशुत्व धूसरित हुआ था, जहाँ के फूल और फलों को तोड़ने में ही उसका बाल्यकाल बीता था, जहाँ की निकुञ्जों और वन-वीथिकाओं में उसका सुन्दर कैशोर गाते गाते व्यतीत हुआ था और जहाँ के प्रभात के उज्ज्वल आलोक में उसने अपने शरीर पर पहिले पहिल यौवन को विहार करते हुये देखा था—वही उसकी रङ्गमयी रङ्गभूमि उससे छूटी जाती है। पर दूसरा और कोई उपाय नहीं था। एक बार गाँव की अन्तिम सीमा पर खड़े होकर उसने फिर अपनी मातृभूमि को सजल नयनों से देखा। उसने वहाँ की मिट्टी उठा कर मस्तक पर लगाई; भक्ति भाव से अपने पूर्वजों की ओर अपनी मातृ-भूमि का अभिवादन किया।

हृदय पर पत्थर रख कर, आँखों के आँसुओं को वरवश रोक कर एवँ एक ठण्डी साँस लेकर वसन्तकुमार ने सहोदरा सहित वहाँ से प्रस्थान किया।

आज इस बात को लगभग ५ वर्ष हो गये। अपने गाँव से चल कर वह रङ्गपुर में आया और उसके गुरु सन्यासी देव की कृपा से वहाँ के ज़िमींदार ने उसे अपने पास रख लिया। उसकी सौम्य-मूर्ति को तथा उसके सुन्दर परिपुष्ठ शरीर को देख कर एवँ उसकी सरल मधुर वाणी को सुन कर ज़िमींदार परम प्रसन्न हुये। वसन्तकुमार को उर्दू और हिन्दी का पर्याप्त ज्ञान था, संस्कृत में भी कुछ उसकी गति थी। इसीलिये ज़िमींदार ने लिखने पढ़ने के काम पर २०) मासिक पर उसको नियुक्त कर दी। ज़िमींदार भी ब्राह्मण थे, वसन्तकुमार भी ब्राह्मण कुमार था, इसीलिये ज़मींदार उसके प्रति और भी सहानुभूति प्रकट करने लगे। धीरे धीरे उसके सत्य व्यवहार का, उसके विनीत सम्भाषण का एवँ उसके वीर कृत्यों का प्रभाव ज़िमींदार के हृदय पर पड़ने लगा और वे उसे अपने पुत्र के समान प्रेम करने लगे। वसन्तकुमार के दुर्भाग्य की घटा धीरे धीरे छिन्न भिन्न हो गई।

यद्यपि ज़िमींदार ने वहुत कुछ चाहा तथा आग्रह भी किया कि वसन्तकुमार उनके ही घर पर रहे परन्तु वसन्तकुमार ने यह स्वीकार नहीं किया। उसने पृथक् ही रहना अङ्गीकार किया। ज़िमींदार ने भी उसकी स्वाधीन प्रकृति का परिचय पाकर फिर विशेष आग्रह नहीं किया। गाँव के किनारे पर हरे हरे खेतों के बीच में उसके लिये एक सुन्दर मकान बनवा दिया। मकान क्या

था, वह वास्तव में बाल-ब्रह्मचारी की कुटी थी। अपनी छोटी बहिन को लेकर बसन्तकुमार उसी में रहने लगा।

किन्तु जैसा हम पहिले कह चुके हैं 'एक के उपरान्त दूसरे वज्र-प्रहार ने बसन्तकुमार के हृदय में संसार के प्रति अरुचि उत्पन्न कर दी थी।' उनकी बात जाने दीजिये जो हृदय-मन्दिर में हाहाकार करनेवाली प्रवृत्ति की छाया को अपने मुख पर प्रकट होने से रोक देते हैं पर जो सरल हैं, जिनका विमल मुख उनके उज्ज्वल हृदय का दर्पण है उनके मनोमन्दिर में विहार करने वाली प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब उनके वदन-मण्डल पर प्रतिफलित होता ही है। बसन्तकुमार के सौम्य-सुन्दर वदन मण्डल पर भी इसी लिये एक प्रकार की ऐसी गम्भीरता की स्निग्ध छाया परिव्याप्त हो गई थी जैसी उन तपोमय ऋषियों के मुखमण्डल पर विलसित होती है, जो इस असार संसार में कमल के समान निर्लिप्त होकर भगवच्चिन्तन में तल्लीन रहते हैं। वास्तव में इन विपत्तियों ने बसन्तकुमार को निर्विकार कर्मयोगी बना दिया था। वह अपने कर्तव्य का परिपालन करते हुये भी संसार में प्रलिप्त नहीं था। यद्यपि वह इस मत्सरमय जगत में निवास करता था, परन्तु उसकी तपोज्ज्वल आत्मा किसी और आनन्दमय लोक में विहार करती थी।

वह एकान्त-सेवी था। अपनी नौकरी के कर्तव्य के परिपालन करने के लिये उसे अवश्य ही जनसमुदाय के बीच में, स्वार्थ और संसार के कोलाहल में, विचरना पड़ता था किन्तु ज्योंही वह अपने काम से अवसर पाता त्योंही वह प्रकृति के निर्जन नीरव

निकुञ्ज में बैठ कर बड़े उल्लास के सहित उस दिव्य माधुरी देखा करता था। वह बहुत कम हँसता था—यों कहिये, कभी वह भूले भटके ही हँस देता था, सो भी लगभग एक क्षण के लिये। हँसी उसके अधर पर आविर्भूत होते ही अदृश्य हो जाती थी। मेघ-मण्डल के हृदय में लीला करने वाली दामिनी के विलास से भी जल्दी उसका हास्य विलीन हो जाता था। हँसी के उपरान्त उसके मुख-मण्डल पर पहिले की अपेक्षा दुगनी गम्भीरता छा जाती थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो उसे उस हँसी के लिये दुःख हुआ है, मानो वह उस हँसी के आविर्भाव के मूल में अपनी निर्बलता का अनुभव करता है। उस गम्भीरता के गम्भीर सागर में उसकी क्षणिक हँसी विलीन हो जाती थी। उसका मुख-मण्डल फिर विकार शून्य प्रशान्त सागर के समान गम्भीर हो जाता था।

वह अद्भुत प्रकृति का युवक था। सारा गाँव उस पर मुग्ध था, पर वह किसी से खुल कर बातचीत नहीं करता था। उसके उज्ज्वल निष्कलंक चरित्र की प्रशंसा थी, सो तो थी ही; किन्तु उसकी सब से बड़ी प्रसिद्धि इस बात में थी कि वह सबके दुःख में दुखी होता था, पर वह किसी के सुख में सुखी नहीं होता था। किसी के दुःख में सहायता करने के लिये वह बिना बुलाये उपस्थित हो जाता था और अपना समुचित कर्तव्य पालन करके धन्यवाद ग्रहण किये बिना ही अन्तर्हित हो जाता था। वह अपने भावों की धारा में सदा निमग्न रहता था। आज ५ वर्ष में किसी ने उसे कभी क्रोधित दशा में नहीं देखा। हाँ, एक बार जब

रंगपुर में डाका पड़ा था, तब अवश्य ही उसने उस अन्धकार-मयी रात्रि में, बाल-रुद्र के सामान, बड़ी वीरता और उल्लास के साथ डाकुओं से युद्ध किया था—उस दिन उसका वह प्रचण्ड रणोल्लास, भीषण युद्ध कौशल एवँ अद्भुत साहस देख कर गाँव वाले ही नहीं, डाकू तक चमत्कृत हो गये थे! जनता के आशीर्वाद, धन्यवाद, एवँ जयजयकार की प्रतीक्षा न करके वह डाकुओं के पलायन करते ही अन्तर्ध्यान हो गया था।

वसन्तकुमार का यही संक्षिप्त परिचय है। यथा समय उसकी सहोदरा की सहज गुणावली को भी हम गुम्फित करेंगे। इस समय हम इतना ही कहेंगे कि वसन्तकुमार की सौम्य गम्भीर मूर्ति पर जो दिव्य शोभा विलसित होती थी, उसे देख कर सहज ही में तरुण सन्यास की कल्पना का रहस्य समझ में आ जाता था। वे दोनों भाई-बहिन संन्यास और स्वर्ग की शोभा के दो साकार चित्र थे।

सन्यास की शोभा और कर्म की कान्ति—यह दोनों, गङ्गा-यमुना की भाँति, जिस पवित्र स्थल पर परस्पर आलिङ्गन करती हैं, उसका पुण्य-मधुर दर्शन प्राप्त करके, कवि की कल्पना, साधक की साधना एवँ भक्ति की भावना, तीनों ही, स्फूर्तिमयी होकर, अनन्त की आनन्दमयी श्री से उद्दीप्त हो जाती हैं। उसी अवस्था का नाम है मधुर सुषुप्ति!

दूसरा परिच्छेद

श्री श्री गुरुदेव

हे कितनी ही अन्धकारमयी रजनी हो और उस समय चाहे कैसी भी घनघोर मेघमाला आकाश-मण्डल पर छाई हुई हो, पर फिर भी, समय समय पर, प्रकाश की एक क्षीण रेखा के मधुर दर्शन हो ही जाते हैं। वसन्त-कुमार के वदन-मण्डल पर जो गम्भीरता छाई रहती थी, उसको प्रभात सूर्य्य की प्रथम किरण की भाँति, आलोकित करती हुई कभी कभी प्रफुल्ल हास्य की उज्ज्वल रेखा भी नृत्य करने लगती थी। उसका गम्भीर मुख-मण्डल, उषा के चारु-दर्शन से मुस्कराने वाले गुलाब की भाँति; आनन्द और उल्लास की धाराओं से कभी कभी परिप्लावित हो जाता था। परन्तु कब? किस लिये? सो भी सुनिये।

हम पहिले ही कह चुके हैं कि एक सन्यासी वसन्तकुमार के गुरुदेव थे। सत्ययुग के वैदिक ऋषियों की भाँति उनका हृदय-देश भी आनन्द, त्याग और दया की त्रिवेणी से सदा परि-प्लावित होता रहता था। कलिकाल में ऐसे महर्षियों के पुण्य-दर्शन अत्यन्त दुर्लभ हैं, उनके द्वारा दीक्षित हो जाना तो अत्यन्त

सौभाग्य का विधान एवं परम पुण्य का मधुर फल है। जब कभी वे रंगपुर आते थे, उस समय वसन्त के आनन्द का पारावार नहीं रहता था। वह आन्तरिक उल्लास से एक बार ही विभोर हो जाता था। उस समय उसके गम्भीर वदन मण्डल का प्रत्येक परिमाणु दिव्य अनुभूति की आभा से देदीप्यमान हो जाता था। अपने कर्तव्य का परिपालन तो वह करता ही था पर जिस गम्भीर उदासीनता के साथ वह अपने लौकिक व्यापारों को सम्पन्न करता था, वह गुरु दर्शन से, ऐन्द्रजालिक क्रिया की भाँति, सहसा विलुप्त हो जाती थी और वह शान्तिमयी गम्भीरता आनन्द-लहरी में परिणत हो जाती थी। कोमल पल्लवों की छाया में खिन्न वदन होकर विकसित होने वाला गुलाब जैसे सहसा शिशिर-सूर्य्य के उज्ज्वल आलोक में निकल कर हँसने लग जाय, कवि की उपमा-सुन्दरी अलंकारमयी वाणी में हम वसन्तकुमार के उस गम्भीर शोभा के हास्यमय परिवर्तन को इस प्रकार परिव्यक्त कर सकते हैं।

वसन्त के गुरुदेव की अवस्था लगभग ६० वर्ष की थी परन्तु उनके परिपुष्ट कलेवर पर, धवल केश कलाप के अतिरिक्त, वृद्धत्व का और कोई लक्षण लक्षित नहीं होता था। उनके तेजोमय मुखमण्डल पर पूर्ण यौवन की सी प्रफुल्ल कान्ति विलसित होती थी। वे परिव्राजक थे; एक स्थान पर वे कभी नहीं रहते थे और न उनके निवास का कोई नियम ही निर्धारित था। वर्षा के चार मासों में अवश्य वे एक ही स्थल पर रहते थे परन्तु इसका कोई निश्चय नहीं था कि वे चातुर्मास कहाँ पर व्यतीत करेंगे। एक

बार यदि चातुर्मास उन्होंने रंगपुर में व्यतीत किया, तो दूसरी बार महेशपुर में और तीसरी बार ललितपुर में। और ऋतुओं में कब तक कहाँ ठहरेगें, इसका किसी को पता नहीं रहता था, स्वयँ वे भी पहिले से कोई निश्चय नहीं करते थे। आज ज्योत्स्नामयी रात्रि में वे दिव्य उपदेश कर रहे हैं,पर कल प्रभात-काल होते न होते वे अन्तर्हित हो जा सकते हैं। किन्तु जहाँ वे पहुँचते थे, वहाँ की जनता की सब प्रकार से सेवा करने में वे कभी पराङ्मुख नहीं होते थे। उनका यह मत था कि देश-हित, समाज-हित एवँ आत्म-हित का सत्य सुन्दर एवँ पुण्य—मधुर उपदेश देना प्रत्येक सन्यासी का प्रमुख कर्तव्य है, संसार के कठोर कर्तव्य क्षेत्र से पलायन करके गम्भीर वन-प्रदेश में छिप कर बैठना कर्तव्य-च्युत होना है। वे दुखी की सेवा ही को सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म मानते थे। साथ ही साथ, वे उद्भट विद्वान् थे। वेद के वे पण्डित थे, शास्त्रों में उनकी पूर्ण गति थी। संसार की और भी अनेक भाषाओं और उनके साहित्य से भी वे पूर्णतया परिचित थे। अंग्रेज़ी साहित्य पर उनका अपूर्व आधिपत्य था; समस्त भारतीय भाषाओं के तो वे पूर्ण ज्ञाता थे ही। अंग्रेज़ी जाननेवालों का यह कहना है कि जिस समय वे पूर्वीय और पाश्चात्य दर्शनों की तुलनात्मक समालोचना करते हैं उस समय उनके मुख से ऐसी मधुर सुन्दर एवँ अलंकारमयी भाषा का प्रवाह विनिर्गत होता है कि उसे सुन कर शिष्यगण और जिज्ञासु-जन आनन्द और विस्मय से विमुग्ध हो जाते हैं। फ़ारसी और अरबी साहित्य पर भी उनका

अपार अनुराग है, विश्व के अनेक विख्यात विद्वानों से उनका परिचय है और समय समय पर वे किसी गहन दार्शनिक विषय पर स्वामी जी की सुन्दर सम्मति को प्राप्त करके कृत-कृत्य होते हैं। एक बार वे समस्त विश्व की यात्रा भी कर चुके हैं। संसार के समस्त धर्मों को भगवत्प्राप्ति के विभिन्न मार्गों के समान मान कर उन्होंने उनका बड़े आदर और श्रद्धा से अध्यवसाय पूर्वक अध्ययन किया है। चिकित्सा शास्त्र में भी उनकी अपार गति थी—औषधि-भवन हिमालय की परिक्रमा करके उन्होंने अनेक अप्राप्य औषधियों की उपलब्धि की थी जिनके द्वारा उन्होंने अनेक असाध्य एवँ दुस्साध्य रोगों से परिमुक्त करके अनेक प्राणियों के प्राणों की रक्षा की थी। स्वामी जी वास्तव में सच्चिदानन्दमय योगिराज थे।

इसी लिये जब वे रंगपुर में आते थे, तब सारा गाँव उनके पुण्य दर्शनों को दौड़ पड़ता था। कोई उनके मधुर अमृतमय उपदेशों को सुन कर परितृप्त होते थे, तो कोई उनकी मधुर मूर्ति का दर्शन प्राप्त करके कृतार्थ होते थे। शरीर के रोगी उनसे औषधि पाकर फिर से स्वास्थ्य लाभ करते थे और मन के रोगी, उनकी अमृतमयी करुण-धारा में स्नान करके दिव्य शीतल शान्ति को प्राप्त करते थे। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उनके पधारने पर केवल बसन्त ही बसन्त के समान प्रफुल्लित हो उठता था—सो बात नहीं है, वरन् समस्त रंगपुर प्रेम, आनन्द और श्रद्धा की सम्मिलित त्रिवेणी से परिप्लावित होने लगता था। रंगपुर पर और ही रंग आ जाता था; उनके पवित्र पाद-

पद्म के स्पर्श से रंगपुर की पृथ्वी सहसा प्रफुल्लित हो उठती थी। बालक-बालिकाओं पर उनका अपार अनुराग था। वात्सल्य-रस के वे मूर्तिमान् स्वरूप थे, बच्चे भी उन्हें देखते ही आनन्द से उछलने लगते थे। बच्चों के लिये उनकी कुटी के अक्षय-भण्डार में कुछ न कुछ निकल ही आता था, किसी दिन मिठाई किसी दिन फल। उनके यहाँ जो बच्चा जाता था, वह बिना कुछ पाये नहीं लौटता था। छोटी छोटी बालिकाओं पर वे विशेष प्रेम रखते थे। सभी बालिकाओं को वे जगज्जननी की बाल-प्रतिमायें कह कर उनके सामने अपना जटाजूट-मण्डित मस्तक अवनत कर देते थे। किशोरिकाओं के मृदुल हास्य को देख कर वे परमानन्द में निमग्न हो जाते थे। उन्हें वे प्रकृति के कैशोर-लावण्य की साकार मूर्ति मानते थे। बालक-बालिकाओं के कलकल-नाद से उनकी कुटी वैसे ही मुखरित रहती थी जैसे उनका मनोमन्दिर ब्रह्मनाद से प्रतिध्वनित होता रहता था। जब उनसे नये बालक को पुराने बालक परिचित कराते थे, तब वे भी बालकों की भाँति उनसे हँसने और खेलने लगते थे। परन्तु उनकी उस बाल-लीला में जो अपूर्व उपदेश प्रच्छन्न भाव से रहता था, उसका प्रभाव बालकों के नित्यगठित स्वभाव पर पड़ता था। जिस प्रकार वे पाण्डित्यमयी भाषा में गम्भीर समस्या की मीमांसा करके विद्वानों को विमुग्ध कर देते थे, उसी प्रकार पुराणों की कथाओं को सरल बोधगम्य भाषा में कह कर वे बालकों की भी भूख प्यास को हर लेते थे। उनके पुण्य स्वभाव में सरल, निर्मल एवँ कोमल भावों की चरम सीमा

परिलक्षित होती थी। वे सत्य के समान सुन्दर स्थिर और तेजोमय थे।

इन्हीं पुण्य शील महर्षि आनन्द स्वामी ने बसन्तकुमार को, सूर्योदय के प्रथम प्रकाश में, निर्जन, किन्तु कलकलमय यमुना-दुकूल पर, प्रकृति और परब्रह्म की पुण्य छाया में, संसार के हित और जीव के कल्याण के लिये दीक्षित किया था।

गुरु-शिष्य के पावन सम्बन्ध के अतिरिक्त बसन्तकुमार और आनन्द स्वामी और भी एक घनिष्ठ सम्बन्ध में आबद्ध थे। ऋषिवर बसन्त के पिता के पास भी वे समय समय पर आते जाते थे और उन दोनों में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था। श्री श्री आनन्द-स्वामी ने बसन्तकुमार को दीक्षा बहुत बाद में दी थी, उनका उस पर बाल्यकाल ही में परम स्नेह था। बालक-बसन्त उनकी गोदी में खेल चुका था; उनके कषाय वस्त्रों को मूत्र-सिक्त कर चुका था; उनकी दाढ़ी को अपने छोटे छोटे कोमल हाथों से किलकारी मारते हुये खींच चुका था। जिस समय बसन्तकुमार के पिता का देहावसान हुआ था, उस समय ऋषिवर वहाँ पर नहीं थे। स्वामी जी का पता भी नहीं था कि वे कहाँ है, इसी लिये बसन्त समाचार भी नहीं भेज सका था। पिता की मृत्यु के दो तीन महीने तक बालक बसन्त इधर उधर आश्रय की खोज में मारा मारा फिरता रहा; बन्धु-बान्धवों के, स्नेही मित्रों के, द्वारों को खटखटाता रहा, पर किसी ने उसे और उसकी सहोदरा को प्रश्रय नहीं दिया। ऐसी भयंकर दशा में एक रात्रि को वह घर के कोने में निद्रा विहीन होकर पड़

हुआ था, उस समय मध्य रात्रि से कुछ अधिक रात्रि बीत चुकी थी। घर के अन्दर अन्धकार था, यद्यपि बाहर तुषार की चादर ओढ़े चाँदनी सोई हुई थी। उस रात को बड़ी सरदी थी; उसक ९ वर्ष की कोमल सहोदरा उसके पास ही पृथ्वी पर पड़ी थी। उसने अपना अन्तिम वस्त्र भी अपनी सहोदरा को उढ़ा दिया था। हाय! कैसा दुखद दृश्य था! आज से तीन महीने पहिले जो मखमल के गद्दों पर रेशम की चादर बिछा कर सोते थे, जिनकी प्रत्येक इच्छा प्रकट होने से पहिले ही पूरी हो जाती थी, जिन्होंने व्याधि को छोड़ कर कभी दुःख का नाम तक नहीं सुना था, वे ही धनी माता-पिता की आँखों के तारे उस भयंकर शीत की रात्रि में पृथ्वी पर पड़े थे और फटे चीथड़े वस्त्रों में दुबक कर किसी प्रकार उस दारुण शीत से अपनी रक्षा कर रहे थे! पर धन्य है उस बालक को, जिसने अपनी छोटी सहोदरा की शीत से रक्षा करने के लिये अपने शरीर का अन्तिम वस्त्र भी दे दिया था और आप स्वयं नंगा होकर उस भीषण शीत का उपहास कर रहा था। कैसा पवित्र दृश्य है! घोर यातना के अत्याचार यन्त्र में पिसते हुये होने पर भी पुण्य का कैसा मधुर दर्शन है! घोर अग्नि के मध्य में स्थित होकर भी धर्म के पावन विश्वास का कैसा मनोरम विलास है! संसार की वेदना में तिल तिल करके जलते रहने पर भी त्याग की कैसी उज्ज्वल महिमा है!

वसन्त के हृदय में एक भयंकर ज्वाला प्रज्वलित हो रही थी। वह व्याकुल भाव से उस स्वार्थपरायण संसार की समालोचना

कर रहा था। वह धीरे धीरे स्वगत भाव से कह रहा था—"हा विश्व ! तू कैसा स्वार्थी और नीच है। संसार के सारे सम्बन्ध, सारे नाते, सारे रिश्ते सब स्वार्थ से ओतप्रोत हैं। कल जो बन्धु-बान्धव मेरा आदर-सत्कार करने में एक दूसरे से बढ़ जाना चाहते थे, आज वे ही अपने द्वार से मुझे नीच कुत्ते के समान दुरदुराने में परस्पर होड़ कर रहे हैं! वे ही महाजन, जो कल तक मेरी पिता की शक्ति और तेज के सामने दाँत निकाल कर हाथ बाँधे खड़े रहते थे, आज मुझे निराश्रय और निर्बल पाकर झूठे दस्तावेज़ बना कर मेरा सब कुछ, मेरा पैतृक घर तक, नीलाम करा रहे हैं! हाय मनुष्य! तू कितनी जल्दी उपकार को भूल जाता है! तू महा कृतघ्न है। कहाँ हैं आज वे बन्धु-बान्धव! जो अपनी आवश्यकता के समय मेरे पिता से हज़ारों रुपये ले जाते थे और फिर देने का नाम भी नहीं लेते थे! कहाँ है वे महाजन! जो रात-दिन मेरे पिता से यही भिक्षा माँगते थे कि उनकी अमुक डाकू से, अमुक ज़िमींदार से रक्षा करें। कहा हैं वे स्नेही-सम्बन्धी! जो महीनों मेरे घर पर मोहन-भोग का भोग लगाते थे और चलते समय अपने घर की दुर्दशा वर्णन करके मेरे पिता से धन माँग ले जाते थे। आज कोई नहीं है। पिता! पिता! आज तुम्हारे पुत्र को, तुम्हारी अनाथिनी कन्या को दो रोटी देने वाला भी कोई नहीं है! हम दो प्राणियों को पड़ रहने योग्य पृथ्वी भी आज नहीं मिल रही है, यद्यपि हम एक दिन १५ गाँवों के ज़िमींदार थे! कल प्रातःकाल मुझे इस पैतृक गृह को भी छोड़ देना पड़ेगा। क्या करूँगा! गली गली

भीख माँग कर सड़क पर पड़ना होगा ? ओफ़ ! कैसी दारुण परिस्थिति है ? मैं यदि अकेला होता तो कोई चिन्ता नहीं थी, पर इस कोमल किशोरी की क्या गति होगी ? माता ! दीनेश्वरी ! रक्षा करो ! तुम्हीं सहाय हो ! तुम्हारा ही शेष अवलम्ब है।"

बालक बसन्त की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। काहे को उसने कभी ऐसे दारुण दुख का समय देखा था ? यद्यपि वह साहसी और धीर था, तौ भी ऐसे विपत्ति के समय बड़ों बड़ों का साहस जवाब दे देता है। फिर बालक बसन्त के विचलित हो जाने में क्या आश्चर्य्य है ? मरते समय उसके पिता उस ९ वर्ष की बालिका को उसके हाथों में सौंप गये थे। उसका लालन पालन करना आवश्यक था—वह उसकी छोटी बहिन थी; वे दोनों एक ही गुच्छे के दो फूल थे। उसी के लिये बसन्तकुमार चिन्तित था—नहीं तो केवल अपने लिये उसे रत्ती भर भी चिन्ता नहीं थी। उस षोड़श वर्षीय धीर वीर ब्राह्मण कुमार को संसार अपना भयङ्कर से भयङ्कर स्वरूप दिखा कर भी भयभीत नहीं कर सकता था। एकमात्र अपनी सहोदरा के लिये ही वह इतना उद्विग्न था।

परन्तु, उसकी गुहार सुन कर उस आधी रात के समय भी आदि माता का आसन डोल उठा, उसे अपने अनाथ पुत्र-पुत्री की व्यवस्था करनी ही पड़ी। उसी समय आनन्द स्वामी ने बाहर से आवाज़ दी; बालक बसन्त को ऐसा आभास हुआ मानो देवता का आशीर्वाद ही साकार स्वरूप को धारण करके गुरुदेव के वेष में प्रकट हुआ है। बालक बसन्त ने जल्दी से दौड़ कर किवाड़े

खोल दिये और उनके चरणों पर गिर कर सिसक सिसक कर रोने लगा। आनन्द स्वामी के नयन-प्रान्त में अष्टमी के अर्धचन्द्र की धुँधली चाँदनी में दो बूँद आँसू झलमला उठे। उन्होंने बसन्त को उठा कर हृदय से लगा लिया, उसे उन्होंने सान्त्वना दी। उसे लेकर वे ऊपर गये। उनके दर्शन मात्र से वसन्त को बड़ा ढाढ़स बंध गया था, उनके अमृतमय उपदेशों ने रही सही अशान्ति को भी शान्त कर दिया। अग्नि तो बुझ गई, पर उस अग्नि में बसन्त का उच्छृंखल चाँचल्य, उसकी यौवन-श्री का मधुर हास्य एवँ उसकी प्रकृत शोभा का प्रस्फुट विलास जल कर भस्म हो गया। कल्पना की हँसी चिन्ता की गम्भीर शान्ति में परिणत हो गई। चपल यौवन के शिखर पर नृत्य करने वाली सरिता का कलकल नाद उसके निर्विकार शान्ति की समतल भूमि पर पहुँच कर शान्त हो गया। रङ्गपुर के ज़िमींदार से आनन्द स्वामी का स्नेह था; सच पूछिये तो वे दोनों बाल-मित्र थे—गुरु भाई थे। उनके कहने से ज़िमींदार ने बसन्त का पुत्र के समान अभिनन्दन किया। एक तो आनन्द स्वामी जैसे मित्र का प्रेम पात्र, दूसरे स्वयं गुणों की खान,—वसन्तकुमार पर धीरे धीरे उनका अत्यन्त अनुराग हो गया।

श्री श्री आनन्द स्वामी के अमृतमय उपदेशों से बसन्त-कुमार को दिव्य अनुभूति की प्राप्त हुई थी और उसने मानव जीवन के जटिल रहस्य को जान लिया था। आनन्द स्वामी बसन्तकुमार के आचार्य्य भी थे, पिता भी थे। इस लिये जब वे रंगपुर आते तभी वसन्तकुमार के आनन्द का

पारावार नहीं रहता। किन्तु गुरुदेव ने उसे कर्मयोग का सिद्धान्त बताया था। इसी लिये गुरुदेव के पदार्पण करने पर भी वह कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं होता था। पर जब वह दिन भर के उपरान्त अपने कर्तव्य कर्म से अवकाश पाता तब वह गुरुदेव के पाद-पद्म में आकर बैठ जाता। जिस समय दिन भर का कोलाहल संध्या सुन्दरी के शान्तिमय प्रभाव से शान्त हो जाता है, जिस समय वन-श्री चिरहास्यशील चन्द्रदेव की चाँदिनी में स्नान करती है, और जिस समय पूर्व दिशा के विशाल आँगन में उषादेवी को फूलों से बिछे हुये मार्ग पर विहार करते हुये देख कर प्रकृति-कवि आनन्द से विभोर होकर अपना राग छेड़ देता है उस समय गुरु और शिष्य दोनों यमुना के नीरव सुगन्धिमय दुकूल पर प्रकृति की दिव्य श्री का दर्शन करते हुये, देश धर्म एवँ समाज के विषय में, वार्तालाप करते हैं। उस समय शिष्य गुरु के पाद-पद्म में बैठ कर उनकी धर्ममयी व अमृतमयी वाणी में अपनी बुद्धि, मन, और प्राणों को स्नान कराता था। उसी समय आचार्य्य भी शिष्य को जीवन का चरम लक्ष्य बता कर उसके हृदय को दिव्य स्फूर्ति प्रदान करता था, उसके विवेक को धर्म-धारा से परिप्लावित करता था, उसके प्राणों को शीतल शान्ति से परिचित कराता था, उसकी आत्मा की कुटीर को मधुर आनन्द के राग से परिपूर्ण करता था और उसकी गति को निष्काम कर्म-साधना की ओर प्रेरित करता था। उन दोनों को देख कर एक बार सत्ययुग के तपोवन का पुराण-वर्णित दृश्य-कल्पना की रङ्गभूमि में बड़े समारोह से अभिनीत होने लगता था।

शास्त्र का मत है कि आचार्य्य उस आदि पुरुष का प्रतिनिधि है—क्योंकि वह ज्ञान-दान देकर शिष्य को दिव्य लोक का मार्ग बताता है। बात सोलहो आने सत्य है।

तीसरा परिच्छेद

ऋषि की पुण्य प्रेरणा

हमारी इच्छा है कि हम भी एक बार श्री श्री आनन्द स्वामी और उनकी साधना-कुटी का दर्शन करके अपने लोचनों का लाभ उठा लेवें। महात्माओं के पवित्र जीवन में सत्य सुन्दर उपदेशों और उनके उज्ज्वल उदाहरणों का पवित्र सङ्गम होता है। इसी लिये विश्व के समस्त धर्मों ने ऋषियों के सत्सङ्ग की महिमा को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। इसी लिये इसमें सन्देह नहीं कि महात्माओं का पवित्र सुन्दर दर्शन बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। पुण्यशील ऋषियों के श्री पाद-पद्म में बैठ कर उनकी मधुर उपदेशावली के पुण्य-शीतल प्रवाह में अपने संसार-संतप्त हृदय को स्नान कराने का अवसर प्राप्त होना वास्तव में हमारे पूर्व-सञ्चित पुण्य-पुञ्ज का ही मधुर फल है। तर्क और अलङ्कारों के द्वारा किसी सिद्धान्त को परिस्फुट करने वाले अनेक विद्वानों का सत्सङ्ग मिलना सुलभ है, किन्तु उन मुक्तात्मा ऋषियों का जो पुण्य सिद्धान्तों को अपने जीवन का प्रमुख अंश बना लेते हैं, दर्शन मिलना वास्तव में दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति के समान है।

ऋषिवर आनन्द स्वामी वैसे ही संसार हितकर्ता सर्वस्व त्यागी देवर्षि है। तब उनका सत्सङ्ग प्राप्त करना कौन नहीं चाहेगा? चलिये! हम क्यों इस अलभ्य अवसर को हाथ से जाने दें? पुण्य की धारा स्वतः ही हमारे निकट आ पहुँची है, क्यों न हम उसमें स्नान करके अपूर्व पुण्य का सञ्चय कर लें?

सूर्यास्त का समय है। भगवान् सूर्यदेव अपनी कान्ति-सुंदरी के साथ पश्चिम के राज-प्रासाद में प्रवेश कर रहे हैं। यमुना की नील धारा कलकल करती हुई बही जा रही है। पक्षि-गण अपने अपने घोसलों के सुन्दर द्वारदेश पर स्थित होकर अनुराग से भरा हुआ राग गा रहे हैं। सुन्दरी वन-श्री भी अपने शरीर को धीरे धीरे काली सारी से आच्छादित कर रही है। कृषक-किशोर खेत से घर की ओर लौट रहे हैं और कृषक-कुमारियाँ जल लाने के लिये यमुना की ओर जा रही हैं। दोनों ही ओर से राग-ध्वनि उठ रही थी और हिमाँचल की गोद में आनन्द से कलकल करने वाली गङ्गा और यमुना की मधुर ध्वनि के समान वह सम्मिलित रागिनी उस समय अत्यन्त श्रुति-मधुर प्रतीत हो रही थी।

रंगपुर के किसी प्राचीन ज़िमींदार ने यमुना जी का एक पक्का घाट बनवा दिया था। सभी परवर्ती ज़िमींदार उसकी समय समय पर मरम्मत कराते रहे हैं और इसी लिये उस घाट की दशा बहुत अच्छी है। देखने में भी बहुत सुन्दर है और उसके कारण जनता को बहुत आराम पहुँचता है। इसी घाट से कुछ अन्तर पर बन-सीमा के ठीक प्रवेश-द्वार

पर लता वृक्षों के बीच में ऋषिवर आनन्द स्वामी की परम पवित्र कुटी है। यह कुटी नन्दन-निकुञ्ज के समान शीतल छायामयी है; आत्मा की अमृतमयी संगीत धारा से वह परिप्लावित है; आनन्द के आलोक से आलोकित है और श्री श्री आनन्दस्वामी की चरण रज से पुण्यमयी है। इस समय आनन्द स्वामी इस कुटी में आसीन नहीं है; इस समय तो वे शीतल यमुना दुकूल पर, उन्मुक्त आकाश के नीचे एक शिला-खण्ड पर बैठे हुये सन्ध्या-सुन्दरी के दिव्य विलास की मनोरम शोभा देख रहे हैं। उनके सामने ही दो युवक बैठे हैं। उनमें से एक तो हमारे परिचित हैं बसन्तकुमार और दूसरे का परिचय हम अगले परिच्छेद में देंगे। हाँ, इतना कह देना हम यहाँ पर आवश्यक समझते हैं कि दूसरा युवक उत्फुल्ल गुलाब के समान सुन्दर औरप्रस्फुट कमल के समान हास्यमय था। उसकी आँखों में से आनन्द की धारा निकल रही थी और उसके मुखमण्डल पर एक उज्ज्वल तेज विलसित हो रहा था। यह युवक वसन्त कुमार का समवयस्क था।

स्वामी जी उस समय उस ज्योतिर्मय नक्षत्र की ओर प्रसन्न दृष्टि से देख रहे थे, जो गगन मण्डल के दक्षिण प्रान्त की अन्तिम सीमा पर, संध्या सुन्दरी के चन्द्रहार से गिरे हुये उज्ज्वल मोती के समान, देदीप्यमान था। उस समय आकाश मण्डल में वह एकाकी था और इसी लिये वह, एकान्त में आनन्द से हँसने वाली सुर सुन्दरी की भाँति उत्फुल्ल हो रहा था। दोनों युवक भी एकान्त चित्त में उस अनुपम दृश्य को देख रहे थे। उस

सांध्य-शान्ति के विमल शीतल लावण्य ने उन तीनों को—वृद्ध आचार्य्य और युवक शिष्यों को—विमुग्ध कर लिया था। तीनों आत्म विस्मृत होकर दिव्य शान्ति की सलिल-धारा में स्नान कर रहे थे।

थोड़ी देर में यह सुषुप्ति समाप्त हुई। कुछ दूर पर यमुनातट की ओर आती हुई कृषक-किशोरिकाओं के मधुर स्वर ने तीनों को सचेत कर दिया। थोड़ी ही देर में २,३ मिनिट के भीतर ही वह सुन्दरी-दल यमुना जल भरने के लिये, गोपी समूह की भाँति गाता हुआ, उस पक्के घाट पर आ पहुँचा। जो स्थान क्षण भर पहिले नीरव और निर्जन था, वह अब कोमल कोलाहल से मुखरित होने लगा। ज़िमींदार और उनके एकाध विशेष आत्मीय को छोड़ कर शेष सभी गृहस्थों की पुत्र-वधू और स्त्रियाँ वहाँ पर दोनों समय जल लेने के लिये आती थीं। उनके उस मधुर कोलाहल में यमुना का वह विमल कलकल विलीन हो गया। स्वामी जी की समाधि भङ्ग हो गई और उन युवकों की भी आत्म-विस्मृति का अन्त हो गया।

इसके उपरान्त भी वे तीनों थोड़ी देर तक शान्त रहे। जैसे कोई एक आनन्दमय स्वप्न से जागृत होकर अपने चारों ओर उस स्वप्न के एकाध लक्षणों को पाने के लिए चकित दृष्टि से देखता है—उस समय उन तीनों की भी यही दशा थी। उनके चारों ओर वह स्वप्न सत्य होकर फैला हुआ था—सौन्दर्य्य और शोभा का सागर लहरें मार रहा था। उन्हें स्वप्न में जिस अमृत का केवल एक पात्र पीने को मिला था, उस सुधा की

शीतल धारा उनके सामने प्रवाहित हो रही थी। स्वप्न में उन्होंने जिस राज्य के सौन्दर्य्य का एक अंश मात्र देखा था उसी महाराज्य की समस्त सौन्दर्य्य-सृष्टि उनकी आँखों के सामने मस्त भाव से खड़ी खड़ी मुस्करा रही थी। प्रकृति के उस अनुपम यौवन की शोभा देख कर तीनों ने हृदय में आनन्द और उल्लास की उत्ताल तरङ्गें उठ रही थीं। विलास, रस और रंग की त्रिवेणी उस समय मधुर गति से प्रवाहित होती हुई अनन्त की ओर चली जा रही थी।

इस शान्ति को सब से पहिले आनन्द स्वामी ने भङ्ग किया। उस दूसरे युवक की ओर देख कर उन्होंने मुस्कराते हुये कहा—"राजेन्द्र! तुम्हारे बापू जी ने तो एक बार ही सन्यास ले लिया।"

राजेन्द्र—"हाँ महाराज! आज ४ महीनों से तो उन्होंने सारा भार मेरे ही दुर्बल हाथों में दे दिया है। वैसे तो उनका जीवन उसी दिन से सन्यास-मय हो गया था जिस दिन बहिन सुभद्रा का सौभाग्य-सूर्य्य अस्त हुआ था; किन्तु फिर भी वे प्रजा के हित के लिये राजर्षि जनक की भाँति ज़िमींदारी का काम-काज देखते रहते थे। परन्तु अब तो वह पूर्ण विरक्त हो गये हैं उनका सारा समय उसी कुटी में सुभद्रा और स्वाध्याय के साथ व्यतीत होता है।"

स्वामी जी हँस कर बोले—"विरक्त नहीं, वे पूर्ण अनुरक्त हो गये हैं। उन्होंने अपने प्रेम की सीमा को असीम बना दिया है। सारा विश्व अब उनकी कल्याण कामना का विषय हो गया है और निखिल सृष्टि से उन्होंने अपना मधुर सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। बन्धन से परिमुक्त होकर उनकी प्रेम धारा अब समस्त

विश्व को परिप्लावित करेगी। अब वे केवल रंगपुर के नहीं हैं—अब उन पर प्राणि मात्र का अधिकार है।"

वसन्तकुमार—"ठीक कहते हैं महाराज! बापू जी वास्तव में दया और वात्सल्य की साकार मूर्ति हैं। साक्षात् देवादिदेव महादेव के समान उनका स्वभाव सरल और सुन्दर है। बच्चों पर तो उनका अखण्ड अनुराग है—मैंने कई बार देखा है कि वे बच्चों से खेलते खेलते सब कुछ भूल जाते हैं।"

स्वामी जी—"बच्चों का प्यार भी अपूर्व वस्तु है। कैसा कोमल कैसा विमल और कैसा आनन्द देने वाला है। इस विश्व के प्रमोद-बन में बच्चे उत्फुल्ल-पुष्पों के समान हैं। इनकी आँखों से सरल चंचलता की धारा निकल कर विमल आनन्द की मात्रा को बढ़ा देती है। वे कल्प-पल्लव के समान कोमल, आत्मा के समान उज्ज्वल, सत्य के समान सरल, अमृत के समान मधुर और स्वर्ग के समान सुन्दर होते हैं। सब से बड़ी बात तो यह है कि उनके सहवास से हृदय मातृ-प्रवृत्ति का प्रसन्न विकास होता है। यही मातृ-प्रवृत्ति हमारे हृदयों को विशाल एवँ उदार बनाती है क्योंकि जिसके हृदय में मातृ-प्रवृत्ति का जितना ही उज्ज्वल विलास होता है, उसमें दया और ममता का भी उतना ही मधुर और सुन्दर विकास होता है। भगवान् की विभूति का सब से बड़ा अंश बच्चों ही के निहित रहता है इसी लिये एकान्त विरक्त योगी भी बालकों की हँसी पर विमुग्ध हो जाते हैं। एक दिन महेश्वर भी कृष्ण के बाल स्वरूप के सुन्दर दर्शन के लिये यशोदा के द्वार पर भिक्षुक के रूप में गये थे। इस समस्त सृष्टि

के अन्तराल में मातृ-प्रवृत्ति की ही विमल धारा प्रवाहित होती है। इसी लिये जो बच्चों को प्यार कर सकता है, जो सरल शिशुमण्डल के सरल हास्य पर आत्म विस्मृत हो सकता है, वही सच्चा योगी है, वही मोक्षपद का परम अधिकारी है।"

बसन्त०—"अर्थात् मातृ-प्रवृत्ति के चरम सुन्दर विकास ही का नाम है मुक्ति। मुक्तात्मा में इस पावन प्रवृत्ति की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है क्या?"

स्वामी—"हाँ! इसमें कणमात्र सन्देह नहीं। संसार के समस्त मुक्तात्माओं के जीवनों में यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो हमें इसी आदि-प्रवृत्ति की ही पराकाष्ठा दिखाई देगी। इस प्रवृत्ति को लेकर यह नहीं सोचना चाहिये कि प्रवृत्ति चाहे कितनी बड़ी क्यों न हो निवृत्ति का मूल कारण नहीं हो सकती है। यह बात नहीं है, मेरी तो यही धारणा है कि जब यह मातृ-प्रवृत्ति अपनी संकुचित सीमा से उन्मुक्त होकर अखिल सृष्टि को परिप्लावित करने लगती है तब वह प्रवृत्ति न रह कर निवृत्ति ही बन जाती है। भगवान् बुद्ध के जीवन को लीजिये। उन्होंने—उन ज्ञान प्राप्त उज्ज्वल अवतार ने—विश्व को यही उपदेश दिया है कि जैसे माता अपनी सन्तान के कण भर दुःख से भी अत्यन्त दुखी हो जाती है और उसके निवारण के लिये अपने प्राणों तक को बलिदान कर देने को प्रोद्यत रहती है ठीक वैसा ही शुद्ध त्यागमय प्रेम अपने हृदय में परिपोषित करके विश्व के संताप को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। महात्मा ईसा का समस्त जीवन इसी मातृप्रवृत्ति की चरम विकास लीला से जाज्वल्यमान है। महात्मा मुहम्मद का यह कथन है कि स्वर्ग

माता के चरणों में ही निवास करता है। इसका क्या अर्थ है? इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि माता के शुद्ध वात्सल्य के आगे स्वर्ग और मर्त्य की समस्त विभूति निस्सार के समान है। तब स्वर्ग से बड़ा क्या है? मोक्ष! हमारे शास्त्रों के प्रणेता महर्षियों ने भी माता को सर्वोच्च आसन प्रदान किया है। उनका भी अभिप्राय यही है कि माता का हृदय त्यागमय वात्सल्य का उद्गम स्थल है। वात्सल्य ही अमृतत्व है। और अमृतत्व ही पर्य्याय है उज्ज्वल मुक्ति का, हम सभी जानते हैं कि इस विश्व में ही नहीं, अखिल ब्रह्माण्डों ने माता के विशुद्ध प्रेम के समान और कोई वस्तु नहीं है। इसी लिये मेरी यह धारणा है कि जो विश्व को, निखिल सृष्टि को, अपने उदार प्रेम की विमल धारा से परिप्लावित कर सकता है, जो विश्व के सन्ताप को दूर करने के लिये अपने सर्वस्व की तिलाञ्जलि दे सकता है, वही योगी है; वह उज्ज्वल सायुज्य-मुक्ति का विदेह राज जनक की भाँति जीवित काल ही में अधिकारी है।"

राजेन्द्र—"महाराज! और प्रेम; जैसे मित्रभाव, पतिभाव, भ्रातृभाव इत्यादि यह क्या निकृष्ट हैं?

स्वामी जी—"नहीं, निकृष्ट नहीं हैं; किन्तु यह इसी लिये अच्छे हैं कि यह उस मातृ प्रवृत्ति को उसके चरम विकास में सहायता देते हैं। पत्नी पति को ईश्वर मान कर प्रेम करती है? क्यों? इसलिये कि पति के पवित्र संसर्ग ही से वह माता बन सकती है? भगिनी भाई के दुख में कातर और सुख में उत्फुल्ल होती है—उसका कारण एकमात्र यही है कि वह समझती है कि हम दोनों एक ही माता के दुलारे हैं, एक ही जननी के पवित्र

स्तन-मण्डल से हम दोनों ने दूध पिया है। इसी प्रकार मित्र भाव ही भ्रातृ भाव का रूपान्तर है और भ्रातृभाव की मूल स्थिति है मातृभाव पर। राजेन्द्र! स्मरण रखना विश्व की जो कोई प्रवृत्ति इस मातृ-प्रवृत्ति के मार्ग में बाधा बन कर खड़ी होती है, वह पाप की प्रवर्तिका है और उसका मूलोच्छेद करना ही मानव-जाति के संचालकों का प्रमुख कर्तव्य है। इसी लिये जब कभी मित्रभाव, दाम्पत्यभाव इस पवित्र प्रवृत्ति के बाधक हों, तब समझ लेना चाहिये कि उनके मूल में प्रेम के स्थान पर लालसा का अधिपत्य है; उसके नीचे शैतान ही सञ्चालक बन कर बैठा है।"

राजेन्द्र—"कदाचित् इसी लिये मातृभूमि की सेवा का इतना पावन महत्व और इतनी पवित्र महिमा है, महाराज?"

स्वामी जी—"निस्सन्देह! तुम्हारी विवेचना एकान्त सत्य है। राजेन्द्र! हमारी इस मातृभूमि की अधोगति का प्रमुख कारण यही है कि हमने वर्षों के प्रमाद और पराधीनता में अपनी उज्ज्वल मातृ प्रवृत्ति को हिरा दिया है। देखते हो, जो इसी भूमि के पुण्य पयोधर से दूध पीकर लालित-पालित हुये हैं, जो इसी महामहिमामयी माता की कोमल गोद में एक साथ हँसे और खेले हैं, जो इसी भारत जननी की पवित्र प्रेम धारा में सतत स्नान करके इतने बड़े हुये हैं, वे ही भाई भाई परस्पर लड़ रहे हैं; दो टुकड़े रोटी के लिये, एक फटे हुये चीथड़े के लिये, एक टूटे हुये पात्र के लिये, एक भग्न झोपड़े के लिये, वे एक दूसरे की हत्या करने से भी विरत नहीं होते हैं। इसी लिये हमारी यह दीन दशा है। मातृ-प्रवृत्ति का हमने

एकान्त बहिष्कार कर दिया है और इसी कारण हमारी जीवनी शक्ति, उस शीतल रस के अभाव में, नित्य प्रति सूखती जा रही है। उसी का यह बुरा परिणाम है कि हम दलित और पतित हो रहे हैं; हमारी ऐसी भयंकर अधोगति हो गई है। हम इतने विवेक हीन हो गये हैं कि हम मातृ-प्रवृत्ति के महत्व को एकान्त विस्मृत करके मातृ जाति की अवज्ञा करने लग गये हैं। जब हम अपनी माताओं की वर्तमान दशा को देखते हैं और जब हम भारत के उस सुवर्ण युग में मातृ जाति के श्रद्धामय आदर की बात पढ़ते हैं, तब हमें अपनी इस अधोगति का पता लग जाता है। राजेन्द्र! मेरी तो यह निश्चित सम्मति है कि जब तक हम उसी विशुद्ध मातृ-प्रेम की विमल धारा से इस उत्तप्त भारत भूमि को परिप्लावित नहीं करेंगे, जब तक हमारे देश का प्रत्येक परिवार उसी पवित्र भाव से प्रदीप्त नहीं होगा, तब तक उद्धार का प्रश्न एक असार स्वप्न के समान है; एक अलभ्य वस्तु की असम्भव कल्पना के सदृश है। मातृभाव का विकास ही अभ्युदय का प्रथम प्रकाश है।"

बसन्त—"पर इस विलुप्त मातृ-प्रवृत्ति का फिर से कैसे विकास होगा भगवन्! इसका प्रारम्भ कहाँ से करना होगा।"

स्वामी जी—"अच्छी माताओं के द्वारा। भारतीय मातृ-मण्डल की आज कैसी हीन दशा है। जो देश की मातायें हैं या भविष्य में उस पवित्र पद पर प्रतिष्ठित होने वाली हैं, वे तो आज अज्ञान के अन्धकार में शिखा पर्य्यन्त निमग्न है। उनकी दृष्टि संकुचित हो रही है, क्योंकि वे बन्दीगृह में बन्द हैं। वे

तो अपने अस्तित्व को भी विस्मृत कर बैठी हैं—अपनी अव-तार-लीला के पवित्र उद्देश्य को उन्होंने भुला दिया है! इसमें सन्देह नहीं इसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व हम पुरुषों पर—उनके पुत्रों पर है—पर इस समय इसकी चर्चा से कुछ लाभ नहीं होगा। हमें तो इसी का भगीरथ-प्रयत्न करना चाहिये कि हमारे मातृमण्डल का मङ्गलमय उद्धार हो। जैसे शास्त्रोद्धार के बिना शास्त्रज्ञान असम्भव है, उसी प्रकार माताओं के समु-द्धार के बिना देश के अभ्युदय की आशा एक असम्भव-कल्पना के समान है। एक बार फिर हमें अखण्ड साधना के द्वारा मदा-लसा, अनुसूया एवँ सीता, जैसी विदुषी तपोमयी एवँ पतिव्रता माताओं का आवाहन करना होगा, नहीं तो यह निश्चित है कि हमारा स्वतन्त्रता-यज्ञ सफल नहीं होगा—हमारे सारे प्रयत्न, सारी साधनायें, नष्ट हो जाँयगी।"

राजेन्द्र—"पर महाराज! इस पुनीत कर्तव्य की आयोजना कैसे करनी चाहिये? किस प्रकार की साधना से हमें सफलता मिलने की आशा हो सकती है? पथ निर्दिष्ट करना तो आप ही का काम है प्रभो!" स्वामी जी के मुखमंडल पर एक प्रकार का विशिष्ट तेज आविर्भूत हुआ—ऐसा प्रतीत हुआ मानों वह किसी विशेष उज्ज्वल अनुभूति का प्रतिबिम्ब हो। स्वामी जी ने मधुर कण्ठ से कहा—"नारी जाति को बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ फिर उसी महिमामय आसन पर आसीन करना होगा, जिस पर वे धर्म के प्रभात काल में, सभ्यता के प्रथम विकास के क्षण में, एवँ समाज की प्रथम आयोजना के मुहूर्त में, प्रस्थापित

की गई थीं। हमारे देश का पवित्र मातृमंडल बहुत बड़े अंश में अपनी दैवी विभूति को, जो उनके तिमिरान्ध-हृदय में पड़ी है, भूल गई हैं, हमें उन्हें ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में लाकर उनके विलुप्त मातृत्व को फिर से सजीव करना होगा। आज हमारी समाज में जो अनेक कुरीतियाँ प्रविष्ठ हो गई हैं, उन्होंने धीरे धीरे जननी-जाति की महिमामयी गुणावली को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। उदाहरण के लिये हम बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, इत्यादि का नाम ले सकते हैं। इसलिये हमें इन कुरीतियों के विनाश के लिये भी प्राणपण से प्रयत्न करना होगा; जिससे रमणी-समाज के अभ्युदय का पथ परिष्कृत हो जाय। समस्त भारत-वर्ष में हमें यह स्पष्ट रूप से घोषणा करनी होगी कि नारी-जाति की सृष्टि का उद्देश्य है विश्व को परम पवित्र वात्सल्य रस से परिप्लावित करना, मनुष्य की विलास वासना में आहुति बन कर अपने सर्वस्व को भस्मीभूत करना, उनके पवित्र जीवन का लक्ष्य नहीं है। विश्व को बताना होगा कि नारी-मण्डल उसी विश्वात्मिक आदि-रमणी का स्वरूप है, जो संसार के प्रत्येक परिमाणु में शक्ति रूप से स्थित होकर इस निखिल सृष्टि को परिचालित करती है। नारी विशुद्ध प्रेरणा का साकार स्वरूप है, त्यागमयी सेवा की प्राणमयी प्रतिमा है एवँ विश्व की आनन्द लहरी की आदि प्रवर्तिका है। नारी का अनादर करना, नारी के गौरव को हेय समझना एवँ नारी को विलास-भोग की सामग्री बनाना, जानबूझ कर अपनी आत्म-हत्या करने के समान है—जानबूझ कर पतन की कन्दरा में पतित होने के समान है।"

राजेन्द्र—"गुरुदेव! मातृ-मण्डल की इस पुण्य-प्रतिष्ठा के साथ साथ और क्या करना होगा? उनके उस गौरवमय आसन की रक्षा किस प्रकार होगी, भगवन्?"

स्वामी जी—"उसका भार मातृ-मण्डल के ही पवित्र हाथों में न्यस्त करना होगा। पर इसमें सन्देह नहीं कि इसके लिये भी त्यागमयी साधना की आवश्यकता होगी। हमें फिर इस पुण्य-क्षेत्र भारतवर्ष में ऐसा वायुमण्डल बनाना होगा जिससे रमणी और पुरुष दोनों अपने अपने उत्तरदायित्व को जान कर उनका अनुष्ठान कर सकें। एक बार फिर हमें ऐसी आयोजना करनी होगी जिससे हमारे घर घर में मैत्रेयी जैसी ब्रह्मवादिनी, सावित्री जैसी पतिव्रता एवँ सुमित्रा जैसी त्यागशीला मातायें आविर्भूत हों। मेरे कहने का तात्पर्य्य यह है कि हमें मातृ-जाति की समुचित शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। एक क्षण के लिये भी हमें यह नहीं भूलना होगा कि समाज की उन्नति का मूल है समाज की माता का अभ्युदय। माता हमारी सब से पहिली आचार्य्या है—सब से पहिले उसी के श्रीमुख से हम भाषा का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसी के दूध के साथ साथ हमारा स्वभाव निर्मित होता है, उसी के मृदुल मधुर स्नेह के द्वारा हमारे भविष्य की व्यवस्था होती है। यदि जननी ही मूर्खा है, अशिक्षिता है एवँ अज्ञान से अन्धी है, तो बालक के मङ्गलमय उज्ज्वल-भविष्य की आशा भी दुराशा मात्र है। समाज जिसकी गोद में प्रकृति का सब से पहिला पाठ पढ़ता है, समाज जिसकी मधुर प्रेममयी लोरी में सब से पहिले धर्म का आदेश सुनता है एवँ समाज जिसकी स्नेह-विमल आँखों

में सब से पहिले मधुर सुन्दर सत्य का दर्शन करता है, उसकी उन्नति की अवहेलना करना अपने अभ्युदय के प्रभात को विनाश की रात्रि के अन्धकार में स्वयँ स्वेच्छा से परिवर्तित करना है! मातृभाव के पुण्य प्रसार पर ही देश, धर्म, और समाज की कल्याण-सिद्धि निर्भर है और मातृ-मण्डल के विमल ज्ञान के उज्ज्वल आलोक ही से सत्य सुन्दर मातृ-भाव का उद्गम सम्भव है।"

राजेन्द्र—"गुरुदेव! तब इसका श्रीगणेश किस भाँति करें?"

श्री श्री आनन्दस्वामी की आँखों में एक पावन तेज प्रकट हुआ, जो इस बात को बता रहा था कि महर्षिवर भविष्य के गगन-मण्डल पर लिखे हुये सत्य के उज्ज्वल वाक्यों को देख रहे हैं। जिसके हृदय में विमल प्रेम, जिसके विवेक में अटल विश्वास और जिसकी आत्मा में निर्मल सत्य का निवास होता है। उसी के नयनों में ऐसा तेजोमय राग प्रस्फुट होता है। श्री श्री आनन्द स्वामी गम्भीर वाणी में बोले—उस समय ऐसा प्रतीत हुआ जैसे वर्षा का प्रथम मेघ, मन्द मन्द गर्जन करके, उत्तप्त वसुन्धरा को मङ्गलमय सम्वाद सुना रहा हो—"नारी-मण्डल की शिक्षा की आयोजना करो। अपने प्रत्येक गाँव में स्त्री-विद्यालयों का जाल फैला दो। प्रत्येक परिवार में, प्रत्येक घर में, ज्ञान की मधुर उज्ज्वल किरणें पहुँचा दो। प्रत्येक माता, प्रत्येक कन्या, प्रत्येक किशोरी, प्रत्येक वधू, प्रत्येक प्रौढ़ा, प्रत्येक विधवा—सब को इस ज्ञान के उपार्जन के लिये आवाहन करो। जो स्वयँ न आवें, उनके द्वार पर जाकर इस पुनीत पुण्य-क्षेत्र में उन्हें बुला लाओ। अन्धे को आँखें देने में जितना पुण्य है, उससे

कहीं अधिक पुण्य है हृदय के अन्धकार को मिटाने में। सेवा का पाठ सीखो, अपने चारों ओर फैले हुये पंच तत्वों से और उनकी आधीश्वरी महामाया प्रकृति देवी से। प्रातःकाल होते ही सूर्य्य-देव अपनी उज्ज्वल किरणों से विश्व के प्रत्येक घर को आलोकित कर देते हैं, सायंकाल होते ही चन्द्रमा की स्निग्ध किरण-राशि समान भाव से संगमर्मर के प्रासाद पर और फूस के छप्पर पर पड़ती है। शीतल वायु सब के घरों में प्रवेश करके सुख पहुँचाता है; सजल जलद की जल धारा प्रत्येक प्राणी को शीतल करती है। वे सब इस बात की आकांक्षा नहीं करते कि कोई याचना करे, या उनकी चिरौरी करे। देवी अन्नपूर्णा का पात्र सदा भरा रहता है—वह द्वार द्वार पर जाकर प्रत्येक जीव को आदर और प्रेम से भोजन कराती हैं। राजेन्द्र ! इसी निस्वार्थ सेवा भाव को हृदय में धारण करके, इसी उज्ज्वल त्यागमयी साधना की कुटी में तुम्हें प्रवेश करना होगा। राजेन्द्र ! भगवान् ने तुम्हारे हाथों में बहुत से प्राणियों के उद्धार का भार दिया है, इसी लिये जगदीश्वर ने तुम्हें धन और ऊँची शिक्षा दी है। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि तुम्हारे द्वारा महिमामयी मातेश्वरी की मङ्गलमयी इच्छा की पूर्ति होगी। इसी लिये मैं तुम्हें इस पुण्य-कर्तव्य क्षेत्र में अवतीर्ण होने के लिये आदेश देता हूँ। स्मरण रखना, जितनी ही कठिन साधना होती है, आत्म विश्वास भी उतना ही ऊँचा होना चाहिये। विश्व की कल्याण कामना ही तुम्हारे प्रयत्नों का सब से मधुर फल है। मेरा विश्वास है कि तुम्हारा उदाहरण देख कर और भी अनेक युवक इस ओर प्रवृत्त

होंगे। राजेन्द्र! इस निष्काम साधना को अङ्गीकार करो; त्याग और तप तुम्हें मार्ग दिखायेंगे; सत्य और सन्तोष तुम्हें स्फूर्ति-मय बनायेंगे; मेरा और तुम्हारी इस जन्मभूमि का आशीर्वाद तुम्हारी अक्षय कवच की भाँति रक्षा करेगा।"

कहते कहते आनन्द स्वामी जी चुप हो गये। जब तक वे बोलते रहे थे, तब तक ऐसा प्रतीत होता था मानों उनके मुख से वाणी की धारा सी निकल कर प्रवाहित हो रही हो। अब भी उसकी झंकार शेष थी—दोनों युवक उनके तेजोद्भासित मुख-मण्डल की ओर देख रहे थे। सहसा हृदय के उस उज्ज्वल आवेश में, जो शुभ-संकल्प का जनक है, राजेन्द्र ने श्री श्री गुरुदेव के पवित्र पाद-पद्म में अपना शिर रख दिया। उस समय राजेन्द्र का सुन्दर बदन मण्डल वैसा ही प्रदीप्त हो रहा था, जैसा उस भक्त का, जो प्रभु-चरित्र को सुनते सुनते आनन्द से विभोर हो जाता है। श्री श्री आनन्द स्वामी ने बड़े स्नेह से उस का मस्तक उठा कर उस पर अपना हाथ रख दिया। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो सन्ध्याकाल की उस पवित्र मुहूर्त में, उन्मुक्त विशाल आकाश के नीचे यमुना की उस नीरव निर्जन तट पर, परमानन्दमयी महामाया प्रकृति देवी के सम्मुख, उज्ज्वल आत्मा के आलोक में मधुर सत्य के सरस सौरभ में, स्वयँ महेश्वर बाल-कार्तिकेय को संसार के हित और कल्याण के लिये, धर्म के अभ्युदय और ब्रह्माण्ड की शान्ति के लिये, दीक्षित कर रहे हो! उसी समय राजेन्द्र ने मधुर शान्त स्वर में, जिसमें अटल संकल्प और साहसमयी स्फूर्ति का विलास परिस्फुट हो रहा था,

कहा—"आपकी मंगलमयी आज्ञा की विजय हो। प्रभो! आपके आदेश को पालन करना ही मेरी साधना का विषय होगा। आपके निर्दिष्ट किये हुये पुण्य-पथ पर अग्रसर होना ही मेरा धर्म है और मैं उस धर्म के समुचित परिपालन से कभी पराङ्मुख नहीं होऊँगा। मातेश्वरी मेरी प्रतिज्ञा की रक्षा करें।"

स्वामी जी की आँखों में उल्लास का अरुण राग, मुख-श्री पर सन्तोष की शान्ति और अधरों पर आनन्द की सहज हास्य-धार आविर्भूत हुई। उसी समय वसन्तकुमार ने विनम्र भाव से कहा—"भगवन्! चलिये। अन्नपूर्णा ने आपके लिये दूध और फल सब तैयार करके रख छोड़े हैं। वह आपकी बाट देखती होगी।"

अन्नपूर्णा वसन्त की सहोदरा का नाम है। तीनों ही बसन्त की कुटी की ओर चल दिये। कहने का तात्पर्य्य नहीं कि तीनों ही ने उस दिन वसन्त के घर पर भोजन किया।

पुण्यशील ऋषियों की सत्य-मधुर वाणी में एक पुण्य प्रेरणा निहित रहती है जो प्रसुप्त प्रवृति को जगा कर मनुष्य को उसके कर्तव्य कर्म में नियोजित कर देती है। आत्म-बल की मात्रा ही पर प्रेरणा की शक्ति निर्भर है। इस शक्ति का चरम विकास मनुष्य को ईश्वर की संज्ञा दिला देता है क्योंकि परमात्मा ही इस निखिल सृष्टि का प्रवर्तक है—उसी की इच्छा से अखिल ब्रह्माण्ड-समूह अपनी अपनी गति के अनुसार अपने निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर होता है।

पुण्य-प्रेरणा ही शुभ संकल्प की जननी है और शुभ संकल्प ही मंगलमयी विजय का प्रथम उल्लास है।

चौथा परिच्छेद

पवित्र परिवार
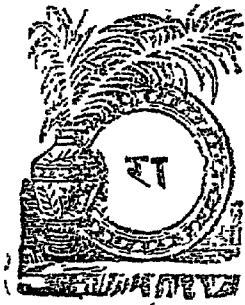
जेन्द्रकुमार रंगपुर के अधीश्वर श्रीमान् पंडित नर्मदा किशोर का पुत्र है। उसकी पुण्यमयी माता ने, जो इस समय इस विश्व में नहीं है, बहुत दिनों तक गुलाब के सुरभित और सद्यः प्रस्फुटित फूलों से भगवती पार्वती की आराधना करके उस गुलाब के समान सुन्दर पुत्र को पाया था। उसके पिता ने वर्षों तक देवादिदेव महादेव का षोड़शोपचार पूजन करके उस कार्तिकेय के समान कान्तिमय कुमार के मुखचन्द्र दर्शन का सौभाग्य प्राप्त किया था। इसी लिये, उन दोनों का अक्षय स्नेह उसके हृदय को सदा शीतल और आनन्द-मय बनाये रखता था। माता स्वर्ग में थी, पर यदि आत्मा की अनुभूति में सत्य का उज्ज्वल अंश है, तो एक नहीं, अनेक बार राजेन्द्र ने अर्ध-जागृत अवस्था में अपनी खाट के पास अपनी प्रेममयी जननी को खड़े होकर अपनी ओर स्नेह-सरस, वात्सल्य-प्लावित दृष्टि से देखते हुये देखा है और कभी कभी तो उसने उनके प्रेममय शीतल चुम्बन का भी अनुभव किया है। और पिता! पिता की तो वह नयनों का ज्योति है; वह उनके इस

लोक का मणि-प्रदीप और परलोक का जलाञ्जलि दाता है। माता के अभाव को पिता ने अपने अनन्त स्नेह से पूरा करने में कुछ उठा नहीं रखा—माता का स्नेह और पिता का आदर—दोनों ही अमूल्य वस्तु हैं और पण्डित जी ने राजेन्द्र को उन दोनों का अभाव यथाशक्ति कभी अनुभव नहीं करने दिया। पर साथ ही साथ उन्होंने पिता के कर्तव्य को भी कभी विस्मृत नहीं किया। अनुचित स्नेह और अत्यधिक आदर करके उन्होंने राजेन्द्र के भावी जीवन को नष्ट नहीं होने दिया। उन्होंने अमृत पिलाया, पर इतना नहीं कि अजीर्ण हो जाय। उन्होंने आदर किया, पर इतना नहीं कि वह गुरुजनों का अनादर करने लग जाय; उन्होंने उससे प्रेम किया, पर इतना नहीं कि वह उसका अनुचित लाभ उठा कर विद्योपार्जन से विरत हो जाय। इसी का यह शुभ परिणाम हुआ कि राजेन्द्र ने इसी साल प्रयाग-विश्व-विद्यालय से एम० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। जब जब राजेन्द्र गर्मी की छुट्टियों में घर पर आते थे, तब तब उनके पिता उन्हें ज़िमींदारी के कामों से परिचित कराते थे। एक तो विद्वान्, दूसरे पिता का अध्यापन—जल्दी ही राजेन्द्र ज़िमींदारी के प्रत्येक काम से अभिज्ञ हो गये। पंडित जी भी ४ महीने हुये, अपने सुयोग्य पुत्र के हाथों में ज़िमींदारी का समस्त भार न्यस्त करके निश्चिन्त हो गये और उन्होंने अपना सारा समय दर्शन के अध्ययन में और भगवान् के चिन्तन में लगा दिया।

जिस प्रकार राजेन्द्र अपने पिता-माता की सम्पत्ति का एक मात्र उत्तराधिकारी है, उसी प्रकार वह उनके पवित्र सुन्दर

गुणों का भी उत्तराधिकारी है। उसकी प्रेममयी जननी साक्षात् अन्नपूर्णा का स्वरूप थीं; गाँव के प्रत्येक प्राणी की विपत्ति में वे साहाय्य होती थीं और दुखी की सहायता और रोगी की सेवा में उन्हें कभी किसी ने कभी थकते नहीं देखा। पिता भी उसी प्रकार प्रेम की प्रतिमा हैं, वात्सल्य के सागर हैं और करुणा के निधान हैं। माता-पिता की इन पुण्य-प्रवृत्तियों का मधुर विकास राजेन्द्र के हृदय में पूर्ण रूप से परिस्फुट हुआ था—सारा गाँव अपने भावी-प्रभु की पुण्य-सहानुभूति से सदा शीतल रहता था। सहानुभूति का अर्थ है दूसरे की प्रवृत्ति को अपने हृदय में उसी प्रकार अनुभव करना। राजेन्द्र में यह गुण बाल्यकाल से ही विशेष विकसित हुआ था कि वह दूसरे के दुःख में दुखी और सुख में सुखी होता था। उसके व्यवहार में दया और स्नेह का ऐसा मधुर सम्मिलन रहता था कि जिसमें स्नान करने से वेदना बहुत शीघ्र शान्त हो जाती थी। साथ ही साथ वह सदा इस बात का ध्यान रखता था कि उसके व्यवहार में अहंकार अथवा आत्म-गौरव का अंश मिल कर दूसरे के हृदय में दुख न पहुँचावे; इसी लिये वह कभी कभी आवश्यकता से अधिक विनम्र हो जाता था। बहुत समय ऐसा हुआ कि किसी के घर पर किसी के सहसा बीमार पड़ने का समाचार सुन कर, किसी के झोपड़े में आग लगने का सम्वाद पाकर अथवा किसी के बालक की मृत्यु की मर्म-भेदिनी ख़बर सुन कर वह नंगे पैरों ही उनके दुःख से दुखी होकर दौड़ पड़ा और अपने आँसुओं से, अपनी निस्वार्थ सेवा से, अपनी अहंकार-शून्य सहायता से

एवँ अपनी स्नेहमयी समवेदना से उस दारुण विपत्ति-मण्डल के संताप को दूर करके ही घर लौटा। दूसरे के उत्सव में वह ऐसा उत्फुल्ल हो जाता था जैसे वसन्त के आगमन पर पुष्प-राशि। गाँव के निवासी भी इसी लिये उस पर अपार अनुराग रखते हैं। जब कभी वह छुट्टी पर आता, तब गाँव में आनन्द की धारा बह चलती। वह भी प्रत्येक घर म स्वयँ जाकर उनके कुशल समाचार पूछता। गाँव का बालक होने के कारण सभी घरों में वह जाता आता था। उसके उस सरल स्नेहमय-व्यवहार से सब उसे अन्तःकरण से आशीर्वाद देते थे और उसके मङ्गल की मनोकामना करते थे। सारे गाँव में ऐसा कोई नहीं था, जो उसे अपना ही न मानता हो। जब से उसके पिता ने उसके हाथों में ज़िमींदारी का भार दिया है, तब से तो वह सदा रंगपुर में ही नहीं, यथाशक्ति अपनी समस्त ज़िमींदारी के घरों का समाचार लेता रहता है और उपयुक्त अवसर पर उपयुक्त पात्र की उपयुक्त सहायता करता है। सारी प्रजा अपने नवीन अधीश्वर की इस स्नेहमयी तत्परता को देख कर अत्यन्त आनन्दित होती है और भगवती से उसकी दीर्घायु और शुभ-भविष्य की प्रार्थना किया करती है।

उदार विचार, विशाल हृदय एवँ व्यापक-ज्ञान को लेकर राजेन्द्र ने कर्तव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। प्रभात के उस सुरभित प्रकाश में, पिता के पवित्र आदेश और मङ्गलमय आशीर्वाद को सादर शीश पर धारण करके अपने कर्तव्य की विशालता पर ध्यान रख कर और महामाया की ममता पर भरोसा रख कर,

वह जनता के हित के लिये पुण्य-पथ पर अग्रसर हुआ। उसके इसी शुभ संकल्प को ऋषिवर आनन्द स्वामी ने स्फूर्ति प्रदान की; राजेन्द्र भी देश की प्रमुख आवश्यकता को जान कर तथा अपने हाथों में उसकी पूर्ति का साधन और अवसर पाकर, परम प्रसन्न हुआ। आनन्द की तरङ्ग राशि से उसका हृदय उद्वेलित होने लगा। ऋषि के उस पुनीत आदेश को उसने विनम्र होकर शिर पर धारण किया; उसके प्रकृत मर्म को उसने अपने हृदय की पुस्तक पर अङ्कित कर लिया और आवश्यकता होने पर मातृ-जाति के उत्थान के लिये उसने सर्वस्व की अञ्जलि दे देने का भी शुभ-संकल्प धारण किया। इस शुभ-संकल्प ने उसके हृदय और आत्मा को एक अद्भुत शान्ति की उल्लास-धारा से परिप्लावित कर दिया। राजेन्द्र ने उस दिव्य दृष्टि से, जो निस्वार्थ सेवा की अनुगामिनी है, देखा कि उसकी जननी-जन्मभूमि उसे अपनी सेवा के लिये आह्वान कर रही है—राजेन्द्र उल्लास पूर्वक उस ओर प्रवृत्ति हुआ।

आज से ६, १० वर्ष पहिले ही उसकी ममतामयी माता उसे और उसकी सहोदरा को अपने पूज्य पति के मङ्गलमय हाथों में अपने स्मृति-चिह्न के समान देकर परमधाम को प्रस्थान कर गई थी। हम पहिले ही कह चुके हैं कि उसके पिता ही ने उसकी माता का स्थान भी ग्रहण किया था। उन मातृ-विहीन अनाथ भाई बहिन का उन्होंने अपने हाथों से लालन-पालन किया था। उन्हें उन्होंने माता के अभाव का अनुभव नहीं होने दिया था। परन्तु फिर भी पिता के अत्यधिक

वात्सल्य के होते हुये भी वह अपनी प्रेममयी जननी को भूल नहीं सका था। अब भी वह कभी कभी उसकी स्मृति में अधीर होकर रोने लगता है। जब आनन्द स्वामी ने बड़े उल्लासमय शब्दों में माता की उज्ज्वल महिमा का वर्णन किया था, तब भी उसके हृदय में माता की वही मधुर मूर्ति जागृत हो उठी थी और उसका हृदय माता की स्मृति से उद्वेलित होने लगा था। यद्यपि पिता के वात्सल्य रस से स्नान करके उसके हृदय की वह व्याकुलता जो माता के चिर-वियोग के कारण उत्पन्न हो गई थी, अवश्य ही प्रशमित हो गई थी, पर उसके हृदय में श्रद्धा के सुवर्ण-आसन पर माता की जो मनोरम मूर्ति आसीन हो गई थी, उसे वह नहीं भूल सकता था। वह नित्य ही उस मञ्जुल मूर्ति की स्नेह-सलिल से और भक्ति-सुमन से पूजा किया करता था। राजेन्द्र उस समय केवल १२ वर्ष का था जिस समय उसकी माता ने इस मत्सरमय विश्व को छोड़ कर महामाया का पुण्य आश्रय लिया था। पर आज १० वर्ष से वह उसकी निरन्तर आराधना करता रहा है और उसी का यह परिणाम है कि उसके हृदय-मंदिर में माता की सौम्य सुन्दर मूर्ति उसी भाँति अङ्कित है, जैसे वह अभी उसकी गोद से उठकर आया हो। मातृ-मूर्ति का इस प्रकार हृदय-मंदिर में उज्ज्वल भाव से प्रतिष्ठित हो जाने का प्रमुख कारण यह था कि उसकी छोटी बहिन सुभद्रा, जिसकी अवस्था इस समय लगभग १८ वर्ष की है, अपनी जननी की ठीक प्रतिमा है। वैसे ही उसकी विशाल करुणामयी आँखें हैं, वैसे ही मधुर सुन्दर मुख-

श्री है, वैसी ही पवित्र प्रकृति है; वैसी ही आनन्दमयी आकृति है। जब जब राजेन्द्र अपनी इस छोटी बहिन को देखता, तब तब उसके हृदय में उसी ममतामयी माता की मूर्ति विलसित होने लगती। माता की स्मृति के इस निरन्तर विकास ने राजेन्द्र के हृदय में उसकी पुण्यशीला जननी की मनोहर मूर्ति को सदा के लिये भक्ति के मणिमय आसन पर आसीन कर दिया था।

सुभद्रा बाल विधवा है। ८ वर्ष की कोमल अवस्था ही में दुर्भाग्य ने अपने कृष्णाञ्चल से उसके सौभाग्य का सिन्दूर सदा के लिये मिटा दिया था। हिन्दू समाज के अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित विद्वानों के घरों में भी यह बालविवाह की भयङ्कर कुरीति धार्मिक सिद्धान्त का स्वरूप धारण करके प्रविष्ठ हो गई है। सुन्दरी सुभद्रा के सौभाग्य का उसी की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया गया था। सुभद्रा के पिता शास्त्रों के अगाध पंडित थे, किन्तु इस सामाजिक कुप्रथा के दारुण परिणाम को बिना सोचे विचारे उन्होंने ७ वर्ष की गौरी का ६ वर्ष के महादेव के साथ पाणिग्रहण कर दिया था। पर वर्ष भर के भीतर ही बाल-महादेव तो अनन्त समाधि में लीन हो गये और बेचारी बालिका सुभद्रा, सौभाग्य का ज्ञान होने से पहिले ही, अभागिनी हो गई, विवाह के रहस्य को जानने से पहिले ही विधवा हो गई! माता ने जामाता का अनुकरण किया और अपनी बालिका के कोमल हाथों की चूड़ी तोड़ने के साथ साथ उन्होंने अपनी साँस तोड़ दी। अभागिनी सुभद्रा ने सौभाग्य के साथ ही साथ माता के अक्षय स्नेह को भी गवाँ दिया। अनाथ मातृ-विहीन

वलिका, ज्ञान होने से पहिले ही, सब सुखों से वञ्चित हो गई ! वन में वसन्त आने भी नहीं पाया था कि आग लग गई, लता में विकाश होने भी नहीं पाया था कि दारुण तुषार ने उसका अन्त ही कर दिया ! जाया और जामाता को खोकर, अपने हृदय की लाड़िली लड़की का सौभाग्य और अपना सर्वस्व नष्ट करके, पण्डित नर्मदाकिशोर तीव्र वेदना में जलने लगे। उनके रोम रोम से अग्नि की लपटें निकलने लगीं उनके शरीर का प्रत्येक परिमाणु तीव्र यातना के कारणतड़पने लगा। उन्होंने स्पष्ट रूप से धर्मराज के खाते में लिखा हुआ देखा कि पं० नर्मदा-किशोर ही पत्नी और पुत्री की विनाश लीला के लिये दायी हैं। सब कुछ खोकर पण्डित जी को अपनी भूल प्रतीत हुई। वह ऐसी भयंकर भूल थी कि उसने उनके हृदय के प्रत्येक भाग में ऐसी भयंकर ज्वाला प्रज्वलित कर दी, जिसमें उनका समस्त सुवर्ण राज्य, उनका समस्त प्रवृत्ति-मण्डल, उनकी समस्त भाव-श्रेणी और उनके समस्त आनन्द हाहाकार करके भस्मीभूत होने लगे ! किसी को किधर ही से निकलने के लिये मार्ग नहीं मिलता था। परन्तु इस दारुण ज्वाला के बीच में, उनके हृदय की उस स्मशान-भूमि में, उनकी अभिलाषाओं और आशाओं की धधकती हुई चिता के आलोक में, खड़ी होकर आत्मग्लानि मुस्करा रही थी ! उसकी मुस्कान में, एक ऐसा तीव्र विष था जो उनके शरीर के रोम रोम में बिच्छू के डंक की भाँति पीड़ा पहुँचा रहा था। वे उद्भ्रान्त एवँ उन्मत्त से हो गये थे; दिन दिन भर वे एकान्त में विना खाये, विना पिये पड़े रहते

थे। रात रात भर अनुनय विनय करने पर भी, उनकी आँखों में नींद नहीं आती थी। सुभद्रा के देखते ही, वे उसे हृदय से लगा कर करुण-स्वर में बालकों की भाँति हाहाकार करके रोने लगते थे। राजेन्द्र और सुभद्रा दोनों ही अपनी अवस्था के अनुसार उन्हें सान्त्वना देते पर पण्डित जी को कल नहीं पड़ती थी। जहाँ स्वयँ उन्हें उन अनाथ बालक बालिका को धीरज देना चाहिये था, वहाँ वे दोना बापू जी को सान्त्वना देते। जब कुछ वश नहीं चलता, तो वे स्वयँ भी उनके गले लग कर रोने लगते। तीनों रोते, हाहाकार और अश्रुधारा भाई बहिन के कोमल जीवन को और भी व्याकुल कर देती! पर पण्डित जी तो किसी प्रकार मानते ही नहीं थे। कोई आत्मीय सम्बन्धी आकर यदि उन्हें उन कोमल बालकों के नाम पर धैर्य्य धारण करने को कहता, तो वे इतना फूट फूट कर रोते कि धैर्य्य का भी धैर्य्य जाता रहता! इसी प्रकार लगभग १ महीना बीत गया। एक दिन सहसा श्री श्री आनन्द स्वामी उस विषाद की रंगभूमि पर अवतीर्ण हुये और उन्होंने दो ही घंटों के विमल अमृतमय उपदेशों के द्वारा पण्डित जी के संतप्त हृदय और उद्भ्रान्त विवेक को शीतल और शान्त कर दिया। स्वामी जी ने उनकी मर्म्मवेदना पर शान्ति का शीतल प्रलेप लगाया; उन्हें सच्ची समवेदना की शीतल धारा में स्नान करा के परितुष्ट कर दिया। स्वामी जी ने उन्हें उनकी भूल का प्रायश्चित्त बता दिया। उनके हृदय में जो विक्षुब्ध आत्मग्लानि का हाहाकार परिव्याप्त हो रहा था, उसे उन्होंने प्रायश्चित के शुभ-संकल्प से परास्त कर दिया। पण्डित जी एकान्त चित्त से

उस पुण्य प्रायश्चित्त की तपोमयी साधना के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो गये।

यद्यपि उस समय पं० नर्मदाकिशोर की अवस्था लगभग ४० वर्ष की थी और वे यदि चाहते तो एक नहीं, चार विवाह कर सकते थे। सच पूछिये तो बन्धु-बान्धवों ने उन पर विवाह करने के लिये बहुत ज़ोर भी डाला, तथापि पंडित जी ने अपनी उस भयंकर भूल में और एक भयंकर-तर भूल सम्मिलित करना स्वीकार नहीं किया। वे एक बालिका की हत्या के अपराध से दुखी हो रहे थे, वे और एक बालिका को उस अवस्था में ब्याह कर उसका समस्त जीवन दुःख-मय नहीं बनाना चाहते थे। इसी लिये उन्होंने एक बार ही विवाह करना अस्वीकार कर दिया। कभी कभी तो विवाह के प्रस्तावक से इतने अप्रसन्न हो जाते कि उसे अपने सामने से हट जाने की आज्ञा दे डालते। प्रासाद के पिछवाड़े आम्र-कानन में उन्होंने अपने लिये एक कुटी बनवाई। वहाँ से कुछ दूर पर, हरे हरे खेतों के उस पार, नील सलिला यमुना दिखाई पड़ती थी। राजप्रासाद छोड़ कर वे उसी कुटी में रहने लगे। एक अभिभावक के साथ उन्होंने अपने पुत्र राजेन्द्र को पढ़ने के लिये प्रयाग भेज दिया और आप अपनी अभागिनी एवँ अनाथिनी पुत्री को लेकर उसी कुटी में रहने लगे। यद्यपि घर में और किसी के न होने के कारण उन्हें समय समय पर ज़िमींदारी का काम देखना ही पड़ता था; किन्तु इसके अतिरिक्त उनका सारा समय सुभद्रा के साथ ही बीतता था। उन्होंने अपनी ज़िमींदारी की

ऐसी सुन्दर व्यवस्था कर दी थी कि जिससे उन्हें उसके प्रबंध करने में अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। उनकी प्रजा ही स्वयँ बहुत काम कर लेती थी। प्रत्येक गाँव में उन्होंने अपनी प्रजा में से कुछ ऐसे योग्य व्यक्तियों को चुन लिया था जो आचरण के पक्के और लोभ के विद्वेषी थे। उनके हाथों में उन्होंने बहुत से काम सौंप दिये थे। इतने पर भी वे समय समय पर अपनी प्रजा की कल्याण-कामना के लिये ज़िमींदारी के प्रबन्ध का निरीक्षण करते थे। एक बार ही संसार से विरक्त होकर वे गम्भीर वनस्थली में जाकर नहीं बैठ गये थे। अपने कर्तव्यों को भी निष्काम भावना से परिपालन करते हुये उन्होंने अपने प्रायश्चित्त के अनुष्ठान में रत्ती भर विघ्न नहीं पड़ने दिया। उन्होंने संसार को साधना के मार्ग में बाध्य बन कर खड़े नहीं होने दिया। यद्यपि उन्होंने संसार का वहिष्कार नहीं किया था, पर उन्होंने उसे अपनी सीमा से एक पग आगे नहीं बढ़ने दिया। वे अधिकाधिक तपोमयी साधना में सन्निविष्ट होते गये।

उनकी साधना के दो स्वरूप थे—एक तो अपनी आत्मा को बन्धन से परिमुक्त करके सत्य सुन्दर आनन्द के अलोक में प्रतिष्ठित करना और दूसरा सुभद्रा के उस बाल-वैधव्य को त्याग-विमल तप में परिणत कर देना। पर पहिला था गौण, दूसरा था मुख्य। दूसरे के द्वारा ही पहिले की प्राप्ति सम्भव थी। इसी लिये उन्होंने अपनी साधना की समस्त शक्ति को सुभद्रा के समुद्धार ही में लगा दिया। उन्होंने सुभद्रा को शिक्षा देना प्रारम्भ किया। हम पहिले ही कह चुके हैं कि नर्मदाकिशोर शास्त्रों के उद्भट

विद्वान् थे। सुभद्रा भी तीव्र बुद्धि की बालिका थी। पिता से उसने पाया था अध्यवसाय और माता से धार्मिक प्रवृत्ति। एक तो पिता की शिक्षा, दूसरे बुद्धि की तीव्रता और अध्यवसाय की सहायता—सुभद्रा धीरे धीरे शास्त्रों के गम्भीर वनप्रदेश में आनन्द-पूर्वक विहार करने लगी। १८ वें वर्ष में पदार्पण करते न करते सुभद्रा शास्त्रों में पारंगत हो गई। उपनिषदों के तपोवन में उसने ज्ञान के सौरभ की प्राप्ति की; पुराणों के उपवन में उसने मधुर सुन्दर पुष्पों को चयन किया; स्मृत के मन्दिर में उसे अक्षय रत्न मिले और वेदों की सुवर्ण कन्दरा में उसे उज्ज्वल आत्म-ज्ञान की विभूति मिल गई। सुभद्रा ने जीवन के परम रहस्य को, आत्मा के अलौकिक आलोक को और करुणामयी मंगलमयी महामाया के श्री चरणों के पवित्र आश्रय को प्राप्त कर लिया। पिता के साथ वह भी साधना में प्रवृत्त हुई। पिता व्रत नियम, संयम, तप, निग्रह इत्यादि पवित्र मार्गों से उसे हाथ पकड़ कर ले जाने लगे। सुभद्रा भी आनन्द पूर्वक उनका अनुसरण करने लगी। धीरे धीरे सुभद्रा को वह विमल दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई जिसके प्रताप से वह शान्तिमयी प्रकृति के उस नीरव सौन्दर्य्य की मधुर मुसकान में उन्हीं जगन्नियंता, जगदाधार को हँसते, मुस्कराते, इङ्गित करते, नृत्य करते एवँ लीला करते देखने लगी। एक ओर से सुभद्रा के शरीर पर फूला मधुर वसन्त, पर दूसरी ओर उसके पवित्र हृदय में प्रस्फुट हुआ सन्यास-सुमन। एक ओर से उसका मृदुल कलेवर यौवन-श्री से समुद्भासित होने लगा,

दूसरी ओर उसकी आत्मा उज्ज्वल वेष में उसकी अन्तर-कुटीर के बीच में मुस्काने लगी। पिता ने सुभद्रा के दारुण वैधव्य को सन्तोषमयी शान्ति शीला साधना में परिणत कर दिया। सुभद्रा को उन्होंने जिस प्रकार अन्ध-परमपरा का पक्षपात करके अभागिनी बना दिया था, उसी प्रकार उन्होंने अपनी परम तपोमयी साधना के द्वारा उसको पतन से बचा भी लिया। यदि वे ऐसा न करते, यदि वे सुभद्रा के उद्दाम यौवन को सन्यास के बंधन से न बाँध देते, तो कौन जानता है उस अनुभवहीन बाल-विधवा का क्या दारुण परिणाम होता! न मालूम अपने यौवन-मद में उसका पद कहाँ स्खलित हो जाता? न मालूम बिचारी बालिका कहाँ गिर कर चूर चूर हो जाती। परन्तु अब भय नहीं है। सुभद्रा ने असार संसार के सार तत्व को जान लिया है; उसने अमृतत्व का मर्म पहिचान लिया है; उसने दिव्य आनन्द-रस का पान कर लिया है। प्रलोभन और पाप, शैतान और अत्याचार—अब उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अब उसने दिव्य सन्यास का अक्षय कवच पहिन लिया है और शैतान तो क्या, साक्षात् देवादिदेव महादेव भी अब उसे डिगा नहीं सकते हैं।

राजेन्द्र जब छुट्टी पर आता, तब वह पिता ही की शिक्षा रूपी अमृत को पान करता और उनका उज्ज्वल जीवन का पवित्र संसर्ग प्राप्त करके अत्यन्त आनन्दित होता। पिता के इस पवित्र उदाहरण और पावन सहवास ने राजेन्द्र की मनोवृत्ति को भी पुण्य-पथ पर परिचालित कर दिया था। पाश्चात्य शिक्षा और

विलासमय वायुमण्डल के निरन्तर प्रभाव में रह कर भी उसका हृदय वैसा ही, बालकों जैसा, सरल, निर्मल एवँ करुण बना रहा। उसके हृदय की अमृतधारा में एक बूँद भी विष नहीं मिलने पाया। प्रयाग में रहने पर भी रंगपुर सदा उसकी आँखों के सामने नाचता रहता था। हरे हरे खेत, कलकलमयी यमुना, चाँदिनी की सारी परिधान किये हुये वन-श्री, सब, उसकी आँखों के सामने उस समय नृत्य करने लगते, जब वह होस्टेल (Hostel) के कमरे में रात के १२ बजे एकान्त में बैठता या शयन करता। पिता के पास रहने में उसे अपूर्व आनन्द आता था पर अब इन कई महीनों से, जब से ज़िमींदारी का भार उसने ग्रहण किया है, वह पिता की आज्ञा ही से अन्तःपुर में रहने लगा है। सुभद्रा भी उसी के पास रहती है; अपने ही हाथों से वह भाई के लिये भोजन बनाती है। पर स्वयँ पण्डित जी अपनी उसी कुटी में, रहते हैं। सुभद्रा उनके भोजन की वहीं आयोजना करती है; अब भी सुभद्रा का बहुत सा समय उन्हीं के पास, उन्हीं के परिचर्य्या में, व्यतीत होता है। अब भी वह नित्य पिता के श्री मुख से रात्रि के नीरव शान्तिमय द्वितीय प्रहर में, आनन्द की उज्ज्वल धारा के समान चाँदनी में नहाती हुई कुटी के साम्हने भूमि पर बैठ कर, ब्रह्मज्ञान का उपदेश सुनती है। पर फिर भी पण्डित जी अब विशेष एकान्त-प्रिय हो गये हैं। उसका कारण यह है कि उनकी दूसरी साधना तो पूर्ण हो चुकी है और अब वे अपनी पहिली साधना में प्रवृत्त हो रहे हैं। सुभद्रा को भी भाई के पास अब अधिक समय तक रहना पड़ता

है। राजेन्द्र अभी तक अविवाहित है, इसी लिये उसके सुख की समस्त आयोजना का भार सुभद्रा ही पर है। इसी लिये पहिले की अपेक्षा अब सुभद्रा अन्तःपुर में अधिक समय तक रहती है। बड़े मधुर भाव से वह भाई की सेवा करती है।

राजेन्द्र और बसन्तकुमार में भी अनन्य सौहार्द था। जिस दिन बसन्त रङ्गपुर में आया था, उसी दिन से राजेन्द्र और बसन्त दोनों प्रेम-सूत्र में बँध गये थे। दोनों ही उस समय युवावस्था की प्रफुल्ल शोभामयी सीमा में प्रवेश कर रहे थे—दोनों ही एक ही पथ के पथिक थे। दोनों ही उस समय यौवन के सुवर्णराज में प्रविष्ट हो रहे थे। इसी लिये उन दोनों के हृदय एक दूसरे की ओर आकर्षित हो कर परस्पर प्रेम-सूत्र में बँध गये। दोनों ने आनन्द के उस प्रभात में, बसन्त के उस सुरभित विलास में, एवँ उनके उस जन्मकाल में, एक दूसरे को मित्र बना लिया। परन्तु इस मैत्री में स्वार्थ की रत्ती भर गन्ध नहीं थी; ऊँच नीच का विचार नहीं था; उस समय दो सरल हृदय परस्पर विमुग्ध हो कर एक हो गये थे।

जब दो निर्मल, सरल अथच अबोध हृदय परस्पर संयुक्त होते हैं, जब चार आँखें यौवन के ललित अनुराग से अरुण हो कर एवँ आनन्द के विमल उल्लास से रञ्जित हो कर, परस्पर एक दूसरे को देखते देखते चारों ओर देखना भूल जाती हैं, जब दो आत्मायें एक दूसरे का सहवास-सुख पाकर परम सुख में तल्लीन हो जाती हैं, उस समय दो प्राणियों के बीच में जो दृढ़ अथच कोमल मैत्री का विकास होता है, उसमें स्वर्ग की शोभा,

अनन्द की अनुभूति, एवँ महामाया की विमल विभूति—तीनों ही—अपनी अपनी सुन्दर आभा के साथ विलसित होती हैं।

सरल सौहार्द मानव जीवन की सब से बड़ी विभूति है, जिसके विना वह मरुभूमि के समान विशाल होते हुये भी रस-रहित रहता है '

पाँचवाँ परिच्छेद

पिता का आदेश

सन्तकुमार ने तो स्वामी जी से दीक्षा ही ली थी, पर राजेन्द्र भी उन पर एकान्त श्रद्धा रखता था और उनके अमृतमय उपदेशों में स्वर्गीय शान्ति और पवित्र प्रेरणा की उपलब्धि करता था। इस बात का परिचय पाठक-पाठिकाओं ने पा ही लिया है। महर्षि आनन्द स्वामी भी उस पर अपार स्नेह रखते थे क्योंकि उन्होंने राजेन्द्र के हृदय में सरल सत्य का विलास, उसके विवेक-मन्दिर में पवित्र भावों का मधुर हास्य एवँ उसके स्वभाव में विश्वास का विशुद्ध विकास देख पाया था और उन्होंने अपनी दिव्यदृष्टि से यह जान लिया था कि राजेन्द्र के द्वारा महामया का कोई मंगलमय उद्देश सफल होगा। इसी लिये राजेन्द्र के हृदय में पवित्र प्रेरणा को जाग्रत करके वे उसे कर्तव्य-पथ पर अग्रसर कर देना चाहते थे। श्री श्री आनन्दस्वामी ने अच्छी तरह विवेचना करके यह निश्चय कर लिया था कि जब तक

इस देश के मातृ-मण्डल का समुद्धार नहीं होगा, तब तक देश की सर्वाङ्गीन समुन्नति का स्वप्न एक असफल-साधना के समान रहेगा। यह सोच कर ही स्वामी जी ने राजेन्द्र को मातृ-मण्डल के उद्धार के लिये आदेश दिया था। और स्वभाव ही से मातृ-भक्त होने के कारण स्वामी जी का वह मङ्गलमय आदेश उसके हृदय में, सत्य के समुज्ज्वल आलोक की भाँति प्रतिष्ठित हो गया। स्वामी जी की पुण्य मधुर उल्लासमयी वाणी ने उसके मन-मन्दिर में नूतन स्फूर्ति और नवीन आवेश को वसन्त-वायु के मृदुल स्पर्श से मुकुलित होने वाले पुष्प-पुञ्ज की भाँति, प्रस्फुटित कर दिया। इच्छा पहिले ही से थी, स्वामी जी ने उसे पवित्र पथ पर परिचालित कर दिया; विश्वास पहिले ही से था, स्वामी जी ने उसे सेवा का चारु दर्शन करा दिया; उत्सर्ग की आकाँक्षा पहिले ही से विद्यमान थी, स्वामी जी ने उसे विश्व-माता के श्री चरणों में लाकर खड़ा कर दिया। राजेन्द्र ने स्वामी जी को सरल भाव में, किन्तु अविचल संकल्प के साथ विश्वास दिलाया, कि जब वे दूसरी बार रंगपुर में आवेंगे, तब उन्हें मातृ-मण्डल के शिक्षा की सुव्यवस्था दिखाई देगी।

जो सरल भाव से कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं, वे सब के सामने अपने हृदय के भावों को, खुली हुई पुस्तक के समान रख देते हैं। वे छिपे छिपे काम करके अन्त में विजय के आसन पर आसीन होकर विस्मय-विमुग्ध जनता के जयजयकार की आकाँक्षा नहीं रखते हैं। सच पूछिये तो यह उद्देश्य है उन

राजनीतिज्ञ महापुरुषों का जो कपट और प्रतारणा के अभेद्य आवरण में अपने हृदय के भावों को इतना छिपा कर रखते हैं कि उसका एक अंश भी प्रकाश में न आने पावे। पर जो दुःखी और आर्त्त की सेवा को अपने जीवन का व्रत बना लेते हैं, जो देश के अभ्युदय की साधना के लिये अपने जीवन तक को उत्सर्ग करने का प्रण ठानते हैं, जो पुण्य और सत्य की शोभा पर अपने सर्वस्व को न्यौछावर करने के लिये उद्यत रहते हैं, उन्हें अपने पवित्र भावों को और मगंलमय संकल्प को गुप्त रखने से क्या लाभ है? वे तो उन्हें प्रकट करके दूसरों को भी सेवा के पवित्र पथ पर अग्रसर होने के लिये आह्वान करते हैं। राजेन्द्र तो सरलता की मूर्ति ही था और इसी लिये वह जो कुछ करता, जो कुछ करने का संकल्प करता, उसके सम्बन्ध में वह पिता, सहोदरा और सुहृद से अवश्य सम्मति ले लेता और साथ ही साथ उनसे यथाशक्ति सहायता देने के लिये भी प्रार्थना करता। उसमें अहंकार का लेश-मात्र भी नहीं था और वह अपनी बुद्धि को एक बार ही त्रिकालदर्शिनी नहीं मानता था। उसका विश्वास था कि कभी कभी बड़े बड़े विद्वानों से भी भयंकर भूल हो जाती है और वे भी सत् असत् की विवेचना करते करते उद्भ्रान्ति की माया के सुन्दर जाल में फँस जाते हैं; इसी लिये किसी पुण्य कार्य्य के संकल्प को कार्य्य रूप में परिणत करने से पहिले अपने एकान्त हितचिन्तकों की सम्मति ले लेनी चाहिये। वसन्त उसका परम मित्र और सहोदर के सामान था; उसकी धारणा थी कि वसन्त का हृदय निर्मल और आत्मा

अलोकमयी है; इसी लिये उसका विश्वास था कि उसकी सम्मति से उसका सदा कल्याण होगा। सुभद्रा उसकी सहोदरा है; पिता ने उसे अपने अगाध ज्ञान की सम्पत्ति-राशि दी है, उसका हृदय तप की आभा से उज्ज्वल बुद्धि साधना की श्री से उद्भासित और आत्मा अनन्त आनन्द के आलोक से आलोकित है। इसी लिये राजेन्द्र उसकी पवित्र सम्मति को अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। और पिता! उसके पिता तो मूर्तिमान् महेश्वर हैं, ज्ञान के भण्डार हैं, तप के निधान हैं और उनकी अन्तर कुटीर सदा योग की ज्योति से समुज्ज्वल और मधुर ब्रह्मनाद से मुखरित रहती है; अतः प्रत्येक कार्य्य के समारम्भ में उनका आशीर्वाद और आदेश ग्रहण करना उसका कर्तव्य है। पिता का आशीर्वाद उसके पथ की कण्टक राशि को कुसुम-सम्भार में परिणत कर देगा—राजेन्द्र के पितृभक्ति हृदय में यह भावना सहज ही बद्धमूल थी। इसी लिये राजेन्द्र प्रत्येक कार्य्य के प्रारम्भ में ही, मङ्गलाचरण के समान इन की कल्याण-कारिणी सम्मति को ग्रहण करना अनिवार्य्य समझता था। उसका विश्वास था कि इसके बिना कोई कार्य्य सफल नहीं हो सकता।

स्वामी जी और राजेन्द्र ने बसन्त के घर पर भोजन किया था और उस भोजन की सुचारु व्यवस्था की थी बसन्त-सहोदरा अन्नपूर्णा ने—इस बात का उल्लेख हम पहिले ही कर चुके हैं। रात के लगभग ९ बजे स्वामी जी तो अपनी यमुना तट वर्तनी कुटी में लौट गये; बसन्त घर पर ही रह गया और राजेन्द्र, उस चन्द्रिका-चर्चित नैश शान्ति की शोभा को देखता हुआ, एकाकी;

किन्तु चिर सहचर भावमण्डल के साथ अपने घर की ओर चला। वह धीर मन्द गति से जा रहा था क्योंकि वह जानता था कि सुभद्रा उसकी प्रतीक्षा में नहीं बैठी होगी। वह उससे कह आया था कि वह आज बसन्त के घर भोजन करेगा। प्रसुप्त प्राकृति की प्रशान्त शोभा को उत्फुल्ल दृष्टि से देखता देखता वह घर की ओर जा रहा था।

स्वामी जी के अमृतमय आदेश ने उसके हृदय को आनन्दमय आलोक से अलोकित कर दिया था और उस मधुर आलोक में उसके हृदय के भाव, मण्डलाकार होकर, प्रवृति की ताल पर बड़े उल्लास के साथ नृत्य कर रहे थे। वह अपने व्याज के संकल्प की तथा च स्वामी जी की पवित्र प्रेरणा की बात अपनी सहोदरा और पिता के सामने विवृत करके उनकी सत्य-सुन्दर सम्मति, पवित्र आदेश और मङ्गलमय आशीर्वाद ग्रहण करने के लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहा था। मार्ग में वार वार उसके हृदय में यह विचार हिल्लोलित हो उठता था कि जब सेवा के पवित्र संकल्प में इतना आनन्द है, तब न मालूम सेवा में कितना उज्ज्वल उल्लास होगा? और उसकी सफलता में? अहा! उसकी तो कल्पना मात्र से अक्षय आनन्द का अनुभव होता है। राजेन्द्र ने अनेक धर्म-ग्रन्थों का पारायण किया था, अनेक ऋषियों, विद्वानों और महात्माओं के पवित्र सुन्दर वाक्यों को बड़े मनोयोग पूर्वक मनन किया था, पर आज पहिले पहिल उसके सरल-सुन्दर हृदय में भगवान् वेद व्यास का यह पवित्र-मधुर वाक्य उज्ज्वल सत्य के दिव्य वर्णों में अङ्कित होकर विलसित हुआ—

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥ *

आज उसने जीवन के रहस्य और सार को जान लिया। आज उसने जाना कि निस्स्वार्थ कर्तव्य पालन में भगवान् ने कितना आत्मिक आनन्द भर दिया है। आज उसने अनुभव किया कि संतोषमयी त्यागमयी सेवा में जगदीश्वर ने कितनी शीतल शान्ति की धारा प्रवाहित कर दी है। आज उसने इस रहस्य को मालूम किया कि क्यों पाँचों तत्व, अपने आप, बिना किसी अभिलाषा के, बिना किसी प्रकार की प्रत्युपकार की आकाँक्षा के, बिना किसी मधुर फल की प्राप्ति की आशा के, बिना विभूति, स्वर्ग और मोक्ष की उपलब्धि की चिन्ता के प्राणिमात्र की सेवा में रत रहते हैं। आज राजेन्द्र को अवगत हुआ कि वास्तविक आनन्दमयी अनुभूति, सन्तोषमयी परितृप्ति एवँ विकार-रहित शान्ति किसे कहते हैं ? राजेन्द्र इसी उल्लास-मयी तरंगराशि से हिल्लोलित होता हुआ घर पर पहुँच गया।

उस समय शीतल शान्ति की धारा के साथ सुधाकर की अमृतधारा का मनोरम सम्मिलन हो रहा था। विमुग्ध भाव से समस्त प्राकृति उस स्नेह-ललित आलिङ्गन को देख रही थी। और यमुना आनन्द से विभोर होकर मधुर रागिनी गा रही थी। उस समय शैतान की स्वार्थ-मयी चीत्कार का कहीं पर पता

* "हे जाजले ! धर्म को वही जानता है जो कर्म से, मन से, एवँ वचन से स्व के हित करने में लगा रहता है और जो सर्वों का नित्य स्नेही है।"
—महाभारत, शान्ति पर्व

नहीं था। उस समय संताप-हारिणी निद्रा की मृदुल गोद में पड़ा हुआ विश्व आनन्द से हिल्लोलित हो रहा था। परन्तु उस शीतल शान्ति को द्रवीभूत करती हुई कभी कभी किसी कृषक कुमारी की वियोग भरी रागिनी, करुण कल्लोलिनी की भाँति, उच्छ्वासित हो उठती थी। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो दयामयी शान्ति उस व्यथा की अस्पष्ट कथा को सुन कर स्पन्दित हो गई हो। ऐसे समय राजेन्द्र ने अन्तःपुर में प्रवेश किया।

पर वहाँ उसे सुभद्रा नहीं मिली। परिचारिका ने पूछने पर बताया कि वह पिता जी की कुटी में है। राजेन्द्र जल्दी जल्दी पिता की कुटी की ओर अग्रसर हुआ। उसके हृदय की आवेश-धारा इतनी उच्छ्वसित हो रही थी कि अब उसे रोकना उसकी शक्ति के बाहर हो गया था। वह स्वामी जी के आदेश की बात, पिता और सुभद्रा से कह कर, उनकी सम्मति, आज्ञा और आशीर्वाद को प्राप्त करके, जल्दी से जल्दी, कर्तव्य के पुण्य-पथ पर चलने के लिये विकल हो रहा था। उसे यह जान कर परम प्रसन्नता हुई कि पिता और सुभद्रा एक ही स्थल पर हैं। एक ही समय दोनों की सम्मति मिल जायगी। उसने इस सुअवसर की प्राप्ति को अपनी सफलता का प्रथम लक्षण माना।

कुटी के सामने ही मृदुल दूर्वादल के कोमल बिछौने पर पिता और पुत्री एक दूसरे के आमने-सामने बैठे हुये थे। मुक्त आत्मा के समान उस समय परिमुक्त वायु, आनन्द सौरभ के मद से मस्त होकर, झूम रहा था और समस्त वनस्पति-मण्डल को अपने

शीतल संस्पर्श से विश्व प्रेमी योगीश्वर की त्यागमयी सेवा के समान, सुख दे रहा था। उन्मुक्त विशाल नील गगन मण्डल में ज्योतिर्मयी नक्षत्र माला पहिन कर चन्द्रदेव, मधुर-सत्य के ललित विलास के समान, मन्द मन्द मुस्करा रहे थे। उनकी कोमल किरण राशि, आत्मा की आनन्द रेखाओं की भाँति, ऋषि-कल्प पिता और साधनामयी पुत्री के तेजोज्वल मुखों पर नृत्य कर रही थी। वह एक दर्शनीय दृश्य था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों सत्ययुग की ज्योत्स्नामयी रजनी में, शान्ति-शीतल तपोवन की पवित्र पृथ्वी पर बैठे हुये तपोधन महर्षि अपनी मन्त्र-दीक्षिता शिष्या को उपनिषदों का अमृतमय उपदेश दे रहे हों। उस पावन दृश्य को देख कर ऋषियों के पवित्र भारत का सुवर्णयुग आँखों के सामने अत्यन्त मनोरमभाव से नृत्य करने लगता था। उस सजीव चित्र को देख कर भारत के उस अभ्युदय काल की स्मृति जागृत हो जाती थी, जब इस पवित्र भूमि की प्रत्येक सन्तान को, चाहे वह स्त्री-लिंग हो या पुल्लिंग, ब्रह्मज्ञान के उज्ज्वल मन्दिर में निस्संकोच भाव से प्रवेश करने का अधिकार था, जब सभ्यता के उस सुरभित प्रभात में और धर्म के उस पवित्र आलोक में स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे को समान भाव से आदर करते थे और जीवन यात्रा में एक ही प्रदेश को जाने वाले दो पथिकों की भाँति, परस्पर सहायता करते थे। राजेन्द्र एक तपोधन ऋषि की सत्य सुन्दर वाणी सुनकर आया था; इस दूसरे तपोवन के दृश्य को देख कर वह और भी प्रफुल्लित हो गया। इस पवित्र मधुर दृश्य को देख

कर वह आनन्दातिरेक से विमुग्ध हो गया,और इस चारु दर्शन को उसने अपने उद्देश्य की सिद्धि का सुन्दर शकुन मान लिया।

वह भी धीरे धीरे जाकर अपनी सहोदरा सुभद्रा के पास पिता के पाद-प्रान्त में बैठ गया। उस समय उसके पूज्य पितृदेव उपनिषद्-वर्णित 'उद्दालक के ब्रह्मवाद' की विषद मधुर व्याख्या कर रहे थे—उस दिव्य रहस्य की बड़ी सुन्दर मीमांसा करके वे उसके प्रकृत तत्व को प्रकट कर रहे थे। सुभद्रा तन्मयी होकर उस दिव्य धारा में स्नान कर रही थी। राजेन्द्र के आने से इस व्याख्या में कोई वाधा नहीं पड़ी—पिता रुके नहीं; राजेन्द्र के अभिवादन के उत्तर में वे केवल एक बार मुस्काये और अपनी करुणा-ललित दृष्टि से एक बार उसकी ओर देख कर उन्होंने उसका मूक अभिनन्दन किया। ऋषिवर अपनी अमृतमयी दिव्य वाणी की मन्दाकिनी प्रवाहित करते रहे—वे स्वयँ उस समय आत्मानन्द में विभोर थे। राजेन्द्र और सुभद्रा, दोनों ही, तन्मय एवँ आत्म-विस्मृत होकर इस पवित्र ज्ञान-गाथा को सुनने लगे। उस समय संसार उनकी दृष्टि से विलुप्त हो गया था; उस समय स्वर्ग की शोभा भी एक ओर को हट गई थी; उस समय उनकी उन्मुक्त आत्मा, बड़े मधुर सुन्दर भाव में, ज्ञान की रंगमयी रंग-भूमि पर, आनन्द के उज्ज्वल आलोक में, उनके सामने, थिरक रही थी। सारा प्रवृत्ति-मण्डल, सारा भाव-पुञ्ज, सारा विचार समूह निवृत्ति की उस सुन्दर शोभा पर विमुग्ध हो गया था।

लगभग एक घड़ी के उपरान्त उनकी वह व्याख्या समाप्त हुई। उनके शान्त हो जाने पर भी कई क्षणों तक यही आभासित

होता रहा कि मानो उस गुरु-गम्भीर वाणी का प्रवाह अभी तक प्रवाहित हो रहा है। ध्वनि तो समाप्त हो गई थी पर प्रतिध्वनि अभी अवशिष्ट थी। धीरे धीरे उस मधुर आत्म-विस्मृति की स्निग्ध छाया उज्ज्वल चैतन्य में विलीन होने लगी धीरे धीरे राजेन्द्र और सुभद्रा उस मृदुल सुषुप्ति से जागने लगे। धीरे धीरे उनके मन, प्राण और विवेक, दिव्य आनन्द लोक से उतर कर विश्व-जननी की गोद में फिर से लौटने लगे। परन्तु इस प्रत्या-वर्तन में लगभग ५ मिनिट लग गये।

सब से पहिले पिता ही ने शान्ति भङ्ग की—पूछा—"राजेन्द्र! स्वामी जी के पास से आ रहे हो?"

राजेन्द्र—"हाँ, बापू जी!"

पिता—"आज किस ओर घूमने गये थे?"

राजेन्द्र—"आज तो कहीं नहीं गया। स्वामी जी यमुना-तट पर कुटी के सामने ही बैठ गये। बैठे बैठे वह सांध्य शोभा देखने में कुछ ऐसे तल्लीन होगये, मानो वे समाधि-मग्न हों। अवश्य ही उनके मुख पर वही उज्ज्वल तेज और उनके मधुर अधर पर वही मनोहर हास्य लीला कर रहे थे पर वे स्वयँ किसी और उज्ज्वल लोक में विहार कर रहे थे। लगभग एक घड़ी से अधिक वे इस मधुर विस्मृति में आनन्दमग्न रहे—इसी में देर होगई और फिर मैं किधर ही नहीं गया। वहीं पर उन्मुक्त आकाश के नीचे बैठकर स्वामी जी उपदेश देने लगे। बापूजी! स्वामी जी का ज्ञान भण्डार नहीं मालूम, कितना विशाल है। कहना चाहिये वह अक्षय है। जिस समय वे किसी गहन विषय

की मीमांसा करने लगते हैं या कोई अमृतमय उपदेश देने लगते हैं, उस समय वैदिक युग के ऋषियों की भाँति, उनके पवित्र मुखमण्डल से ऐसी सुधामयी धारा निकलने लगती है, मानो साक्षात सरस्वती ही वाणीमयी होकर अपने उज्ज्वल मन्दिर से बाहर आ रही हो। उस वाणी को सुनकर आनन्द से हृदय पुलकित हो जाता है और आत्मा संशय के आवरण से उन्मुक्त हो जाती है।"

पिता जी—"उनका क्या कहना है? बेटा! वे ऋषि हैं, ज्ञानी हैं, योगी हैं, सिद्ध महापुरुष हैं। योगी के पवित्र मुख से आत्मा का विमल आनन्द ही वाङ्मय होकर बाहर निकलता है—इसीलिये वह सत्य, सुन्दर और शिव होता है। यही तो विद्वान् और मुक्तात्मा में विभेद है। अनेक तर्क और मीमांसा के उपरान्त विद्वान किसी विषय को पाण्डित्यपट सौर अलंकार के द्वारा मण्डित करके विश्व को विमुग्ध करता है, पर योगी अपने तपोमय जीवन के अनन्त आनन्द की मधुर धारा से संतप्त संसार को शीतल करता है। विद्वान जिस भाषा का उपासक है, वह योगी के पीछे दासी के समान घूमती है। जो पाण्डित्य विद्वान का गौरव है, वह मुक्तात्मा के चरण की धूलि के समान है। विद्वान का अस्त्र है अनुमान, योगी की शक्ति है दिव्य दृष्टि। स्वामी जी ऋषि हैं, उन्मुक्त आत्मा हैं—उनके उपदेश सत्य की आनन्दमयी किरणें हैं।"

राजेन्द्र—"सच है बापू जी! मैंने अनेक बड़े बड़े विद्वानों के पाद-प्रान्त पर बैठने का सौभाग्य प्राप्त किया है, पर ऐसा

अक्षय कोष तो मैंने किसी का नहीं देखा ; मैं बड़े बड़े धुरन्धर पण्डितों की वाणी सुनकर अनेक बार चमत्कृत हुवा हूँ—पर स्वामी जी के समान मैंने अनेक भाषाओं पर ऐसा आधिपत्य किसी का नहीं देखा। संस्कृत और देशी भाषाओं की बात जाने दीजिये, वे जब कभी कभी अंगरेज़ी बोलने लगते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है मानों वे उस भाषा के आदि प्रवर्तक हों। मैंने तो ऐसी प्राञ्जल मधुर भाषा धुरन्धर अंग्रेज़ विद्वानों के मुख से भी नहीं सुनी।"

बापू जी हँसे मधुर शब्दों में उन्होंने कहना प्रारम्भ किया— "राजेन्द्र! योगियों के लिये संसार की समस्त भाषायें मातृ-भाषा के समान हैं। हृदय की भाषा को व्यक्त करने के लिये ही तो इन अनेक मौखिक भाषाओं की सृष्टि हुई है; तब जिसके हृदय में समस्त विश्व व्याप्त है और जो स्वयँ उज्ज्वल प्रकाश के समान संसार के प्रत्येक प्ररिमाणु में विलसित हो रहा है, उसके लिये सारी भाषाओं का ज्ञान हो जाना तथा उन पर उसका पूर्ण प्रभुत्व होना एकान्त स्वाभाविक है। जिसका हृदय विशाल सृष्टि की अन्तर्भाषा की तरङ्गों से उद्वेलित रहता है, उसके मुख से प्रत्येक भाषा का अत्यन्त मधुर सुन्दर भाव में प्रवाहित होना कोई आश्चर्य्य की बात नहीं है। अस्तुः आज स्वामी जी ने तुम्हें क्या उपदेश दिया।"

राजेन्द्र ने उल्लसित वाणी में उत्तर दिया—"उसी को सुना कर आपका आदेश ग्रहण करने के लिये तो मैं अत्यन्त उत्सुक भाव से दौड़ा आया हूँ। आज स्वामी जी ने मुझे मातृजाति के

उद्धार की पुण्य व्यवस्था करने का उपदेश और आदेश दिया है। उन्होंने आज मुझे बताया है कि जब तक भारत में माता अपने उसी पवित्र महिमामय आसन पर नहीं प्रतिष्ठित की जायगी, जिस पर वह सभ्यता के सुवर्ण-युग में आसीन की गई थी, तब तक इस अभागिनी भूमि के कल्याण की कोई आशा नहीं है।"

पिता जी—"राजेन्द्र! स्वामी जी का कथन एकान्त सत्य है। अवश्य ही इस समय भारतीय जननी-मण्डल अज्ञान के अन्धकार से उद्भ्रान्त हो रहा है—कुरीतियों ने उसे श्रृङ्खला से बाँध कर उसके उदार भावों को नष्ट कर दिया है और पुरुष समाज ने उन्हें अपनी क्रीत-दासी के समान बना रक्खा है। इसलिये इसमें सन्देह नहीं कि उनके अभ्युदय पर ही देश और समाज की उन्नति अनेकांश में निर्भर है।"

राजेन्द्र—"यही सोचकर उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि मैं अपनी जिमींदारी ही से इस पुण्य कार्य्य की आयोजना प्रारम्भ करूँ। उन्होंने मुझे आदेश किया है कि मैं गाँव गाँव में स्त्री-विद्यालयों का जाल फैला दूँ। उनका कथन है कि शिक्षा ही उद्धार का सब से प्रथम और सबसे प्रमुख साधन है—जब शिक्षा के आलोक से उनके हृदय का अन्धकार दूर हो जायगा, जब ज्ञान की ज्योति से उनका पवित्र पथ आलोकमय हो जायगा, तब स्वतः ही उनके भाव पवित्र और उनकी रुचि विशुद्धि हो जायगी। उस समय वे इस योग्य हो जाँयगी कि उनके हृदय में देश और समाज की सेवा का भाव जागृत किया जाय।

ज्ञान का प्रसार ही भारतीय मातृ-मण्डल की प्रमुख आवश्य-कता है।"

बापूजी—"स्वामी जी ने तुम्हें जिस पवित्र आयोजना की बात बताई है, वह ठीक है; उसकी महिमा और सत्यता में रत्तीभर भी सन्देह नहीं किया जा सकता। पर तौ भी मैं इस सम्बन्ध में एक बात अवश्य कहूँगा—मेरी सम्मति है कि तुम एकबार अपनी समस्त जिमींदारी का निरीक्षण करो। अपनी प्रजा से मिलो—मिलकर उनकी आवश्यकताओं और अभावों का ज्ञान प्राप्त करो। तुम स्वयँ जाकर देखो कि तुम्हारी प्रजा की दशा क्या है? स्त्री-शिक्षा हा क्यों—सभी की शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था करना तुम्हारा धर्म है। तुम्हारी स्थिति उस कार्य्यकर्ता के समान नहीं है जो एक ही विषय को लेकर उसको पूर्ण करने में व्यस्त रहता है, तुम्हारी तो स्थिति उस राजा के समान है, जिसे राष्ट्र के सभी अङ्गों की देख-रेख रखना अत्यन्त आवश्यक है। मंगलमय भगवान ने बहुत से प्राणियों को तुम्हारे अधीन कर दिया है—उनके उत्थान पतन का समस्त दायित्व तुम्हारे ऊपर है। तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम उन्हें शिक्षा देकर ज्ञानवान बनाओ; उन्हें वलिष्ठ और सत्यवादी बनाओ और उनकी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न करो। अकेली मातृ-मण्डल की कल्याण कामना को लेकर तुम पुरुष-समाज के अभ्युदय की चेष्टा से यदि विरत हो जाओगे। तो तुम आँशिक भाव से अपने कर्तव्य-पथ से अवश्य च्युत हो जाओगे। माताओं को उसी महिमामय आसन पर आसीन

करके उनकी पूजा करना तुम्हारा धर्म है पर साथ ही साथ पुरुषों को भी तुम्हें इस योग्य बनाना होगा कि वे रमणी को भगवती का अंश मानकर उसे लालसा और विलास का साधन बनाने से विरत हो जाँय। इसके लिये तुम अपनी ज़िमींदारी का दौरा करो। हो सके तो औरों की ज़िमींदारी का भी निरीक्षण करना। इस प्रकार अपनी प्रजा की आवश्यकताओं का अनुभव प्राप्त करके तुम स्वामी जी की पवित्र आयोजना के अनुसार अपने कर्तव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होना। कर्तव्य की सीमा में प्रविष्ठ होने से पहिले उसकी विशालता और कठिनता का भी परिचय प्राप्त कर लो। व्यूह-भेदन के लिये व्यूह-रचना का ज्ञान अनिवार्य्य है।"

सुभद्रा अब तक शान्ति पूर्वक पिता-पुत्र के इस सुन्दर सम्वाद को सुन रही थी। पिता की इस सारमयी विवेचना को सुनकर उसने मधुर स्वर में कहा—"राजेन्द्र भैया! बापूजी की बात बिल्कुल ठीक है। परिस्थिति को सुधारने से पहिले परिस्थिति की अव्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य्य है। औषधि प्रयोग से पहिले रोग का निदान अत्यन्त आवश्यक है।"

राजेन्द्र—"सो तो ठीक ही है। बापूजी! आपही के आदेश के अनुसार मैं करूँगा। स्वामी जी ने सूत्र रूप से सिद्धान्त बताया था, आपने उसकी मधुर सुन्दर व्याख्या करके मेरे पंथ को परिष्कृति कर दिया है। मुझे विश्वास है कि मैं स्वामी जी के आदेश का अब पालन कर सकूँगा।"

बापूजी मुस्कराये पर उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्होंने

उसी उल्लसित भाव से सुभद्रा की ओर देखा मानों उससे उन्होंने आग्रह किया कि तू ही उत्तर दे दे। देवी सुभद्रा ने शान्त भाव से कहा—"भैया! यही सब से उचित उपाय है। इसमें तो सन्देह है ही नहीं कि हमारी स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय है किन्तु हममें कहाँ पर ख़राबी है, कहाँ पर कमी है, हमारे रोग का स्वरूप क्या है, इत्यादि बातों का पूर्ण परिचय प्राप्त करके ही तुम्हें हमारे उद्धार की व्यवस्था करनी चाहिये। मूर्ख वैद्य की भाँति रोग का निदान किये बिना ही औषधि दे देना घातक है।"

राजेन्द्र ने सुभद्रा की शान्त मुख-श्री को देखा—उसने उसकी करुणामयी आँखों में एक विशिष्ट तेज देख पाया। राजेन्द्र के हृदय में सहसा एक भाव जाग उठा—उसने आवेश में कहा—"और बहिन! क्या तुम मुझे सहायता नहीं दोगी? तुम्हारी सहायता की बड़ी आवश्यकता है। देश के मातृ-मण्डल की दशा को तुम जितनी अच्छी तरह जान सकती हो, उतनी हम, हज़ार प्रयत्न करने पर भी, नहीं जान सकते। तब तुम्हारी सहायता मेरे लिये अनिवार्य्य है।"

सुभद्रा—"भैया! हम सन्यासिनी हैं। संसार के हित और सेवा के लिये हमारा वीतराग जीवन उत्सर्ग है। इस विशाल विश्व की, माता की भाँति, सेवा करना ही हमारा कर्तव्य है, विश्व-प्रेम ही हमारी साधना का मूल मन्त्र है। हमारा और काम ही क्या है? हमारे इस नश्वर शरीर का एक एक परिमाणु भी यदि तुम्हारी सेवा में काम आ जाय, तो उसे हम अपना परम सौभाग्य मानेंगी। वैराग्य ही हम विधवाओं की विभूति है।"

राजेन्द्र का गला भर आया—उसकी आँख में दो बूँद आँसू भी झलक उठे—उसने कम्पित कण्ठ से कहा—"बहिन! तब तुम्हें भी मेरे साथ चलना होगा।"

सुभद्रा—"तब बापूजी की परिचर्य्या कौन करेगा?"

भाई-बहिन के इस पवित्र सम्भाषण में जो अभिनव त्याग की शोभा विलसित हो रही थी उसे देखकर पिता का विमल हृदय भी उज्ज्वल उल्लास से परिपूर्ण हो गया था। इस सम्वाद के अन्तराल में सुभद्रा की वाणी ने जो मधुर वैराग्यमय विषाद की धारा प्रवाहित कर दी थी, उसने पिता पुत्र दोनों के हृदयों को द्रवीभूत कर दिया था। पिता के लोचन युगल में भी, दो अश्रु बिन्दु कमल-दल पर प्रभात के ओस कण की भाँति, उस उज्ज्वल चाँदनी में झलमला उठे। उन्होंने सुभद्रा का प्रश्न सुनकर मधुर शान्त स्वर में कहा—"बसन्तकुमार और अन्नपूर्णा यहाँ रहेंगे। बसन्त ज़िमींदारी का काम देखेगा और अन्नपूर्णा मेरी सेवा करेगी। (सुभद्रा की ओर देखकर) जाओ बेटी! तुम भी राजेन्द्र के साथ अवश्य जाओ। राजेन्द्र ठीक कहता है कि तुम मातृ-जाति की होने के कारण उनके अभावों और आवश्यकताओं को भली भाँति जान सकोगी। बेटी! तेरा हृदय विशुद्ध विश्व प्रेम से ओतप्रोत है; तू सन्यासिनी है, तू जानती है कि वैराग्यमयी सेवा का क्या रहस्य है। संसार तेरी शीतल सान्त्वना को पाने के लिये व्याकुल हो रहा है। तू मातृ-जाति की है। तू पुत्र की वेदना को, पुत्री की व्यथा को, अपनी सहानुभूति की शीतल धारा से शान्त करना जानती है। इसीलिये, मेरी

बेटी, जाओ ! जन्म-भूमि का आह्वान जब कानों में पड़ गया है, तब उसकी अवहेलना मत करो। मेरी चिन्ता छोड़ दे मेरी बेटी ! अन्नपूर्णा तेरी शिष्या है, वह तेरा स्थान ग्रहण करेगी। बेटी ! कर्तव्य मुख्य है। उसके परिपालन के लिये सब कुछ परित्याग करना पड़ेगा। जाओ बेटी ! आज ही के दिन के लिये मैंने तुझे प्रकृत सन्यास का मर्म बताया था। आज ही के लिये मैंने तुझे तपोमयी साधना में प्रविष्ट कराया था। अग्नि में बैठकर तू पवित्र हो चुकी है। तूने त्याग की ज्योति की उपलब्धि कर ली है। इसमें सन्देह नहीं, सुभद्रा, तेरे बिना तेरे इस विरागी वृद्ध पिता की कुटी सूनी हो जायगी पर, तो भी, तू जा ! संसार के हित के लिये, विश्व के कल्याण के लिये, मैं तुझसे सदा के लिये भी वियुक्त हो सकता हूँ। तू केवल मेरी नहीं है। तू समस्त विश्व की है। जाओ बेटी ! जाओ बेटा ! तुम्हारी यात्रा शुभ हो; महामाया तुम्हारा मङ्गल करें; मेरा आशीर्वाद तुम्हारे पथ का उज्ज्वल आलोक हो।"

सुभद्रा और राजेन्द्र पिता के ऐसे त्यागमय सुन्दर वचनों को सुनकर आनन्द और भक्ति से पुलकित होगये। उन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ पिता के श्रीपाद-पद्म में अपने शिर रख दिये। पूज्य पिता ने भी अपना एक हाथ पुत्री के वैधव्य भूषित शिर पर और दूसरा पुत्र के सौभाग्य भूषित शिर पर रख दिया। उन्होंने अपने आनन्द-आलोकित अन्तर से उन दोनों को आशीर्वाद दिया। वह एक अनुपम दृश्य था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों सत्य के पाद-पद्म में वैराग्य और विभूति प्रणिपात

कर रहे हों; मानो तेज और त्याग अखण्ड तप के श्री चरण-तल में अवनत हो रहे हों, मानों श्रद्धा और विश्वास धर्म के पाद-प्रान्त में प्रणाम कर रहे हों, मानों शान्ति और सौभाग्य विश्व-प्रेम के पदारविन्द को चूम रहे हों! संकल्प विजय नामक अभिनय का वह अभिनव दृश्य था।

आचार्य्य का पुण्य प्रस्ताव हो; पिता का मंगलमय समर्थन हो; सुहृद का आनन्दमय अनुमोदन है और सहोदरा का स्नेहमय सहाय्य हो, और निजका विमल विश्वास हो, तो उसकी सफलता में कण भर सन्देह नहीं है।

शीतल शान्ति पुण्य कर्म की सतत अनुगामिनी है; वह मंगल-मन्त्र की भांति उसकी पाप के प्रलोभन से, स्वार्थ के संसर्ग से एवँ लोभ की लालसा से सदा रक्षा करती रहती है। उसी के पवित्र प्रभाव से बाल-भक्त प्रह्लाद ने अग्नि-स्तम्भ का विमल विश्वास के साथ आलिङ्गन किया था; बालयोगी ध्रुव ने राज-प्रासाद को तिलाञ्जलि देकर बीहड़ वन की साधना-कुटी में अनन्त श्रद्धा के साथ प्रवेश किया था और महर्षिवर दधीचि ने अपना शरीर गो-मण्डल को खिलाकर अपना अस्थि-पञ्जर संसार की रक्षा के लिये हँसते हँसते अर्पण कर दिया था।

छठा परिच्छेद

दिव्य वाणी

ग्राम्य जीवन अत्यन्त सुन्दर और पवित्र जीवन है। मनुष्य और प्रकृति के पवित्र सम्बन्ध के प्रकृत-तत्व को जानकर; उसे अपने जीवन का अंश बनाने के लिये, शान्ति-प्रिय मनुष्य को किसी शान्ति-भवन ग्राम में जाकर निवास करना चाहिये। गाँव में स्वार्थ-संकुल नगर का सा दारुण कोलाहल नहीं है; वहाँ पर मधुर शान्ति का साम्राज्य है। वहाँ पर दूर, क्षितिज के ऊपर; अस्त होते हुये सूर्य्य की सुन्दर शोभा को बड़ी बड़ी अट्टालिकायें अपने विशाल कलेवर के पीछे नहीं ढाँक लेती हैं; वहाँ आप अपनी वेलि-वेष्टित कुटी के कुसुम-सज्जित द्वार पर खड़े होकर, नदी के उस पार; बहुत दूर पर हरे हरे खेतों के हरे हरे पौधों को चूमते हुये अस्तगत सूर्य्य के उस विदा-समारोह को विना बाधा के विना व्यवधान के देख सकते हैं। वहाँ का जीवन सरल है; संगी सच्चे हैं, निवासी परिश्रमी हैं; नगरों की अपेक्षा वहाँ शैतान का प्रभाव बहुत कम है। परन्तु काल-चक्र के दारुण प्रहार ने गाँव की समृद्धि और सुख को भी बहुत कुछ नष्ट कर दिया है। प्रकृति की गोद में

हँसने वाला कृषक-समुदाय इन हरे हरे खेतों का उत्पादक होकर भी भूखों मर रहा है। उसकी कुटी साक्षात् दरिद्रता की निवास-स्थली सी हो रही है। शीतकाल में भी उसके हृदय के टुकड़ों-बालक-बालिकाओं के शरीर पर आपको फटे चीथड़े वस्त्र दिखाई पड़ेंगे, और स्वयँ कृषक और कृषक-पत्नी को तो कदाचित् उतने वस्त्र भी उपलब्ध नहीं होते! एक ही वस्त्र से वे संसार के अन्नदाता छहों ऋतुओं को काट देते हैं! शीत काल की अर्ध-रात्रि कटती है अग्नि की कृपा से और ग्रीष्म के दिवस का कुछ अंश व्यतीत होता है किसी छायामय वृक्ष के शीतल आश्रय में। वर्षा शिर पर बीतती है। टूटी हुई झोपड़ी में वह बिचारा रात रात भर अपने पुत्र को गोद में लिये हुये व्यतीत करता है। सच पूछिये, तो वह पूरा तपस्वी है। कड़ी धूप में वह रसिया गाकर हल चलाता है; भीषण शीत में वह एक फटी हुई चादर ओढ़ कर खेतों को निराता है; दारुण वर्षा में वह भीगते भीगते मेढ़ बाँधता है। पर उसकी इस समस्त तपस्या का मधुर-फल भोगते हैं नगर की विशाल अट्टालिकाओं के निवासी महाजन! प्रकृति का प्यारा वह सरल परिवार दाने दाने को तरसता है। साधन होते हुये भी वह एक गाय नहीं रख सकता। एक चम्मच दूध के लिये उसका बीमार बालक तड़पता है! कौन जाने किन पापों के लिये आज इस कृषक-समुदाय को यह भयंकर दण्ड मिल रहा है! अथवा यही कौन जाने कि धनवान इन परिश्रमी सच्चे जीवों पर दारुण अत्याचार करके जल्दी जल्दी अपने पाप का घड़ा भर रहा है। इसीलिये यद्यपि गाँव में प्रकृति की वही सुन्दर

शोभा है, प्रभात का वही सुरभित सौन्दर्य है; संध्या की वही शान्ति श्री है; यामिनी की वही ज्योतिस्नामयी आभा है, पर वहाँ का जीवन अत्यन्त कटु और विषादमय हो रहा है। किन्तु तो भी इन् सरल, सच्चे, प्रकृति पुत्रों ने अपने शरीर का शेष रक्त विन्दु देकर भी सत्य और सरलता को सुरक्षित रक्खा है। इसीलिये इन दुःखी जीवों के वीच में रह कर जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथाच उन्हें अत्याचार के दारुण उत्पीड़न से बचाने का साधु-प्रयत्न करता है, वह वास्तव में पुण्यात्मा है। जो चाहते हैं कि उनका जीवन शान्ति के साथ व्यतीत होवे और साथ ही साथ वे उपकार भी कर सकें, उनके लिये सब से श्रेष्ठ कर्तव्य भूमि है गाँव। वहाँ के वन में कितने ही फूल फूलते हैं पर भयंकर तुषार के हाथों से दलित हो जाते हैं, वहाँ की कुटी में कितने ही रत्न उत्पन्न होते हैं, पर वे अकाल ही में दुःख से जर्जर होकर परमधाम को पधार जाते हैं। इनकी सेवा करना, इन्हें सहानुभूति के द्वारा सान्त्वना देना, इनकी उन्नति की व्यवस्था करना एवँ इनकी अत्याचार के कराल यन्त्र से रक्षा करना परम पुण्य का विषय है। जो इस पुण्य की निधि प्राप्त कर लेता है, वह तप और त्याग के स्वरूप को भी जान लेता है। सच पूछिये, तो वही निष्काम कर्मयोगी है; वही मुक्तात्मा है; वही सायुज्य मुक्ति का अधिकारी है।

यद्यपि गाँव का सङ्गठन बहुत कुछ अव्यवस्थित हो गया है किन्तु फिर भी अभी उसके संगठन में आपको साम्य-भाव के सुन्दर दर्शन मिलेंगे। सारा गाँव आपको एक कुटुम्ब के समान

संगठित प्रतीत होगा। वहाँ अनेक जातियों के सभ्य होते हुये भी वे आपस में स्नेह-सूत्र में आबद्ध होते हैं और उनमें ऊंच नीच का ऐसा वैषम्य नहीं होता है कि वे परस्पर विद्वेष करके रात दिन एक दूसरे का हृदय विदीर्ण करते रहें। हिन्दू और मुसलमान भी वहाँ पर पुण्य सम्बन्ध में बँधे रहते हैं। क्षत्रिय-बालक यदि वृद्ध ब्राह्मण को बाबा कहता है, तो ब्राह्मण-कुमार वृद्ध वैश्य को दादा कह के पुकारता है। वृद्ध सैयद समवयस्क ठाकुर को भाई कहता है, तो ब्राह्मण युवती वृद्ध पठानी को नानी कह कर पुकारती है। नाई की पत्नी क्षत्रिय ज़िमींदार की पत्नी को चाची कहती है, तो ज़िमींदार-कन्या घर में काम करने वाली दासी, परिचारिका को मौसी कह कर पुकारती है। प्रत्येक जाति के युवकों पर प्रत्येक जाति के वृद्धों का शासन समान भाव से चलता है; प्रत्येक जाति की युवती प्रत्येक जाति की वृद्धा का गुरुजन के समान आदर करती है। शूद्र वृद्ध ब्राह्मण बालक को वेश्या के द्वार पर खड़ा देख कर उसे भली भाँति फटकार देने का अधिकार रखता है; सैयद-कुमार को ताड़ी वाले की ही दूकान के सामने खड़ा देख कर वृद्ध वैश्य उसे कुवाच्य कह सकता है; ब्राह्मण युवती को वैश्य वृद्धा अनुचित आलाप पर तीव्र भर्त्सना करने का सामाजिक अधिकार रखता है। परन्तु नगरों के विषमय संसर्ग से यह अमृतमयी व्यवस्था धीरे धीरे नष्ट होती जा रही है और जाति-गत दम्भ और अहङ्कार के भाव समाज के सभ्यों में विषम विद्वेष की अग्नि बड़ी शीघ्रता से उत्पादन कर रहे हैं। इसीलिये भगवान

ने जिनके हाथ में गावों की सुव्यवस्था का भार सौंपा है, उन्हें—उन ज़िमींदारों को—यह चाहिये कि वे सदा प्राणपण से इस बात की चेष्टा करें कि उनके गाँव की शान्ति, विषम-विभेद के द्वारा, नष्ट न हो जाय। भगवान ने उन्हें प्रजा के परिपालन और उनकी समृद्धि की साधना के लिये इस विश्व में भेजा है; उन्हें अपने कर्तव्य की ओर से किसी समय पराङ्मुख नहीं होना चाहिये। मङ्गलमय भगवान ने अनेक प्राणियों के सुख दुख का भार उन्हें सौंपा है, इसीलिये उनका परम धर्म है कि प्रजा के अभ्युदय, प्रजा की शान्ति और प्रजा के आनन्द की व्यवस्था करके जगन्नियन्ता की इच्छा की पूर्ति करें। राजा का आसन आनन्द और विलास के लिये नहीं है; आधीन एवँ आश्रित जनों की कठिन परिश्रम से उपार्जन की हुई सम्पत्ति को उनसे छीन कर अपने सुख भोग में पानी की भाँति बहा देने के लिये राजपद की सृष्टि नहीं की गई है। उस आसन पर बैठना शर-शय्या पर शयन करने के समान है; पग पग पर इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं न्याय की हत्या न हो जाय, कहीं शान्ति का विलोप न हो जाय; कहीं सत्य के स्थान पर अभिमान न आकर अधिकार कर ले। पिता और पुत्र का जो सम्बन्ध है; ज़िमींदार और प्रजा का भी वही सम्बन्ध है। जिसकी प्रजा दुखी है; जिसकी राज्य-सीमा के भीतर आग लगी हुई है; जो विलास-रत होकर प्रजा के उत्पीड़न को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है, वह ज़िमींदार होने के योग्य नहीं है, उसके स्थान पर किसी योग्य व्यक्ति को प्रस्थापित

करने में रत्ती भर भी पाप नहीं हैं। यद्यपि आज प्रजा में प्रभु-परिवर्तन की शक्ति नहीं है, पर इससे ज़िमींदारों को यह न समझ लेना चाहिये कि निर्बल प्रजा की गुहार व्यर्थ जायगी। संसार का इतिहास एक नहीं अनेक ऐसी घटनाओं को अपने वक्षस्थल में धारण किये हुये है जब एक ही रात्रि में बड़े बड़े नरेन्द्रों का सर्वनाश हो गया है और उनके मणिमय मुकुट प्रजा के पैरों की धूल में लोटे हैं। इसीलिये, जो अपने पुत्र के समान अपनी प्रजा की रक्षा करता है, उसको इस दारुण पतन से भयभीत होने की रत्ती भर आवश्यकता नहीं है।

ऊँची शिक्षा के साथ साथ राजेन्द्र के हृदय में यह उदार विचार दृढ़ भाव में अङ्कित हो गये थे। स्वभावतः ही वह दया और प्रेम का भण्डार था, बस पर स्वामी आनन्द स्वामी ने उसके जीवन की गति को सेवा की ओर प्रवृत्त कर दिया था। देश-प्रेम की तरङ्ग ने उसके हृदय में एक छिपी हुई मधुर आशा को जागृत कर दिया था। कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करने से पहिले ही उसे आचार्य्य एवँ पिता के आदेश और उपदेश ने उसे कर्तव्य की झाँकी दिखा दी थी। सहोदरा सुभद्रा ने उसे निष्काम साधना के मर्म का ज्ञान करा दिया था और उसने स्वयँ अपने विशाल ज्ञान और उज्ज्वल उल्लास के प्रकाश में सेवा और स्नेह के दिव्य स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर लिया था।

राजेन्द्र अपनी यात्रा का प्रबन्ध करने लगा। बसन्त ने भी उसे सहायता दी। अवश्य ही राजेन्द्र के लिये बसन्तकुमार

को साथ न ले चल सकने के कारण दुःख हुआ, पर कोई उपाय ही नहीं था। एक तो पिता की आज्ञा, दूसरे ज़िमींदारी की देख-रेख के लिये उसकी अनिवार्य्य उपस्थित—राजेन्द्र को विवश होकर वसन्तकुमार को छोड़ना ही पड़ा। परन्तु उसकी हार्दिक अभिलाषा यही थी कि वसन्त उसके साथ चले, क्योंकि वह उसका सुहृद, मन्त्री एवँ सहोदर के समान था। पर, विश्व में चरित होने वाली समस्त घटनाओं का जो सूत्रधार है, उसकी इच्छा नहीं थी। वह वसन्त को किसी और ही अभिनय का पात्र प्रकल्पित कर चुका था; तब वसन्त कैसे जा सकता था? उस मंगलमय सूत्रधार की इच्छा की जय हो! मानव-बुद्धि उस कल्याणमयी इच्छा के रहस्य को अपनी सूक्ष्म ज्योति से कैसे आलोकित कर सकती है?

सूर्य्योदय हो चुका था। प्रत्येक तुषार-कण में अनेक सप्तवर्ण रञ्जित इन्द्र धनुषों की सृष्टि करती हुई प्रभात सूर्य्य की कोमल किरण-राशि गुलाब-दल पर नृत्य कर रही थी। यमुना अपने उसी चिर-संगीत को गाती हुई प्रवाहित हो रही थी। उसके नीलाम्बर पर सुवर्ण-रेखाओं की भाँति सूर्य्यदेव की किरणें पड़ कर एक अत्यन्त सुन्दर दृश्य समुपस्थित कर रही थी। चिड़ियाँ चहचहा रही थीं और कृषक-कुमारियों का समूह, मधुर मस्त रागिनी गाता हुआ, यमुना-तट से जल लेकर लौटा आ रहा था। रात्रि की उस चरम शान्ति के उपरांत वह संगीत जागृति की मधुर कल-कल ध्वनि के समान प्रतीत होता था। नया जीवन था—और उस नये जीवन का भी था सुन्दर सुरभित प्रभात!

रंगपुर की रंगभूमि पर नूतन जागृति का विमल नृत्य प्रारम्भ हुये एक घड़ी के लगभग बीत चुका था।

आज बसन्त और राजेन्द्र दोनों ही यमुनातट पर साथ साथ विहार करने के लिये आये थे। वे दोनों परम मित्र थे; पर तब भी वे सदा साथ साथ प्रकृति के सुन्दर भवनों में नहीं विचरण करते थे। बसन्त राजेन्द्र को परम स्नेह करते थे, पर वे प्रकृति की नीरव सुन्दरता को राजेन्द्र से भी अधिक प्यार करते थे। बसन्त ने कई बार यह बात राजेन्द्र से कही थी, पर सरल-सत्य का उपासक इस स्पष्ट कथन से दुखी न होकर और भी अत्यन्त प्रसन्न हुआ था। इसी लिये ऐसा अवसर बहुत कम आता था जब वे दोनों साथ साथ घूमते हों। अधिक-तर बसन्त अकेला, ही, यमुनातट की रंगभूमि पर, उषादेवी के चारु सौन्दर्य्य को तथाच संध्या-सुन्दरी के सुन्दर विलास को, आनन्द-मग्न होकर देखा करता था। अपने उस दिव्य-आनन्द में वह किसी की बाधा को सहन नहीं कर सकता था। इधर राजेन्द्र था पुस्तकों का परम प्रेमी; वह अन्तर्प्रकृति के चरम-लावण्य पर विलुब्ध हो जाता था। उसका अधिक समय पुस्तकों के पवित्र संसर्ग में व्यतीत होता और समय समय पर वह अपनी सहोदरा के साथ शास्त्र-चर्चा किया करता था। पर आज वे दोनों साथ साथ घूमने निकले; लगभग ४ मील का चक्कर लगा कर के यमुनातट पर आकर बैठ गये। थोड़ी देर तक वे प्रकृति की केश-राशि की भाँति, नील-सलिला यमुना की तरङ्गों का मृदुल-चपल हिल्लोल देखते रहे। एक विशिष्ट स्थल पर

सूर्य्य की किरणों का समूह उसको सुनील कलेवर को सुवर्णमय बना रहा था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानों सूर्य्यदेव अपनी स्नेहमयी सुता को चुम्बन कर रहे हों; मानों उस प्यारी अधम-तारिणी पुत्री के पवित्र स्नेह सलिल में सानन्द स्नान कर रहे हों। यमुना का वह सूर्य्योद्भासित सौन्दर्य्य, सुवर्णाम्बर पहिने हुये गोपी-वेष-धारी श्यामसुन्दर के ललित लावण्य की भाँति, विलसित हो रहा था और दोनों युवक उसे देख कर अपने हृदय में एक अनोखे आनन्द का अनुभव कर रहे थे। थोड़ी देर तक इस उज्ज्वल दृश्य को देखने के उपरान्त राजेन्द्र ने वसन्त से कहा—"भाई! यदि तुम भी इस यात्रा में मेरे साथ होते, तो मेरा बहुत कुछ उपकार होता। तुम्हारी सम्मति से मुझे विपुल सहायता मिलती।"

वसन्त ने गम्भीर भाव से कहा—"राजेन्द्र! यह तुम्हारा उद्भ्रान्त विचार है। तुम्हारा मेरे ऊपर अनन्य प्रेम है, इसी लिये तुम्हारे हृदय में बार बार ऐसा विचार उठता है। तुम जानते हो कि मैं विद्वान् नहीं हूँ, शास्त्रों में मेरी गति नहीं है। इसी लिये मेरी बुद्धि की सीमा भी संकुचित है। तुम विद्वान् हो; तुम जितनी अच्छी तरह अपनी प्रजा की स्थिति को देख कर उसके मूल कारणों को जान सकते हो, उतना मैं कदापि नहीं जान सकता। उतना क्या, उसका दशवाँ हिस्सा भी मैं नहीं जान सकता। राजेन्द्र! तुम्हारे साथ देवी सुभद्रा है; उनसे तुम्हें बड़ी सहायता मिलेगी, क्योंकि वे आनन्द धारा के समान पवित्र हैं।"

राजेन्द्र—"भाई पाण्डित्य परम सुन्दर विभूति है। इसमें

सन्देह नहीं ; पर सरल सत्य की उपासना उससे भी श्रेष्ठतर है। जिसका हृदय विमल विशुद्ध भावों का लीला-मन्दिर होता है, उसकी बुद्धि भी एकान्त, स्वच्छ और निर्मल होती है। दर्पण की भाँति उसमें संसार की वास्तविक स्थिति का प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है। तुम्हारी आत्मा अत्यन्त विशुद्ध है और तुम्हारा हृदय पवित्र विचारों का केन्द्र है। मेरी दृष्टि में तुम पुण्यात्मा हो, महापुरुष हो। यद्यपि तुम मेरे मित्र हो, पर मैं तुम पर श्रद्धा रखता हूँ। हम लोगों के सौभाग्य से ही हमें तुम्हारा पवित्र सत्संग प्राप्त हुआ है।"

बसन्त—भाई राजेन्द्र! अत्यन्त स्नेह ही इस निर्मूल विचार का उत्पादक है। मैं सच सकता हूँ कि मैं देवी सुभद्रा के श्रीचरणों की रज के एक कण के समान भी नहीं हूँ। मुझ से वे अवस्था में छोटी हैं ; पर मैं उनके पवित्र चरणों को उद्देश्य करके सदा प्रणाम किया करता हूँ। उन्होंने जिस अपूर्व संयम और कठोर तप के द्वारा अपनी मनोवृत्ति को एकान्त साधना में सन्निविष्ट कर दिया है, वैसा योगियों के लिये भी दुर्लभ है। इसी लिये, मेरी बात सच मानना, तुम्हें बड़े सौभाग्य से अपनी इस यात्रा में उनका पवित्र संग प्राप्त हुआ है। मेरी बात को सदा स्मरण रखना कि देवी सुभद्रा साधारण रमणी नहीं हैं; वे भगवान् के किसी विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिये इस धराधाम पर अवतीर्ण हुई हैं। उनके वैधव्य को तुम उनका दुर्भाग्य मत मानना, विशाल विश्व की सेवा ही के लिये भगवान् ने उन्हें वैधव्य दिया है; वे किसी परिवार-विशेष की विभूति बन कर

इस संसार में रहने नहीं आई हैं। वे तो महामाया के किसी मंगल उद्देश्य की पूर्ति के लिये निखिल विश्व को अपने पवित्र प्रेम से परिप्लावित करने के लिये ही इस पृथ्वी पर आविर्भूत हुई हैं। सदा उनकी आज्ञा के अनुसार काम करना, उनकी सम्मति का शास्त्र-वाक्य की भाँति आदर करना। वे दया और करुणा की प्रतिमा हैं। उनका हृदय दिव्य आलोक से उज्ज्वल है। जब जब तुम्हें संशय हो, जब जब किसी कठिन परिस्थिति की समस्या तुम्हारी बुद्धि से परे हो जाय, तब तब तुम अपनी शंकाओं को उनके सामने रख देना। वे सत्य-सुन्दर सम्मति देकर उनका समाधान कर देंगी।"

राजेन्द्र—"ऐसा ही करूँगा, वसन्त! परन्तु मैं आज तक यह नहीं जानता था कि बहिन सुभद्रा के विषय में तुम्हारे ऐसे उदार विचार हैं।"

वसन्त—"आज से नहीं; जिस दिन से मैंने तुम्हारे यहाँ आश्रय पाया है, उसी दिन से मैं उनमें छिपी हुई एक दिव्य-शक्ति देखा करता हूँ। जिस समय मैं आया था उस समय देवी सुभद्रा केवल १३ वर्ष की बालिका थीं। उस समय भी उनके पवित्र मुखमण्डल पर जगज्जननी पार्वती का सा दिव्य तेज विलसित होता था। उषा के प्रकाश में, संध्या की छाया में, मध्याह्न के आलोक में एवँ ज्योत्स्नामयी यामिनी की अमृत-वर्षा में, मैंने अनेक बार देवी सुभद्रा को बापू जी के पास बैठ कर, उनके आध्यात्मिक उपदेशों को, तन्मयी होकर, सुनते हुए देखा है। उस समय उनके पवित्र सुन्दर बदन-मण्डल पर मैंने समय

समय पर जो शान्तिमयी श्री देखी है, उसे देख कर मैं कृतकृत्य हुआ हूँ। वे सान्ध्य गगन के प्रथम नक्षत्र के समान उज्ज्वल, गुलाब दल पर पड़े हुये तुषार-कण के समान पवित्र एवँ शारदीय पूर्णिमा की मध्य यामिनी के समान शान्तिमयी हैं। वे भागवती विभूति हैं, दैवी शोभा हैं; वे इस लोक की नहीं है, वे ऋषि-लोक की निवासिनी हैं। विश्व के कल्याण के लिये ही उनका अवतार हुआ है। वे तुम्हारी बहिन हैं; पर वे सृष्टि की माता हैं। सन्यास की वे शोभा हैं; त्याग की वे मुक्तधारा हैं; सेवा की वे श्री हैं।"

कहते कहते बसन्त का मुख उल्लास से प्रदीप्त, हृदय स्फूर्ति से परिपूर्ण एवँ कण्ठ भावोन्मेप से गद्गद् हो गया। राजेन्द्र विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से बसन्त की ओर देखने लगे। बसन्त फिर कहने लगे:—

"देखो राजेन्द्र! उन्हीं को देख कर मैंने धैर्य्य धारण किया था। आचार्य्य आनन्दस्वामी ने सब से पहिले मुझे बाल-विधवा सन्यासिनी देवी सुभद्रा का, अग्नि से प्रदीप्त, तप से समुज्ज्वल वेदना से ओतप्रोत चरित्र सुना कर धीरज बँधाया था। मैंने विस्मय अवाक् होकर और श्रद्धा से अभिभूत होकर देखा कि इस दिव्य सन्यासिनी ने अपने वैधव्य को घोर तप में परिणत कर दिया है; उसने अपनी प्रदीप्त वेदना को साधना का स्वरूप दे दिया है। जिस अग्नि के सहस्रांश से जल जाने पर साधारण जन व्यथा से चिल्ला उठते हैं, उसने उस प्रदीप्त ज्वाला के बीच में स्थित होकर अपने हृदय के समस्त स्वार्थ को

भस्मीभूत कर दिया और आप स्वर्ण की भाँति और भी उज्ज्वल होकर उस अग्नि-मन्दिर से बाहर चलीं आईं। उनके त्याग की वेगवती धारा में भोग और विलास साधारण तुच्छ पाषाण-खण्ड की भाँति बह गये। वे सब कुछ निष्काम भाव से उसी मंगलमयी शक्ति के श्री चरणों में अर्पण करके सन्यासिनी बन गईं। उनके उस दिव्य चरित्र को मनन करके मैंने जाना कि मेरा दुःख उनके दुःख की समता में अणु के समान है। मैं पुरुष हूँ; अपने आश्रित का पालन करना पुरुष के लिये विशेष महत्त्व की बात नहीं है। इस संसार में साधारण से साधारण पुरुष भी अपने कुटुम्ब का पालन करता है। उस दिन मैंने देखा कि अपने असीम दुःख की कठोर अग्नि में बैठ कर, वे महासती सीता के समान, सुन्दर और पवित्र हो गई हैं। राजेन्द्र! तुम और हम दोनों ही ऐसी दिव्य देवी को पाकर परम सौभाग्यवान् हैं।"

वसन्त के इन श्रद्धा-सुन्दर वाक्यों को सुन कर राजेन्द्र की विशाल ललित आँखों में आँसू आगये। वे प्रथम मेघ की प्रथम विन्दु-माला की भाँति, उनके कपोलों पर पतित होने लगे। राजेन्द्र ने गद्गद् कण्ठ से कहा—"ठीक कहते हो भाई वसन्त, सुभद्रा वास्तव में इस लोक में नहीं है; यह ऋषि लोक की परम पवित्र आत्मा है। संसार में आदर्श की रक्षा के लिये ही वह अवतीर्ण हुई है। तुम्हारी बातें सुन कर मुझे निश्चय हो गया है कि मातृ-जाति की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर हम आज जिस कर्तव्य-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, उसको अलोकित करने के लिये सुभद्रा अक्षय आलोक माला है। वसन्त! आओ! हम

उस देवी को उसके उद्देश्य की सिद्धि में सहायता दें।"

ठीक उसी समय निकुञ्ज की ओर से कोमल वाणी सुनाई दी—"एवमस्तु"। दोनों ही उधर देखने लगे। उन्होंने देखा कि निकुञ्ज के तोरण द्वार पर अनिन्द्य सुन्दरी अन्नपूर्णा खड़ी हुई है।

उस समय वह ऐसी प्रतीत हो रही थी जैसे महामाया के मंगलमय उद्देश्य को उद्घोष करने वाली दिव्य वाणी की साकार सुन्दर मूर्ति हो।

सातवाँ परिच्छेद ।

प्रेम का प्रथम अङ्कुर

जहाँ पर वसन्त और राजेन्द्र बैठे हुये परस्पर वार्तालाप कर रहे थे, वहाँ पर वृक्षों का एक झुरमुट था । वन्य वेलियों ने उन वृक्षों को इस प्रकार आलिङ्गन कर रक्खा था कि वहाँ पर एक छायामयी शीतल निकुञ्ज कुटी बन गई थी । घुमाव बचाने के लिये गाँव के निवासी इसी कुञ्ज में होकर आते जाते थे । अन्नपूर्णा भी उसी कुञ्ज-वीथिका के बीच में होकर यमुनातट पर स्नान करने को आ रही थी । अभी वह कुञ्ज-कुटी ही में थी कि उसके कानों में राजेन्द्र और वसन्त के परस्पर कथोपकथन का स्वर पड़ा । हृदय की किसी अज्ञात किन्तु प्रबल प्रेरणा के वशीभूत होकर वह कुञ्ज-कुटीर के द्वार के पास ठिठक कर उन दोनों की बात-चीत सुनने लगी ।

हमें पहिले यह कहने का अवसर नहीं मिला था कि यद्यपि अन्नपूर्णा का बहुत सा समय ज़िमींदार के भवन में सुभद्रा के साथ व्यतीत होता था तथापि राजेन्द्र से वह विशेष निस्संकोच भाव से बातचीत नहीं करती थी । राजेन्द्र की दृष्टि के पथ पर

पड़ते ही उसे एक प्रकार की लज्जा सी बोध होने लगती थी और अनेक समय उसके मुख के शब्द उसके मुख ही में रह जाते थे। राजेन्द्र की भी अपूर्व दशा थी; जब कभी अन्नपूर्णा उनके सामने आ जाती, तब वे कुछ क्षण के लिये विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से उसकी ओर देखने लगते थे। उस समय वे संसार-ज्ञान से शून्य हो जाते थे और उन्हें ऐसा आभासित होता था मानो नन्दन-निकुञ्ज का कोई प्रस्फुट प्रसून प्राणमय होकर उनके सामने आकर खड़ा हो गया है। बचपन में जब तक यह कोमल प्रसून अध-खिला था, तब तक तो उसमें एक प्रकार का मृदुल संकोच मात्र ही था। पर जैसे जैसे वह मधुर सुमन विकसित होने लगा, तैसे तैसे वह बाल्य सुलभ संकोच अरुण रागमयी लज्जा में परिणत होने लगा। इसमें सन्देह नहीं कि लज्जा की पूर्ण मात्रा होते हुये भी अन्नपूर्णा २–३ क्षण तक राजेन्द्र के सामने खड़ी रहती थी, उसके पैर आगे को उठते ही नहीं थे। किन्तु ज्योंही उसे अपनी स्थिति का बोध होता था, त्योंही वह चञ्चला सौदामिनी की भाँति, पल भर में अन्तर्हित हो जाती थी।

परन्तु दोनों ही हृदय की इस प्रवृत्ति के निगूढ़ रहस्य को नहीं जानते थे। यद्यपि उस प्रवृत्ति का, जो कि प्रत्येक हृदय में निवास करती है, कोई विशेष विकास नहीं हुआ था; किन्तु धीरे धीरे वह परस्पर के इन आकस्मिक एवँ मुग्ध दर्शनों से अन्दर ही अन्दर परिपुष्ट होती जाती थी। दोनों ही के हृदय में समय समय पर एक मधुर राग उत्थित होने लगता था। किन्तु वह इतना अस्पष्ट था कि वे दोनों उसके प्रकृत तत्व को नहीं जान सकते

थे। दोनों दोनों को देख कर अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते थे, दोनों ही दोनों को देख कर कुछ क्षणों के लिये तन्मय हो जाते थे, दोनों ही के हृदय में समय समय पर एक अस्फुट आकांक्षा का अभास होता था। किन्तु इस आनन्द, आकांक्षा एवँ विस्मृति के अन्तराल में कौन सी मधुर दिव्य शक्ति नृत्य करती थी—इसका उन्हें पता नहीं था। यही कारण था कि उनके हृदय के भावों की अभिव्यक्ति उतने ही समय तक के लिये रहती थी, जब तक वे एक दूसरे के सामने रहते थे। आँख से ओट होते ही उनकी वह अर्धविकसित प्रवृत्ति हृदय के निभृत कोण में जाकर विश्राम करने लगती थी। शिशु जिस प्रकार हँसते हँसते अकस्मात् ही माता की मधुर गोद में सो जाता है, ठीक उसी प्रकार वह अस्फुट प्रवृत्ति विस्मृति की आनन्दमयी गोद में शयन करने लगती थी। कर्तव्य की रंगभूमि में वह प्रवृत्ति नैपथ्य के अन्तिम छोर पर जाकर विश्राम करने लगती थी।

अन्नपूर्णा के ठिठक कर बातें सुनने का एक कारण राजेन्द्र की उपस्थिति भी थी। पाठक-पाठिकाओं को स्मरण होगा कि वे दोनों उस समय देवी सुभद्रा की स्तुति कर रहे थे। देवी सुभद्रा अन्नपूर्णा की आचार्य्या थीं; उन्होंने १४ वर्ष की अवस्था में ८ वर्ष की बालिका के लालन-पालन का भार ग्रहण किया था; उन्होंने बड़ी सावधानी और स्नेह से उसका परिपोषण करके उसके सुन्दर स्वभाव की सृष्टि की थी; अपने भाई के मुख से उन्हीं स्नेहमयी आचार्य्या की स्तुति सुन कर अन्नपूर्णा का विमल

हृदय आनन्द रस से परिपूर्ण हो गया। बसन्त की वाणी में सत्य और स्फूर्ति का ऐसा मनोहर विलास था कि जिसने अन्नपूर्णा के किशोर मन को उल्लास की आभा से आलोकित कर दिया। इसके उपरान्त जब राजेन्द्र ने अपनी सरल मृदुल वाणी में उस देवी के उद्देश्य की सिद्धि में सहायता करने के लिये बसन्त से अनुरोध किया, तब तो अन्नपूर्णा अपने हृदय के उच्छ्वसित आवेग को न रोक सकी। उसका सारा संकोच, सारी लज्जा आवेश और उत्साह की वेगवती धारा में प्रवाहित हो गई। देववाणी की भाँति उसने निकुञ्ज कुटीर के कुसुम तोरण द्वार पर खड़े होकर दिव्य मधुर स्वर में कहा—"एवमस्तु"। उस समय स्वयं महाशक्ति ने उसके मुख से वह दिव्य शब्द कहलाया था। उस 'एवमस्तु' को सुन कर राजेन्द्र और बसन्त दोनों ही चकित भाव से उधर ही देखने लगे।

हृदय के आवेग में कहने को तो अन्नपूर्णा कह गई, पर जब वह कुछ कम हुआ और उसे वास्तविक स्थिति का बोध हुआ, तब तो उसने एक बार ही लज्जित होकर आँखें नीची कर लीं। उसके मुख से निकले हुये उस स्फूर्तिमय शब्द का दो हृदयों पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ा। बसन्त उस 'एवमस्तु' को सुन कर आनन्द से विभोर हो गया और उसके हृदय की रंगभूमि पर उल्लास और स्फूर्ति का ललित नृत्य प्रारम्भ हो गया। बसन्त जानता था कि देवी सुभद्रा अन्नपूर्णा की आचार्य्या हैं, वे अन्नपूर्णा पर अपार स्नेह रखती हैं और अन्नपूर्णा भी उन्हें बड़ी भक्ति और श्रद्धा के साथ प्रेम करती है। इसी लिये अपनी स्नेहमयी

आचार्य्यों की स्तुति सुन कर अन्नपूर्णा का आनन्द प्रकट करना एकान्त स्वाभाविक था। हाँ, अपने भावों का इस प्रकार समर्थन होते हुये देख कर वसन्त वास्तव में सन्तुष्ट और प्रसन्न हुआ।

पर राजेन्द्र! राजेन्द्र के हृदय पर उस 'एवमस्तु' ने और ही प्रकार का प्रभाव डाला। राजेन्द्र को उस 'एवमस्तु' में अनुराग और आनन्द का बीजमन्त्र दिखाई दिया, उस बीजमन्त्र को पाकर उसका समस्त भाव-मण्डल उल्लास से उत्फुल्ल हो उठा। उस 'एवमस्तु' में एक दिव्य आभा थी, जिसके प्रकाश में उसने देखा कि उसके हृदय-वन में एक मधुर प्रवृत्ति सुरभित प्रसूनों से सजी हुई झूम रही है। जिस प्रकार देवता के मुख से 'एवमस्तु' के विनिर्गत होते ही संसार के समस्त संताप अन्तर्हित हो जाते हैं और अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है, ठीक उसी प्रकार अन्नपूर्णा के मुख से निकले हुये इस 'एवमस्तु' ने राजेन्द्र के हृदय-मन्दिर को एक दिव्य माधुरी से आलोकित कर दिया। आज उस 'एवमस्तु' को सुनते ही उसे मालूम हो गया कि क्यों वह अवसर प्राप्त होने पर अन्नपूर्णा की ओर निमेषहीन होकर विमुग्ध दृष्टि से देखने लगता था; क्यों अन्नपूर्णा उसके सामने आते ही उसके मन, मस्तिष्क और प्राणों को आकर्षण मन्त्र के समान संज्ञाहीन कर देती थी। हृदय के एकान्त कोण में विश्राम करने वाली प्रेम-प्रवृत्ति ने आज अपनी साधना का इष्ट जान लिया; आज पहिले पहिल यौगिक साधना ने उज्ज्वल आनन्द की प्रथम अनुभूति का अनुभव किया। आज प्रेम का प्रथम प्रभात है।

राजेन्द्र ने आनन्द-अरुण दृष्टि से देखा कि प्रकृति-निर्मित निकुञ्ज के सुन्दर तोरण द्वार पर अन्नपूर्णा विनम्र-वदना होकर खड़ी है। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रकृति देवी ने स्वयं ही फूलों के मनोहर प्रेम में लज्जामयी वनदेवी का सुन्दर चित्र सजा कर रक्खा है। उस समय उसकी आँखों में थी लज्जा की लालिमा; कपोलों पर नृत्य कर रही थी उल्लास की अरुणिमा और अधर पर विलसित हो रहा थी सहज मुस्कान की प्रकाशमयी रेखा। कैसा सुन्दर स्वरूप था! प्रभात-प्रसून की प्राणमयी माधुरी की भाँति, सांध्य-नक्षत्र की मूर्तिमयी कोमल कान्ति की भाँति, एवँ शरदिन्दु की सजीव शोभा की भाँति, उस समय अन्नपूर्णा विलसित हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो अनुरागलक्ष्मी प्रकृति चित्रित निकुञ्ज द्वार पर खड़ी हो कर अपनी महिमा का विस्तार कर रही थी; मानो बसन्त-श्री सरल हास्य करती हुई यमुना के उस कलकल राग को सुन रही थी; मानो पुण्य-प्रवृत्ति शान्ति के मधुर राग को सुन कर प्रफुल्लित हो रही थी। राजेन्द्र इस दिव्य शोभा को देख कर विमुग्ध हो गया; वह उस मूर्तिमान् महोत्सव की सुन्दर शोभा के समान उस मनोरम मूर्ति को निर्निमेष होकर देखने लगा। उसी समय अन्नपूर्णा की दृष्टि सहसा राजेन्द्र की दृष्टि से मिल गई। राजेन्द्र की उस उत्फुल्ल तन्मयता में कुछ ऐसी माधुरी थी, कि अन्नपूर्णा भी उसकी दृष्टि से अपनी दृष्टि को न हटा सकी। उस समय राजेन्द्र भी मूर्तिमान् देवकिशोर की भाँति प्रतीत होता था। उसके लोचन-युगल अनुराग और आनन्द की आभा से उल्लसित हो रहे थे; उसके

सुन्दर मुखमण्डल पर उसके हृदय के पुण्य भावों का पवित्र प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हो रहा था। उस समय राजेन्द्र के समस्त कलेवर पर एक दिव्य शोभा नृत्य कर रही थी और वह उस समय पुण्य की प्रफुल्ल प्रतिभा की भाँति प्रतीत हो रहा था। कैसा मनोहर सौन्दर्य्य था? मानो परिस्फुट पारिजात देह धारण करके यमुना तट पर अवतीर्ण हुआ हो; मानो शङ्कर के ललाट पर लीला करने वाला बाल-चन्द्र मानव स्वरूप धारण करके प्रकट हुआ हो; मानो महामाया का मनोहर हास्य प्राणमय होकर आविर्भूत हुआ हो। अन्नपूर्णा भी इस ललित माधुरी को देख-कर जान गई कि राजेन्द्र के दर्शन पर उसके किशोर हृदय में जो आनन्दमयी लज्जा प्रकट होती थी, उसका उद्गम स्थान, उसका मुख्य केन्द्र वही पावन प्रवृत्ति थी, जिसे मानव भाषा में प्रेम कहते हैं। अन्नपूर्णा ने आज अपने इष्टदेव को पहिचान लिया। आज दोनों के हृदय का रहस्य दोनों के सामने खुल गया—दोनों ने दोनों के हृदय-पट पर आनन्द के उज्ज्वल वर्ण में जो सुन्दर शब्द लिखा हुआ देखा वह था—"प्रेम"।

हृदयों का विनिमय हो गया। राजेन्द्र ने अन्नपूर्णा के हाथ में अपने हृदय को सदा के लिये दे दिया और अन्नपूर्णा ने अपना हृदय राजेन्द्र के श्रीचरणतल में समर्पण कर दिया। अपना पराया हो गया और पराया अपना हो गया। आँखों ने भी एक दूसरे को जी भर के रंग में रंगा, भावों ने भी झूम झूम कर कविता सुनाई, उस उज्ज्वल प्रभात के पुण्य मुहूर्त में, यमुना के पवित्र तट पर, प्रकृति को साक्षी बना कर, दो जन एक हो गये; दो अर्द्ध

मिल कर पूर्ण एक हो गये। वे दोनों ऐसे अनवच्छिन्न सम्बन्ध में बँध गये कि मृत्यु भी उन दोनों को पृथक् नहीं कर सकती थी। इतना सब कुछ हो गया, पर बसन्त को इसका कुछ पता न चला। इतना बड़ा काण्ड २ क्षण ही में अनुष्ठित हो गया; एक बार दृष्टि के परस्पर सम्मिलन ही में वह आनन्दमय महोत्सव समाप्त हो गया। बसन्त ने पूछा—"क्या स्नान करने आई है, अन्नपूर्णा?"

अन्नपूर्णा—"हाँ, दादा! आज कुछ देर हो गई। बापू जी के प्रातः कृत्य के समय क्या क्या करना होगा—यह जानने के लिये मैं घड़ी भर रात रहे ही दीदी सुभद्रा के पास चली गई थी। दीदी सुभद्रा तो बाहर जाँयगी, इसी लिये अब बापू जी का सेवा का भार मुझे लेना होगा। मैं पहिले ही से सब बातें जान लेना चाहती हूँ, जिससे उन्हें कष्ट न हो।"

बसन्त—"ठीक है, अन्नपूर्णा! तुमने ठीक किया। देखना बापू जी की सेवा में कोई त्रुटि न होने पावे। तुम उनकी सेवा की समस्त व्यवस्था को भली भाँति समझ लेना।"

राजेन्द्र—"बापू जी को इनकी सेवा से अत्यन्त परितोष होगा, योंकि उनकी सेवा करने का इनमें इतना आग्रह है। बहिन सुभद्रा का वियोग उन्हें अखरेगा तो अवश्य, पर मुझे आशा है कि इनकी सुश्रूषा से उन्हें बहुत कुछ शान्ति मिलेगी और सुभद्रा की अनुपस्थिति का उन्हें कम से कम दुःख होगा। घर की देख-भाल का भी भार इन्हीं पर आ पड़ेगा। हैं तो सुभद्रा ही की शिष्या, सब सँभाल लेंगी। पिता जी तो इन्हें

पाकर परम प्रसन्न होंगे—इसमें संदेह नहीं।"

वसन्त—"बापूजी का अन्नपूर्णा पर सुभद्रा देवी से कम स्नेह नहीं है। जब अन्नपूर्णा १० वर्ष की थी, तब मैंने एक दिन देखा था कि बापूजी इसे अपने सामने बैठा कर वात्सल्यमयी दृष्टि से देख रहे थे। मैंने उनका ध्यान भङ्ग होने पर पूछा—'बापूजी! इतने तन्मय होकर आप क्या देख रहे थे?' बापूजी ने उत्तर दिया—"अन्नपूर्णा बड़ी सौभाग्यवती है; उसमें जितने लक्षण हैं, सभी से यह प्रतीत होता है कि यह एक असाधारण बालिका है। साक्षात् जगज्जननी की अंश भूता होकर वह धराधाम पर शान्ति और दया का विस्तार करने के लिये अवतीर्ण हुई है। उसके मुख-मण्डल पर जो दिव्य-माधुरी है, उसे देख कर मुझे बड़ा सुख मिलता है। निश्चय मानो, वसन्त! अन्नपूर्णा एक दिन रानी होगी। देखते नहीं हो, उसके विशाल लोचनों से अनुराग और करुणा की धारायें प्रवाहित हो रही हैं। बापूजी के वे शब्द मुझे अक्षरशः स्मरण हैं और मुझे इस समय ऐसा आभास हो रहा है मानों मैं उन्हें अभी सुन कर चला आ रहा हूँ।"

भाई के मुख से प्राणेश्वर के सामने अपनी प्रशंसा के वाक्य सुन कर अन्नपूर्णा के नयन और कपोल लज्जा से लाल हो गये; राजेन्द्र के लोचन और अधर पर भी आनन्द का विलास विलसित होने लगा। एक वार फिर दोनों के नेत्र परस्पर मिल गये। एक बार फिर दोनों ने दोनों की हृदय-पुस्तक पर लिखी हुई कविता को पढ़ कर आँखों आँखों में उसका उत्तर दे दिया। उस उत्तर को पाकर दोनों ही परम परितुष्ट और प्रसन्न हुये।

दोनों के हृदय अनिर्वचनीय आनन्द की धारा से परिप्लावित होने लगे। दोनों के हृदयों की रंगभूमि पर प्रवृत्ति का ललित नृत्य प्रारम्भ हो गया और दोनों की आत्मायें विशुद्ध आनन्द के सोमरस को पान करके उज्ज्वल हो उठीं।

बसन्त और राजेन्द्र घर की ओर चल दिये। उस समय अन्नपूर्णा और राजेन्द्र की क्या दशा थी, इसका वर्णन न करके हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि जिन्होंने अपने यौवन-बसन्त के प्रथम-प्रभात में किसी के रागरञ्जित चरणों में अपने हृदय की कुसुमाञ्जलि समर्पण की है, वही उन विशिष्ठ भावों के विकास को भली भाँति जान सकते हैं पर जिन्हें दुर्भाग्य से ऐसा सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है, वे इस पवित्र-प्रवृत्ति की सूक्ष्म विवेचना से भी एकान्त परितुष्ट नहीं होंगे—ऐसी हमारी धारणा है।

एक दो बार राजेन्द्र पीछे फिर कर किसी बहाने से देख लेता था, और यह एक अद्भुत आश्चर्य्य था कि ठीक उसी समय अन्नपूर्णा भी उसकी ओर देखने लगती थी। पर गम्भीर बसन्त अपने ही भावों में निमग्न था; वह प्रेम की इस ललित-लीला से एकान्त अनभिज्ञ था। इतनी बड़ी घटना घटित हो गई, पर सखा को मालूम नहीं हुआ। प्रेम-विज्ञान का यह एक अपूर्व आश्चर्य्य है।

पर प्रेम के देवता ने इस मनोरम दृश्य को देखा। प्रवृत्ति-कुञ्ज के पारिजात-पुष्पों की माला गूँथ कर उसने उन दोनों के गले में पहिना दी। उसकी मस्त सुगन्ध से दोनों की कल्पना,

वसन्त-कोकिल के समान कूकने लगी। उन्होंने उत्फुल्ल नेत्रों से, अपने सामने वसन्त के सुवर्ण-प्रभात को उदय होते हुये देखा। वे दोनों प्रकाश की भाँति विकसित हो उठे। उनके इस उज्ज्वल आनन्द के रंगमय अभिनय को देख कर स्वयँ राजराजेश्वरी मन्द मन्द हास्य करने लगीं।

यौवन-वन का प्रत्येक पल्लव और प्रसून प्रेम-प्रभात की पवित्र प्रकाश-धारा में स्नान करने लगा। दिव्य-माधुरी का वह सुन्दर समारोह था।
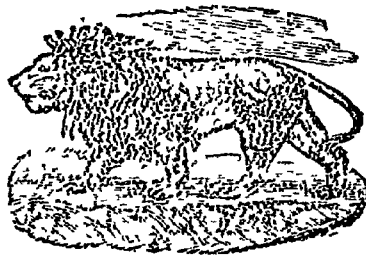
आठवाँ परिच्छेद

सुभद्रा की सखी

रद् ऋतु के दोपहर में गाँव की अपूर्व मनोहर शोभा हो जाती है। हरे हरे खेतों के बीच बीच में फूली हुई पीली सरसों ऐसी प्रतीत होती है मानों प्रकृति देवी के नील-शाल पर कारचोवी के काम की बूटियाँ हों। उसके ऊपर जब निर्मल नीलाकाश से उतर कर सूर्य्यदेव की सुवर्णमयी किरण-राशि क्रीड़ा करती है और जब शीतल मृदुल वायु का हिल्लोल उस शाल के अञ्चल को चञ्चल बना देता है, उस समय वह चपल शोभा एक देखने की वस्तु होती है। जिधर दृष्टि जाती है, उधर ही हरे हरे खेतों की श्रेणी दिखाई देती है। रंगपुर की शोभा इस समय किसी रंग-मन्दिर से कम नहीं थी। एक ओर प्रवाहित हो रही थी मृदु-कलकल-वाहिनी नील-सलिला यमुना और चारों ओर लहलहा रहा था महामाया प्रकृति देवी का नील अञ्चल! कृषक समुदाय का यह उत्सव काल था; अपनी सम्पत्ति की शोभा और वृद्धि को देखकर उनके आनन्द का पारावार नहीं था। सुन्दर सरल कृषक-किशोर कहीं कहीं अपने खेतों में आनन्द से गा रहे हैं। किसी के राग में विफल प्रेम की करुण ध्वनि है, तो किसी के गाने में मस्त

यौवन की कूक है। किसी के कण्ठ स्वर से प्रेम के विजय की मधुर कविता निकल रही है तो किसी की स्वर लहरी में निराश अनुराग की झलक है। परन्तु प्रकृति के उस मनोहर शृङ्गार को देखकर सभी उल्लसित हो रहे हैं।

प्रातःकाल के तुषार ने प्रकृति का जो मधुर सौन्दर्य्य अपने आवरण में छिपा रक्खा था, उसे अब सूर्य्यदेव ने प्रोज्ज्वल बना दिया है। उषा के स्निग्ध प्रकाश में जो प्रकृति-देवी अवगुण्ठनवती लज्जाशीला नववधू के समान प्रतीत होती थी, वह अब अनुरागमयी प्रगल्भ-मुग्धा के समान हास्यमयी हो रही है। उनके प्रत्येक परिमाणु से विलास की धारा प्रवाहित हो रही है; इस समय उनके यौवन-वन में पूर्ण वसन्त छाया हुआ है। उनका कलेवर मनोरम शृङ्गार से देदीप्यमान है; उनकी निश्वास मधुर सुगन्ध से परिपूर्ण है; यौवन-मद से वे झूम रही हैं और उनके प्रत्येक अंग से अनुराग और आभा की धारा प्रवाहित हो रही है। अपने भवन के सब से ऊँचे कोठे पर खड़ी होकर खिड़की से देवी सुभद्रा प्रकृति के इस ललित लावण्य को विमुग्ध दृष्टि से देख रही हैं। उनके सामने मधुर सौन्दर्य्य का सागर हिलोरें ले रहा है; उसकी उत्ताल तरङ्गराशि पर सूर्य्य की सुवर्ण किरणों का चपल नृत्य देखकर देवी सुभद्रा तन्मय हो रही हैं। लगभग १५ मिनट तक वे इसी भाँति खड़ी खड़ी महामाया के मधुर सौन्दर्य्य को देखती रहीं। अभी वह खड़ी ही थीं कि उनके पीछे एक स्त्री आकर खड़ी हो गई। देवी सुभद्रा को उसके आने की ख़बर नहीं हुई। वह तो उस समय दिव्य

सौन्दर्य्य के सिन्धु में निमग्न हो रही थीं। उनका मुखमण्डल आन्तरिक आनन्द की आभा से आलोकित हो रहा था। और उनके शान्त लोचन-युगल से अनन्त अनुराग की धारा प्रवाहित हो रही थी। उनके मधुर अधर पर पवित्र हास्य की मृदु अस्पष्ट रेखा थी और उनके पुण्य कलेवर से पवित्रता की प्रभा विकीर्ण हो रही थी। उनके शरीर पर दिव्य ज्योति का मनोहर आवरण था और उनका धवल अञ्चल शीतल वायु से हिल्लोलित हो रहा था। आगता रमणी स्थिर दृष्टि से इस सजीव सौन्दर्य्य की शोभा देखने लगी। देवी सुभद्रा विमुग्ध भाव से देख रही थीं प्रकृति के ललित लावण्य को और वह रमणी तन्मयी होकर अवलोकन कर रही थी देवी सुभद्रा के सरल सरस स्वर्गीय सौन्दर्य्य को।

आइये! हम आप भी विमुग्ध न हो जाँय। जब तक यह दोनों तन्मयी होकर सौन्दर्य्य का दर्शन कर रही हैं, तब तक हम इस आगता रमणी के विषय में कुछ साधारण सी बातें कहे डालते हैं। जब वे दोनों परस्पर वार्तालाप करने लगेंगी, तब इतना समय कहाँ मिलेगा?

आई हुई रमणी की अवस्था १७ या १८ वर्ष की होगी। विमल सौन्दर्य्य से उसका शरीर जगमग जगमग कर रहा था। उसके शरीर की शोभा ठीक वैसे ही थी जैसी प्रभात-सूर्य्य के कोमल प्रकाश में काश्मीर-केशर की फूली हुई क्यारी की होती है। उज्ज्वल गौर वर्ण था; साड़ी के भीतर से शिर पर जो जूड़ा दिखाई पड़ता था, उससे यही विदित होता था कि उसकी

घनकृष्ण केशराशि आजानुलम्बित होगी। परन्तु उसके प्रफुल्ल कमल के समान मुख पर विषाद की एक सूक्ष्म रेखा थी; उसके विशाल लोचनों के प्रान्त देश पर, उज्ज्वल मोतियों के समान, अश्रु-बिन्दु ऐसे झलक रहे थे मानो नरगिस के फूल पर प्रभात तुषार के कण झलमला रहे हों। यद्यपि उस समय गर्मी नहीं थी; तथापि उसके सुन्दर ललाट पर ४, ५ प्रस्वेद बिन्दु विलसित हो रहे थे; इससे यही प्रतीत होता था कि वह उस समय थोड़े बहुत अंश में उत्तेजित अवश्य थी। उसके मधुर अधर गुलाब की सब से कोमल पाखुड़ी के समान सुन्दर थे, किन्तु इस समय वे भी दुख भरी निश्वास की उष्णता से मुरझाये हुये थे, उसके युगल कपोल काबुल के सेव के समान मनोहर थे किन्तु इस समय विषाद की छाया उन पर भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही थी। इसमें रत्ती भर सन्देह नहीं कि वह रमणी अत्यन्त सुन्दरी थी, ऐसा सौन्दर्य्य किसी विरली बाला के ही सौभाग्य में होता है।

वह एक गुलाबी रंग की साड़ी पहिने हुये थी जिसके नीचे फालसयी रंग की कञ्चुकी में उसके पीन पयोधर छिपे हुये थे। उसके वेष-भूषा में बहुत कुछ आडम्बर नहीं था, कोमल अँगुली में एक सोने की अँगूठी थी और विमल वक्षस्थल पर एक चन्द्रहार झूल रहा था। रमणी किसी धनाढ्य एवँ प्रतिष्ठित घर की विदित होती थी। उस सरल शृङ्गार ने उसके सहज सौन्दर्य्य को और भी मनोहर बना दिया था। उसके सौन्दर्य्य के विलास के सम्बन्ध में हम यहाँ पर एक बात और कहना

चाहते हैं। जो अङ्ग की बनावट से, एवँ भाव और संकेतों से, मानव स्वभाव के रहस्य को पहिचानने की कला में कुशल हैं, वे इस सुन्दरी को देखकर यह अवश्य कहेंगे कि उसे विलास और भोग से अधिक प्रेम है। उसकी आँखें बता रही थीं कि वे सदा मद से अरुण रहती हैं, उसके मुख की शोभा से यही पता चलता था कि विलास ही उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। उसके अधर किसी के चुम्बन के प्यासे से प्रतीत होते थे, पीन पयोधर से विभूषित उसका ललित वक्षस्थल किसी के दृढ़ आलिङ्गन का अभिलाषी था। उसकी निश्वास में लालसा की सुगन्ध थी, उसकी गति में वारुणी की मस्ती थी। जहाँ देवी सुभद्रा सन्यास-सौन्दर्य्य की मधुर मूर्ति थीं, वहाँ वह सुन्दरी विलास-प्रिय लावण्य की सजीव शोभा थी। देवी सुभद्रा यदि तपोमयी साधना की साकार कल्पना थीं, तो वह रमणी उच्छृङ्खल विलास की प्राणमयी प्रतिमा थी। देवी सुभद्रा ऋषि-लोक की तपस्विनी थी, वह रमणी स्वर्ग की वासनामयी सुन्दरी थी।

वह सुन्दरी उसी भांति ५-६ मिनट तक निश्चल होकर खड़ी रही, तब देवी सुभद्रा की समाधि भग्न हुई। उन्होंने अपने पीछे किसी को निश्वास-ध्वनि सुन कर पीछे फिर कर देखा। उनका देखना था कि वह रमणी जल्दी से उनके गले लग गई और बड़े करुण स्वर में फूट फूट कर रोने लगी। देवी सुभद्रा के करुणामय नयनों से भी अश्रु धारा पतित होने लगी। लगभग २-३ मिनट तक दोनों में से कोई नहीं बोला, उसके उपरान्त देवी

सुभद्रा ने अपने आँसू पोंछ कर उस रमणी के भी आँसू पोंछे। बहुत कुछ सान्त्वना देने पर रमणी की हिचकियाँ बन्द हुईं, ५—६ मिनट के उपरान्त वह अश्रु वर्षा रुकी।

उस सुन्दरी ने गद्गद् कण्ठ से कहा—"जीजी! तुम जा रही हो। तुम्हीं बताओ यहाँ मेरा कौन है? किसके ऊपर तुम मुझे छोड़े जा रही हो।"

सुभद्रा ने बड़े स्नेह से उसे सान्त्वना देते हुये कहा—"प्यारी राधा! मैं क्या सदा के लिये थोड़े ही जा रही हूँ। अधिक से अधिक मुझे २, २½ महीने लगेंगे। जहाँ तक होगा मैं जल्दी ही आऊँगी। तुम अपना जी इतना क्यों छोटा कर रही हो। छिः! कोई ऐसा करता है।"

राधा—"पर जीजी, दो ढाई महीने क्या थोड़े हैं? तुम्हारे बिना मुझे एक एक दिन भारी हो जायगा। तुम तो जानती ही हो कि मेरा यहाँ कोई नहीं है। जैसे वधिकों के घर में गाय रहती है, ऐसे ही मैं भी रह रही हूँ। सास है सौतेली। वे रात दिन मेरे पीछे पड़ी रहती हैं। मुँह में कौर दिया नहीं और उन्होंने बुरा भला कहना प्रारम्भ किया नहीं। ससुर है अपनी युवती पत्नी के वश में। वे उनसे मेरी शिकायत करके उल्टे और मुझे डाँट दिलवाती हैं। कहूँ तो किससे कहूँ? पति देवता हैं १२ वर्ष के कोमल बालक! पहिले तो उनके दर्शन के अतिरिक्त उनसे बात चीत करने का अवसर ही नहीं मिलता और यदि कभी मिल भी गया, तो वे लज्जा और सङ्कोच के वशीभूत हो जाते हैं। मेरी बातों का उत्तर तक नहीं देते। सम्भव है, वे अच्छी तरह मेरी

बातें समझते भी न हों। मैं रोकती हूँ। पर वे भाग जाते हैं, ज़बर्दस्ती करती हूँ, रोने लगते हैं। बहिन! अभी कल की बात है। मैं भोजन इत्यादि से निपट कर दोपहर के समय शीशे के सामने खड़ी होकर अपने बाल सवाँर रही थी। सासजी ने कहीं देख लिया। लगीं गाली देने; जली कटी सुनाने। सायंकाल को, न मालूम, ससुर जी से क्या कह दिया; उन्होंने भी मुझे और मेरे माता-पिता को मन भर के गालियाँ दीं। एक बार तो मेरे मन में भी आया कि मैं लज्जा संकोच को छोड़कर चार भली बुरी सुना दूँ। क्रोध से मेरा शरीर जलने लगा; पर तुम्हारे उपदेशों को स्मरण करके मैं चुप हो रही। पर उसी समय से मेरे मन में कुछ ऐसी ग्लानि भर गई है कि मेरे मुँह में कौर चलता ही नहीं है। अब तुम भी जा रही हो। जब हृदय की वेदना बढ़ जाती थी, तब तुम्हारे पास आकर मैं घड़ी भर रो लेती थी। दिल हलका हो जाता था। पर अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँगी। किसके पास जाकर अपने हृदय की व्यथा सुनाऊँगी; कौन मुझे सान्त्वना देगा?"

राधा की आँखों में फिर आँसू ढलक आये। देवी सुभद्रा ने बड़े प्यार से उसके आँसू अपने आँचल से पोंछे। उन्होंने बड़े मधुर शान्त स्वर में कहा—"बहिन! यह भाग्य का दोष है। पर देखो! फिर भी सास सास ही है; ससुर ससुर ही हैं। उनसे मुँह खोलकर कभी कुछ मत कहना। बहिन! आज न सही कल तुम्हारे पति-देवता बड़े हो जाँयगे। उस समय तुम्हारा सारा दुख मिट जायगा। तब तक सच्ची कुल-लक्ष्मी की भाँति सन्तोष

और धैर्य धारण करके अपनी इस विपत्ति को सहन करो। यह विपत्ति नहीं है, तप है जिसका मधुर फल तुम्हें किसी न किसी दिन अवश्य मिलेगा।"

राधा ने अपने विशाल लोचन उठाकर देवी सुभद्रा के प्रशान्त मानसरोवर के समान निर्मल मुखमण्डल की ओर देखा। शान्ति और पवित्रता की आभा से वह देदीप्यमान हो रहा था। दिव्य-श्री उस पर नृत्य कर रही थी। राधा ने विक्षुब्ध स्वर में कहा—"पर बहिन! यह बड़ा कठिन काम है। रात दिन का क्लेश, रात दिन की फटकार कहाँ तक सहन की जा सकती है। और फिर कभी कभी मन में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि मैं यह सब क्यों सहन करूँ? सहने का कोई कारण भी है? क्या यह मेरा घर नहीं है? मैं क्या इस घर की कोई नहीं हूँ? दिन भर दासी की भाँति काम करती हूँ, फिर भी रात दिन मुझे वे सब क्यों जलाते हैं? मैं तो वैसे ही जलती रहती हूँ........।"

आन्तरिक रोष और ग्लानि से राधा का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उसकी आँखों से फिर वेग पूर्वक अश्रु वर्षा होने लगी। समुद्र में एक ज्वार-भाटा सा आगया, जो बार बार रोकने पर भी नहीं रुकता था। फिर सुभद्रा देवी ने अपने पवित्र धवल अञ्चल से सुन्दरी राधा के आँसू पोंछे। बड़ी मधुर वाणी में शान्ति प्रदान करती हुई वे कहने लगीं—"राधा! धैर्य धारण करो। अशान्त होने से काम नहीं चलेगा। अशान्ति अग्नि को और भी प्रज्वलित कर देती है और उस अग्नि के प्रबल उत्ताप से मनुष्य विकल होकर बुद्धि और विवेक को खो बैठता है। उसका परि-

णाम बड़ा भयंकर होता है। इसीलिये मेरा तुमसे यही अनुरोध है कि तुम सन्तोष और धीरज को अपना चिर-सहचर बना कर शान्ति पूर्वक अपना समय व्यतीत कर दो। बहिन! मेरी बात को मानने ही में तुम्हारा कल्याण है। स्मरण रक्खो सन्तोष उत्तप्त हृदय के लिये संजीवनी बूटी है।"

राधा—"जीजी! तुम्हारा कहना एकान्त सत्य है। तुम्हारे ही मधुर उपदेशों को सुन सुन कर मैंने अब तक इतनी विपत्तियाँ सही हैं। पर तुम्हारे पीछे भी मैं सह सकूँगी या नहीं—इसमें सन्देह है। उसका कारण प्रत्यक्ष है। जब जब मैं अपमान और अनादर की अग्नि से व्याकुल हो जाती थी, तब तब मैं तुम्हारे पास आकर तुम्हारी गोद में शिर रखकर रो लेती थी। तुम्हारी बातों में अमृत है; तुम्हारे उपदेशों में मूर्तिमती शान्ति का निवास है; मेरे जले हुये हृदय को तो वे सदा शीतल हरि चन्दन के प्रलेप के समान शान्ति कर देते थे। पर अब तुम जा रही हो—दो ढाई महीनों के लिये जा रही हो। इसीलिये मैं व्याकुल हो रही हूँ कि यदि मैं तुम्हारे पीछे अपने अपमान को न सहकर रोष और क्षोभ में कुछ अनुचित कर बैठी, तो मेरी बड़ी दुर्गति होगी। बिना किये जब यह दशा है, तब करने पर न मालूम क्या हो? हो जगदीश!"

राधा का बाँध फिर टूट गया। फिर मेघ-मण्डल घहरा उठे और धारावाही अश्रु वर्षा होने लगी। फिर देवी सुभद्रा ने उसके आँसुओं को अपने अञ्चल से पोंछा। स्नेह और आदर के साथ राधा को सान्त्वना देती हुई वे मूर्तिमती दया के समान कहने

लगीं—"राधा! मेरी प्यारी राधा! मैं जानती हूँ तुम बड़ी दुःखिनी हो। तुम्हारे हृदय की अग्निमयी वेदना का मैं भली भाँति अनुभव कर रही हूँ। मैं देख रही हूँ कि एक ओर तो तुम्हारे पतिदेव हैं बालक और दूसरी ओर तुम पर हो रहा है असत्य अत्याचार! तुम्हारी सौतेली सास और उनके एकान्त अनुगत तुम्हारे वृद्ध ससुर तुम्हें अकारण ही कष्ट देते हैं पर तौ भी बहिन! मेरे इस उपदेश को सदा स्मरण रखना कि हिन्दू-जाति की अभागिनी रमणी को सन्तोष से बढ़कर और कोई आश्रय नहीं है। रोष और अधैर्य्य से बढ़कर तुम्हारा कोई प्रबल शत्रु नहीं है। यदि तुमने उनका कहना सुना तो बहिन! तुम और भी भीषण विपत्ति के कठिन जाल में फँस जाओगी। यह विश्व बड़ा मत्सरमय है, यहाँ पग पग पर शैतान का जाल बिछा हुआ है। बहिन! धर्म और पुण्य का संग मत छोड़ना नहीं तो तुम शैतान के पाश में अवश्य फँस जाओगी। हम स्त्रियों का यही कर्तव्य है कि हम विपत्ति और सम्पत्ति में सदा उज्ज्वल मणि के समान चमकती रहें। तुम इसी साधना में प्रवृत हो जाओ।"

ठीक इसी समय अन्नपूर्णा ने उस मन्दिर में प्रवेश किया। देवी सुभद्रा ने अन्नपूर्णा को देखकर कहा—"बेटी! जाओ! कुछ थोड़े से फल, एक गिलास गर्म दूध और थोड़ी सी मिठाई ले आओ। बहिन राधा को आज सामने बिठा कर खिलाने की मेरी इच्छा है क्योंकि अब मैं २—२½ महीनों के लिये इनसे बिछुड़ रही हूँ।"

सहृदय पाठकों से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि इस इच्छा का मूल कारण है राधा का कल से निराहार रहना।

अन्नपूर्णा के जाने के उपरान्त देवी सुभद्रा ने कहा—"बहिन राधा! अन्नपूर्णा साक्षात् अन्नपूर्णा के समान है। क्या ही अच्छा हो यदि भैया राजेन्द्र का विवाह इसके साथ हो जाय। लड़की बड़ी सुशील है, करुणा की तो कल्लोलिनी ही है। बहिन! मेरे पीछे भी कभी कभी तुम इसके पास आती जाती रहना। इससे इसका भी मन लगा रहेगा और घड़ी भर को तुम्हारा भी जी बहल जाया करेगा। अन्नपूर्णा की बातों में बड़ा रस है।"

राधा—"आख़िर है तो तुम्हारी ही चेली! जैसा आचार्य्य वैसा शिष्य। पर अन्नपूर्णा तो सदा एकान्त ही में रहना पसन्द करती है। देखो न! कभी घड़ी दो घड़ी बैठ कर हम लोगों से भी बातचीत नहीं करती।"

सुभद्रा—"भाई बहिन दोनों का एक ही सा स्वभाव है। बापूजी के पास बैठ कर उनका उपदेश सुनने में अथवा किसी धार्मिक पुस्तक को पढ़ने ही में इसका अधिक समय व्यतीत होता है। इतनी ही छोटी अवस्था में इसने बहुत कुछ विद्या प्राप्त कर ली है; इसकी बुद्धि बड़ी तीव्र है।"

सुभद्रा इतना ही कह पाई थी कि अन्नपूर्णा एक थाली में सब सामान रख कर ले आई। उसके पीछे पीछे एक परिचारिका जल का लोटा लिये हुये थी। सुभद्रा ने बड़े आदर और अनुराग से अपनी अभागी सहेली को भोजन कराया। राधा ने भी तृप्त होकर भोजन किया। जिसके मुख में कल से ग्लानि और क्षोभ के कारण एक कौर तक नहीं गया था, उसने अपनी परम स्नेहशाली सहेली के मधुर आग्रह से पेट भर

कर भोजन किया। उस भोजन में अमृत से भी अधिक स्वाद था।

इसके उपरान्त और थोड़ी देर तक राधा सुभद्रा के साथ बैठी हुई बातें करती रही। यात्रा ही के सम्बन्ध में बातें चीतें होती रहीं। पर जब वह अपने घर के लिये जाने को उद्यत हुई, तब फिर एक बार उसकी आँखों में आँसुओं की अविरल धारा प्रवाहित होने लगी। देवी सुभद्रा का जाना राधा को ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानों उसका एक मात्र आधार, एक मात्र अवलम्ब उसके पास से दूर चला जा रहा है। उसके हृदय में यह धारणा बद्धमूल हो गई थी कि देवी सुभद्रा की उपस्थिति में उस पर किसी प्रकार की कोई विपत्ति नहीं आ सकती। देवी सुभद्रा मानों उसकी आश्रय थी, रक्षा-कवच थी, मंगल-मन्त्र थी, उसकी सर्व-सन्तापहारिणी इष्ट देवी थी! उसका विश्वास था कि देवी सुभद्रा का पुण्य प्रभाव उसे पाप-संसर्ग से बचाये हुये है। वह जानती थी, अनुभव करती थी कि बहिन सुभद्रा के पवित्र उपदेशों में ही यह शक्ति थी कि वे जो उसकी रोषमयी प्रकृति और लालसामयी वासना को दबाये रखती थी। हाय! अब क्या होगा? वह तो जा रही है। बार बार उसके हृदय में यह आशङ्का उत्पन्न होने लगी कि उसके ऊपर निकट-भविष्य में किसी भयंकर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ेगा। उसके मन में बार बार कोई कहने लगा कि उसका जीवन शीघ्र ही किसी अन्धकारमयी कन्दरा में पतित होने वाला है। राधा को ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों उसका सौभाग्य नष्ट होने वाला है। इसीलिये राधा अधीर और आकुल थी कि देवी

सुभद्रा के अमृतमय उपदेशों की शीतल धारा भी आज उसके उत्तप्त हृदय को शान्त नहीं कर सकी।

इसमें सन्देह नहीं है कि पुण्य-सत्संग के प्रकाश में मनुष्य अपने जीवन-पथ पर निर्भय, निश्चिन्त होकर अग्रसर हो सकता है। परन्तु उस प्रकाश के अस्त होते ही निर्बल आत्मा और उद्भ्रान्त विवेक का पतन अनिवार्य्य है। संसार की रङ्ग-भूमि पर नित्य ही हमें इसके उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इसीलिये ऋषियों ने सत्सङ्ग की महिमा की श्रद्धा पूर्वक स्तुति की है। उन्होंने सत्संग को भगवत्प्राप्ति का प्रमुख साधन माना है। किन्तु इसके साथ साथ एक बात और भी है। सत्संग कभी कभी तो किसी उद्दाम वासना को मूल से विनष्ट कर देता है और कभी कभी वह भीषण वासना सत्सङ्ग के भय से हृदय के किसी निभृत-कोण में जाकर छिप रहती है। ऊपर से देखने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि उस दुर्दन्त-वासना का अन्त हो गया पर वह वास्तव में अपने अवसर की खोज में चुपचाप पड़ी रहती है। ज्योंही उसके अनुकूल अवसर पाती है, ज्योंही सत्संग का प्रभाव कुछ समय के लिये अथवा सदा के लिये हट जाता है, त्योंही वह विभुक्षित केसरिणी की भाँति एवँ दलित नागिन की भाँति सतेज होकर हृदय के प्रवृत्ति-मण्डल पर आक्रमण करती है। उस समय उसके भीषण प्रभाव से अपने आपको सुरक्षित रखने वाला मनुष्य या स्त्री इस विश्व में आज तक नहीं पैदा हुआ। कम से कम इस सम्बन्ध का एक भी दृष्टान्त इतिहास के किसी पृष्ठ पर अङ्कित नहीं है।

नवाँ परिच्छेद

राधा का परिचय
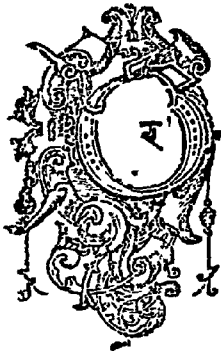
ङ्गपुर में अधिकतर ब्राह्मणों की बस्ती है। ज़िमींदार भी ब्राह्मण हैं। सारे गाँव में केवल ९-१० घर अन्य जातियों के हैं। उनमें से एक घर वैश्यों का है। उस घर के वर्तमान अधिष्ठाता हैं श्रीमान् सेठ रामसनेहीमल।

सेठ रामसनेहीमल के पिता अपने षोड़श वर्षीय कुमार के हाथ में बहुत थोड़ी सी सम्पत्ति छोड़ कर परमधाम को पधार गये थे। उनका शुभ नाम था लाला विलासराय। उनकी धर्मपत्नी उनके महा-प्रस्थान से दो वर्ष पहिले ही इस असार-संसार को परित्याग कर चुकी थीं। माता-पिता के इस सहसा विछोह से युवक रामसनेही बहुत उद्विग्न हो गया। छोटी ही अवस्था में विवाह हो चुका था और इस समय पञ्चदश-वर्षीया पत्नी घर में विद्यमान थी। इसीलिये गृहस्थी का सारा भार उसके सिर पर आ पड़ा। युवक रामसनेही ने उस भार को सहन करने की यथाशक्ति प्रचेष्टा की, किन्तु उसके पिता इतनी थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे, कि उससे घर का निर्वाह होना कठिन था। गाँव का निवास;

वहाँ पर कोई व्यापार भी नहीं चल सकता था। लाला विलास-राय अनुभवी थे—रुपये का, वर्ष भर में दो रुपया बनाना जानते थे। साथ ही साथ वे उधार देकर वसूल करने की क्रिया और संयम से भी भली भाँति परिचित थे। पर युवक रामसनेही में इतनी बुद्धि कहाँ, जिन लोगों पर पिता का कुछ थोड़ा बहुत ऋण था भी, उन्होंने भी उनके गत होने पर देने से इन्कार कर दिया। युवक रामसनेही बिल्कुल निराश्रय और निरावलम्ब हो गया, अन्त में जब उसने देखा कि जन्म-भूमि की गोद में रहने से मरण ध्रुव है तो उसने पितृनिवास की ममता छोड़ कर, वासन-वर्तन बेंच कर; अपनी पत्नी के साथ सीधे कलकत्ते की यात्रा कर दी। शुभ मुहूर्त में उसने अपना गाँव छोड़ा था, कलकत्ते पहुँचते ही उसने दलाली का काम प्रारम्भ कर दिया। युवक था कुशाग्र-बुद्धि और दूसरे व्यापारिक विषयों में स्वभावतः ही वैश्य बालक कुशल होता है। थोड़े ही समय में उसका काम चल पड़ा। जिस युवक ने दरिद्र वेष में महानगरी कलकत्ता में प्रवेश किया था—वह लक्ष्मी का कृपापात्र बन कर आनन्द से जीवन व्यतीत करने लगा। लगभग ३५ वर्ष की अवस्था में उनके घर में पुत्र-रत्न प्रकट हुआ। यद्यपि वे तो आशा छोड़ बैठे थे, पर जब भगवती की कृपा होती है, तब घोर निराशा भी मङ्गलमयी हो जाती है। बड़े आनन्द और उल्लास से उन्होंने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया। उनकी धर्म-पत्नी भी, जो सरलता की प्रतिमा और पवित्रता की प्रति-मूर्त्ति थी, पुत्र की प्राप्ति पर अत्यन्त आह्लादित हुई।

पर बहुत थोड़े समय ही के लिये जननी के भाग्य में पुत्र की मधुर लीला के दर्शन का विधान था। अभी यह शिशु केवल तीन ही वर्ष अपनी प्रेममयी माता की गोद में किलोल करने पाया था कि सहसा उसकी जननी उसे पिता के हाथों में अपने प्रेम के पवित्र स्मृति-चिह्न स्वरूप समर्पित करके महायात्रा पर प्रस्थान कर गई। दुखी पिता ने भी उस कोमल किशोर को अपने हृदय से लगा कर अपनी प्रेममयी भार्य्या के वियोग-दुःख को प्रशमित करने का प्रयत्न किया। उनका सारा अनुराग उसी बालक में केन्द्रीभूत हो गया। व्यापार की ओर से भी उनका मन हट गया और वे रात दिन उस बालक ही को लेकर अपना जीवन यापन करने लगे। उनके पास इस समय तक लगभग दो लक्ष की सम्पत्ति एकत्रित हो चुकी थी; इसीलिये व्यापारिक हानि की ओर उन्होंने कुछ ध्यान नहीं दिया। सहसा एक दिन उन्हें अपनी जन्म-भूमि की सुधि आ गई। अब महानगरी कलकत्ता उन्हें बड़ी भयंकर प्रतीत होने लगी। जब तक वह उनकी कर्म-भूमि थी, तब तक तो वह उनको अत्यन्त प्रिय थी। उसका कोलाहल, उसका व्यापार, उसका वैभव, एक दिन उनके आनन्द और उल्लास के विषय थे। अब वे ही सब, उनके हृदय की वेदना को बढ़ाने लगे। अब तो वह मधुर शान्ति के लिये व्याकुल हो उठे। उसी समय कलकल-वाहिनी यमुना के दुकूल पर बसे हुये अपने उस प्यारे रंगपुर की स्मृति उनके हृदय में जागृत हो उठी। उनके हृदय में बार बार यही भावना दृढ़ होने लगी कि रंगपुर ही में उन्हें शान्ति मिल

सकती है। यमुना के नील सलिल पर उदय होता हुआ सुरभित प्रभात, हरे हरे खेतों को चूमती हुई साध्य सूर्य की कोमल किरणें, मधुर स्वर में गाती हुई गाँव की किशोरिकायें, एक एक करके सब दृश्य उनके मानसिक लोचनों के सामने आकर उन्हें रंगपुर चलने के लिये आग्रह करने लगे। अन्त में उन्होंने एक दिन नक़द दो लक्ष रुपया लेकर तथाच और भी गृहस्थी के अनेक उपकरण लेकर अपने पुत्र के साथ अपनी जन्मभूमि की ओर यात्रा कर ही तो दी। ठीक २३ वर्षों के बाद प्रौढ़ रामसनेही अपनी मातृभूमि की गोद में लौट आये। एक दिन जब दरिद्र वेष में उन्होंने रंगपुर को परित्याग किया था, तब कोई उनसे मिलने नहीं आया था, आज जब वे लक्ष्मी के कृपापात्र बन कर लौटे, तब गाँव के अधिकाँश जन उसके स्वास्थ्य का समाचार लेने और गाँव में उनका स्वागत करने के लिये उनके घर पर आने लगे। सब लोग आदर:भाव से उन्हें "सेठ जी" कहने लगे।

सेठ रामसनेहीमल ने अपने पैतृक गृह में ही निवास करना प्रारम्भ किया। इतने दिनों में वह एक बार ही नष्टभ्रष्ट हो गया था परन्तु उन्होंने आते ही उसे फिर से बनवाना प्रारम्भ कर दिया। थोड़े ही दिनों में वहाँ पर विशाल भवन बन कर खड़ा हो गया और लक्ष्मी के विलास से उसकी अपूर्व शोभा हो गई। उनकी इस विभूति ने जनता को आश्चर्य से अभिभूत कर दिया। वे सेठ रामसनेहीमल को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखने लगे। एक दिन जो उन्हें प्रणाम करने पर आशी-

र्वाद् नहीं देते थे, वे ही बिना प्रणाम किये ही उनका जय जय-कार मनाने लगे। परन्तु सेठ रामसनेहीमल संसार के स्वार्थमय व्यवहार से पूर्णतया परिचित थे; वे जानते थे कि यह आदरभाव, यह सम्मान-प्रदर्शन, वास्तव में उनके प्रति नहीं लक्ष्मी के प्रति है। लाला रामसनेहीमल अब समय समय पर लोगों को ऋण देने लगे। धीरे धीरे लोग उनकी मुट्ठी में आने लगे; धीरे धीरे उनके धन-पाश में बड़े बड़े दिग्गज पण्डित एवँ अहम्मानी ब्राह्मण फँसने लगे। रामसनेहीमल उस व्यवहार को भूले नहीं थे, जो इन लोगों ने उनके साथ उस समय किया था, जिस समय वे इस विश्व में निरावलम्ब और निराश्रय होकर अपनी जन्म-भूमि छोड़ने को विवश हुये थे। इसी लिये सेठ जी भी दया का भाव भूल गये। रुपया न देने पर वे शाप एवँ भ्रुकुटी की रत्ती भर चिन्ता न करके बड़े बड़े ब्राह्मणों को उनके पैतृक-गृह से निकलवा देते। वे रुपया वसूल करने में इतने निर्दयी हो गये थे, कि वे सब कुछ लेकर लोगों को द्वार द्वार का भिखारी बना देते। उधर उन्होंने २-३ मौजे भी खरीद लिये। पर उन्होंने अपनी जन्म-भूमि को नहीं छोड़ा। रंगपुर के प्रति उनके हृदय में कुछ ऐसी ममता उत्पन्न हो गई थी कि स्वयँ ज़िमींदार होकर भी उन्होंने आसामी बन कर रंगपुर में रहना पसन्द किया। वे यदि चाहते तो रंगपुर की अपेक्षा अपने किसी मौजे में विशेष सुख और स्वच्छन्दता पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकते थे परन्तु मातृ-भूमि की कोमल गोद छोड़ने के लिये उनके हृदय ने उन्हें सम्मति नहीं दी।

धीरे धीरे शिशु बढ़ने लगा। पिता ने उसका नाम रखा लाल-चन्द् क्योंकि उसकी माता उसे दुलार से 'लाल' कह कर पुकारती थी। अभी बालक ने दसवें वर्ष में पदार्पण किया ही था, कि उसके विवाह की खबरें चारों ओर से आने लगीं। धनी का बालक था, इसी लिये बहुत से माता-पिता अपनी लड़की को उसके चरणों में बलिदान करना चाहते थे। बालक लालचन्द् का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। बहुत छोटी अवस्था में माता के अभाव से कोई ऐसी त्रुटि हो गई थी, जिसने उसके स्वास्थ्य को एक बार ही ख़राब कर दिया था। उसमें न तो बाल सुलभ चंचलता थी और न वह उन उद्धत बालकों के समान साहसी ही था जो रात्रि के अन्धकार में पड़ोसी के बाग के आम चुरा लाते हैं। उसके मुख पर पीलापन था; उसके हाथ पाँव दुर्बल थे; उसके शरीर में स्फूर्ति का एक भी स्फुलिङ्ग नहीं था। सदा ही उसे कोई न कोई रोग दबाये रहता था। परन्तु ऐसे निर्बल दश-वर्षीय बालक के साथ भी अनेक माता-पिता अपनी स्वस्थ सुन्दर किशोरी का पाणि-ग्रहण करने के लिये लालायित हो रहे थे। उसका एकमात्र कारण यही था कि वह धनी का पुत्र था। वे उद्भ्रान्त माता-पिता यह नहीं जानते थे कि जीवन को मधुर और रसमय बनाने के लिये केवल धन ही पर्य्याप्त नहीं है। धन की कान्ति से उनके मानसिक लोचन चौंधिया गये थे और वे जान बूझ कर अपनी पुत्री की हत्या करना चाहते थे! अन्त में एक प्रतिष्ठित, किन्तु साधारण कुल की सुन्दरी युवती कन्या से, लालचन्द् का विवाह स्थिर हो गया! धन की वेदी पर एक

सुन्दरी किशोरी की हत्या की आयोजना पूर्णरूप से निश्चित हो गई!

परन्तु न मालूम क्यों उसी समय ४५ वर्ष के सेठ रामसनेहीमल के हृदय में भी फिर विवाह करने की उत्कट अभिलाषा जागृत हो उठी। ७ वर्ष तक जिस प्रेममयी भार्य्या की प्रेम-स्मृति को अपने हृदय में धारण करके उन्होंने अपना समय व्यतीत किया था, उस प्राणेश्वरी की वह मनोहर स्मृति विलास वासना के तीव्र मद में विलीन हो गई! उनकी इस अभिलाषा को किसने जागृत किया था, यह तो हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। गाँव के लोग भी इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं। परन्तु जनता में जो किम्वदन्ती विशेष रूप से प्रचलित थी, वह यह थी कि सेठ जी अपने अनन्य मित्र एवँ मन्त्री पंण्डित रामभुज चतुर्वेदी जी के विशेष आग्रह और अनुरोध से इस प्रौढ़ वयस में विवाह करने को उद्यत हुये थे। सुनते हैं कि उन्होंने उन्हें समझाया था कि रमणी के बिना गृहस्थी का क्या आनन्द है; इधर लालचन्द भी बालक है और उसकी वह अकेली गृहस्थी का भार उठाने में समर्थ नहीं होगी। जो गृहस्थाश्रम में रहना चाहते हैं, उन्हें तो एक स्त्री चाहिये ही। जनता में इस किम्वदन्ती के प्रचलन होने का एक विशिष्ट कारण था। स्वयँ रामभुज चतुर्वेदी ने भी अभी पार साल, ५६ वर्ष के वयस में, दो स्त्रियाँ होते हुये भी, एक नवीना बाला के साथ विवाह किया था! उन्होंने दया करके एक दरिद्र ब्राह्मण से केवल ७०० रुपये ही दक्षिणा लेकर उसकी लड़की को स्वीकार

कर लिया था और इस प्रकार उसे लौकिक अपवाद और पारलौकिक पतन से बचा लिया था। रामभुज सेठ जी के पास बहुत बैठते उठते थे; सच पूछिये तो सेठ जी की कृपा-कटाक्ष से ही उनके परिवार का निर्वाह होता था। वे उन ब्राह्मणों में से थे जो कि थोड़े से अर्थ के लिये सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। उन्हीं की कुमन्त्रणा से सेठ जी ने अपने धवल केशों पर विवाह-मुकुट धारण करके एक दरिद्र वैश्य की षोड़शी कन्या को अपनी अर्धाङ्गिनी बना लिया ! उन्हें कन्या की प्राप्ति में रत्ती भर चिन्ता नहीं करनी पड़ी। एक तो धनी और उस पर द्विजराज चतुर्भुज की परम सहायता। बहुत शीघ्र काम बन गया। अपने पुत्र के विवाह से तीन महीने पहिले ही उनके उस विलास-भवन में एक नव-यौवना विमाता का पदार्पण हो गया ! तीन मास के उपरान्त लालचन्द की युवती वधू ने भी उसी घर में प्रवेश किया। सास और बहू दोनों लगभग समान वय की थीं। दोनों ही यौवन के मद से उन्मत्त थीं। पर दोनों ही थीं अभागिनी—एक के पति देवता थे गलित-यौवन वृद्ध और दूसरे के इष्ट-देव थे दुर्बल क्षीणकाय बालक !! दोनों ही मानसिक व्यथा की अग्नि में जलने लगीं। सेठ जी ने वृद्धत्व-युग के प्रारम्भ पर खड़े होकर नवयौवना बालिका का पाणिग्रहण करके भयकंर भूल की थी और इस भयंकर भूल की भीषणता और भी बढ़ गई जब उन्होंने अपने रोगी दुर्बल बालक के साथ एक स्वस्थ सुन्दर युवती को दाम्पत्य-सूत्र में बाँध दिया ! उन्होंने जान बूझ कर अपने वृद्धत्व की परम पवित्र शान्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और उसके साथ ही साथ

उन्हें अपने पुत्र के कैशोर-माधुर्य्य का भी सत्यानाश कर दिया। बलिहारी है इस अन्ध परम्परा और कुरीति की ! धन्य है वृद्ध की विलास वासना !

उसका परिणाम यह हुआ कि उनके गृहस्थाश्रम की मधुर शीतल शान्ति कलह के निरन्तर कोलाहल में विलीन हो गई। यह जगत् प्रसिद्ध है कि 'वृद्धस्य तरुणी भार्य्या' कभी अपने पति के वश में होकर नहीं चलती है; वह जानती है कि उसके साथ घोर अन्याय किया गया है और वह उस अन्याय के प्रति क्रुद्ध होकर अपनी और अपने पति की शान्ति को नष्ट कर देती है। सेठ जी की युवती पत्नी भी अपनी सौतेली पुत्र-वधू से रात दिन कलह करने लगी। विमाता का विद्वेष तो प्रसिद्ध है ही। समय समय पर वह सेठ जी पर भी वाक्य-बाणों का निठुर प्रहार करने में नहीं चूकती थी। सेठ जी विचारे क्रीतदास की भाँति अपनी तरुणी पत्नी की प्रत्येक आज्ञा का पालन करते थे ! उसकी किसी भी अभिलाषा या अत्याचार का प्रतिवाद करना तो उनकी शक्ति और साहस के परे था ! वृद्ध की तरुणी भार्य्या ने उस घर पर अपना एक-छत्र आधिपत्य स्थापन कर लिया। उच्छृङ्खल एवँ उद्दण्ड-भाव से वह वृद्ध और उनके पुत्र तथा पुत्र-वधू पर निष्ठुर, निर्मम शासन करने लगी। वृद्ध उसके अत्याचार में योग देने को वैसे ही वाध्य हुये जैसे निर्वल विश्वास शैतान के निष्ठुर-काण्ड में सहयोग देने के लिये विवश होता है।

उनकी इसी युवती पुत्र-वधू का नाम था राधा ! हम पहिले ही कह चुके हैं कि उसके उद्भ्रान्त माता-पिता ने धनाढ्य कुल

देख कर उसका बलिदान कर दिया था। उनकी यह धारणा थी कि धनी कुल में व्याही जाकर राधा को अशेष आनन्द और शान्ति मिलेगी। भारतीय हिन्दू समाज में यह उद्भ्रान्त विचार फैले हुये हैं कि धनाढ्य कुल में व्याही जाने वाली बालिकायें सदा प्रसन्न रहती हैं। पर यह विचार कितने असार हैं। यह वास्तविक घटनाओं केरहस्य को जानने वालों से छिपा नहीं है। धन से सुख की प्राप्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं; पर अकेला धन आनन्द का प्रवर्तक नहीं हो सकता। धन के साथ और भी अनेक उपकरण चाहियें। कोट्याधीश-वृद्ध के पोपले चुम्बन से एवँ मरणप्राय शिथिलेन्द्रिय पति के शिथिल आलिङ्गन से क्या युवती-हृदय की वासना परि-शान्त हो सकती है? युवा हृदय जिस प्रकार युवती-हृदय के प्रेम का अभिलाषी रहता है, युवती-हृदय भी उसी प्रकार युवा-हृदय के सम्मिलन का आकाँक्षी होता है। जिस प्रकार गलित यौवना, विगलित दन्ता वृद्धा, रमणी को अथवा एकान्त निर्बोध सरल शिशु बालिका को पत्नीरूप में पाने से युवक हृदय की समस्त आशाओं और आकाँक्षाओं में अग्नि लग जा सकती है, ठीक उस प्रकार शिथिलेन्द्रिय वृद्ध एवँ रोगी बालक को पति रूप से वरण करने के लिये वाध्य करने पर युवती-हृदय वेदना से विह्वल हो जाता है। दरिद्र युवक कृषक की युवती-पत्नी, अपनी उस दरिद्र कुटी में भी, पति का प्रेममय चुम्बन एव अनुराग-मय आलिङ्गन पाकर आनन्द में अपना समय व्यतीत करती है। परन्तु वृद्ध की तरुणी सुन्दरी भार्य्या एवँ बालक की

पूर्ण यौवना विलास-प्रिया पत्नी, सुसज्जित विलास मन्दिर में, आनन्द और रसरंग के समस्त साधनों के समुपस्थित होते हुये भी, मणिमय आभूषण एवँ रत्नजटित मूल्यवान परिच्छदों को धारण करके भी, दुःख से भरी हुई ठंडी साँसें लेती है, उनका हृदय स्मशान की भाँति, जलता रहता है। पर उद्भ्रान्त माता-पिता अपनी कन्या के हृदय की इन रसमयी अभिलाषाओं और आनन्दमयी आकाँक्षाओं की ओर कणमात्र ध्यान न देकर उन्हें धन की वलि-वेदी पर बलि-पशु के समान, उनका बलिदान कर देते हैं! धन होना चाहिये माता-पिता अन्धे बन कर चिता में पैर लटकाये हुये वृद्ध की शिथिल गोद में अपनी कन्या को बरवश ढकेल देंगे। सम्पति होनी चाहिये, जनक जननी अपनी मुग्धा वालिका को जीर्ण-ज्वर रोगी शिथिल बालक के साथ दाम्पत्य-सूत्र में आबद्ध कर देंगे! कैसा दारुण दृश्य है; स्वयँ माता-पिता आज निठुर ममता-शून्य व्याध के समान अपनी बालिकाओं के प्रति ऐसा जघन्य आचरण कर रहे हैं और हिन्दू-समाज इस भयंकर पाप और घोर अत्याचार को, युवति-हृदय के प्रवृत्ति-मण्डल के इस दारुण हत्याकाण्ड को, निर्लज्ज बन कर देख रही है। हा धिक्!

राधा ने जिस दिन से अपने पति-प्रासाद की देहरी पर पाँव रखा, उसी दिन से उसका दारुण अपमान और अत्यन्त अनादर होने लगा। एक दिन भी उसे ममतामयी सास का वह विमल स्नेह और अनुरागमय आदर प्राप्त नहीं हुआ; जो युवती वधुओं की प्रेम-प्रवृत्ति की विकास लीला में बसन्त-वायु के

समान साहाय्य होता है। एक तो निर्बल बाल-पति की प्राप्ति से राधा का हृदय वैसे ही अत्यन्त आतुर था और उस पर जब सौतेली सास और उसके एकान्त अनुगत ससुर ने अकारण ही उस पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया, तब तो उसका हृदय वेदना की भीषण ज्वाला में जलने लगा। हम पहिले ही कह चुके हैं कि राधा असामान्य सुन्दरी थी और उस लावण्य-ललित कलेवर के अन्तराल में स्पन्दित होता था लालसा-प्रिय विलास-प्रेमी हृदय! उसका यौवन-वन बसन्त की शोभा से उत्फुल्ल हो रहा था, पर भाग्य के निठुर विधान ने उसमें आग लगा दी थी। एक तो विमाता वैसे ही ईर्ष्यालु होती है, दूसरे राधा के देवदुर्लभ सौन्दर्य्य की मधुर कान्ति ने उसकी सास के हृदय में विद्वेश की और भी भीषण वह्नि प्रज्वलित कर दी थी! ईर्ष्यालु रमणी दूसरे का सौन्दर्य्य फूटी आँखों से भी नहीं देख सकती है। जब उसकी सास ने देखा कि उसकी पुत्र-वधू का सौन्दर्य्य इतना कान्तिमय है कि वह उसके पैर के तलवे के बराबर भी नहीं है, तब तो उसका सहज-द्वेष हज़ार गुणा बढ़ गया। इसी लिये वह रात दिन उठते-बैठते, खाते-पीते, उसे परेशान करने लगी। उसके अनुगत सेठ जी भी अपनी इस सुन्दरी पुत्र-वधू पर तरुणी भार्य्या की प्रसन्नता के लिये अत्याचार और अन्याय करने लगे! राधा की व्यथा और वेदना असीम हो उठी!!

परन्तु उसी व्यथित अवस्था में भगवती की मधुर शीतल करुणा की भाँति, उसे देवी सुभद्रा का शुभ सौहार्द प्राप्त हुआ।

ज़िमींदार-कन्या होने के कारण वैसे तो गाँव की सभी स्त्रियाँ उसे जानती थीं, किन्तु राधा ने जिस दिन उसे देखा, उसी दिन से उस त्याग से उज्ज्वल सन्यासिनी की ओर उसका स्नेह निरन्तर बढ़ता ही गया। सुभद्रा भी उसकी उस करुणा-दशा के कारण उसकी ओर और भी आकृष्ट हो गई। दोनों ही परस्पर दृढ़भाव से सौहार्द-बन्धन में बँध गईं। कई बार सुभद्रा राधा के घर आई थी, पर कलह-प्रिया सास की उपस्थिति के कारण राधा का सहानुभूति-प्रार्थी हृदय देवी सुभद्रा के चरणों में अपनी व्यथा की कथा निवेदन नहीं कर सका। प्रेम की प्रबल प्रवृत्ति भीतर ही भीतर विकसित होती रही पर एक दिन सौभाग्य से उन दोनों का यमुना के तटवर्ती नीरव निकुञ्ज में परस्पर सम्मिलन हुआ। उस सम्मिलन ही ने उन दोनों को परस्पर प्रणय-सूत्र में सदा के लिये आबद्ध कर दिया। एक दिन दोपहर के समय राधा स्नान करने के लिये यमुना-तट पर गई थी। कम से कम घर पर उसने यही कहा था। पर वास्तव में वह हृदय की अग्निमयी व्यथा से एकान्त व्याकुल होकर अपनी तप्त अश्रु-धारा को नील सलिला यमुना की शीतल धारा में मिलाने के लिये गई थी। उसके घर के सामने ही यमुना प्रवाहित होती थी; इसी लिये उसके तट पर प्रायः ही वह आया जाया करती थी। गाँव में विशेष रूप से पर्दे का वैसा भयंकर प्रचलन नहीं है, वहाँ की स्त्रियाँ नगर निवासिनी अबलाओं की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र और उन्मुक्त रहती हैं। इसी लिये कभी कभी राधा को यमुना के दुकूलवर्ती नीरव निकुञ्ज में रोकर अपने हृदय को

अग्निमयी व्यथा को कुछ अंश में प्रशमित कर लेने का अवसर प्राप्त हो जाता था। एक दिन सास ने उसका इतना अनादर और अपमान किया कि वह उसे सह न सकी और यमुना के तटवर्ती निकुञ्ज में जाकर फूट फूट कर रोने लगी। राधा की दशा वास्तव में बड़ी दयनीय थी; वह मन भर कर घर में रो भी नहीं सकती थी इसी लिये रोने के वास्ते उसे एकान्त स्थल की शरण लेनी पड़ती थी। वह बड़े करुण स्वर में विलाप कर रही थी, दैवयोग से उसी समय वहाँ पर देवी सुभद्रा पहुँच गईं। जैसे ही उन्होंने रोने की ध्वनि सुनी, वैसे ही उनका कोमल हृदय दया से आर्द्र हो गया और वह उसी निकुञ्ज की ओर चलीं जहाँ से उस करुण रोदन की ध्वनि आ रही थी। वहाँ पहुँच कर उन्होंने देखा कि राधा रो रही है। पहिले ही से उन दोनों के हृदय एक दूसरे की ओर आकृष्ट हो चुके थे। राधा को देखते ही देवी सुभद्रा की स्वाभाविक सहानुभूति जागृत हो उठी और राधा प्रेम और करुणा की मूर्तिमती प्रतिमा को अपने सामने देख कर और भी तीव्र गति से हाहाकार कर उठी! देवी सुभद्रा के विशाल लोचनों से भी अश्रुधारा पतित होने लगी। उन्होंने बड़े आदर और स्नेह से राधा को अपने हृदय से लगा लिया। इस सुन्दर स्नेह और मधुर सहानुभूति को पाकर राधा की अश्रुधारा और भी तीव्र वेग से पतित होने लगी। रोते रोते उसकी और सुभद्रा की—दोनों की कञ्चुकियाँ भीग गईं। अन्त में देवी सुभद्रा ने अपने आँचल से उसके आँसू पोंछ कर उसे सान्त्वना दी। मधुर शब्दों में उसे उपदेश देकर उन्होंने शान्त

किया। उसी दिन से उन दोनों में गाढ़ प्रेम हो गया। देवी सुभद्रा तो उसके घर कम आती थी, क्योंकि उसकी सास का स्वभाव रूखा था, परन्तु राधा तीसरे चौथे दिन नियम से उसकी गोद में शिर रख कर रो आती थी। देवी सुभद्रा भी निरन्तर अपने अमृतमय उपदेशों से एवँ शीतल स्नेह के सरस प्रवाह से उसकी अग्निमयी व्यथा को शान्त करती थी। राधा के लिये देवी सुभद्रा मूर्तिमती दया की प्रतिमा थी, जिनके पवित्र संसर्ग से उसे परम शान्ति प्राप्त होती थी और जिनकी मधुर शीतल स्नेह धारा में वह अपने संतप्त हृदय को अभिषिक्त करके कुछ समय के लिये उसकी व्यथा को दूर करने में समर्थ होती थी। देवी सुभद्रा उसके श्रद्धा-मन्दिर की इष्ट देवी थी।

किन्तु जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि देवी सुभद्रा के पवित्र सत्संग एवँ अमूल्य उपदेशों ने भी राधा के लालसामय स्वभाव को परिवर्तित नहीं कर पाया। उसके मधुर और शान्तिमय संसर्ग ने राधा की प्रज्वलित अग्नि को अवश्य कुछ अंश में प्रशमित कर दिया था परन्तु लालसा और वासना, जो उसके प्रत्येक परिमाणु में प्रविष्ट हो गई थी, नष्ट नहीं हुई। अवश्य ही वे दोनों इतनी उच्च महिमामयी योगिनी के पवित्र प्रभाव से परि-शान्त वायुमण्डल में शिर नहीं उठा सकती थीं; पर वे थीं जीवित हृदय के निभृत कोण में वे दोनों अवसर की प्रतीक्षा में बैठ रहीं। देवी सुभद्रा के पवित्र उपदेशों ने उनका समूल विनाश नहीं कर पाया। राधा का विलासमय स्वभाव तपस्विनी सुभद्रा के मधुर प्रभाव से इतना दब अवश्य गया था कि वह प्रकट रूप से वासना

की रंग-भूमि पर प्रकट होकर अपनी नृत्य लीला करने से विरत हो गया परन्तु वह मृत नहीं हुआ। राधा का विलासी हृदय इस का प्यासा ही बना रहा। इसी लिये कवि का यह महावाक्य एकान्त सत्य है कि "स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः।"

यही विलास-प्रिया राधा का परिचय है और यही सुभद्रा और राधा के प्रणय-बन्धन का इतिहास है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रवृत्ति का पूर्ण पराजय एकान्त असम्भव भले ही न हो, परन्तु वह है अत्यन्त दुष्कर। वह हिमाँचल को समूल खोद डालने के समान है।

जब हृदय की रंग-भूमि में लीला करने वाली समस्त प्रवृत्तियाँ वासना की अनुगामिनी बन जाती हैं, जब प्रत्येक चेष्टा में, प्रत्येक आकाँक्षा में एवँ प्रत्येक प्रत्याशा में लालसा का प्राधान्य हो जाता है, जब मन, प्राण और विवेक दोनों अपना स्वातन्त्र्य विसर्जन करके भोग और विलास के पाद तल में प्रणाम करने लगते हैं, जब आत्मा का मधुर शीतल आलोक विकार के आवरण से आवृत्त हो जाता है, जब प्रत्येक भाव-विकास में, प्रत्येक कर्म-व्यापार में एवं प्रत्येक आन्तरिक उद्गार में रसरंग की वारुणी का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होने लगता है; जब कल्पना की कविता में, चिन्ता की छन्द-माधुरी में एवँ ध्यान की गौरवमयी गति में अनङ्ग-मद की पूर्ण-मात्रा का अरुण राग झलकने लगता है ; उस समय धर्म, पुण्य और सत्संग, तीनों ही मनुष्य का उद्धार करने में विफल प्रयास होते हुये अनेक बार देखे गये हैं।

बीज का हाथ से मसल डालना जितना सरल है, वृक्ष का समूल उखाड़ना उतना ही कठिन है। प्रवृत्ति के प्रथम विकास ही के समय, उसका दमन कर दिया जाना एकान्त सम्भव है परन्तु जब वह पूर्ण परिपक्क होकर स्वभाव-स्वरूप धारण कर लेती है, तब चिन्ता की ही अग्नि में उसका विनाश होता है। बहुत से तो जन्म जन्मान्तर तक उसकी स्थिति मानते हैं और उनमें से सर्व प्रधान है पूर्णावतार भगवान् श्री कृष्ण।

दसवाँ परिच्छेद

आपत्ति का आभास

राधा का देवदुर्लभ सौन्दर्य्य था; वह स्वर्ग की अक्षय-यौवना सुन्दरी थी; किसी शाप के कारण वह इस धराधाम पर अवतीर्ण हुई थी। राधा का कलित कान्तिमय कलेवर नवीन यौवन की श्री से ऐसा विलसित हो रहा था मानो कल्प-कानन में बसन्त-लक्ष्मी का मनोहर विलास हो, मानो निर्मल मानसरोवर पर प्रभात-सूर्य्य की सुवर्ण-सुन्दरी किरणों की नृत्य-लीला हो; मानो मूर्तिमान् शृंगार रस के उत्फुल्ल बदन मण्डल पर मृदुल मुस्कान की ललित रेखा हो, मानो आनन्द के सुन्दर मन्दिर में मणिमय प्रदीप का प्रस्फुट प्रकाश हो; मानो कैलाश की कांचन-कन्दरा में बालचन्द्र की प्रफुल्ल कौमुदी का शीतल उदय हो। कवि की शृङ्गार कल्पना के समान, रति-सुन्दरी की प्रेम रागिनी के समान, सौन्दर्य्य राज्य की राज्य-लक्ष्मी के समान एवँ रस-रत्नाकर की रत्नमाला के समान, वह अपने ललित-लावण्य की शोभा से विलसित होती थी।

परन्तु उसके इस अपरूप माधुर्य्य में वह तीव्र तेज एवँ प्रखर प्रभा नहीं थी, जो हिमालय के सर्वोच्च शिखर से शंकर

के मौलि-मण्डल में पतित होने वाली मन्दाकिनी में तथा च यज्ञ की आकाशगामी अग्नि-शिखा में दृष्टिगत होती है। और न थी उसके सौन्दर्य्य में वह विमल शान्ति की शीतल छाया, जो विकार-विहीन सर्वस्व त्यागी सन्यास के प्रसन्न वदन मण्डल पर विलसित होती है। उसके विशाल लोचन-युगल में लालसा की लाली थी; उसके मधुर अधर पर विलास का ललित हास्य था। उसके सुन्दर कपोलों पर रति के उल्लास की अरुण रेखा थी और उसकी गति में मद की मन्थरता थी। उसके अङ्ग संचालन में वासनामय चाञ्चल्य था और उसके भाव-प्रकाश में एक अतृप्त आकाँक्षा की झलक थी। यद्यपि सास-ससुर के निरन्तर निरादर से एवँ पति की कोमल वाल्यावस्था के कारण उसका वदन-मण्डल मेघावृत चन्द्र-मण्डल के समान मलिन रहता था किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने वालों को यह पता चल सकता था कि उस मलिन छाया के अन्तराल में लालसा की लहरें निरन्तर हिल्लोलित होती रहती थीं। उसकी आँखों में अलस भाव विशेष रूप से प्रस्फुट था और वे ठीक उस मद-सेवी के समान प्रतीत होती थीं जो मद से छक कर भी और मद माँगता है। गुलाब की सब से कोमल पाँखुड़ी के समान उसके पतले पतले अधर अमृतमय चुम्बन के प्यासे से प्रतीत होते थे। उसके यौवन-वन में अनङ्गदेव आसीन होकर प्रवृत्ति के वासनामय संगीत को सुना रहे थे। उसे यह भावना सदा ही व्यथित बनाये रहती थी कि उसके उस ललित यौवन की अमृतधारा में स्नान करने वाला कोई नहीं था, उसके रस-पिपासु हृदय की पिपासा को

शान्त करने वाला कोई नहीं था एवँ उसकी रंगमयी प्रवृत्ति की रागिनी को सुनने वाला कोई नहीं था। एक तो वैसे ही राधा का हृदय तीव्र पिपासा से आकुल रहता था और उस पर उसके दिव्य सौन्दर्य्य ने तो उस पिपासा की आकुलता को और भी भीषण बना दिया दिया था ! रंगपुर ही में नहीं, दूर दूर तक राधा के ललित सौन्दर्य की प्रशंसा फैली हुई थी—अधिकांश वृद्धाओं का यह कथन था कि उन्होंने अपने समस्त जीवन में राधा के समान सुन्दरी युवती नहीं देखी थी। परन्तु इस प्रशंसा से उसकी प्यास बुझना तो दूर, उल्टी और भी तीव्र हो गई थी। प्रेम सौन्दर्य का प्राण है, प्रेम के बिना सौन्दर्य असार वस्तु के समान है—इसी लिये यद्यपि राधा को भगवती ने सौन्दर्य की विपुल विभूति प्रदान की थी परन्तु उस विभूति की सार्थकता तो नहीं थी ; क्योंकि ऐसा कोई नहीं था जो उसके गले में एक हाथ डाल कर, एक हाथ से उसकी मधुर चिबुक उठा कर, अपने मदमय नेत्रों से उसके नेत्रों में प्रेम की मदिरा ढाल कर, आनन्द और उल्लास से उसके उत्फुल्ल कपोलों का चुम्बन करके कहता—"प्राणेश्वरि ! तुम्हारे सौन्दर्य की इस अमृत-धारा में स्नान करके मेरा हृदय कृत कृत्य हुआ है। इसी लिये राधा की वह माधुरी उसकी दृष्टि में सार हीन थी, हृदयेश्वर के बिना उसका कोई मूल्य नहीं था। वह निर्जन, नीरव स्थल पर पङ्क में पड़े हुये कान्तिमय हीरकखण्ड के समान था। राधा जब सौभाग्य-गर्विता युवतियों को रस और प्रेम की चर्चा करते

हुये सुनती ; जब वह अपने पैरों के तलवे से भी कम सुन्दर मुग्धाओं को अपने अपने हृदयेश्वर के अनन्य अनुराग और मधुर आदर की बातें बखान करती हुई सुनती ; जब वह समवयस्का स्वाधीन पतिकाओं के मुख से गत रात्रि की रति-लीला की मधुर कथायें सुनती, और जब वह सलज्ज वधुओं से उनके सास और ससुर के एकान्त स्नेहमय आदर और सम्मान की बातें सुनती, तब आन्तरिक विक्षोभ और अन्तर्व्यथा से उसका हृदय अत्यन्त आकुल हो उठता। उसके मन में भयंकर हूक से उठने लगती। जब उसके हृदय की अग्नि असह्य हो उठती, तब वह चुपके से, स्नान करने के बहाने, यमुना के नीरव-तट पर जाकर फूट फूट कर रोती। नील-सलिला यमुना ने अनेक वियोग-व्यथित गोपिकाओं के करुण विलाप को सुना था, परन्तु उनके उस विलाप और राधा के रोदन में परस्पर विषम विभेद था। वे रोती थीं उन यशोदानन्दन के लिये, जिन्होंने उन्हीं शीतल निकुञ्जों में उनके साथ आनन्दमय विहार किया था और जो उन्हें छोड़ कर चले गये थे। पर राधा रोती थी अपने उस दुर्भाग्य पर जो उसे अपमान और अनादर की अग्नि में जलाता था; गोपिकायें रोती थीं मधुर आदर और आनन्दमय रसरंग के लिये। और राधा रोती थीं अनादर और अपमान की अग्नि-ज्वाला के कारण! वे रोती थीं अपने हृदय के अधीश्वर के वियोग में और राधा रोती थी उस प्रेम-सुधा के एक बूँद के लिये, जिसके बिना उसका ललित यौवन व्यथा की अग्नि में भस्मसात हो रहा था! कई बार राधा ने यमुना

की गम्भीर धारा में डूब कर आत्म-हत्या कर लेने का संकल्प किया। किन्तु विधि के उस निठुर विधान से, जो अनेक यातनाओं के होते हुये भी दुखी को मरने नहीं देता है, उसका संकल्प कार्य्य रूप में परिणत नहीं हो सका।

और सन्तोष ! सन्तोष का धारण करना उतना सरल नहीं है जितना उसका उपदेश देना। गीता का उपदेश और उपनिषदों का आत्म-ज्ञान किसी विरले ही साधु-जन के संयत हृदय पर अपना मधुर कल्याणमय प्रभाव विस्तृत करने में समर्थ होते हैं। सच पूछिये तो सन्तोष अपूर्व संयम, अखण्ड मनो-निग्रह तथाच कठोर तपोमयी साधना का मधुर-दिव्य फल है। इस अलभ्य-रत्न की प्राप्ति अत्यन्त कठिन है; विष और व्यथा की अग्नि-शिखा में बाल-भक्त प्रह्लाद के समान, स्थिर एवँ शान्त होकर बैठे रहना, उन्हीं के लिये संभव है, जिनका हृदय विश्वास की रंग-भूमि, जिनका विवेक आत्म-ज्ञान का केन्द्र एवँ जिनका अन्तर विशुद्ध आनन्द की लीला-भूमि हो। पूर्व जन्म का पवित्र संस्कार हो, तपोधन आचार्य्य का पावन सत्संग हो; धार्मिक शिक्षा का विमल प्रभाव हो; सन्यास धर्म के प्रति श्रद्धामयी अभिरुचि हो, चपल मन का तपोमयी साधना द्वारा निग्रह हो, सच्चिदानन्द की अनुगामिनी बुद्धि हो; तब कहीं सन्तोष की मधुर उपलब्धि होना सम्भव है। केवल इतना ही नहीं, उसके लिये सब से प्रथम और प्रमुख आवश्यकता है शान्तिमय वायु-मण्डल की, जहाँ साधना का अखण्ड अनुष्ठान सम्भव हो सके। पर इसका मधुर विधान

क्या सब के भाग्य में होता है ? किसी विरले ही जन को सन्तोष-रत्न की प्राप्ति का परम सौभाग्य प्राप्त होता है। वास्तव में जो जगदीश्वरी के एकान्त कृपा-पात्र हैं, उन्हीं के लिये इस अमूल्य मणि को हृदय पर धारण करना सम्भव है। कम से कम राधा इतनी सौभाग्यवती नहीं थी। सन्तोष की प्राप्ति के लिये जिन अनिवार्य साधनों की आवश्यकता है, उनमें से उसके लिये एक भी प्राप्त नहीं था। इसी लिये सन्तोष धारण करना राधा के वश की बात नहीं थी—अपनी बुरी परिस्थिति को भागवती विधान मान कर, अपने कष्ट को अनिवार्य्य तपश्चर्या मानकर एवँ अपने अनादर और अपमान को तुच्छ, हेय, मानकर, शान्ति और सन्तोष के साथ घर के निभृत कोने में पड़े रहना राधा जैसी वासनामयी सुन्दरी के लिये, आकाश कुसुम की प्राप्ति के समान, असम्भव था।

और इस असन्तोष के निरन्तर साहचर्य्य ने राधा की हृद्गत वासना को और भी प्रवल एवँ प्रदीप्त वना दिया था। अवश्य ही देवी सुभद्रा के साधु सत्संग ने उसके हृदय की अग्नि, व्यथा और यातना को बहुत कुछ शान्त कर दिया था पर लालसा और वासना के पापमय प्रभाव से उसका हृदय एकान्त परिमुक्त नहीं हुआ था। देवी सुभद्रा अपने पवित्र धवल अञ्चल से अपनी सखी राधा के उत्तप्त आँसुओं को पोंछ कर, अपने उपदेश रूपी शीतल हरिचन्दन का प्रलेप करके, उसके हृदय की अग्नि को अवश्य ही बहुत कुछ शीतल कर देती थी। परन्तु उस हृदय के अन्तराल में लालसा की जो नृत्य लीला हो रही थी एवँ वासना की जो

आकुल रागिनी उत्थित हो रही थी, उसका निग्रह करना उन जैसी तपोमयी सन्यासिनी के लिये भी एक प्रकार से असम्भव था। सच पूछिये, तो राधा के अतुल सौन्दर्य्य ने लालसा और वासना की विकास लीला को बहुत सहायता पहुँचाई थी। प्रकृति का सौन्दर्य्य उसकी तीव्र पिपासा को और भी आकुल बना देता था। जब चैत्र की मध्य रात्रि में निर्मल नील-गगन के आँगन में चन्द्रमा, नक्षत्रमाला से विभूषित होकर, अपनी परम शोभा के साथ मन्द गति से विहार करता था; जब प्रभात-सूर्य्य की कोमल किरण-राशि गुलाब और जुही के ओस-कण मण्डित मुख-मण्डल को चूमती थी, जब मध्याह्न काल में हेमन्त-वायु प्रकृति के नील अञ्चल से लीला करता था; जब वर्षा की प्रथम मेघमाला उत्तप्त धरणी पर अमृत वर्षा करती थी; जब निर्मल सलिल-राशि के ऊपर शारदीय कमल-लक्ष्मी आनन्द से उत्फुल्ल होकर अलि-कुल का मधुर गुञ्जन सुना करती थी; उस समय निर्बल बालक की युवती-पत्नी राधा निराश-भाव से अपने उस यौवन-वन की शोभा पर अश्रुमयी दृष्टि डालती थी और चित्तक्षोभ और वेदना से व्याकुल होकर अपने मन्द-भाग्य का दुर्वचनों से अनादर किया करती थी। एक अतृप्त वासना उसके मन-मन्दिर में जागृत हो जाती थी और उसकी आकुल आकाँक्षा और व्याकुल आशा दोनों ही जल-विहीन मीन को भाँति छटपटाने लगती थीं। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके हृदय-वन में दावानल प्रज्वलित हो गई हो, उसके कलेवर के रोम रोम से स्फुलिङ्ग राशि निकलने लगती थी, उसकी अन्तर-

कुटी में, अभिलाषा और आशा की धधकती हुई चिता के आलोक में, उसकी भाव-मण्डली, पिशाच पुञ्ज की भाँति, ताण्डव-नृत्य करने लगती थी। राधा का चित्त उस समय ठिकाने नहीं रहता था; उसकी बुद्धि उद्भ्रान्त हो जाती थी। रोष, क्षोभ, ग्लानि और वेदना से उसका मन उद्वेलित होने लगता था। उस समय उसकी यही इच्छा होती थी कि यदि वह अग्नि होती तो समस्त समाज को भस्मीभूत कर देती; यदि वह महामारी होती तो कुरीति सेविनी हिन्दू जाति को पृथ्वी की रंग-भूमि से विलुप्त कर देती। उस समय यह समस्त विश्व और उसके अधिनायक विश्वेश्वर उसकी नास्तिक दृष्टि में उसके परम वैरी प्रतीत होते थे! अपने उन माता और पिता को, जिन्होंने उसके जीवन के समस्त आनन्दों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था, वह काल सर्प और सर्पिणी की संज्ञा देती थी और कुल, वंश एवँ जाति के समस्त सम्बन्ध उसे यम-पाश के समान भयंकर मालूम होते थे! उस समय उस विकार की अग्नि में उसका समस्त आस्तिक विश्वास भस्म हो जाता था और उस भस्म को अपने शरीर में मल कर उसका प्रवृत्ति-मण्डल पैशाचिक अट्टहास करने लगता था। स्नेह और सम्बन्ध, प्रेम और पुण्य, सब के सब उसकी विकृत दृष्टि से सार-शून्य पदार्थों के समान आभासित होने लगते थे! उस हाहाकारमयी अग्नि को हृदय में धारण करके जब वह अपने चारों ओर देखती, तब उसे घोर अन्धकार ही दिखाई पड़ता था। हाँ, दूर पर, पृथ्वी और परलोक की मिलन सीमा पर, उस घोर अन्धकार के बीच में कभी कभी शैतान की हँसी, चपला-

सौदामिनी की भाँति, अवश्य चमक उठती थी। राधा उस तीव्र हास्य को ही सत्य और सार मान कर अपनी विकारमयी बुद्धि के द्वारा उसका अभिनन्दन करती थी।

देवी सुभद्रा ने वास्तव में यह नहीं जान पाया था कि राधा के हृदय में व्यथा के पास ही वासना भी ताण्डव-नृत्य करती थी। वे नहीं जानती थीं कि राधा के मन-मन्दिर में लालसा की प्रदीप्त अग्नि-ज्वाला का प्रकाश फैला हुआ था। राधा की भोग-विलास प्रिया प्रवृत्ति का स्वरूप देवी सुभद्रा के सामने प्रकट नहीं हुआ था। उसका कारण यह था कि वे इस शास्त्र में पारङ्गत नहीं थीं। उन्होंने, ब्रह्मचारिणी गार्गी के समान, अपने हृदय को इतना तपोमय एवँ पवित्र बना लिया था कि इस विलासमयी वासना के लिये उसमें स्थान ही नहीं था। वहाँ तो सच्चिदानन्द का विमल प्रकाश था; वहाँ लालसा की स्थिति इसी प्रकार असम्भव थी जैसे अमावास्या की रात्रि को चन्द्र दर्शन! वे नहीं जानती थीं कि वासनामय आलिङ्गन में कैसा मद होता है? उन्होंने विकारमय चुम्बन के उन्माद का अनुभव नहीं किया था। वे तो सरल सत्य के समान पवित्र थीं; विमल पुण्य के समान उज्ज्वल थीं; वे महामाया की तपोमयी प्रतिनिधि थीं। उनके हृदय में केवल वात्सल्य की मन्दाकिनी प्रवाहित होती थी। उनके जीवन का एकमात्र शृङ्गार सन्यास था। विश्व-प्रेम ही उनकी साधना का बीज मन्त्र था। वे माया मोह से अतीत, राग-द्वेष से रहित एवँ विकार-वासना से विहीन, जीवन्मुक्त सन्यासिनी थीं; वे, विश्वात्मिका बन कर, इस विश्व को, अपने पुत्र के समान, शान्ति

की शीतल जल-धारा से स्नान कराने के लिये अवतीर्ण हुई थीं। रास-रंग, रति-परिहास, भोग-विलास इन सब से उनका परिचय नहीं था। तब वे यह कैसे जान सकती थीं कि राधा के उस ललित-लावण्य-जल के अन्तराल में प्रच्छन्न रूप से लालसा की लहर प्रवाहित हो रही है। देवी सुभद्रा ने कभी स्वप्न में भी यह नहीं सोचा था कि राधा की विमल माधुरी के नीचे वासना की ऐसी प्रबल प्रवृत्ति छिपी हुई है, जिसका प्रबल प्रवाह, अवसर पाते ही एवँ बन्धन-मुक्त होते ही, राधा की बुद्धि और ज्ञान को अपने साथ बहा ले जायगा और राधा, सम्भलने से पहिले ही, पतन की अन्धकारमयी कन्दरा में पतित हो जायगी! सुभद्रा राधा के रस-रंगमय स्वभाव से एकान्त अपरिचित थी।

राधा और सुभद्रा! दोनों ही दो विभिन्न लोकों की थीं। राधा थी रस शृंगारमयी अमरावती की विलासमयी सुन्दरी और देवी सुभद्रा थी ऋषि-लोक की ब्रह्मवादिनी तपस्विनी। राधा थी उच्छृङ्खल वासना की मदमयी रागिनी और देवी सुभद्रा थी ज्योतिर्मयी पुण्य-श्लोका गायत्री। राधा थी शृंगार रस की उच्छ्वासमयी तीव्र-गामिनी कल्लोलिनी और देवी सुभद्रा थी आनन्द की मृदु कलकल-वाहिनी मन्दाकिनी! राधा थी रति-मन्दिर की मणिमयी प्रदीप-माला और देवी सुभद्रा थीं आध्यात्मिक गगन की शीतल सुधामयी चन्द्रिका! राधा के मदमय नयनों से शृंगारमयी कविता की धारा प्रवाहित होती थी, देवी सुभद्रा के स्निग्ध लोचन युगल से विश्व-प्रेम की मधुर शीतल अमृतवर्षा होती थी! परन्तु तब भी सुभद्रा और राधा में अनन्य

प्रेम था; देवी सुभद्रा राधा की वेदना को लेकर समस्त रात्रि चिन्ता में निमग्न रहती थीं और राधा, सुभद्रा की सहज सहानुभूति और निस्वार्थ प्रीति के विषय में सोचती सोचती, सारा दिन व्यतीत कर देती थी। जहाँ तक होता, वे किसी समय दिन के प्रकाश में अथवा रात्रि की ज्योत्स्ना में, एक बार एक दूसरे का दर्शन कर लेती थीं। अवश्य ही परस्पर मिलन के आनन्द का तो अवसर नित्य नहीं प्राप्त होता था पर नयनों के सुख से कदाचित् ही वे किसी अभागे दिन वञ्चित रहती थीं। राधा सुभद्रा की समवेदना पाकर कृतार्थ होती थी और सुभद्रा, राधा के सहज-स्नेह की अंजुलि प्राप्त करके परम प्रसन्न होती थी। स्वभाव और प्रवृत्ति में परस्पर विस्तृत विभेद होते हुये भी, दोनों प्रेम के प्रबल बन्धन में बँधी हुई थीं। इसी लिये सुभद्रा को यात्रा पर जाने के लिये उद्यत देख कर राधा का हृदय वियोग की भावना से चीत्कार कर उठा। सुभद्रा के विछोह को सोच कर राधा बड़ी व्याकुल हुई।

जब से राधा रंगपुर में आई है और जब से उसका देवी सुभद्रा से परिचय प्रेम हुआ है, तब से आज यह पहिला ही अवसर है, जब उन दोनों में विछोह होने का अवसर उपस्थित हुआ है। और विछोह भी दो चार दिन का नहीं, २—२½ महीने का! इसी लिये राधा की वेदना आज और भी बढ़ गई। सुभद्रा निस्वार्थ स्नेह के शीतल सलिल में राधा का उत्तप्त हृदय सदा स्नान किया करता था, आज ऐसा अवसर उपस्थित हो रहा है, जब उसके हृदय को २½ महीने तक उस शीतल जल का

मधुर स्पर्श भी प्राप्त नहीं होगा। इसी लिये राधा की व्याकुलता आज सीमा को उल्लंघन कर गई। सुभद्रा राधा की एक मात्र आश्रय थी; सुभद्रा राधा की एक मात्र स्नेहमयी भगिनी थी, सुभद्रा राधा की एक मात्र आदर करने वाली जननी थी; सुभद्रा राधा की एक मात्र सर्वस्व थी। सुभद्रा के ही पुण्य-सत्संग से उसके हृदय को शान्ति जैसी दुर्लभ निधि प्राप्त हुई थी; सुभद्रा के ही पुण्य-प्रभाव से उसके अपमान की दारुण अग्नि हाहाकार नहीं करने पाती थी। आज वही सुभद्रा दीर्घ यात्रा पर जाने को प्रस्तुत हो रही है: तब क्यों न अभागिनी राधा का व्यथित हृदय हाहाकार कर उठे?

कल्पना राधा के मानसिक लोचनों के सामने एक एक करके आगत विपत्तियों को समुपस्थित करने लगी, जिससे राधा के हृदय की वेदना अत्यन्त तीव्र हो उठी। वह सोचने लगी कि जब उसकी सौतेली सास विद्वेष और ईर्ष्या के वशीभूति होकर क्रुद्ध नागिन की भाँति, उस पर विष-वर्षा करेगी; जब युवती भार्य्या का अन्ध अनुचर, उसका वृद्ध ससुर अपनी पत्नी की प्रसन्नता के लिये अकारण ही उस पर निर्मम अत्याचार करेगा; तब मैं क्या करूँगी? यही सोचते सोचते राधा भीषण भावी की कल्पना करके बहुत ही भयभीत हो उठी। बार बार उसके मन में यह भावना उत्पन्न होने लगी कि कोई दैवी शक्ति, जो उसकी अब तक रक्षा करती रही है, उसे छोड़ कर चली जा रही है और उसे जाती देख कर, सामने से अट्टहास करती हुई, आपत्तियों की मण्डली विकराल वेष धारण करके दौड़ी चली आ रही है!

बार बार राधा के हृदय में यह धारणा उत्पन्न होने लगी कि वह शीघ्र ही किसी भयंकर विपत्ति की कन्दरा में पतित होने वाली है; जल्दी ही उसके ऊपर कोई भयंकर वज्र-पात होने वाला है। सुभद्रा का विछोह उस भावी आपत्ति की घटनावली की प्रस्तावना है। राधा के हृदय में यह भावना बद्धमूल हो गई।

इसी प्रकार की भावनाओं से आकुल होती हुई राधा घर की ओर लौटी। सुभद्रा की अमृतमयी उपदेशावली और करुणामयी सान्त्वना भी, इस समय उसकी उन दुर्भावनाओं को दूर नहीं कर सकीं। उन भावनाओं का वह विलक्षण उत्पात किसी आपत्ति का अस्पष्ट, किन्तु सत्य आभास था।

जब मन-मानस स्वतः ही, बिना किसी विशिष्ठ कारण के, किसी अस्पष्ट एवँ अमंगल भावना के तीव्र आघात से, हिल्लोलित होने लगे, तब यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिये कि जीवन की रंगभूमि पर किसी दारुण घटना का नवीन अभिनय शीघ्र ही अभिनीत होने वाला है। अस्पष्ट अभिव्यक्ति, और कुछ नहीं, केवल किसी दैवी सूचना का अस्फुट आभास है।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

यात्रा

सन्तकुमार ने सुभद्रा और राजेन्द्र की यात्रा का सारा प्रबन्ध ठीक कर दिया । देवी सुभद्रा ने पहिले ही वसन्तकुमार को यह समझा दिया था कि उनके साथ में अधिक मनुष्यों के जाने की आवश्यकता नहीं है। आडम्बर से तो बहिन भाई दोनों ही को घृणा थी । अतः यह निश्चय हुआ कि उन दोनों के साथ में एक परिचारिका, एक नौकर और एक सिपाही जायगा । सुभद्रा ने वसन्तकुमार के इस प्रबन्ध पर परम परितोष प्रकट किया।

आज पौष मास की प्रथम द्वितीया है। प्राची दिशा के प्राङ्गण में प्रभात-सूर्य्य का उज्ज्वल मनोरम विलास विलसित हो रहा है; तुषार के आवरण को भेद करती हुई दिवाकर की ललित किरणमाला हरे हरे खेतों के ऊपर नृत्य कर रही है और उनकी उज्ज्वल शोभा में प्रत्येक ओस-विन्दु, हीरक-कण की भाँति, जगमग जगमग कर रहा है। चमेली के मकरन्द को पान कर के शीतल समीर मन्द मन्द गति से प्रवाहित हो रहा है। उसके गुदगुदाने से उत्फुल्ल गुलाब, हँस हँस कर, सलज्ज भाव

में अपने आपको पल्लव के नील अञ्चल में छिपाना चाहता है परन्तु रसिक वायु उसे छिपने नहीं देता। इस रस-लीला को देख कर, विहङ्ग-मण्डली, विश्वासपात्री सखी-माण्डली की भाँति, आनन्द से उत्फुल्ल होकर परिहासमयी रागिनी गा रही है। आज इसी पवित्र प्रभात में राजेन्द्र और सुभद्रा के प्रस्थान का मङ्गल मुहूर्त्त निश्चित हुआ है। चलिये! हम भी उनकी इस यात्रा के समय उनके ऊपर सुमन-वर्षा कर आवें।

राजेन्द्र के भवन के पीछे एक विशाल आम्र-कानन है। यह बात हम अपने पाठक-पाठिकाओं से पहिले ही निवेदन कर चुके हैं। इस वन में विशेषतया आम्र-वृक्षों का बाहुल्य है। इसी लिये इसे आम्र-कानन की संज्ञा दी गई है। उसमें फूलों के पेड़ और लतायें भी बहुत सी हैं और राशि-राशि फुलों की सुगन्धि से वह आम्र-कानन सुरभित रहता है। स्थान स्थान पर उसमें छायामय निकुञ्ज है और लताओं से घिरे हुये फूलों के कारण वहाँ की स्थली रति-मन्दिर के पुष्प-पर्य्यङ्क के समान सुशोभित होती है। हेमन्त के तुषार में स्नान करके, वहाँ पर अनेक गुलाब-लतायें, प्रफुल्ल यौवनमयी सुर-कन्याओं की भाँति, सूर्य्य की विमल शोभा में झूम रही हैं। उनके भीतर बैठी हुई अनेक छोटी छोटी चिड़ियें मधुर कलरव कर रही है जिससे यह प्रतीत होता है मानो प्रत्येक पुष्प सजीव होकर, शिशु की ललित रसमयी वाणी में आनन्द से अलाप रहा हो और यहीं से थोड़ी दूर पर, हरे हरे खेतों के उस पार, पृथ्वी देवी की नील-मणि-माला के समान, नील-सलिला यमुना विलसित हो रही हैं।

अपनी यात्रा पर जाने से पहिले देवी सुभद्रा अन्नपूर्णा के साथ इसी उद्यान में स्नेहमय सम्भाषण कर रही हैं।

सुभद्रा—"अन्नपूर्णे! बापू जी का तुझ पर अपार स्नेह है। मेरे ही समान वे तुझे भी अपनी ही सन्तान मानते हैं और राजेन्द्र के जैसा ही बसन्त पर उनका अनुराग है। इसलिये तुम दोनों के हाथों में बापू जी की सेवा का भार देकर मैं निश्चिन्त मन से यात्रा पर जा रही हूँ।"

अन्नपूर्णा—"दीदी! यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे उनकी सेवा करने का मङ्गलमय अवसर मिला है। पर मेरा यह आनन्द दुःख से रहित नहीं है। तुम जा रही हो, इसलिये बार बार मेरा हृदय व्याकुल हो उठता है। जब से तुमने मुझे अपनी गोद में बिठा कर मेरा प्यार किया है, तब से आज यह पहिला अवसर है कि मैं तुमसे बिछुड़ रही हूँ। दीदी! बापू जी की सेवा का पुण्य कर्म मुझे यदि न करना होता, तो मैं एक घड़ी तो यहाँ रहती ही नहीं। तुम्हारे बिना यह विशाल भवन भयंकर वन के समान प्रतीत होने लगेगा। मेरी दीदी! जहाँ तक हो, जल्दी ही लौट आना, अपनी अन्नपूर्णा को भूलना मत।"

अन्नपूर्णा के विशाल लोचन-युगल आर्द्र हो गये; उसका गला भर आया। सुभद्रा का हृदय भी चञ्चल हो उठा। उसने अन्नपूर्णा को अपने हृदय में लगा कर कहा—"अन्नपूर्णा! तुझे भूलूँगी? भूलना भी चाहूँ, तो भी नहीं भूल सकती। तू तो मेरे मन-मन्दिर में सरल शिशु की भाँति सदा लीला करती रहती है। जहाँ तक होगा मैं जल्दी आऊँगी। कर्तव्य बड़ा प्रबल है, नहीं

तो मैं आज तुझे और बापू जी को छोड़ कर गाँव गाँव घूमती फिरती ? अन्नपूर्णा ! अपना अधिक समय बापू जी के पास ही व्यतीत किया करना, उससे तुझे भी शान्ति मिलेगा और बापू जी को भी राजेन्द्र का और मेरा वियोग बहुत कम अखरेगा। मुझे विश्वास है कि बापू जी तुझे देख कर हम दोनों के वियोग-दुःख को बहुत कुछ भूल जायेंगे।"

अन्नपूर्णा—"दीदी ! यह कैसे हो सकता है कि बापू जी का हृदय तुम्हारे वियोग के दुःख से व्याकुल न हो। पर तब भी मैं ऐसा प्रयत्न करूँगी जिससे उनका मन बहला रहे। कभी मैं उनसे उपनिषद् पढ़ूँगी, तो कभी मैं उनसे पुराणों की कथा सुनाने का आग्रह करूँगी। जहाँ तक होगा मैं उन्हें बहुत कम अकेला रहने दूँगी। आधी रात तक उनके पास बैठी बैठी उनके मधुर-सुन्दर प्रवचनों को सुना करूँगी। रही सेवा की बात, सो दीदी, मैं तुम्हारा स्थान तो ग्रहण कर नहीं सकती, परन्तु तुम्हारी बताई हुई रीति से, मैं बापू जी की परिचर्य्या किया करूँगी। अपराध तो मुझ से हज़ारों होंगे पर वे इतने उदार हैं कि असन्तुष्ट होने के बदले वे और भी सन्तुष्ट होंगे। दीदी ! अप्रसन्न होना तो वे जानते ही नहीं हैं।"

सुभद्रा—"वे देवता हैं। बड़े भाग्यों से ऐसे तपोधन पिता मिले हैं। त्याग और सन्यास के तो वे मूर्तिमान् अवतार हैं। अन्नपूर्णे ! तेरी यह सरल विनय और मधुर सेवा उन्हें अत्यन्त रुचिर प्रतीत होगी। मुझे भय है कि लौट कर जब मैं आऊँगी, तब कदाचित् मेरी सेवा उन्हें इतनी मधुर नहीं मालूम होगी।

मुझे तो ऐसा प्रतिभास होता है कि शिष्य गुरू से बढ़ जावेगा।"

सुभद्रा मुस्कराई! अन्नपूर्णा के मुख-मण्डल पर ललित लज्जा की लालिमा विलसित हुई। उसने मधुर स्वर में कहा—"दीदी! कहाँ तुम, कहाँ मैं? तुम्हारे समान मैं कैसे हो सकती हूँ। तुम तो सेवा की साक्षात् प्रतिमा हो और साधना की मधुर मूर्ति हो। तुम्हारी समता मैं कैसे कर सकती हूँ? पर इससे क्या? बापू जी तो इतने दयामय हैं कि वे मेरी त्रुटियों को तत्काल ही क्षमा कर देंगे। तब मैं चिन्ता क्यों करूँ।"

सुभद्रा—"पर तुझ से त्रुटि होना वैसा सरल नहीं है। मैं क्या देखती नहीं हूँ? आज ३–४ वर्षों से तू मुझे जैसी सहायता दे रही है, उससे तो यही सिद्ध होता है कि सेवा-धर्म के परिपालन में तेरा आन्तरिक अनुराग है। अन्नपूर्णा! बापू जी की ही नहीं, बसन्त की सेवा का भी भार तेरे ही ऊपर है। जैसा तेरा नाम अन्नपूर्णा है, वैसे ही अन्नपूर्णा बन कर तू सब की सेवा करना। मेरे इस उपदेश को सदा स्मरण रखना कि स्त्री का प्रमुख और प्रथम धर्म है सेवा। सेवा ही रमणी की इष्ट-साधना है।"

अन्नपूर्णा—"तुम्हारे पवित्र उदाहरण ने मेरे हृदय पर इस पवित्र उपदेश को सदा के लिये अङ्कित कर दिया है। मैंने तुम्हारे पवित्र सत्संग से यह भली भाँति जान लिया है कि रमणी के जीवन का प्रधान रस है सेवा; सेवा के बिना स्त्री-जीवन निरस है; उसकी कोई सार्थकता नहीं है। तुम इस बात की प्रत्यक्ष

प्रमाण हो कि संसार की बड़ी से बड़ी वेदना सेवा के अनुष्ठान से तपोमयी साधना में परिणत की जा सकती है। दीदी! तुम्हारा पवित्र जीवन सेवा की महिमा का महाकाव्य है।"

सुभद्रा—"पर यह सब बापू जी के अनुग्रह और आशीर्वाद का मधुर फल है। अन्नपूर्णे! बापू जी का पावन जीवन स्वार्थ-त्याग और वात्सल्य का मधुर-सुन्दर साकार चित्र है। उन्होंने अपनी इस अधम पुत्री को सन्यासिनी बनाने के लिये संसार को त्याग कर सन्यास धर्म ग्रहण कर लिया; अपनी इस अभागिनी पुत्री के अग्निमय जीवन को धर्म-धारा और शान्ति-सरिता से परिप्लावित करने के लिये उन्होंने भागीरथ प्रयत्न किया है। मेरे पास अपना कुछ नहीं है; जो कुछ है सब उनका है। देखो! कैसा महान, कैसा पवित्र, कैसा दिव्य जीवन है। मैं तो उनके चरण-रज के एक परिमाणु के बराबर भी नहीं हूँ। बापू जी दया और ममता के मूर्तिमान् अवतार हैं। उनका उज्ज्वल जीवन तप, त्याग और तेज की त्रिवेणी से प्लावित रहने के कारण तीर्थराज प्रयाग के समान पवित्र और महिमामय हो गया है। वे तपोधन ऋषि हैं। मैंने भली भाँति अनुभव कर लिया है कि उनकी साधना का प्रधान उद्देश्य है मेरे वैधव्य को शान्ति और सन्तोष की शीतल धारा में स्नान करा कर शान्त करना। उन्हीं की कृपा से मैंने दिव्य ज्ञान की एकाध किरण हृदय में धारण की है। सच तो यह है कि यदि वे सहाय्य न होते, तो मैं आज किस दशा में होती—यह कहना कठिन है। सुख-स्वप्न के समान

सुवर्ण-राज्य को तिलाञ्जलि देकर उन्होंने मेरे लिये साधना की पर्ण-कुटी में रहना स्वीकार किया है।"

कहते कहते देवी सुभद्रा की आँखों में आँसू भर आये। सरला बालिका की कमल कोमल आँखों में भी दो मोती झलक उठे। अन्नपूर्णा ने कहा—"ठीक है, दीदी! बापू जी वास्तव में ऋषि हैं। तुम तो उनकी औरस सन्तान हो—हम दोनों अनाथ भाई-बहिनों को अपना आश्रय देकर उन्होंने हमारे समस्त दुखों को अपने करुण-स्नेह से शान्त कर दिया है। उन्होंने अपने बच्चों के समान ही हमारा लालन-पालन किया है। उनके शीतल वात्सल्य में स्नान करके हम कृतकृत्य हुये हैं। उन्होंने हमारी रक्षा की है; नहीं तो इस विशाल विश्व-सागर में हम, छोटे से बुदबुदे के समान, न मालूम कहा विलीन हो जाते..........।"

अभी अन्नपूर्णा की बात समाप्त नहीं होने पाई थी कि पीछे से आवाज़ आई—"सुभद्रा!"

यह ध्वनि—मधुर ध्वनि—दोनों ही की परिचित थी। दोनों ही उस आह्वान को सुन कर उत्सुक दृष्टि से पीछे की ओर देखने लगीं। पर दोनों की दृष्टि में विभेद था—सुभद्रा की दृष्टि में, वही चिर-परिचित स्नेह, जो भाई के लिये बहिन के हृदय में सदा विराजमान रहता है, विलसित हो रहा था। पर अन्नपूर्णा की दृष्टि में उस मधुर अनुराग की लाली थी जो प्रभात के अरुण प्रकाश में पल्लवाञ्चल की ओट में लीलामयी लज्जा के साथ हँसते हुये यौवन-वन के बसन्त-कुसुम के मुख-मण्डल पर शोभित होती है। एक दिन ऐसे ही मनोहर प्रभात के उज्ज्वल प्रकाश

में भगवान् रामचन्द्र के चारु दर्शन करके भगवती सीता के प्रफुल्ल लोचनों में जैसे सरस माधुरी सरसित हुई थी; एक दिन तपोवन के पवित्र उद्यान में भारत के चक्रवर्ती सम्राट दुष्यन्त का कान्त दर्शन प्राप्त करके त्रिभुवन सुन्दरी शकुन्तला के मधुर नयनों में जैसी रसमयी शोभा आविर्भूत हुई थी; एवँ एक दिन हिमाँचल की प्रसन्न बन-श्री के बीच में भगवान् चन्द्रशेखर की मधुर मूर्ति को निरख कर राजराजेश्वरी पार्वती के पवित्र लोचनों में जैसी लीलामयी लज्जा प्रादुर्भूत हुई थी; अन्नपूर्णा की विशाल आँखों में भी वैसी ही मधुर-सुन्दर कान्ति प्रगट हुई। अन्नपूर्णा के गण्डस्थल और कपोल-स्थल गहरे गुलाबी रंग में रंग गये और उन पर सात्विक प्रस्वेद-बिन्दु, मोतियों के समान, झलक उठे। उसकी अरुण रागमयी आँखों ने एक बार, केवल एक बार ही सामने खड़े हुये जीवनेश्वर की ओर देखा और दूसरे ही क्षण वे लज्जा और लाली के भार से विनम्र होकर पृथ्वी की ओर देखने लगीं। देवी सुभद्रा ने सरस मधुर शब्दों में पूछा—"क्या है, भाई राजेन्द्र?" उन्होंने ज्योंही पीछे फिर कर यह प्रश्न किया, त्योंहीं अन्नपूर्णा सकुच कर उनके पीछे छिप गई। उधर राजेन्द्र की बड़भागी आँखों ने उस मधुर सुरभित प्रभात के प्रकाश में सजीव गुलाब की जो ललित विकास-लीला देखी, उसे देख कर उनका सरस हृदय आनन्द और अनुराग की रस धारा से प्लावित होने लगा। उसकी आँखों की लाली, स्फटिक पात्र में रक्खी हुई वारुणी की भाँति, विलसित होने लगी। राजेन्द्र भी उस लावण्य-लता के प्रफुल्ल विकास को देख कर विकसित हो उठा।

परन्तु इन दोनों की इस प्रणय-लीला के रहस्य को देवी सुभद्रा ने नहीं जान पाया। अन्नपूर्णा के संकोच को उन्होंने रमणी-सुलभ लज्जा का ही एक साधारण व्यापार समझा। राजेन्द्र ने पूछा—"सुभद्रे! अब क्या देर है?"

सुभद्रा—"मैं तो प्रस्तुत हूँ। बापू जी जाप कर रहे हैं। वे निवृत हो जाँय, तब उनकी पाद-वन्दना करके हम लोगों को प्रस्थान कर देना चाहिये।"

राजेन्द्र—"मेरा तो अनुमान है कि अब वे जाप समाप्त कर चुके होंगे। अब तो ८ बजे का समय है। न हो, देख लो। व्यर्थ में विलम्ब क्यों किया जाय।"

जहाँ पर इस समय राजेन्द्र, सुभद्रा और अन्नपूर्णा खड़े हुये थे, वहाँ से पास ही, उन ऊँचे ऊँचे आम्र-वृक्षों के उस पार, बापू जी की पवित्र पर्ण-कुटी है। वहीं पर वे इस समय जाप कर रहे हैं। सुभद्रा ने कहा—"अच्छी बात है। तुम यहीं रहना, भैया। अन्नपूर्णा! मैं अभी आती हूँ।"

एक बार अन्नपूर्णा की इच्छा हुई कि वह भी सुभद्रा के साथ चल दे, परन्तु मन के देवता ने आज्ञा ही नहीं दी। राजेन्द्र के हाथ तो जैसे कौस्तुभ-मणि ही लग गई, अन्नपूर्णा के अन्तर में भी आनन्द का प्रकाश झलमला उठा। इसी लिये सुभद्रा के इस समय चले जाने को दोनों ही ने करुणामयी मातेश्वरी का मधुर विधान समझा। पर, अन्नपूर्णा पर तो आर्ज लज्जा ने ऐसा प्रभाव डाल रक्खा है कि उसकी दृष्टि पृथ्वी पर से ऊपर की ओर उठती ही नहीं है। दोनों के हृदय-मन्दिरों में प्रवृत्ति का नृत्य प्रारम्भ हो

गया; दोनों के मन-भवन में भाव-माला का मनोहर राग उत्थित हो गया। उस दिन यमुना-तट पर उन दोनों का जो परस्पर दर्शन हुआ था, उसके उपरान्त आज ही वैसा सौभाग्य उन दोनों को मिला है। पर इस समय दोनों ही संकोच और लज्जा से मूक हो रहे हैं। राजेन्द्र स्थिर अनुरागमयी दृष्टि से अन्नपूर्णा के विनम्र वदन को देख रहा है। परन्तु अन्नपूर्णा, राजेन्द्र के वदन-मण्डल के मधुर दर्शन का सौभाग्य प्राप्त न करके उसके चरण-कमलों को ही अपने नयनों की रसधारा से धो रही है। उनका एक एक क्षण अमूल्य है। सौभाग्य से राजेन्द्र को यात्रा पर जाने के समय अपने हृदय की अधीश्वरी से दो बातें करने का अवसर मिला है। विदा का समय है; तब क्या वे दोनों इस अमूल्य अवसर को योंही मौन भाव से गवाँ देंगे?

वास्तव में प्रेम का भी अद्भुत प्रभाव है। आज से पहिले अथवा यों कहिये कि उस यमुना दुकूल वाले दर्शन से पहिले अनेक बार अन्नपूर्णा और राजेन्द्र का परस्पर आलाप और दर्शन हुआ है। पर उस समय साधारण संकोच मात्र होता था, इस अद्भुत लज्जा का तो उस समय कहीं पता नहीं था। पर एक साधारण सी घटना, साधारण से दृष्टि-मिलन ने, साधारण से आवेशमय वचन ने उन दोनों के जीवन की गति-धारा को ही पलट दिया। उन दोनों को ऐसा प्रतीत होने लगा मानो सहसा यौवन के वन में बसन्त-कोकिल कूक उठा हो; मानो सहसा हृदय की रंगभूमि पर आनन्दमयी प्रवृत्ति की नृत्य लीला प्रारम्भ हो गई हो; मानो सहसा आँखों के सामने स्वर्ग का सुन्दर दृश्य

जगमगा उठा हो। उन दोनों की दृष्टि में अब विश्व रासरंग की रंगभूमि के समान प्रतिभासित होने लगी; प्रकृति का सरस सौन्दर्य उन्हें अब आनन्द और अनुराग का लीला-मन्दिर सा प्रतीत होने लगा। एक रागिनी स्वतः उत्थित हो गई; एक रस-धारा स्वतः फूट निकली; एक मनोहर कल्पना स्वतः नाच उठी; एक अव्यक्त आशा सहसा आनन्द से विकसित हो उठी। उस समय उन्हें ऐसा आभास हुआ, जैसे आवरण से ढकी हुई कौस्तुभ-मणि आवरण के हट जाने से झलमला उठी हो; जैसे मेघ के अन्तराल से निकल कर शारदीय चन्द्र हँस उठा हो; जैसे अञ्चल के हट जाने पर पारिजात का गुच्छा महँक उठा हो। तभी से अन्नपूर्णा का संकोच तो बदल गया रसमयी लज्जा में और राजेन्द्र का विस्मय-विमुग्ध भाव परिवर्तित हो गया उल्लास-मयी प्रणय-प्रवृत्ति में। इसी लिये-इस समय दोनों मूक हैं; दोनों ही तन्मय होकर, मूक-कविता में, अपने हृदय की अभिलाषा को प्रकट कर रहे हैं। परन्तु उस समय वे पाषाण-प्रतिमा की भाँति आत्म-विस्मृत नहीं थे। वहाँ पर जो एक मूक रागिनी झँकरित हो रही थी, उसे वे दोनों सुन रहे थे। उसके प्रत्येक उतार पर, प्रत्येक चढ़ाव पर, प्रत्येक कल्पना पर, प्रत्येक शब्द पर, वे दोनों बलिहार हो रहे थे। उस रागिनी का जो मधुर अर्थ था, उसे जान कर उनकी लीलामयी लज्जा और भी बढ़ती जाती थी। यद्यपि इस समय उनकी वाणी विलास से विरत हो रही थी, पर उनके सुन्दर कलेवरों का प्रत्येक परिमाणु एक एक मूक छन्द के समान हो रहा था। उस छन्द का मानो यही

भाव था—"तुम दोनों चोर हो। कालिन्दी के पवित्र दुकूल पर तुमने एक दूसरे का हृदय चुराया है।" इस चोरी की पूरी सच्चाई विवश होकर उन दोनों को स्वीकार करनी पड़ी थी और इसी लिये वे दोनों लज्जा और संकोच से वाणी-विहीन हो रहे थे। चोरी पकड़ जाने पर चोरों के लिये मौन धारण करना ही अन्तिम अवलम्ब है।

पर राजेन्द्र ने मन में सोचा कि यदि इसी भाँति मौन भाव से वे खड़े रहेंगे, तो यह अवसर शीघ्र ही समाप्त हो जायगा और वे दोनों बिछुड़ते समय दो बातें भी नहीं कर पावेंगे। अभी तो कुछ नहीं, पर जब दूर देश में, मध्य रात्रि की शान्ति में, वे पर्य्यंक पर पड़े होंगे तब इस आनन्दमय अवसर के इस प्रकार व्यर्थ जाने की बात सोच सोच कर उन्हें व्यर्थ ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इसलिये अब संकोच का वहिष्कार करना ही होगा; लज्जा को तिलाञ्जलि देनी ही होगी। जब सौभाग्य से ऐसा मनोहर मङ्गल मुहूर्त्त मिला है, तब उसे व्यर्थ खो देना एक बहुत बड़ी मूर्खता है—यही सोच कर राजेन्द्र ने उस मौन-व्रत को तोड़ना ही उचित समझा।

पुरुष फिर भी निर्लज्ज होता है। इसी लिये लज्जामयी प्रणय-लीला का मङ्गलाचरण उसे ही करना पड़ता है। रास-रंग के मधुर अभिनय में उसी को सूत्रधार बन कर प्रणय की रंगभूमि पर सब से पहिले प्रकट होना पड़ता है। जब लज्जा का आवरण रमणी की प्रीति-प्रभा को प्रकट नहीं होने देता है; जब संकोच का दबाव उसके अन्तर के मधुर भाव को विकसित नहीं होने

देता है, तब पुरुष ही व्यंग्य और हास्य के अमोघ अस्त्रों के द्वारा, रसमयी वाणी और उल्लासमय आग्रह के अजेय शस्त्रों के द्वारा, इसकी लज्जा और संकोच को दूर कर देता है। राजेन्द्र ने स्नेह-मधुर, सरस-सुन्दर स्वर से पुकारा—"अन्नपूर्णे!" पर लज्जा का वह दुर्गम दुर्ग एक ही अक्रमण में नहीं टूट सकता था। अन्नपूर्णा लाज से और भी विनम्र हो गई। पर प्रणय-शास्त्र में जो पारङ्गत हैं, उनसे यह बात छिपी नहीं रह सकती थी कि उसका रोम रोम "प्यारे राजेन्द्र" कह कर उत्तर देने के लिये व्याकुल हो रहा था।

राजेन्द्र ने धीरे धीरे आगे बढ़ कर उसका कोमल कर-कमल अपने हाथ में ले लिया। अन्नपूर्णा के समस्त शरीर में विद्युत्प्र-वाह प्रवाहित होने लगा। वसन्त-वायु के शीतल हिल्लोल के प्रथम स्पर्श से जैसे मालती-लता विकसित हो जाती है; प्रभात-सूर्य्य की कोमल किरण के प्रथम चुम्बन से जैसे सुन्दरी नलिनी प्रफुल्ल हो जाती है; शारदीय चन्द्र की रुचिर रश्मि के प्रथम आलिङ्गन से जैसे कान्तिमयी कुमोदिनी हास्यमयी हो जाती है; अन्नपूर्णा की भी ठीक वैसी ही दशा हो गई। हृदय में रस छलकने लगा; आँखों से आनन्द बरसने लगा; शरीर पर अनुराग की आभा विलसित होने लगी और राजेन्द्र! राजेन्द्र ने उस कोमल कर-स्पर्श के जैसा दिव्य आनन्द कभी नहीं अनुभव किया था। उसका कान्त-कलेवर कण्टकित हो गया; उसके लोचन प्रेम से प्रदीप्त हो उठे; उसके मन-मन्दिर में महोत्सव सा होने लगा। धीरे धीरे अपनी

अँगुली से एक हीरक-जटित अँगूठी उतार कर उसने अन्नपूर्णा की चम्पक के समान कोमल अँगुली में पहिना दी; उसी समय प्रेम से भरे हुये मधुर शब्दों में उसने कहा—"मैं जा रहा हूँ। बापू जी की सेवा का और इस घर की व्यवस्था का सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम्हारे मुख-मण्डल पर जो भाव लीला कर रहे हैं, उन्हें देख कर मैंने यह जान लिया कि तुमने यह भार आनन्दपूर्वक स्वीकार किया है। यह जान कर मैं परम प्रसन्न हुआ हूँ। परन्तु यदि तुम सदा के लिये इस भार को अङ्गीकार कर लोगी, तो मेरा जीवन आनन्द और प्रमोद से सदा विलसित होता रहेगा। तुम्हारी आँखें कह रही हैं, तुम्हारे मुख की यह मधुर लाली बता रही है कि तुम्हें मेरा प्रस्ताव स्वीकार है। इसी लिये मैं तुम्हें अपनी स्मृति के चिन्ह स्वरूप अँगूठी पहिनाये देता हूँ मंगलमयी जगज्जननी हमारे इस प्रणय को सफल और मधुर बनावें—यही मेरी विनीत प्रार्थना है।"

अन्नपूर्णा ने फिर भी कुछ उत्तर नहीं दिया परन्तु उसके मुखमण्डल पर अन्तर की प्रवृत्ति का जो प्रस्फुट प्रतिबिम्ब प्रतिफलित हो रहा था, उससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता था कि अन्नपूर्णा के हृदय ने राजेन्द्र के प्रस्ताव का सानन्द अनुमोदन किया है। किन्तु वह उसी भाँति पृथ्वी की ओर देखती रही। हेमन्त के उस शीतल प्रभात में उसके मस्तक और कपोलों पर राशि राशि प्रस्वेद-विन्दु, लज्जा की माला के टूटे हुये उज्वल मोतियों की भाँति झलकने लगे। आनन्द और अनुराग के आधिक्य से उसका कान्तिमय कलेवर कम्पित होने

लगा। उसी समय पीछे से, गुलाब-लता के उस ओर से, देवी सुभद्रा ने मधुर स्वर में पुकार कर कहा—"भैया! चलो पिता जी बुला रहे हैं।"

अन्नपूर्णा जल्दी से अन्तःपुर में चली गई। उसके मुख-मण्डल पर भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही थी और वह इसी लिये सुभद्रा के सामने नहीं जाना चाहती थी। यद्यपि उसकी आन्तरिक अभिलाषा यही थी कि वह भी कुटी में जाकर पिता और सन्तति के विदाई के करुण-पवित्र दृश्य को देखे और बापू जी का उपदेशात्मक आशीर्वाद सुने। पर उसके हृदय में प्रवृत्ति का जो विलास सहसा विलसित हो उठा था, उसका प्रतिबिम्ब उसके मुखमण्डल पर प्रस्फुट रूप में दिखाई पड़ता था। वह जानती थी कि भावों की इस अभिव्यक्ति को आवरण में छिपाना उसके लिये एकान्त असम्भव था। तब वह भला कैसे बापू जी की कुटी में उसी के पास अथवा सामने जाकर खड़ा होती, जिसके दर्शन मात्र से उसका हृदय रसधारा से प्लावित और शरीर प्रस्वेद-बिन्दु से परिपूर्ण हो जाते थे?

लज्जा प्रणय का शृङ्गार है।

* * *

सुभद्रा और राजेन्द्र पिता के मङ्गलमय आशीर्वाद को प्राप्त करने के लिये उनके पुण्य पाद पद्म में उपस्थित हुये। पिता ने दोनों के सिर पर एक एक हाथ रख कर कहा—"जाओ मेरे राजेन्द्र! जाओ मेरी सुभद्रा! मङ्गलमयी जगज्जननी की कृपा से

तुम्हारी यह यात्रा शुभ और कल्याणमयी हो। इस बात को सदा स्मरण रखना कि जिस पुण्य-प्रेरणा से आज तुम पहिले पहिल कर्तव्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हो रहे हो, वह तुम्हारे मार्ग की आलोक-माला बन कर तुम्हें पवित्र पथ पर ले जावेगी।

इसी लिये आपत्ति की घनघोर घटा के घोर-गर्जन से तुम रत्ती भर भी विचलित मत होना! कर्तव्य का महासागर तुम दोनों के सामने हिल्लोलित हो रहा है! मगलमयी मातेश्वरी की दया पर भरोसा रख कर तुम दोनों अपनी नावें खोल दो। उत्ताल तरङ्ग माला से, भयंकर गर्जन से, प्रदीप्त बाड़वानल से, एवँ हिन्सक जन्तुओं से भयभीत मत होना; तट की रेखा तुम्हें दिखाई दे या न दे, तुम उसकी चिन्ता मत करना। मेरे हृदय के रत्नों! यह सदा स्मरण रखना कि कर्तव्य-क्षेत्र में विजय और पराजय की उतनी महिमा नहीं है, जितनी अपने स्थान पर अटल अचल हिमालय के समान स्थिर होकर अपने कर्तव्य के परिपालन करने की है। सफलता और असफलता की कल्पना को लेकर तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है। सत्य की उपासना और सेवा की अर्चना—यही दोनों तुम्हारे जीवन की साधनायें होनी चाहियें। ऐसा ही एक उज्ज्वल प्रभात था; ऐसे ही मधुर हिल्लोल के साथ उस समय भी शीतल सुरभित वायु भूम रहा था; ऐसे ही दिव्य तेज के साथ भारतीय आकाश में सूर्य्यदेव प्रकाशमान थे; उस समय, मधुर शान्ति की कोमल गोद में बैठ कर, दिव्य आनन्द की अनुभूति से तेजोमय होकर, विश्व प्रेम की साधना में सिद्धि प्राप्ति करके,

भारतीय ऋषि ने राजराजेश्वरी भगवती कल्याणसुन्दरी से वर माँगा थाः—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गम् नाऽपुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां प्राणि नामार्ति-नाशनम्॥*

मेरे लाल, मेरी बेटी, तुम्हारा भी यही पुण्य आदर्श हो। मङ्गलमयी जननी से मेरी यही प्रार्थना है। मानव-जीवन की यही प्रमुख इष्ट-साधना है। इसी साधना का मधुर फल है सायुज्य मुक्ति।

"बेटा! जहाँ जाना वहाँ की प्रजा में इस प्रकार मिल जाना जैसे तुम उन्हीं के हो; उन्हीं के परिवार के एक सभ्य हो। किसी को क्षण भर के लिये भी यह कल्पना करने का अवसर मत देना कि तुम उनकी श्रेणी के नहीं, उनसे ऊँची श्रेणी के हो। यदि तुम उनके हृदय के सच्चे भावों को जानना चाहते हो, तो तुम्हें उनके पास ही खड़ा होना होगा। जहाँ जाना, बच्चों को मेरी ओर से प्यार करना। स्मरण रखना, बालक उस जगन्नियन्ता की पवित्र प्रतिमायें हैं। इस कलिकाल में उन्हीं की सरल हास्य-श्री में भगवद्विभूति का विकास रह गया है। उनसे स्नेह करना भगवान् की आराधना करना है।

"और तुम बेटी सुभद्रा! तुम्हारा पुण्य कर्तव्य राजेन्द्र की अपेक्षा विशाल और कठिन है। तुम अन्तःपुर में जाकर वहाँ

*"संसार का न तो मैं राज्य चाहता हूँ और न स्वर्ग का आनन्द। मुझे तो मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं है। मैं तो यही चाहता हूँ कि मैं दुःखी और व्याकुल प्राणियों का दुःख मोचन करने में समर्थ हो सकूँ।"

की दशा देखना—देखना कि भवानी की प्रतिनिधि स्वरूपा महिलाओं की क्या दशा है? उनकी आवश्यकतायें, उनके अभाव उनके दुःख, उनकी व्यथा, उनकी वेदना इन सब का ज्ञान प्राप्त करके उनके निराकरण का प्रबन्ध तुम्हीं को करना होगा। बेटी! तुम सन्यासिनी हो; लोकहित ही तुम्हारी इष्ट-साधना है। विश्व के दुखों को दूर करके दिव्य आनन्द का विस्तार करना ही तुम्हारे जीवन का प्रमुख उद्देश्य है। तुम महामाया मातेश्वरी की प्रतिनिधि हो। जहाँ जहाँ जाना वहाँ वहाँ की जनता को अपने त्यागमय वात्सल्य की शीतल पवित्र धारा से अभिषिक्त करना। उनकी स्थित और परिस्थित को देख कर उसके समुचित सुधार की आयोजना करना। बेटी! यह कठिन अनुष्ठान तुम्हारे ही किये हो सकता है। इसी लिये बेटी, इस यात्रा का सारा सारमय फल तुम्हारी ही साधना और अनुष्ठान पर निर्भर है।

"जाओ बेटा! जाओ बेटी! उसी मङ्गलमयी महाशक्ति की दिव्य श्री तुम्हारे कर्तव्य-पथ को, अक्षय आलोकमाला की भाँति, आलोकित करती रहे। यद्यपि जीवन की इस धूसर संध्या में तुम दोनों का—जो मेरे अन्धकार के अक्षय-प्रदीप हैं—वियोग मेरे हृदय को अत्यन्त आकुल बना रहा है। पर विश्व के कल्याण के लिये, जनता के हित के लिये, देश के अभ्युदय के लिये, समाज की समृद्धि के लिये एवँ धर्म की विजय के लिये यह दुःख सहना मेरे लिये पुण्य तप के समान है। एक दिन मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्रजी ने कहा था:—

स्नेहं दयाञ्च सौख्यञ्च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥*

"उन्हीं के पुण्य पदाङ्क, का पुण्य अनुसरण करके मैं तुम दोनों को आज्ञा देता हूँ कि जाओ! कर्तव्य के इस विस्तृत पथ पर धर्म और सत्य को अपना सहचर बना कर, सेवा और दया को अपनी अक्षय आलोकमाला बना कर और पुण्य और प्रेम को रक्षक बना कर अग्रसर होओ। शुभास्ते सन्तु पन्थानः।"

पिता की करुण आँखों में प्रेम और वात्सल्य के आँसू उमड़ आये; पुत्र और पुत्री की भी यही दशा हुई। पर कुछ भी हो, विलम्ब का अब समय नहीं है, पिता के पाद-पद्म में प्रणाम करके भाई-बहिन कर्तव्य के कठिन क्षेत्र में अवतीर्ण हो गये। हमारी भी जगज्जननी से यही प्रार्थना है कि उन दोनों के पथ पर जो कण्टक हो, वे कोमल कुसुम में परिणत हो जाय। उनके जीवन-गगन में सत्य-धर्म का आलोक सदा समुद्भासित होता रहे और शान्ति और आनन्द की सम्मिलित रस-धारा से उनके हृदय-वन सिञ्चित होकर सदा हरे भरे बने रहें।

पुण्य ने प्रेरणा की; सत्य ने अनुमोदन किया; आचार्य्य ने अपने दिव्यवाक् से पथ को निर्दिष्ट किया; पिता ने आशीर्वाद देकर विदा किया; देवताओं ने पुष्प वर्षा की; ऋषि-मण्डल ने

*"जनता की परितुष्टि के लिये मैं स्नेह, दया, सुख और यहाँ तक कि प्राणेश्वरी जानकी को भी परित्याग करने में कष्ट का अनुभव नहीं करूँगा।"

मंगल-कामना की; विश्व ने सादर अभ्यर्थना की; और मातेश्वरी ने अपने दोनों कर-कमल उठा कर अपनी इन दोनों सरल सन्तानों का सप्रेम अभिनन्दन किया।

सेवा का सुन्दर संकल्प सायुज्य मुक्ति की प्राप्ति का प्रथम सोपान है।

बारहवाँ परिच्छेद

क्रान्ति
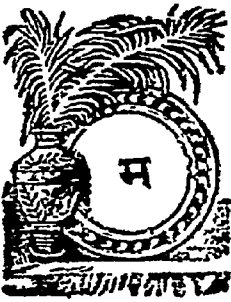
नुष्य का बाहर उसके अन्तर का चित्र है। यह सिद्धान्त अनेकांश में सत्य है। जब हृदय किसी उल्लासमयी वारुणी के रंग से रंग जाता है, उस समय लोचनों के स्फटिक-शुभ्र तरिकाओं पर भी अरुणिमा की आभा झलकने लगती है। जब अन्तर-निकुञ्ज में आनन्दमयी लतायें फूलने लगती हैं, तब निश्वास भी सुगन्धित होकर बाहर निकलने लगती है। जिस समय मन-मन्दिर किसी पुण्य प्रोज्ज्वल प्रवृत्ति के मधुर संगीत से मुखरित होने लगता है, उस समय वाणी का विलास भी रसमय हो जाता है। जब प्राण-भवन किन्हीं अक्षय रत्नप्रदीपों के शीतल सुन्दर प्रकाश से अलोकित हो जाता है, उस समय कलेवर के रोम रोम से सौन्दर्य्य की शोभा प्रस्फुट होने लगती है। जब चित्त के चारु सदन में मधुर चिन्ता की कोमल नृत्य लीला प्रारम्भ हो जाती है, तब प्रत्येक पाद-विक्षेप में एक विशेष मदमय चाञ्चल्य परिलक्षित होने लगता

है। यौवन-वसन्त के आगमन पर जब भाव-बन में कोई लालसामयी आकाँक्षा कूक उठती है, तब स्वभावतः ही मधुर अधर किसी के आकुल चुम्बन के लिये विकसित हो उठते हैं। इसी लिये उन्मत्त कवि की कल्पना एवँ तन्मय साधक की भक्ति-भावना दोनों ही रसमय सौन्दर्य्य की ओर, उसके प्रबल आकर्षण से विवश होकर, प्रधावित होते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि जहाँ जहाँ सौन्दर्य्य का मनोरम विलास होगा, वहाँ वहाँ प्रवृत्ति और प्रकृति का कुछ ऐसा पुण्य-मधुर मिलन दिखाई पड़ेगा, जिसे देख कर उतना ही परितोष होगा जितना शान्ति के नीरव कुञ्ज में बैठे हुये योगीश्वर को अपनी आनन्दानुभूति में होता है। इसी लिये कवि, भक्त और योगी तीनों ही तीन विभिन्न पथों के के पथिक होते हुये भी, अन्त में अनन्त सौन्दर्य के अनन्त विलास में निमग्न हो जाते हैं। किन्तु जिस स्थल पर से खड़े होकर इस शोभामय लावण्य के दर्शन प्राप्त होते हैं, वह एक ढालू शिखर है; जहाँ से थोड़ी ही दूर पर, सामने, उषा और सांध्य गगन में जिस मन्दिर का मणिमय सुवर्ण कलश विलसित होता है, वही सौन्दर्य्य का पुण्य-निकेतन है। परन्तु इस ढालू शिखर से जो पथ उस मन्दिर को गया है, वह एकान्त दुर्गम है, विरले कोई कोई अनन्य साधक एवँ पुण्यशील महात्मा ही वहाँ तक पहुँच सकते हैं। अनेक समय इस पथ के अनेक पथिक पैर फिसलते ही अन्धकारमयी कन्दरा में पतित हो चुके हैं। इतिहास और पुराण इन्हीं पतन और प्रोत्थान के अमर चित्रों की चित्रशालायें

हैं। तुलसीदास जी सुन्दरी पत्नी के सौन्दर्य्य की उपासना करते करते भगवान् के श्री चरणों में पहुँच गये थे। भक्त-श्रेष्ठ महर्षि नारद् भगवच्चरणारविन्द में निरन्तर रत रहते हुये भी सुन्दरी राजकन्या के तेजोमय स्वरूप पर विमुग्ध होकर वानर मुख बन गये थे! हमारे कहने का तात्पर्य्य यह है कि सौन्दर्य्य शिव और शैतान दोनों का कवच है। दोनों ही इस विभूति का आश्रय लेकर अपना अपना उद्देश्य सिद्ध करते हैं।

राधा अनिन्द्य सुन्दरी थी—यह बात हम पहिले ही कह चुके हैं। विलासमय लावण्य के साथ मदमयी लालसा का चिर-सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त का भी हम समय समय पर निरूपण कर चुके हैं। राधा के हृदय में भी इस लालसा का निरन्तर नृत्य होता रहता था। इसी लिये, यद्यपि राधा अनादर, अपमान और आन्तरिक व्यथा से सदा ही परिपीड़ित और व्याकुल रहती थी, किन्तु फिर भी उसके मन में यह भावना सदा जागृत रहती थी कि वह राजेश्वरी के समान सुन्दरी है, तथाच वह किसी भी सम्राट के सुन्दर राज-मन्दिर की शोभा हो सकती है। यह धारणा उसकी लालसा प्रवृत्ति को सदा ही प्रबल बनाये रखती थी। निरुपाय एवँ निरा-श्रय होने के कारण अपने इस दुर्वह जीवन को वह किसी न किसी भाँति व्यतीत तो करती ही थी, पर जब जब उसके सास ससुर उसे कुवाच्य कह कर उसका अनादर करते, तब तब उसका हृदय, पद-हत सर्प की भाँति, फुफकार मार कर रोष से प्रदीप्त हो उठता था। राधा के लिये उस प्रदीप्त प्रवृत्ति-मण्डल

को दमन करना एक बार ही असम्भव हो जाता था। परन्तु वह विवश थी; वह कुछ नहीं कर सकती थी। जब उसकी सौतेली सास अकारण ही उस पर वज्र के समान वाक्यों से प्रहार करती और जब उसका पत्नी-दास वृद्ध ससुर अपनी युवती भार्य्या को प्रसन्न करने के लिये उसका पक्ष लेकर राधा के अपमान और अनादर की मात्रा को दुगनी कर देता, तब रोषमयी राधा का प्रफुल्ल शरीर ऐसे ही काँपने लगता जैसे लू के प्रचण्ड आघातों से वन-वेलि काँपने लगती है। घूँघट की ओट, उसके विशाल लोचन क्रोध से प्रदीप्त, अङ्गार की भाँति दहकने लगते थे। मोतों के समान उज्ज्वल दन्तावली से अपने गुलाब-कोमल अधर को दाब कर वह अपने हृद्गत रोष को प्रकट होने से रोक तो अवश्य लेती थी पर उन मृदुल अधरों पर रक्तबिन्दु झलकने लगते थे। राधा उन सहनशील नारियों में से नहीं थी, जो सुख और दुःख को भागवती इच्छा, अथवा अटल भाग्य का विधान मान कर, चुप हो रहती हैं। वह भयंकर प्रकृति की रमणी थी। उसके हृदय की रंगभूमि पर भीषण प्रवृत्ति-मण्डल का ताण्डव-नृत्य निरन्तर होता रहता था। वह उस प्रकार की रमणियों में से थी जो आवश्यकता पड़ने पर शोणित की नदी में तैरने के लिये भी समुद्यत रहती हैं। वह छुरी के समान तीखी थी। बिजली के समान तेजोमयी थी; मृत्यु-सुन्दरी के समान प्रचण्ड थी। उसके हृदय में रोष की अग्नि, ज्वालामुखी पर्वत के समान धधकती रहती थी। इसी लिये जिस दिन वह भभकेगी, जिस दिन वह अपनी सीमा को समुल्लंघन करके प्रचण्ड वेष से बाहर आवेगी

उस दिन अवश्य ही उसका ऐसा प्रखर तेज और प्रचण्ड गति होगी, जिसके सामने उसकी सौतेली सास और वृद्ध ससुर यदि खड़े होने का साहस करेंगे, तो उन दोनों अथवा उनमें से एक का बलि-प्रदान अवश्यम्भावी है । सुन्दरी राधा की प्रखर लालसा उसके हृदय की कोप-ज्वाला में नित्य ही कल्पनाओं की आहुति देती थी।

देवी सुभद्रा को गये हुये आज तीसरा दिन है। शिव और शैतान, दोनों में अन्ततः एक गुण समान है कि दोनों ही प्रवृत्ति के चरम विकास के पूर्ण पक्षपाती हैं। अवश्य ही दोनों दो प्रकार की प्रवृत्तियों के परिपोषक हैं। राधा शैतान सम्प्रदाय की थी किन्तु फिर भी सुभद्रा के प्रति उसका असीम स्नेह था। इस शिव और शैतान के प्रणय में कोई आश्चर्य्यजनक बात नहीं है इस विशाल विश्व में ऐसे अनेक उदाहरण नित्य ही उपलब्ध होते हैं। इसी लिये राधा को सुभद्रा के जाने का परम दुःख हुआ था। सुभद्रा के वियोग में उसका हृदय हाहाकार कर उठा था। राधा साधारण रमणी नहीं थी। प्रवृत्ति के चरम विकास की वह मूर्तिमान् उदाहरण थी। इसी लिये साधारण रमणियों की भाँति उसका आन्तरिक दुःख वही था; वह समस्त हृदय के विशाल महाराज्य पर, घनघोर मेघ-मण्डल के समान, छा गया था। इसी लिये वह केवल घंटे आध घंटे का दुःख नहीं था-वह साधारण जन के उस साधारण दुःख के समान नहीं था, जो सायंकाल का सुललित भोजन सामने आते ही, दूर पर किसीके मधुर कण्ठ से निकली हुई रागिनी का एक पद सुनते ही अथवा चार

जनों की मण्डली में बैठते ही प्रशान्त हो जाता है। वह उसके हृदय की निरन्तर चिन्ता का विषय था; वह उसकी कल्पना का चिरजीवी भाव था; वह उसके मन-मन्दिर की धारणा का प्रमुख अंश था। इसी लिये जब से वह सखी सुभद्रा से बिदा होकर लौटी है, तब से उसका मन उचाट खा गया है। किसी काम में उसका मन नहीं लगता है। कभी कभी तो वह सुभद्रा की चिन्ता करते करते ऐसी आत्म-विस्मृत हो जाती है कि सास के तीन तीन बार पुकारने पर भी उसके कानों में आवाज नहीं पड़ती है। कभी कभी वह सुन लेती है; उत्तर दे देती है, पर उठते उठते फिर ऐसी तन्मयी हो जाती है कि उसे इसका ध्यान ही नहीं रहता कि उसे सास की सेवा में समुपस्थित होना है। जो विद्वेषमयी सास अकारण ही उस पर रात दिन प्रचण्ड वाक्य-वाणों का प्रहार करती रहती थी, वह उसकी यह दशा देख कर और भी भीषण रूप से उसका अपमान एवँ अनादर करने लगी। उसके मुख से एक एक वाक्य अग्निमय बज्र के समान निकलने लगा और वह प्रभात प्रकाश से प्रारम्भ करके रजनी के प्रथम प्रहर के अवसान तक उसी भाँति अग्नि-ज्वाला विकीर्ण करती रहती। उसके एकान्त अनुगत वृद्ध पति, कभी उसके भय से संत्रस्त होकर और कभी उसकी प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये अपनी असहाया पुत्र वधू को कुवाच्य और अवाच्य सुनाने लगते। परन्तु जिस प्रकार राधा पहिले अपने हृदय के प्रज्वलित प्रकोप को अपनी समस्त शक्ति लगा कर दमन कर लेती थी, वैसा करना उसके लिये अब कठिन और लगभग

असम्भव सा प्रतीत होने लगा। राधा अनुभव करने लगी कि यह उज्ज्वल शक्ति, जिसके पुण्य प्रभाव से वह अपने अपमान और अनादर से अत्यन्त विक्षुब्ध होकर भी उन्हें किसी न किसी भाँति सहन कर लेती थी, उसे छोड़ कर कहीं चली गई है। इसी लिये राधा के हृदय की प्रदीप्त-प्रवृत्ति विद्रोही की भाँति अब अपनी सीमा को उल्लंघन करने लगी। जो महासागर अब तक सत्संग के पुण्य प्रभाव से, उत्ताल तरङ्गमाला के भयंकर संघर्षण और प्रचण्ड वड़वानल के सतत दहन से विक्षुब्ध होकर भी, अपनी सीमा की मर्य्यादा का परिपालन करता था, वह अब सीमा का समस्त बन्धन तोड़ कर निकल भागने को उद्यत हुआ।

जब तक उसे अपनी स्नेहमयी सखी सुभद्रा का सत्संग प्राप्त था, तब तक वह अपमान की अग्नि के बीच में स्थित होकर भी प्रशान्त रहती थी। क्योंकि देवी सुभद्रा अपनी रोषमयी सुन्दरी सखी के संतप्त हृदय, विक्षुब्ध विवेक और प्रपीड़ित प्राणों को अपनी शीतल उपदेशावली-धारा से परिशान्त कर देती थी। पर अब वह प्रभाव उठ गया; जो प्रवृत्ति-हृदय के निभृत कोण में मृत सर्प की भाँति चुपचाप पड़ी थी, वह अब फुफकार कर उठ खड़ी हुई। एक ओर तो परम प्रेममयी सखी की दारुण वियोग ज्वाला और दूसरी ओर अकारण अपमान की अशेष अग्नि! राधा इन दो ज्वालाओं के दारुण उत्ताप को नहीं सह सकी। आज तीन दिन के अन्दर ही उसके हृदयराज्य की समस्त प्रवृत्तियाँ विद्रोही बन कर उठ खड़ी हुईं और उसकी

अनुतप्त आत्मा, अपमानित सौन्दर्य्य तथा पद-दलित जीवन— सब मिल कर उसे उस पराधीनता की बेड़ी तोड़ कर युद्ध करने के लिये प्रोत्साहित करने लगे।

सायंकाल का समय है। भगवान् सूर्य्यदेव के मुकुटमणि की किरण राशि, हरे हरे खेतों के पौदों को आलिङ्गन करके उनसे विदा माँग रही है। वायु अपेक्षाकृत शीतल होती जाती है। दिन की उज्ज्वल रंगभूमि पर धीरे धीरे रजनी-सुन्दरी की कृष्णसारी की छाया पड़ने लगी है। अपने अपने घोंसलों के तोरण द्वार पर बैठ कर पक्षि-दम्पति उस अस्त हुये सूर्य्यदेव की स्तुति-रागिनी गा रहे हैं। दूर पर हरे हरे खेतों की उस पश्चिम सीमा के पास किसी कृषक किशोर की कोमल अस्पष्ट संगीत-ध्वनि उस सुरभित साध्य-समीर पर चढ़ कर मानों किसी आकुल प्राणेश्वरी की सान्त्वना के लिये प्रधावित हो रही है। भावुक हृदय के लिये संध्या का वह सरस विलास एक अत्यन्त मनोरम दृश्य था। पश्चिम-प्रान्त की सुवर्णमयी रंगभूमि पर शान्ति की ललित रागिनी को सुन कर विश्व विमुग्ध हो रहा था। सामने ही खेत की मेड़ पर, एकाकी प्रफुल्ल गुलाब के सुन्दर अधर पर, उस समय जो उल्लासमयी हास्य रेखा विलसित हो रही थी, उसी की ओर अपने घर के मुख्यद्वार पर खड़ी होकर राधा तन्मयी दृष्टि से देख रही थी। सांध्य-सोभा के बीच में खिले हुये गुलाब के उस रसमय फूल ने राधा के हृदय को विमुग्ध कर दिया था और वह आत्म-विस्मृत होकर उस लावण्यधारा में निमग्न हो रही थी।

ठीक उसी समय उसकी सास ने पुकारा, पर राधा का हृदय तो इस लोक ही में नहीं था—उसने सास के पुकारने को नहीं सुन पाया। एक वार, दो वार, तीन वार—क्रमशः अधिक-तर तीव्र स्वर में राधा की सास ने पुकारा। पर जो सूक्ष्म जगत् के सौन्दर्य्य-कुञ्ज में विहार कर रहा हो, वह कैसे सुन सकता है! राधा ने नहीं सुना। वह उसी भाँति एकाग्र दृष्टि से उस आनन्द-मद से झूमते हुये एकाकी गुलाब की ओर देखती रही। इधर राधा की सास क्रोध में अधीर हो गई। कुपित भुजंगिनी की भाँति विष उगलती हुई, वह राधा के पास ही आकर खड़ी हो गई। पर राधा का उस समय भी ध्यान भङ्ग नहीं हुआ। राधा उसी भाँति गुलाब के उस प्यारे सौन्दर्य्य को, उसके सुन्दर मुख पर लीला करती हुई ललित हास्य कला को, एवँ उस शान्ति की उस सरस सलज्ज शोभा को आत्म-विस्मृत होकर अवलोकन करती रही। उसने नहीं जाना कि कौन उसके पीछे खड़ा है। राधा के इस आत्म-विस्मृत भाव को उसकी सौतेली सास ने राधा की उद्दण्डता समझी; उसके मन में यह विश्वास हो गया कि राधा जान-बूझकर पीछे नहीं देख रही है और इस प्रकार वह उसका अपमान और अनादर कर रही है। तब तो राधा की सास के कोप की सीमा ही नहीं रही। उसने बड़े तीव्र वज्रकठोर स्वर में कहा—"यहाँ खड़ी खड़ी क्या कर रही है री!"

अब राधा का ध्यान भङ्ग हुआ। एक वार उसने पीछे फिर कर सास के विकराल वदन-मण्डल की ओर देखा। क्रोध और

द्वेष से वह बड़ा भयंकर हो रहा था। पर आज राधा को भय नहीं लगा। भयंकर निश्चय और निदारुण संकल्प ने उसके हृदय को भय और परिणाम-चिन्ता से बहिष्कृत कर दिया था। आज राधा द्वन्द युद्ध करने के लिये समुद्यत थी। उसने बड़े धीमे शान्त स्वर में उत्तर दिया—"कुछ नहीं! ज़रा यूँ ही खड़ी हो गई। दिन भर काम करते करते जी ऊब गया; ज़रा द्वार पर खड़े होकर खेतों की हरियाली देखने लगी।"

राधा के इस निर्भय किन्तु शान्त उत्तर को सुन कर सास के क्रोधानल में घृत-आहुति सी पड़ गई। उसने और भी भयङ्कर स्वर में चीत्कार करके कहा—"अभी क्या है? कल से जी बहिलाने के लिये तू बाजार में घूमा करियो। तू बड़ी पाजी होती जाती है। तेरे लक्षण ख़राब होते जाते हैं।"

राधा ने अब की बार अपेक्षाकृत तीव्र स्वर में उत्तर दिया—"इसमें पाजीपन क्या है, चाची जी? दरवाज़े पर खड़े होने और बाज़ारों में घूमने में बहुत बड़ा अन्तर है। तुम्हीं से पूछती हूँ क्या तुम कभी दर्वाज़े पर आकर नहीं खड़ी होती हो?"

आज यह नई बात थी। राधा को इस घर में आये लगभग २½ वर्ष होगये पर उसने अभी तक सास ससुर की किसी भी योग्य अथवा अयोग्य बात का उत्तर नहीं दिया था। मन के रोष को उसने सदा दबा लिया था; आँखों की अश्रुधारा से उसने अपमान को डुबा दिया था—पर उसने कभी अपने हृदय के रोष को वाणी के द्वारा नहीं प्रकट किया था। अवश्य ही सास ससुर

के कुवाक्य सुन कर उसकी आँखों में रोष की लालिमा आ जाती थी और अपने मन के भावों को वाणी के वेश में प्रकट होने से रोकने के लिये वह अपने अधरों को दाँतों से क्षत-विक्षत कर डालती थी, पर उसकी इस रोषमयी चेष्टा को यदि कोई देख सकता था तो साड़ी का वह भाग, जो घूँघट बनकर,उसके मुख की सौन्दर्य्य-लक्ष्मी को आवृत किये रखता था। आज उसी वधू के मुख से ऐसा तीव्र प्रतिवाद, ऐसा कठोर उत्तर, ऐसा प्रचण्ड वाक्य सुन कर पहिले तो राधा की सास दो तीन क्षण तक स्तब्ध सी रह गई किन्तु विद्रूप और रोष की गति में जब कोई बाधक बन कर खड़ा होता है, तब वे दोनों और भी भयंकर एवँ असहिष्णु हो जाते हैं। राधा का क्रोध भी, इसी लिये, चिता की अग्नि-शिखा की भाँति, धाँय धाँय कर उठा। उसने पिशाच-चीत्कार करते हुये कहा—"क्या ठिकाना है? अब तो तू बराबर से सवाल जवाब भी करने लगी। कलियुग और किसे कहते हैं? अब तो तू मुझे गाली देने लगी; मुझे कोसने लगी। मैं तो पहिले ही से तेरे लक्षण पहिचानती थी। जिस दिन तेरे कुलक्षण पैर इस घर में पड़े, उसी दिन मैंने जान लिया था कि तू खूब छुटी हुई है। तू तो इस लायक है कि तेरी बोटी बोटी काटकर कौओं को खिला दी जाय।"

अब तो राधा के रोष की भी मात्रा बढ़ने लगी। पर तो भी आत्म-सयंम करके, ज़रा सा व्यंग हास्य करके, उसने धीरे धीरे कहा—"चाची जी! जो जैसा होता है, दूसरे को भी वह वैसा ही समझता है। बलिहारी है तुम्हारी बुद्धि की! तुमने मुझे ठीक

पहिचाना, चाची जी! पर एक बात है, चाची जी! बोटी बोटी काट कर कौओं को खिला देना गाली देने से कहीं कठिन है। मेरी तो बोटी कौए खायँगे पर तुम फाँसी के तख़्ते पर झूलोगी। सुनती हो मेरी चाची जी! मैं ठीक कह रही हूँ!"

राधा के मुख पर व्यंग, उपेक्षा और घृणा की हास्य-रेखा उदय हुई। राधा का यह तीव्र व्यंग सुनकर राधा की सास क्रोध और क्षोभ से अत्यन्त व्याकुल हो उठी। उस समय उसके उस द्वेषदीप्त एवँ रोष-ज्वलित मुख-मण्डल पर एक ऐसा वीभत्स, भयंकर एवं घृणित-भाव प्रकट हुआ, जिसे देख कर ऐसा प्रतीत होता था, मानों कोई भीषण निशाचरी किसी को भक्षण करने के लिये उद्यत हो रही हो। अब की बार ठीक गर्दभ स्वर से राधा की सास चिल्ला उठी—"अच्छा! तेरी इतनी मजाल! देख तो! आज तेरी क्या गति बनवाती हूँ। आने दो अपने ससुर को! आह! मैं क्या जानती थी कि उस राँड सुभद्रा के साथ रह कर तुझ में यह सब कुलक्षण आजाँयगे........।"

राधा की सास इतनी ही कह पाई थी, कि राधा ने अपना घूंघट कुछ थोड़ा ऊपर उठा कर तीव्र एवँ क्रोध-कठोर स्वर में डाँट कर कहा—"चुप रहो! यदि तुमने एक शब्द भी बहिन सुभद्रा के विषय में अपने इस अपवित्र मुख से बाहर निकाला, तो अब की बार मैं तुम्हारी जीभ पकड़ कर बाहर निकाल लूँगी। तुम मेरी सास हो! अब तक मैंने तुम्हारी सब बातें सहीं पर आज मुझे मालूम हुआ कि वास्तव में तुम राक्षसी हो। आज तक जितना सहा, उतना सहा। अब एक शब्द भी नहीं सहूँगी!

अगर मेरी ओर आखें टेढ़ी कीं, तो मैं तुम्हारी आँखें निकाल लूँगी। मैं भी हाड़-माँस की बनी हुई हूँ। तुम्हारी क्रीत-दासी नहीं हूँ, जो जन्म भर तुम्हारी लात खाती रहूँगी। अब ज़रा समझ-बूझ कर रहना, चाची जी! इस बात को कभी मत भूलना कि अगर आज से तुमने या लाला जी ने कभी कुछ भी मुझ से कहा, तो उसका नतीजा बहुत बुरा होगा। तुम इतनी बड़ी पिशाचिनी हो, यह मैं नहीं जानती थी। जिस सुभद्रा के पैरों की धूल के बराबर भी तुम नहीं हो, जिस विधवा देवी के एक एक गुण पर तुम्हारी जैसी अनेक सधवायें न्यौछावर कर दी जा सकती हैं, उसके बारे में यदि तुमने अब की एक शब्द भी निकाला, तो याद रखना, अपनी जान और तुम्हारी जान एक कर दूँगी। इसे बिलकुल सच मानना; ऐसा न हो पीछे तुम्हें पछताना पड़े।"

इतना कह कर प्रत्युत्तर की प्रत्याशा किये बिना राधा घर के भीतर चली गई। राधा की सास आश्चर्य्य से अभिभूत होकर वहीं २-३ मिनट खड़ी रही। उसने अपने दिल में यह कभी नहीं सोचा था कि राधा इस प्रकार उसके लिये फटकार ही नहीं धुतकार तक देगी। रोष, क्षोभ और ग्लानि से वह फूट फूट कर रोने लगी और वह भी घर के भीतर जाकर, अपने कमरे में, पृथ्वी के ऊपर, कैकयी की भाँति भूषणविहीन एवँ तनमलीन होकर, कोप-मुद्रा को धारण करके पड़ रही। अब वृद्ध-पति ही केवल उसका अन्तिम अवलम्ब था।

कहने का तात्पर्य्य नहीं कि उस दिन भोजन नहीं बना। यहाँ

तक कि रात्रि का घन अन्धकार हो जाने पर भी किसी ने, राधा ने अथवा राधा की सास ने, दीपक तक नहीं जलाया। दोनों ही अपने अपने कमरों में बैठी रहीं—दोनों ही की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा प्रवाहित हो रही थी। राधा जितनी ही अश्रु वर्षा करती थी, उतनी ही उसकी उन्मत्त प्रवृत्ति और भी कठोर वज्र की भाँति, गर्जन कर उठती थी। इधर राधा की सास जितनी ही रोती जाती थी, उतनी ही उसकी क्षोभ और ईर्ष्या की अपमानित अग्नि, घृत-आहुति पाकर, तीव्र होती जाती थी। दोनों कमरों में दो सजीव अग्नि-कुण्ड जल रहे थे और उनमें शीघ्र उस प्रतिष्ठित कुल की शान्ति और शोभा भस्म होना चाहती थी। रात्रि के उस घोर अन्धकार में वे दोनों रोषस्फुलिंगमयी दृष्टि प्रदीप्त अङ्गार की भाँति प्रज्वलित हो रही थीं।

ईर्ष्या सब विकारों की जननी है। एक बार जब वह किसी परिवार में प्रवेश कर लेती है; तब उस कुल की मधुर शान्ति और उसके साथ ही साथ उसके सरस सम्बन्ध, सुन्दर स्नेह और पुण्य प्रवृत्ति—सब उसकी प्रचण्ड विकार-ज्वाला में भस्मावशेष हो जाते हैं। विशेषतया स्त्रियों के मन-मन्दिर में यदि यह भयंकर पिशाचिनी किसी भी प्रकार प्रविष्ठ हो जाती है, तो फिर उस गृहस्थाश्रम की रक्षा नहीं है क्योंकि पुरुष तो है बाहर का विहारी और स्त्रियाँ हैं अन्तःपुर की सम्राज्ञी और भाग्यलक्ष्मी। शनिश्चर की कुदृष्टि से बच जाना सम्भव है, प्रतिहिंसामयी प्रेतात्मा के निर्मम परिपीड़न से सुरक्षित

रहना अपेक्षाकृत सरल है, पर अनिष्ट साधिनी ईर्ष्या भाग्य के अमिट विधान की भाँति शान्ति और शोभा को चिता में भस्म किये बिना नहीं मानती है। उसी प्रचण्ड चिता के आलोक में यह पिशाचिनी अट्टहास करती रहती है।

ईर्ष्या अभिशाप का सब से भयङ्कर स्वरूप है!
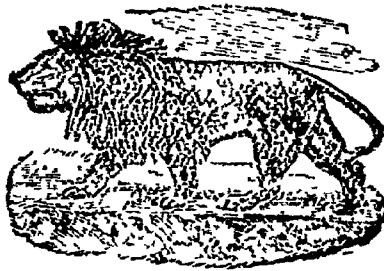
तेरहवाँ परिच्छेद

वासना का वशीकरण-मन्त्र

भी कभी ऐसा होता है कि हृदय-मन्दिर के किसी निभृत कोण में कोई प्रवृत्ति धीरे धीरे, प्रच्छन्न रूप से, विकसित होती रहती है। किन्तु उसका ज्ञान मनुष्य को उसी समय होता है, जब वह किसी विशिष्ट अवसर पर, किसी प्रबल कारण के अनुष्ठित होने पर, यवनिका के पीछे से निकल कर, सहसा रंगभूमि पर, अपने समस्त तेज के साथ, प्रकट हो जाती है। उपायान्तर न होने से उसके प्रबल वेग को किसी न किसी भाँति, रोक कर अथवा आँखों के आँसुओं को रोक कर, उस समय सहना तो पड़ता ही है किन्तु वह होता है अत्यन्त कठिन व्यापार। सच पूछिये तो वह एक दैवी वज्रपात के समान होता है, जिसकी भीषण वेदना से मनुष्य के मन, प्राण और बुद्धि, तीनों व्याकुल हो उठते हैं। कभी कभी तो मनुष्य उस भयंकर प्रहार के सहने में असमर्थ होकर या तो मृत्यु का आलिङ्गन कर लेता है या उद्भ्रान्त होकर उन्माद को सदा के लिये अपना चिर सहचर बना लेता है! कोई कोई ऐसे होते हैं जिनकी दुःख सुख की

विवेचना करने वाली बुद्धि उन्माद से तो एकान्त अभिभूत नहीं होती है, पर व्यथा के दारुण दंशन से उनके मुख-मण्डल की हास्यमयी शोभा और मन-मन्दिर की आनन्दमयी आलोक-माला सदा के लिये विनष्ट हो जाती हैं। यदि कोई ऐसी प्रबल प्रवृत्ति के भयंकर आघात के बीच में भी मुस्करा सकता है, तो वह सिद्ध योगेश्वर है, जिसका विवेक ब्रह्मज्ञान से उज्ज्वल, जिसका अन्तर आनन्द का निकेतन और जिसके प्राण विश्व प्रेममय होते हैं। पर इस विश्व में ऐसे कितने जन हैं? गणित शास्त्र का जटिल ज्ञान उनकी संख्या को गिनने के लिये आवश्यक नहीं है। विश्व के साधारण सभ्य को तो उसके प्रबल प्रभाव के सामने नत-शिर होना ही पड़ता है। करे क्या? इसके अतिरिक्त उसके पास और साधन ही क्या है? संसार के रंग-मञ्च पर प्रवृत्ति-विजय के अभिनव दृश्य नित्य ही अभिनीत होते हैं; उनके देखने के लिये आत्म-ज्योति की रत्ती भर आवश्यकता नहीं है; इन्हीं स्थूल लोचनों से उसकी नाट्य-लीला का चमत्कार देखा जा सकता है।

ज्योंहीं प्रभात के प्रोज्ज्वल प्रकाश में सुभद्रा ने अपनी यात्रा पर प्रस्थान करते समय रथ पर बैठने के लिये पैर रक्खा, त्योंहीं सहसा वसन्तकुमार के हृदय-मन्दिर में एक विचित्र प्रकार की प्रबल प्रवृत्ति अपने सामने पड़े हुये आवरण को हटा कर उज्ज्वल आलोक में आकर खड़ी हो गई। उसमें प्रचण्ड तेज था; वह अपने चरम विकास पर पहुँच चुकी थी। वह उस कोमल पुष्प-पादप के समान नहीं थी, जिसे बिना प्रयास के एक ही

झटके में मूल से उखाड़ कर फेंक दिया जा सकता है; वह तो उस विशाल वट-वृक्ष के समान हृदय-भूमि में बद्धमूल हो गई थी, जिसकी और भी अनेक जटायें पृथ्वी में प्रविष्ठ होकर बलवान् जड़ें बन जाती हैं तथाच जिसे मस्त गजराज भी मूल से उखाड़ने में एकान्त असमर्थ सिद्ध होता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि वह प्रवृत्ति प्रकृति का स्वरूप धारण कर बैठी थी। बसन्त ने अपने मानसिक लोचनों से देखा कि उसके हृदय-पट पर ज्योत्स्नामयी यामिनी की शीतल शान्ति में, पिता के पद-प्रान्त पर बैठी हुई ध्यान-मग्ना सुभद्रा की मनोरम मूर्ति अंकित हो गई है। पर उस दिव्य प्रतिमा के सामने श्रद्धा का जो आवरण अब तक पड़ा हुआ था, उसे सहसा विच्छेद ने एक ओर को हटा दिया और उसी समय उस सौन्दर्य्यमयी देवी की पुण्यमयी प्रतिमा के सामने उनके मन, प्राण एवँ विवेक—तीनों ने नतशिर होकर प्रणाम किया। श्रद्धा का आवरण हटते ही बसन्त ने देखा कि उनके प्रेम-पीठ पर सुभद्रा की सरल-सुन्दर मूर्ति बैठी हुई है। उस उज्ज्वल प्रभात में पहिले पहिल बसन्त ने अनुभव किया कि सुभद्रा के पवित्र नाम मात्र से उनके हृदय में आनन्द और आदर के जो भाव जागृत हो जाते थे; सुभद्रा की शान्तिमयी मुख-श्री को देख कर उनके हृदय में मधुर शान्ति की शीतल-धारा का जो विमल प्रवाह प्रवाहित होने लगता था; एवँ सुभद्रा के उस पवित्र आचरण के मूल में नृत्य करने वाली तपोमयी साधना को अवलोकन करके उसका मन-मन्दिर जिस उल्लास की आभा से आलोकित एवँ जिस सन्तोष की संगीत-लहरी से मुखरित हो

जाता था; उन सब के अन्तराल में वही प्रवल प्रवृत्ति, सञ्चालिका बन कर, अलक्ष्यभाव से अपनी रहस्यमयी क्रीड़ा में रत रहती थी। समय समय पर उनके विषाद्मय हृदय में जो एक अव्यक्त आकाँक्षा जागृत हो उठती थी; समय समय पर उनके संतप्त मन में जो मधुर सौरभ फैल जाता था; समय समय पर उनके कल्पना-कानन में जो पारिजात प्रस्फुट हो जाता था; उन सब के निम्न-देश में वही प्रचण्ड प्रवृत्ति लीला करती थी। वह और कुछ नहीं थी, वह थी सुभद्रा के प्रति उनकी प्रखर प्रीति-प्रवृत्ति। ऐसा ही कोई अभागा होगा जिसके हृदय में यौवन-युग के प्रारम्भ पर किसी कल्पनामयी देवी के प्रति अनन्त, असीम अनुराग उत्पन्न न हुआ हो। और कदाचित् ऐसे तो उदाहरण अत्यन्त विरल होंगे जो इस प्रवृत्ति के दर्शन को पाकर अत्यन्त विक्षुब्ध और मर्माहत न हुये हों। वसन्त उन्हीं अभागे अपवादों में से थे। वे उस प्रणय प्रवृत्ति के विकास को देख कर अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। सुखी होना तो दूर, उसके दर्शन करते ही वे ऐसे विह्वल हो गये जैसे उन्हें एक बार ही हज़ारों बिच्छुओं ने काट खाया हो। उनके हृदय रूपी चन्दन-वन में उस प्रवृत्तिने प्रकट होते ही अग्नि-संस्कार कर दिया और उसकी प्रचण्ड ज्वाला में उनके हृदय का समस्त सुख, संतोष एवँ सौरभ भस्मावशेष हो गया। सुभद्रा! सुभद्रा ब्रह्मचारिणी बाल-विधवा है—इस एक ही कारण ने उनके मस्तिष्क में अग्निमय विचारों का तुमुल कोलाहल उत्पन्न कर दिया। पर कुछ भी हो, मन-मन्दिर को विक्षोभ की भयंकर अग्नि भस्मावशेष कर दे, बुद्धि का निकेतन व्यथा की ज्वाला में नष्ट

हो जाय और घोर ग्लानि की तीव्र अग्नि-जिह्वा प्राणों को भक्षण कर ले, पर उस प्रचण्ड प्रवृत्ति के सामने नत-शिर होने के अतिरिक्त बसन्त कर ही क्या सकते थे? उस दारुण प्रवृत्ति के भीषण आघात को उदासीन एवँ निर्विकार भाव से सह लेना तो बसन्त के लिये संभव था नहीं; वह प्रवल प्रवृत्ति कोई मिट्टी का खिलौना तो थी नहीं, जिसे बसन्त एक पाद-प्रहार में चूर्ण-विचूर्ण कर देते। बसन्त ने ज्योंही सुभद्रा के प्रणाम के प्रत्युत्तर में नत-शिर होकर अभिवादन किया, त्योंही उनके चारों ओर हाहाकारमयी अग्नि-ज्वाला स्वतः ही धधक उठी। सुभद्रा अपनी यात्रा पर चली गई; बसन्त उस व्यथा की अग्नि में जलने लगे!

पर इसमें कोई आश्चर्य्य नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि बसन्त सच्चरित्र तरुण सन्यासी था और श्री श्री आनन्द स्वामी की आज्ञानुसार वह निष्काम-धर्म की उपासना किया करता था; पर इतने पर भी उसका रमणी के रमणीय रूप की ओर आकृष्ट हो जाना दुःखमय दृश्य भले ही समझा जाय पर वह अस्वाभाविक और अपवाद नहीं है। एक दिन जब वृद्धत्व की शान्त सँध्या में महर्षिवर पाराशर मत्स्यगन्धा के ललित लावण्य को देख कर उन्मत्त हो उठे थे; एक दिन जब जीवनयुग के अवसान पर राजर्षि शान्तनु उसी क्षतयोनि, किन्तु अक्षय-यौवना मत्सगन्धा के प्रफुल्ल सौन्दर्य्य पर अनुरक्त होकर इतने भयंकर स्वार्थी बन गये थे कि उन्होंने अपने एक मात्र पुत्र देवव्रत के नवीन यौवन से अपना कुत्सित वृद्धत्व परिवर्तन करने में रत्ती भर लज्जा अथवा संकोच का अनुभव नहीं किया था;

एक दिन जब स्वयँ भगवत्पिता महाराज दशरथ, अपनी शुभ्र केशावली की रत्ती भर पर्वाह न करके त्रिभुवन सुन्दरी कैकेई के श्री चरणों के चपल चञ्चरीक बन गये थे; तब बसन्त, अपने उस उन्मत्त यौवन के प्रथम विलास में, अपने उस प्रफुल्ल बसन्त के प्रथम प्रभात में एवँ अपने उस प्रदीप्त प्रवृत्ति के प्रथम प्रकाश में यदि सुन्दरी सुभद्रा के तपोमयी, पुण्यमयी एवँ शान्तिमयी बाल-विधवा के उस पवित्र, प्रोज्ज्वल एवँ परागमय सौन्दर्य्य पर विमुग्ध होकर विवेकहीन हो गया, तो इसमें विशेष विस्मय की क्या बात है? परन्तु जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि उसका यह असीम अनुराग विष-वृक्ष में परिणत हो गया। यात्रा पर पग धरते ही भयंकर विघ्न-विच्छुओं ने पथिक को दंशन कर लिया; अनुष्ठान का प्रारम्भ होते ही घोर निशाचरों ने साधक को कष्ट देना आरम्भ कर दिया; जन्म लेते ही बालक की अन्तरात्मा पर प्रेत की छाया पड़ गई; जाप का समारम्भ होते ही मंगल-प्रदीप बुझ गया। बसन्त के उस शैतान-सम्मत प्रेम ने बसन्त के सन्यास-जीवन में अनन्त व्यथा का भीषण स्वरूप धारण करके, उसे घोर अग्नि-ज्वाला में जलाना प्रारम्भ कर दिया। बसन्त आकुल होकर छटपटाने लगे!

बसन्त और व्यथा का परस्पर बहुत संग रहा था। परन्तु व्यथा का भयंकर स्वरूप जैसा उसने उस प्रभात में देखा, वैसा उसने आज तक नहीं देखा था। श्री श्री आनन्द स्वामी की पवित्र उपदेशावली के अमृतमय प्रभाव से और संयम एवँ नियम के सतत अभ्यास से उसने उस व्यथा को बाँध कर

हृदय के एक निर्जन कोने में डाल दिया था। परन्तु उस प्रबल प्रवृत्ति ने अपने राज्याभिषेक के उपलक्ष में उस व्यथा को भी बन्दी-जीवन से मुक्त कर दिया। आज उसका वह बन्धन विच्छिन्न हो गया। इस लिये व्यथा अपने विकराल वेष में प्रकट होकर भयङ्कर अट्टहास कर उठी और उस विकट अट्टहास में गुरुदेव की मधुर शान्तिमयी उपदेशावली, शास्त्रों की कल्याणमयी आज्ञा, पुण्य का पवित्र सुन्दर प्रभाव और अन्तरात्मा की सत्य-मधुर ध्वनि—सब के सब विलीन हो गए। बसन्तकुमार व्यथा और वासना के इस दारुण कोलाहल में फँस कर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उन्होंने देखा कि उनकी मुक्ति के समस्त पथ उस प्रचण्ड प्रवृत्ति ने अवरुद्ध कर दिये हैं। एक ओर खड़ा है विकराल वेषधारी विघ्न, दूसरी ओर गर्ज रही है प्रलयङ्करी वासना, तीसरी ओर अट्टहास कर रही है विकट स्वरूपा ग्लानि और चौथी ओर खड्ग-हस्त होकर खड़ा है स्वयँ सेनापति शैतान; तब किधर को जाय? कहीं निस्तार नहीं है? बसन्त ने जान लिया कि इस व्यूह में प्राण देने पड़ेंगे, इसी लिये समस्त संसार उसकी दृष्टि में अग्निकुण्ड के समान प्रतीत होने लगा। उसके जीवन के विस्तृत पथ पर घोर अंधकार परिव्याप्त हो गया। सुभद्रा को अपनी यात्रा पर गये हुये आज तीसरा दिन है, पर इतने ही दिनों में वैराग्य-बन्धु बसन्त का मुखमण्डल मलीन पड़ गया; उसके लोचनों की उज्ज्वलन्त का बहुत बड़ा अंश नष्ट हो गया; उसकी कान्ति क्षीण हो गई और उसके शरीर की शक्ति कम होने लगी। आँधी

आनन्द स्वामी ने वसन्तकुमार को कर्मयोग का सत्य सुन्दर सिद्धन्त अच्छी तरह हृदयङ्गम करा दिया था; उसने भी निसंग-बुद्धि से कर्तव्य कर्म करने की साधना में बहुत कुछ सिद्धि प्राप्त कर ली थी; उसे कभी किसी ने अपने कर्मक्षेत्र में एक-पग भी पीछे हटते हुये नहीं देखा था। परन्तु इस प्रचण्ड प्रवृत्ति के दारुण अत्याचार ने उसके निष्काम कर्म के इस अनुष्ठान में भी अनेक विघ्न-बाधायें डालना प्रारम्भ कर दीं। उसके मन में उचाट सा पैदा हो गया; किसी काम में उसका मन नहीं लगता था; बात करते करते वह सहसा चुप हो जाता था, मानों वह किसी विचार-कन्दरा में सहसा स्खलित होकर पतित हो गया हो; कहते कहते वह विषय को भूल जाता था। आज तीन दिन में उसने तीन बार ज़िमींदार महोदय के पास जाकर उनके दर्शन कर आने के अतिरिक्त और कुछ काम नहीं किया। ज़िमींदारी के छोटे से छोटे काम में भी उसने इन तीन दिनों में हाथ नहीं लगाया—इस प्रकार कर्तव्य की अवहेलना करना उसके जीवन का प्रथम कलंक था।

इधर भोजन की ओर से भी उसकी रुचि हट गई—थाली सामने आती तो उसे ऐसा प्रतीत होता मानो वह वमन कर देगा। अन्नपूर्णा के अत्यधिक आग्रह करने से वह एकाध कौर खा लेता था। वसन्त की इस विषादमयी दशा का प्रमुख कारण अन्नपूर्णा और ज़िमींदार ने यही निश्चय किया कि राजेन्द्र और वसन्त के असीम सौहार्द्र में जो यह विच्छेद हुआ है, वही उसका कारण है; एक सप्ताह के बीतते न बीतते यह विषाद छाया

अन्तर्हित हो जायगी। पर सच्ची बात कोई नहीं जानता था; वह इतनी रहस्यमयी थी कि उसकी ओर किसी का ध्यान भी जाना सम्भव नहीं था। अन्नपूर्णा और ज़िमींदार दोनों में से यह किसी ने नहीं सोचा कि राजेन्द्र और बसन्त का यह विच्छेद तो नया नहीं है। राजेन्द्र तो पढ़ने के कारण अधिकतर बाहर ही रहता था, इस बार अवश्य तीन महीने साथ साथ रहा था। वैसे भी जब राजेन्द्र गर्मी की बड़ी छुट्टियों में घर आता और उसकी समाप्ति पर अपने कॉलिज के लिये बसन्त से विदा होता, तब तो बसन्त की ऐसी आकुल दशा नहीं होती थी। यद्यपि बिछुड़ते समय बसन्त के लोचनों के प्रान्त-देशों पर एकाध बिन्दु अश्रु के छलक उठते थे पर ऐसी भयंकर विषाद-छाया से तो बसन्त का मुखमण्डल कभी आच्छादित नहीं होता था; तब अब की बार क्यों ऐसा हुआ? क्यों इस बार बसन्त की वह रसमयी कान्ति तीन ही दिनों में अन्तर्हित हो गई? सौहार्द्र में तो शान्तिमयी शीतलता है, उसका यह विषमय प्रभाव कभी नहीं हो सकता। पर बसन्त के हृदय में तो कोई भीषण ज्वाला जल रही है, जिसने उसके जीवन के रस को सुखा दिया है। इन सब बातों पर न तो अन्नपूर्णा ही ने ध्यान दिया और न वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध, एवँ ज्ञानवृद्धि ज़िमींदार ने! बात यह है कि जब तक कोई विशिष्ट कारण उपस्थित नहीं होता है, तब तक कोई रहस्य के दुर्ग को भेद करने के विषय में नहीं सोचता है। इसी लिये अन्नपूर्णा और ज़िमींदार ने इस ओर वैसा ध्यान नहीं दिया जैसा उन दोनों को देना चाहिये था।

दूसरी एक बात और भी थी, बसन्त गम्भीर प्रकृति का युवक था—यह हम पहिले ही कह चुके हैं। गम्भीरता का आवरण अपने अन्तराल के दुःख को जितने गुप्त रूप से छिपा सकता है, प्रसन्न मुख-श्री वैसा नहीं कर सकती। इसी लिये यद्यपि बसन्त का हृदय ज्वालामय ज्वालामुखी के समान हो रहा था, पर गम्भीर आकृति के आवरण में वह भयंकर व्यथा छिपी हुई थी और उस आवरण ने उसके मुख पर व्यथा के वैसे प्रस्फुट लक्षण प्रकट नहीं होने दिये थे, जैसे हास्य के मधुर चित्रपट पर विकसित हो जाते हैं। सच पूछिये तो अन्तर के भावों के लिये गम्भीरता काल कोठरी के समान है।

अन्नपूर्णा अकेली होगी—यह सोच कर पहिले रात्रि के प्रथम प्रहर के प्रारम्भ ही में वसन्त घर पर लौट आया करते थे। पर जब से उनकी कुटीर छोड़ कर अन्नपूर्णा ने ज़िमींदार के राजप्रासाद का भार अपने ऊपर लिया है, तब से वसन्त उसकी ओर से भी एकान्त रूप से निश्चिन्त हो गये हैं। इसी लिये इन तीन दिनों से वे कभी १० बजे, कभी ११ बजे और कभी मध्य-रात्रि के व्यतीत हो जाने पर घर लौटने लगे। शीत-काल की रात्रियों में इस समय सारा गाँव प्रसुप्त और स्तब्ध हो जाता था। परन्तु उस समय भी आकाश-मण्डल में, तुषार के आवरण से स्निग्ध-मूर्ति चन्द्रमा विमुग्ध दृष्टि से प्रकृति के उस प्रसुप्त सौन्दर्य्य को देखा करता था। वसन्त एक तो पहिले ही से एकान्त-प्रिय थे। इधर इस अग्निमय आघात को हृदय पर धारण करके वह रात्रि के नीरव प्रहर में शीतल

सलिला यमुना के निर्जन दुकूल पर और भी अधिक घूमने लग गये थे। परन्तु पहिले उन्हें प्रकृति की आनन्दमयी गोद में जो मधुर शान्ति मिलती थी, उसका तो अब उन्हें दर्शन भी दुर्लभ हो गया था। विपरीत इसके उनके हृदय की ज्वाला और भी भयंकर वेष धारण करती जाती थी। शीत-रात्रि का शीतल शीतोपचार उनके हृदय की दारुण अग्नि के सहस्रांश को भी शीतल एवँ शान्त नहीं कर पाता था। बसन्त घोर ज्वाला के द्वारा चारों ओर से घिर कर अत्यन्त आकुल भाव से इधर उधर घूमने लगे।

पश्चिम प्रान्त पर पञ्चमी का चन्द्रमा धीरे-धीरे अस्त हो रहा है। सारी सृष्टि निस्तब्ध है। प्रकृति, किसी सिद्ध-योगीश्वर की पुण्य शान्ति की भाँति, शीत की रत्ती भर चिन्ता न करके आनन्द से तुषार की चादर ओढ़े हुये सो रही है। शीतल-वायु के स्पर्श से हरे हरे खेत कभी काँप उठते हैं, और दूर पर वृक्षस्थली के किसी घनान्धकारमय भाग में कभी कभी कोई बनचारी जीव इस नैश-शान्ति को भङ्ग करता हुआ चिल्ला उठता है। चारों ओर शान्ति का असीम साम्राज्य है। चाँदनी की उस शीतल धारा में वह आनन्द से, निश्चिन्त होकर, स्नान कर रही है। पर बसन्त उस शान्ति की कोमल गोद में बैठ कर भी अशान्त है—इसे विधि की विचित्र विडम्बना के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? उस समय उनका हृदय अग्नि का कुण्ड, विवेक व्यथामय विचारों का केन्द्र और प्राण विषमय पराग का पात्र हो रहे थे। तब शान्ति की सहचरी नींद कहाँ? नींद तो

असीम शान्तिमयी मोक्ष की छोटी सहोदरा है। वह तो बड़ी कोमल और मृदुल है, वह भला वहाँ क्यों जाने लगी जहाँ अग्नि-मय भावों का तीव्र संघर्षण हो, जहाँ ज्वालामय विकारों का तुमुल कोलाहल हो, एवँ जहाँ प्रत्येक परिमाणु एक सजीव व्यथा के स्फुलिङ्ग के समान जल रहा हो? उस जगह उसका उपस्थित होना आकाश में कुसुम के फूटने के समान असम्भव है।

यदि निष्पक्षभाव से एवँ सूक्ष्म विचार द्वारा इस विषय का विश्लेषण किया जाय तो उससे यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि इस विकारमय ब्रह्माण्ड में, इस मत्सरमय स्वार्थलोलुप जगत में, इस दयाशून्य दारुण संसार में, ऐसे बहुत कम प्राणी हैं जिन्हें वास्तव में शान्तिमयी निद्रा का परमपावन सुखमय साहचर्य प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। वहाँ मधुर नींद का विलास कहाँ, जहाँ छोटे छोटे बच्चे भी तीव्र यातना का दुःख पाते हैं, जहाँ यौवन का प्रभात मनोरथ और आशा की चिताओं के भस्म पर उदय होता है, जहाँ कपटी और कुटिल के निरन्तर अत्याचार से सरल और सुन्दर हाहाकार करते हैं, वहाँ नींद का मधुर विकास कहाँ? कहीं दुखी का आर्तनाद है, तो कहीं वियोगी का विलाप है; कहीं अभाव का निष्पेषण है तो कहीं लालसा का अट्टहास ; कहीं पाप का प्रलाप है, तो कहीं पुण्य का संताप है—तब नींद, मीठी, प्यारी, आनन्दमयी, शान्तिमयी, स्वप्नशून्य-विस्मृति की मधुर रसधारा का प्रवाह वहाँ कहाँ? हाँ, यदि मधुर नींद का दिव्य लावण्य आप देखना चाहते हैं तो एकान्त स्नेहमयी जननी की विश्राममयी गोद में सोते हुये

सलिला यमुना के निर्जन दुकूल पर और भी अधिक घूमने लग गये थे। परन्तु पहिले उन्हें प्रकृति की आनन्दमयी गोद में जो मधुर शान्ति मिलती थी, उसका तो अब उन्हें दर्शन भी दुर्लभ हो गया था। विपरीत इसके उनके हृदय की ज्वाला और भी भयंकर वेष धारण करती जाती थी। शीत-रात्रि का शीतल शीतोपचार उनके हृदय की दारुण अग्नि के सहस्रांश को भी शीतल एवँ शान्त नहीं कर पाता था। बसन्त घोर ज्वाला के द्वारा चारों ओर से घिर कर अत्यन्त आकुल भाव से इधर उधर घूमने लगे।

पश्चिम प्रान्त पर पञ्चमी का चन्द्रमा धीरे-धीरे अस्त हो रहा है। सारी सृष्टि निस्तब्ध है। प्रकृति, किसी सिद्ध-योगीश्वर की पुण्य शान्ति की भाँति, शीत की रत्ती भर चिन्ता न करके आनन्द से तुषार की चादर ओढ़े हुये सो रही है। शीतल-वायु के स्पर्श से हरे हरे खेत कभी काँप उठते हैं, और दूर पर वनस्थली के किसी घनान्धकारमय भाग में कभी कभी कोई बनचारी जीव इस नैश-शान्ति को भङ्ग करता हुआ चिल्ला उठता है। चारों ओर शान्ति का असीम साम्राज्य है। चाँदनी की उस शीतल धारा में वह आनन्द से, निश्चिन्त होकर, स्नान कर रही है। पर बसन्त उस शान्ति की कोमल गोद में बैठ कर भी अशान्त है— इसे विधि की विचित्र विडम्बना के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? उस समय उनका हृदय अग्नि का कुण्ड, विवेक व्यथामय विचारों का केन्द्र और प्राण विषमय पराग का पात्र हो रहे थे। तब शान्ति की सहचरी नींद कहाँ? नींद तो

असीम शान्तिमयी मोक्ष की छोटी सहोदरा है। वह तो बड़ी कोमल और मृदुल है, वह भला वहाँ क्यों जाने लगी जहाँ अग्निमय भावों का तीव्र संघर्षण हो, जहाँ ज्वालामय विकारों का तुमुल कोलाहल हो, एवँ जहाँ प्रत्येक परिमाणु एक सजीव व्यथा के स्फुलिङ्ग के समान जल रहा हो? उस जगह उसका उपस्थित होना आकाश में कुसुम के फूटने के समान असम्भव है।

यदि निष्पक्षभाव से एवँ सूक्ष्म विचार द्वारा इस विषय का विश्लेषण किया जाय तो उससे यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि इस विकारमय ब्रह्माण्ड में, इस मत्सरमय स्वार्थलोलुप जगत में, इस दयाशून्य दारुण संसार में, ऐसे बहुत कम प्राणी हैं जिन्हें वास्तव में शान्तिमयी निद्रा का परमपावन सुखमय साहचर्य प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। वहाँ मधुर नींद का विलास कहाँ, जहाँ छोटे छोटे बच्चे भी तीव्र यातना का दुःख पाते हैं, जहाँ यौवन का प्रभात मनोरथ और आशा की चिताओं के भस्म पर उदय होता है, जहाँ कपटी और कुटिल के निरन्तर अत्याचार से सरल और सुन्दर हाहाकार करते हैं, वहाँ नींद का मधुर विकास कहाँ? कहीं दुखी का आर्तनाद है, तो कहीं वियोगी का विलाप है; कहीं अभाव का निष्पेषण है तो कहीं लालसा का अट्टहास; कहीं पाप का प्रलाप है, तो कहीं पुण्य का संताप है—तब नींद, मीठी, प्यारी, आनन्दमयी, शान्तिमयी, स्वप्नशून्य-विस्मृति की मधुर रसधारा का प्रवाह वहाँ कहाँ? हाँ, यदि मधुर नींद का दिव्य लावण्य आप देखना चाहते हैं तो एकान्त स्नेहमयी जननी की विश्राममयी गोद में सोते हुये

सरल शिशु के मुख-मण्डल में देखिये, संसार के मोह और द्वेष से परे रहने वाले किसी निश्चिन्त सोते हुये मज़दूर की सन्तोष-मयी बदन-शोभा में देखिये। नींद और विकार तो सहज बैरी है। तब इस समय बसन्तकुमार का निद्रा विहीन होना आश्चर्य्य का कारण नहीं है।

नील सलिला यमुना की तरङ्गों पर अस्तप्राय चन्द्रमा की एक सूक्ष्म किरण नृत्य कर रही थी। उसी को देखते देखते बसन्तकुमार इधर उधर घूमने लगे। उनके हृदय में भयङ्कर आकुलता छा रही थी। ऐसे समय उस नीरव निर्जन तट पर वह 'स्वगत' कहने लगे :—

आह! कैसी भीषण वेदना है? दुर्भाग्य ने मुझे कैसी बुरी स्थिति में लाकर पटक दिया है। अभागा तो था ही, पर साथ साथ मैं पापी और कृतघ्न भी हूँ। जिन्होंने मुझे अपने बालक के समान पाला; जिन्होंने मेरी लौकिक और अध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति-साधना में कुछ उठा नहीं रखा; जिनके मधुर और ममतामय आश्रय के बिना मेरी और मेरे साथ ही मेरी छोटी बहिन की—जगदीश्वरी जाने, इस मत्सरमय विश्व में क्या बुरी गति होती। हाय, मैं उन्हीं की प्रेममयी पुत्री बाल-विधवा के प्रति कुत्सित प्रेम के पापपूर्ण भाव अपने मन में परिपोषित कर रहा हूँ। मैं वास्तव में महा नीच हूँ, महा पतकी हूँ। नरक भी कदाचित् मुझे देख कर घृणा से मुँह फेर लेगा। जिसके प्रति मुझे छोटी बहिन के समान पवित्र भाव रखने चाहिये थे, जिसके व्यक्तित्व को पवित्र और उच्च बनाने के लिये

मुझे सदा प्रयत्नशील होना चाहिये था; वही नीच, नृशंस, निशाचर आज उस दिव्य देवी के प्रति अपने कलुषित हृदय में ऐसे बुरे भाव धारण किये हुये है। कौन जाने किस दिन इस भयंकर पाप का परिणाम मुझे भोगना पड़े। हाय ! उस पाप की कल्पना करने ही से मैं काँप उठता हूँ।

"पर, हाय, मैं क्या करूँ ? यह क्या मेरे हाथ की बात थी ? मैंने क्या जान बूझ कर इन पाप मय भावों का परिपालन किया था ? स्वेच्छा से तो मैंने इस कलुषित प्रेम को प्रश्रय दिया नहीं था। मैं क्या जानता था ! मैंने तो कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था, कि उस आदर और श्रद्धा के नीचे एक भयंकर सर्पिणी बैठी हुई फुफकार रही है। मुझे क्या विदित था कि उस पूज्य भाव रूपी कुसुम के नीचे एक विष-कीट छिप कर बैठ गया है और वह समय पाते ही मुझे दंशन कर लेगा ? ओफ़ ! विश्व क्या कहेगा ? जब मेरा परम सुहृद् सुभद्रा-सहोदर राजेन्द्र तिरस्कार-दृष्टि से मेरी ओर देख कर मुझ से इसकी कैफ़ियत माँगेगा, तब मैं कौन से मुख से उन्हें उत्तर दूँगा। और किस प्रकार उसकी आँखों से आँख मिलाऊँगा ? बापू जी क्या समझेंगे ? उनके मन को यह सोच कर कितना संताप होगा कि उन्होंने बे जाने बूझे अपने आस्तीन में सर्प पाल लिया। कौन सा मुँह लेकर उन पूज्यपाद पितृ-तुल्य बापू जी की ओर मैं देख सकूँगा। ओफ् ! कैसा तीव्र विष है ! और हाय जब स्वयँ सुभद्रा—पुण्यमयी, शान्तिमयी, साधनामयी सुभद्रा—जब मेरे इस कुत्सित, विकारमय भाव से अवगत होगी; तब उसके हृदय

को कैसा आघात पहुँचेगा ? वह मुझे अत्यन्त नीच और पापी समझेगी। उसका समझना क्या बेठीक थोड़े ही होगा; मैं तो सचमुच, पापी, अभागा, नीच, नृशंस निशाचर हूँ !"

बसन्त के हृदय के भाव-मण्डल में एक भयंकर कोलाहल उठ खड़ा हुआ। इस समय उनके हृदय में भीषण अशान्ति का आधिपत्य था; उस अशान्ति के वातावरण में वे अग्निमय भाव और भी विकल होकर इधर-उधर दौड़ने लगे। एक विप्लव सा वहाँ मच गया। इसी लिये बसन्त थोड़ी देर के लिये चुप हो रहे। २–४ मिनट के उपरान्त उनके आकुल विचार फिर इस प्रकार वाङ्मय होकर बाहर आने लगे :—

"कुछ भी हो, इस पाप-प्रवृत्ति का दमन करना होगा ? पर हाय, इस प्रचण्ड प्रवृत्ति का पराजय करना क्या सरल कार्य्य है ? नहीं, मेरी शक्ति के बाहर है। मैं व्यथा का चिर-सुहृद् हूँ। पर आज मैं जैसा आकुल और उद्विग्न हो रहा हूँ वैसा तो मैं कभी नहीं हुआ था। श्री श्री गुरुदेव ने एक दिन कहा था कि पवित्र प्रेम मधुर-शीतल और आनन्दमय होता है। मेरा यह व्याकुल-भाव ही इस बात का प्रमुख प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मेरा प्रेम-स्वार्थ से हीन, विकार से शून्य एवँ पाप से निर्लिप्त नहीं है। आचार्य्य देव के वाक्य अन्यथा नहीं हो सकते। हाय ! तब मैं क्या करूँ ? यह तो प्रचण्ड प्रवृत्ति तो चिता की ज्वाला की भाँति मेरे समस्त अन्तर को भस्म कर रही है। ओफ़ ! कैसी ज्वाला है ?"

बसन्त को उस समय ऐसा आभास हुआ मानो हृदय के

दो टूक हो जायँगे। वे फिर कुछ मिनटों के लिये चुप हो गये। उसी समय उनकी दृष्टि पश्चिम दिशा पर गई; वहाँ पर अस्त होते हुये चन्द्रमा की अन्तिम क्षीण रेखा का नृत्य देखने लगे। परन्तु उस नृत्य में कुछ ऐसा करुणाजनक भाव था, अस्त होते हुये चन्द्रमा के उस गौरव के पतन में कुछ ऐसा मर्मभेदी रहस्य था कि जिसने वसन्तकुमार की उद्विग्नता को और भी बढ़ा दिया। क्रमशः बढ़ते हुये अन्धकार में उनके मनकी ज्वाला और तीव्र एवँ भयंकर रूप से धधकने लगी। अन्त में अत्यन्त आकुल होकर, अत्याधिक विह्वल होकर तथा विपुल विभत्स होकर उन्होंने नील सलिला यमुना के नीरव निर्जन पवित्र तट पर, नैश शान्ति की गोद में, घुटने टेक दिए! व्याकुल वाणी में वे कहने लगे:—

"मातेश्वरि! तुम्हीं रक्षा करो। अब और कोई निस्तार नहीं है; अब तो तुम्हीं शेष अवलम्ब हो। मैं ढालू शिखर पर खड़ा हूँ, ठीक मेरे पैरों के नीचे ही भयंकर अंधकारमयी कन्दरा है; मेरी बुद्धि भ्रान्त हो गई है; मेरा सद्विचार मद की तीव्रता से विकल हो रहा है; मेरी आत्मा तीव्र व्यथा के आवरण से आवृत हो रही है। देवि! माँ! तुम्हीं अब हाथ पकड़ कर मुझे इस भीषण पथ से पार लगा दो। बड़े आकुल भाव से, दुःख से जलते हुये हृदय से, मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। तुमने भी यदि नाहीं कर दी, तो इस नील सलिला यमुना की शीतल गोद ही में मैं आश्रय लूँगा। यह भी तो तुम्हारा ही स्वरूप है।"

उनकी आँखों से धारावाही अश्रु धारा प्रवाहित होने लगी।

कई मिनिट तक वे इसी भाँति बैठे रहे। अवश्य ही उन आँसुओं ने कुछ न कुछ अंश से उनकी उस दारुण वेदना को प्रशान्त किया। पर वह उस अग्नि को पूरी तौर से बुझा नहीं सके। वे तो क्या, संसार के चारों ओर गर्जने वाले समस्त महासागर और विश्व की समस्त सरितायें भी उस भीषण ज्वाला को शान्त नहीं कर सकते थे। और उस शान्त से क्या लाभ जो इतनी थोड़ी हो, कि उससे कुछ लाभ ही न पहुँचे। उस शान्ति का कुछ उपयोग नहीं है, क्योंकि वह उस हाहाकार करने वाली आकुलता को कैसे जय कर पावेगी ?

कुछ भी हो, इतनी हमारी एकान्त धारणा है, कि जो विश्व-जननी विश्वात्मिका बन कर इस विश्व का परिजनन, पालन एवँ सञ्चालन करती है, बसन्तकुमार की उस आकुल अनुनय ने उसके पुण्य पाद पीठ को अवश्य ही विकम्पित कर दिया होगा।

प्रवृत्ति का पतन ही पुण्य साधना की गौरवमयी विजय है।

चौदहवाँ परिच्छेद ।

मनकी बात

न्नपूर्णा के सरल कोमल हृदय में प्रेम का जो पवित्र अङ्कुर फूट निकला था, वह अनुकूल जल-वायु पाकर धीरे धीरे बढ़ने लगा। स्थान और पदार्थ यह दोनों स्मृति के विकास और परिपाक में विशेष सहायता देते हैं। जब हम उन पदार्थों अथवा स्थानों को देखते हैं, जिनका किसी न किसी प्रकार से हमारा प्रियपात्र के साथ सम्बन्ध होता है, तब अनायास ही उसकी मधुर मूर्ति हमारे स्मृति-मन्दिर में देदीप्यमान हो उठती है। अन्नपूर्णा इस समय उसी प्रासाद की अधीश्वरी है, जिसके आंगन में उसके प्राणेश्वर ने अपने पिता-माता को प्रमुदित करते हुये शिशु-लीला की थी; जहाँ की रज से उसके जीवन-धन का कलेवर धूसरित हुआ था; जहाँ उसके जीवितेश्वर का कैशोर-कानन आनन्द-पारिजात के मधुर सौरभ से सुरभित हुआ था और जहाँ उसके हृदयेश्वर के जीवन-गगन पर यौवन का प्रथम प्रभात उदय हुआ था। उस प्रासाद का प्रत्येक पदार्थ, किसी न किसी रूप में, उसके आनन्द-धन से सम्बन्ध रखता था। इसी लिये उस

पुण्य-प्रासाद के तथा उन अनेक पदार्थों के साथ अन्नपूर्णा का सहयोग एक ऐसी मधुर दैवी घटना थी, जो उसके पवित्र प्रेम की सफलता की सूचना देने के लिये ही घटित हुई थी। अन्न-पूर्णा के हृदय में उस यमुना दुकूल पर जो माधुरी मूर्ति अङ्कित हो गई थी, वह अनुकूल परिस्थिति को पाकर और भी उज्ज्वल एवँ प्रफुल्ल होने लगी।

अन्नपूर्णा का पवित्र प्रणय शुद्ध सुन्दर भावों के सिंहासन पर आसीन था; इसी लिये प्रिय-पात्र से विमुक्त होकर भी अन्न-पूर्णा के मन-मन्दिर में अग्निमयी वेदना का आभास मात्र भी नहीं था। उसके प्रवृत्ति-मण्डल को मधुर शान्ति और पवित्र उल्लास की सम्मिलित धारा परिप्लावित करती थी। इसका प्रमुख कारण यह था कि उसके प्रेम में पाप का अल्पांश भी नहीं था; उसकी प्रीति धर्म से अनुमोदित, समाज से समर्थित एवँ अन्तरात्मा से पवित्रीकृत थी। उसके सुधा स्रावी प्रेम-चन्द्र में कलंक-बिन्दु का कहीं पता भी नहीं था। वह तो एकान्त शोभामय एवँ कल्याण-मय था। पाप के दूषित संसर्ग ने उसे लालसा का स्वरूप नहीं दिया था; शैतान की तीव्र मदिरा ने उसे कामोद्दीप्त नहीं किया था; स्वार्थमयी भोग लिप्सा का उसमें अल्पांश भी नहीं था। जो प्रेम दुख सुख में, राज-मन्दिर में तथा श्मशान में, आनन्द में अथवा आँसू में—सब जगह सदा निस्वार्थ भाव और पवित्र शान्ति के साथ विहार करता है, जो प्रेम ध्रुव के समान अक्षय, अटल एवँ आलोकमय होता है, जो प्रेम वन-कुसुम के मधुर-अधर पर उषा के स्निग्ध प्रकाश में विलसित

होते हुये ओस-कण के समान कोमल-एवँ प्रलय पयोधर की धारावाही वर्षा में हिमालय के समान अचल है, जो प्रेम मृत्यु-शय्या पर भी अक्षय-आशा की दिव्य-श्री को धारण करके मुस्कराता है; जो प्रेम मन्दाकिनी के समान पावन, पुण्य प्रभात के समान प्रोज्ज्वल, पारिजाति के समान सुरभित, त्याग के समान शान्तिमय, एवँ आनन्द के समान चिरहास्यमय होता है, वही प्रेम अन्नपूर्णा के हृदय-भवन में प्रदीप्त हो उठा था; उसी प्रेम की सुन्दर शोभा से उसका यौवन-वन आलोकमय हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि अन्नपूर्णा की आँखे राजेन्द्र के चारु-दर्शन के लिये सदा लालायित रहती थीं, पर उनमें तीव्र लालसा की मदमयी अरुणिमा नहीं थी, वे तो शान्ति की दिव्य कान्ति से उसी प्रकार विलसित हो रही थी, जिस। प्रकार चित्तवृत्त को एकाग्र करके, तरुण-योगी अपनी आनन्दानुभूति के मध्य में शोभायमान होता है। अन्नपूर्णा ने अपने यौवन-प्रभात में जिन तेजोमय सूर्य्य देव का दर्शन किया था, उन्हीं के श्री-पादपद्म में उसने अपना तन, मन, एवँ सर्वस्व फूलों की सुरभित अञ्जलि के समान समर्पित कर दिया था। प्रेम में त्याग है और त्याग में शान्ति है, इसीलिये वह शान्त थी, उसके हृदय को वियोग की विकल वेदना जला नहीं रही थी, अपने श्रद्धा-मन्दिर में उसने अपने इष्टदेव की मानसिक प्रतिमा प्रतिष्ठित कर ली थी। वह कभी कभी अपने चञ्चल होने वाले मन को इस प्रकार समझाकर परिशान्त कर देती थी—"जब मैं और मेरा सर्वस्व उन्हीं का है, जब वे ही मेरे पूज्य, मेरे सर्वस्व, मेरे प्रभु

हैं, तब मुझे उनके किसी कर्म के दोष गुण से क्या सम्बन्ध है? वे कल्याणमय हैं, स्वयँ वे अपनी चीज़ों की रक्षा कर लेंगे। मेरी शान्ति ही के लिये तो वे—वे मेरे प्राणप्यारे—अपनी पुण्य-स्मृति को मेरी सखी बना गये हैं। वे दया के सागर और कल्याण की निधि हैं, वे त्याग और तेज के मूर्तिमान अवतार हैं। संतप्त-संसार की सेवा और व्यथित विश्व की शान्ति के लिये ही वे इस धराधाम पर अवतीर्ण हुये हैं, भगवान ने उनके हाथों में हज़ारों प्राणियों की उन्नति और शिक्षा का भार दिया है। उनका कार्य्य-क्षेत्र विशाल है, वे क्या इस अन्तःपुर की चार-दीवारी के भीतर अवरुद्ध रह सकते हैं? वियोग-व्यथा के डर से क्या मैं उन्हें अपने अञ्चल में बाँधकर इसी प्रासाद में बन्दी बना लूं? छिः यह कैसे हो सकता है, मुझे तो उनकी सच्ची सेविका बनने के लिये तपोमयी साधना करनी चाहिये, मुझे तो सदा ही भगवती से यह प्रार्थना करनी चाहिये कि उनके पवित्र जीवन का जो व्रत है, उसमें वे सफल हों, सारा विश्व उनकी सेवा से शान्त और प्रेम से परिप्लावित हो।" इस प्रकार के पवित्र विचारों के द्वारा उसने अपने वियोग को शान्तिमय तप से परिणत कर दिया था। महामाया पार्वती की भाँति वह साधना में प्रवृत्त हुई।

अन्नपूर्णा का प्रेम त्याग से शान्त, साधना से सुरभित, धर्म से दीक्षित एवँ तप से प्रदीप्त हो गया। साधना के तपोवन में वह अपने प्राणेश्वर की पुण्य-स्मृति के साथ आनन्द से विहार करने लगी। प्रेम का एक एक स्वरूप उसके लिये आनन्द का नये

नये विचार लाने लगा। जब वह उद्यान में उस मालती-कुञ्ज को देखती जहाँ राजेन्द्र दोपहरी में बैठकर अध्यात्म-अध्ययन के साथ प्रकृति का सुन्दर स्वरूप भी देखा करता था; जब वह पिंजड़े में बैठी हुई उस शुक-सारिका को पुचकारती, जिसे उसके जीवन-धन राजेन्द्र ने स्वयँ पढ़ाया था; जब वह अपने सर्वस्व के उस पुस्तकालय को स्वयँ साफ़ करती, जिसकी प्रत्येक पुस्तक ने उसके चित-चोर के कमल कोमल कर-युगल का पवित्र स्पर्श प्राप्त किया था—तब वह राजेन्द्र की मानसिक मूर्ति को प्रणाम करके आनन्द से आत्म-विस्मृत हो जाती थी। ऐसी स्थिति में उसे वेदना क्यों होने लगी? राजेन्द्र की सुधामयी स्मृति ने उसके प्रवृत्ति-मण्डल को शान्तिमयी एवँ शोभामयी बना दिया था। अन्नपूर्णा ने प्रिय-वियोग को साधना का समुचित अवसर मानकर प्रफुल्ल सन्तोष को बसन्त के समान अपना प्रिय-सहोदर बना लिया।

और जब वह उनके पुत्र की पवित्र प्रतिमा को हृदय-मन्दिर में धारण करके बापूजी की सेवा और परिचर्य्या में प्रवृत्त होती, तब उसका मन-मन्दिर आनन्द और श्रद्धा के आलोक से आलोकित हो जाता। बापूजी भी उस पर अपनी सुभद्रा के समान ही स्नेह रखते थे, अन्नपूर्णा ने अपनी स्नेहमयी सेवा से बापूजी को इतना प्रसन्न कर लिया था कि वे अनेकांश में सुभद्रा के तीव्र वियोग-वेदना को शान्त करने में सफल हुये थे। अन्नपूर्णा स्वभावतः ही धार्मिक प्रवृत्ति की बालिका थी और सुभद्रा ने उसे संस्कृत के आध्यात्मिक साहित्य की बहुत ऊँची शिक्षा दी

थी। इसीलिये जब वह ज्योत्स्नामयी यामिनी की शीतल शान्ति में, ऋषिवर बापूजी के मुख से, हिमाचल-कन्दरा से बाहर आती हुई भगवती गङ्गा के समान, पवित्र उपनिषदों की मधुर व्याख्या सुनती थी, उस समय उसे ऐसा प्रतीत होता था मानो वह कैलाश के किसी शान्त सुरभित तपोवन में बैठकर साक्षात् देवादिदेव महादेव के मुख से आत्मा की रहस्य-लीला सुन रही है। उस समय उसका सरल-मधुर हृदय आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण हो जाता था। उसका अधिकाँश समय बापूजी ही की सेवा में व्यतीत होता था; इसीलिये वह भाई बसन्त की व्याकुलता पर भी ठीक ठीक ध्यान नहीं दे सकी थी। भाई और बहिन, इतने पास रहते हुये भी, एक ही प्रासाद के निवासी होते हुये भी, एक दूसरे से बहुत अन्तर पर थे; सच तो यह है कि दोनों दो जुदे जुदे जगतों में परिभ्रमण कर रहे थे। एक तो भयंकर निराशा के अग्निमय श्मशान में खड़ा होकर अपने चारों ओर प्रेत-पुञ्ज का अट्टहास सुन रहा था और अपनी आशा, आकाँक्षा और अभिलाषा को चिता में जलते हुये देखकर, असीम मानसिक व्यथा का अनुभव कर रहा था और दूसरी स्वर्ग की शीतल शान्त में स्थित होकर अपनी आत्मा की अनुभूति से आलोकित अन्तर की रङ्ग-भूमि पर पवित्र प्रेम प्रवृत्ति का चारु नृत्य देख रही थी और अपने हृदयेश की सरस-स्मृति की सुधामयी मुस्कान की ललित शोभा का अवलोकन करके आनन्द से आत्म-विस्मृत हो रही थी। एक शैतान के हाथों से अशेष कष्ट पा रहा था; दूसरी शिव के चरणों का आश्रय पाकर परम सुख

की प्राप्ति कर रही थी। पर वसन्त और अन्नपूर्णा दोनों एक दूसरे के रहस्य को नहीं जानते थे, दोनों ही अपने अपने हृदय के रहस्य को छिपाये हुये थे। इन दोनों सहोदर और सहोदरा ने अपने अपने जीवन में इस बार पहिले ही पहिल आपस में दुराव किया था। एक तो पापमयी ग्लानि के कारण तिल तिल जल कर भी अपने हृदय की बात प्रकट नहीं करता था और दूसरी उस ललित लज्जा के वशीभूत होकर, जो रमणी के यौवन के प्रभात में अरुण-शोभा के समान आविर्भूत होती है, अपने मन की प्रवृत्ति को प्रकाश में नहीं लाती थी। दोनों ने कभी अपनी कोई गुप्त बात एक दूसरे से नहीं छिपाई थी; वे दोनों अब तक एक दूसरे के लिये दर्पण के समान थे, जिसमें एक दूसरे के हृदय के भाव प्रतिबिम्बित होते थे। अन्नपूर्णा का दुःख भाई का क्लेश था; वसन्त की व्यथा बहिन के आँसुओं में स्नान करती थी। दोनों के दुख समान थे; दोनों के सुख समान थे; उन्होंने दुख को परस्पर बाँट लिया था; एक अपने दुख को छोटा बताकर दूसरे को सान्त्वना देता था; दूसरी अपने स्नेह की रस-धारा से पहिले का हृदय परिप्लावित करती थी। पर आज यह पहिला अवसर था, जब उनमें से एक दुखी था पर दूसरी सुखी और इतना ही नहीं, वे दोनों एक दूसरे के दुःख-सुख से एकान्त अनभिज्ञ थे। अपने अपने कारणों से आज पहिली ही बार उन दोनों के सामने ऐसा विकट अवसर उपस्थित हुआ था, जब वे अपने अपने हृदय की रंग-भूमि पर अभिनय करने वाली नूतन-प्रवृति की बात एक दूसरे के सामने प्रकट करने में एकान्त अक्षम थे।

वसन्त अपनी आकुल ग्लानि और पाप की बात को अपने हृदय की चार-दीवारी से बाहर लाकर अन्नपूर्णा के सामने प्रकट करने का साहस नहीं करता था; अन्नपूर्णा अपनी सरल लज्जा के आवरण को हटाकर अपने प्रणय के सुन्दर स्वरूप को वसन्त के सामने नहीं रख सकती थी। आज पहिली वार वसन्त और अन्नपूर्णा, इस विशाल विश्व के विस्तृत पथ पर, एक दूसरे का संग छोड़ कर एक दूसरे से पृथक् होकर, अग्रसर हुये! आज भाई और बहिन, अपने अपने भाग्यों के विधानों के अनुसार, अपने अपने कर्म-क्षेत्र में जाने के लिये एक दूसरे से दूर हटने लगे। पर इस बात को न तो जाना भाई ने, न जाना बहिन ने। दोनों के स्थूल शरीर एक ही स्थल पर खड़े थे, पर दोनों के अन्तर, दूसरे ही जगतों में परिभ्रमण कर रहे थे। बहिन को मार्ग दिखा रहे थे स्वयँ कल्याणकारी शिव-शंकर और भाई को प्रलोभन देकर असत्पथ पर प्रवृत्त करने के लिये प्रयत्न-शील हो रहा था स्वयँ पाप का प्रतिष्ठाता शैतान! इसी से यह सिद्ध होता है कि इस विश्व-वृक्ष में दो प्रकार के फल लगते हैं, एक तो होता है विष का पूर्णपात्र और दूसरा होता है अमृत का मधुर कुण्ड! वसन्त और अन्नपूर्णा की विभिन्न प्रवृत्तियों का व्यापार इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। किया क्या जाय; विश्व के आदि से यही क्रम चला आता है।

रात्रि के द्वितीय प्रहर के प्रारम्भ में भगवान् चन्द्र-देव की कोमल किरणे तुषार के आवरण से ढकी हुई उपवन-श्री के ऊपर नृत्य कर रही है। परम शान्ति का अवसर है; वियोगी का हृदय,

ज्ञानी का चिन्तन, एवँ योगी की अनुभूति-इन तीनों के अतिरिक्त यदि इस समय और कोई जागृत था तो वह थी मृत्यु की वीभत्स मूर्ति ! शेष सब शान्त; स्तब्ध और प्रसुप्त था। इस समय वसन्त तो यमुना के नीरव, निर्जन-दुकूल पर व्याकुल होकर छट-पटा रहा था और अन्नपूर्णा पवित्र उद्यान-कुटी में कुशासन पर बैठकर बापूजी के दिव्य ज्ञान की विमल अमृत-धारा में स्नान कर रही थी। एक का दृश्य पाठकों और पाठिकाओं की सेवा में इस उपन्यास का लेखक समुपस्थित कर ही चुका है, अब आइये दूसरी जगह का मधुर सुन्दर दृश्य देख लेवें। वसन्त की अग्निमयी व्यथा को देखकर हमारे हृदय में जो संताप उत्पन्न हो गया है; हमें आशा है, वह इस पुण्य दृश्य की मधुर शान्ति-सरिता में शान्त हो जायगा।

उपनिषद् में एक स्थल पर भगवती मैत्रेयी ने अपने तपोधन पति से उनके सन्यास आश्रम में प्रविष्ट होते समय कहा है--" मैं उस लौकिक विभूति को लेकर क्या करूँगी जो मुझे अमर नहीं बना सकती।" उसके उत्तर में महर्षि ने जो अपूर्व रहस्य, जो दिव्य सत्य, जो नित्य तत्व विवृत किया है, उसी की व्याख्या इस समय बापूजी कर रहे हैं। उनकी यह व्याख्या १५, २० मिनिट में समाप्त हुई; बापूजी के शान्त हो जाने पर भी उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो दूर पर भगवती गंगा का गुरुगम्भीर स्वर निनादित हो रहा हो। पर वह मानसिक प्रतिध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।

थोड़ी देर तक शान्त रहने के उपरान्त ऋषिवर बापूजी

ने कहा—"जाओ बेटी! अब लगभग १० बजे का समय होगा। अब जाकर विश्राम करो।"

अन्नपूर्णा—"बापूजी! आप के पास बैठकर तो उठने को मन चाहता ही नहीं है। यही इच्छा होती है कि मैं सदा आप के सामने बैठी रहूँ और आप के मुख से निकलने वाली दिव्य-वाणी को सुनती रहूँ।"

बापूजी ने हँसकर कहा—"पर बेटी। यह असम्भव है। तू चाहे बैठी भी रहे, पर मैं वृद्ध हूँ, मैं तो सदा न बैठ सकता हूँ न बोल सकता हूँ।"

बापूजी का यह सरल सत्य व्यंग्य सुनकर अन्नपूर्णा कुछ लज्जित-सी हो गई। बापूजी ने उसकी इस दशा को देखकर कहा—"बेटी! विश्व का यह चक्र हम से आशा रखता है कि हम विशेष नियमों के अनुसार अपने समय का समुचित उपयोग करें। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है कि हम अपने समय का विभाग इस प्रकार करें जिससे प्रकृति में और हम में संघर्षण न हो। किसी किसी विशेष दशा और स्थिति की बात जाने दो, हमें जो संसार के कर्म क्षेत्र में अपना कर्तव्य परिपालन करते हैं, जो बात बात पर रोग और व्यथा के चङ्गुल में फँस जाते हैं, इस बात की परम आवश्यकता है कि हम स्वास्थ सम्बन्धी नियमों का कदापि अनादर न करें, सभी को यहाँ तक कि सिद्ध योगीश्वरों को भी किन्हीं किन्हीं विशेष नियमों का परिपालन करना पड़ता है। प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में वे भी उठते हैं; वे भी अपने इस शरीर को स्वस्थ रखने के लिये सदा

सचेष्ट रहते हैं। इसीलिये मैंने कहा कि अब समय विश्राम करने का है, रात का दूसरा प्रहर व्यतीत होना चाहता है, उधर तुझे ब्राह्म मुहूर्त में उठना है, तब विशेष विलम्ब करना अब ठीक नहीं। जाओ, सो रहो। शारीरिक स्वास्थ्य के लिये समय पर सोना और जागना अत्यन्त आवश्यक है।"

अब की बार बड़ी बाल-सरलता से अन्नपूर्णा ने कहा—"बापूजी! पर जागने का तो नियम पालन करते हैं सोने का नहीं। आप उठते तो सदा ब्राह्ममुहूर्त में हैं, पर मैंने अनेक बार आपको सारी रात दीपक के सामने बैठे बैठे किसी ग्रन्थ को अध्ययन करते हुये देखा है। इसका क्या कारण है?"

बापूजी का साश्रु-मण्डित मुखमण्डल फिर मधुर मुस्कान से आलोकित हो उठा उन्होंने कहा—"बेटी! मेरी बात जाने दे। मैं वृद्ध होने आया, मेरा अब अन्त समय सन्निकट है। ज्ञान-एकमात्र ज्ञान, की प्राप्ति ही मेरा अब कर्तव्य है, मेरा परम-धर्म है। इसीलिये मैं ऐसा करता हूँ। पर बेटी! तुम अभी किशोरी हो। तुम्हारे सामने अभी मधुर यौवन का सुन्दर वसन्त है। तुम्हें अभी संसार में बहुत समय तक विहार करना है। मैं जिस मन्दिर से बाहर निकल रहा हूँ, तुम उसकी देहरी पर अन्दर जाने के लिये खड़ी हो। तुम्हारे सामने अभी बहुत कुछ आने को है, मेरे सामने सब कुछ बीत चुका है। प्रणय का विलास, विवाह का आनन्द, सन्तति का स्नेह,—तुम्हें इन सब का सुधा-रस चखना है—एक एक करके यह सब तुम्हारे जीवन को मधुर सुन्दर और सुखमय बनावेंगे। इस संसार के पुण्य उत्सव में

तुम्हें सम्मिलित होना है, इसीलिये इस बात की आवश्यकता है कि तुम्हें अपने सुन्दर स्वास्थ्य की ओर सदा ध्यान देना चाहिये। तुम्हारे हृदय के आलोकमय रहने के साथ साथ तुम्हारा शरीर भी स्वस्थ और परिपुष्ट होना चाहिये। मैं वृद्ध सन्यासी हूँ, रात दिन—यदि हो सके तो पूरे २४ घंटे, मुझे जगते रहना चाहिये। पर बेटी तू अभी किशोरी है, तुझे अपने इस आलोकमय वसन्त की मधुर सुषुप्ति में अनेक सुखमय स्वप्न देखना बाक़ी है।"

अन्नपूर्णा का हृदय बापूजी की मधुर वाणी सुनकर प्रेम और आनन्द से परिपूर्ण हो गया। राजेन्द्र की वह चिर प्रफुल्ल मूर्ति एक बार ही जाग उठी। मधुर-भविष्य के सुन्दर स्वप्न की कल्पना से उसका हृदय आनन्द से विभोर हो उठा। पर उसने बड़े संकोच एवँ लज्जा के साथ किसी प्रकार यह प्रश्न कर ही तो दिया—"पर बापूजी! संसार का यह मधुर सम्बन्ध क्या स्वप्न के समान असार और असत्य है? तब क्या पिता-माता का मधुर वात्सल्य, सहोदर-सहोदरा का स्वार्थ-शून्य स्नेह, तथा विश्व के और प्रणय-सम्बन्ध माया की मनोहर मरीचिका के समान प्राणहीन, सारहीन, एवँ असत्य है?"

बापूजी ने कुछ गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—"नहीं बेटी! स्वप्न भी तो असत्य नहीं है। सूक्ष्म जगत में उदित होने से क्या प्रभात का प्रकाश असत्य हो जायगा? स्वप्न ही में पुण्य-दर्शन होने के कारण क्या उन दर्शनों की महिमा जाती रहेगी? नहीं बेटी! सच पूछो तो सभी गत-घटनायें गत-रात्रि के स्वप्न के

समान है, पर वे असत्य, असार, नहीं हैं। और यदि वे सुन्दर हैं, तो अवश्य ही वे कल्याणमयी हैं। हम जो स्वप्न के सुवर्ण-राज्य में लता को प्रस्फुटित होते हुये देखते हैं, वह उतनी ही सत्य है, जितनी सामने वाली प्रफुल्ल गुलाब-वेली। विचारों का सूक्ष्म स्वरूप ही स्वप्न है। आज जो हमारे भविष्य की सूक्ष्म कल्पना है, वही कल होने वाली स्थूल घटना है।"

अन्नपूर्णा—"उदाहरण बापूजी!"

बापूजी—"सुनो। नर और नारी एक मधुर भावना को लेकर विवाह-बन्धन में आबद्ध होते हैं। अपने यौवन-वन में वे पुत्र-फल के प्रकट होने की आशा रख कर ही एक दूसरे को प्यार करते हैं, एक दूसरे के दुख में दुखी, एवँ सुख में सुखी होते हैं। एक दिन भगवत्कृपा से उनका वह स्वप्न सुन्दर पुत्र के स्थूल स्वरूप में साकार हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति के किसी भी कार्य्य-क्षेत्र में देखो, भविष्य का स्वप्नमय-भावमय-लक्ष्य ही हम सब के मानसिक लोचनों के सामने जगमगाता रहता है। उसी को देखकर हम आगे बढ़ते हैं। उसी को पाने के लिये हम सर्वस्व की आहुति तक देने को उद्यत हो जाते हैं। देश की स्वतन्त्रता की कल्पना से स्फूर्तिमय होकर ही युवक गण अपना बलिदान करने को रण क्षेत्र में अग्रसर होता है। सच्चिदानन्द के मधुर सुन्दर सहवास का स्वप्न देखकर ही योगी अपनी समाधि-साधना में प्रवृत्त होता है। विशाल कर्मसागर में तैरती हुई हमारी जीवन-नौका के लिये यह स्वप्न दूर पर चमकते हुये प्रकाशमान ध्रुव नक्षत्र के समान है। तब बेटी! स्वप्न

का अर्थ असत्य, असार पदार्थ नहीं है। वही स्वप्न है जो कवि के हृदय में कल्पना बनकर, ज्ञानी के हृदय में चिन्ता बनकर, योगी के हृदय में अनुभूति बनकर एवँ प्रेमी के हृदय में स्मृति बनकर निवास करता है। अन्नपूर्णा! सारे के सारे सम्बन्ध मधुर सुन्दर और सत्य हैं। स्वप्न के समान सुन्दर होने के कारण ही उन्हें असत्य मान लेना एकान्त असत्य है।"

यह सुन्दर वाणी सुनकर अन्नपूर्णा का हृदय विश्वास और आशा के सुन्दर मधुर प्रकाश से आलोकमय हो गया। उसने देखा कि उसके मधुर-जीवन के आकाश के एक कोण पर मधुर चन्द्रमा उदय हो रहा है। अन्नपूर्णा ने एक अस्पष्ट रोमाञ्च का अनुभव किया। अन्नपूर्णा ने आसन से उठ कर अत्यन्त श्रद्धा-पूर्वक बापूजी के श्री-चरणों में प्रणाम किया। बापू जी ने मधुर वात्सल्यमयी मुस्कान के साथ उसे पवित्र आशीर्वाद दिया। वह विश्राम करने के लिये जाने को उद्यत हुई।

उसका हृदय उस समय विश्वास, आशा और आनन्द की सम्मिलित त्रिवेणी में स्नान कर रहा था। धर्म की प्रफुल्ल शोभा, पुण्य की प्रोज्ज्वल पवित्रता, एवँ प्रेम की विमल शान्ति से उसका मधुर-सुन्दर मुख-मण्डल, पूर्ण-चन्द्र के समान, देदीप्यमान हो रहा था। उस समय वह ऐसी प्रतीत हो रही थी मानों जगदीश्वरी के कर-कमल के लीला-कमल की एक पाँखुड़ी सजीव होकर विलसित हो रही हो; धर्म की रंगभूमि में जैसे नृत्यशीला प्रवृत्ति का प्रोज्ज्वल पवित्र विलास हो; त्याग की निकुञ्ज स्थली में जैसे शान्ति की सुन्दर-छाया हो;

योग की कुटी में जैसे सच्चिदानन्द की प्रकट होने वाली मधुर आलोकमयी झाँकी हो, नन्दन-वन की मालती-लता के पीछे से प्रगट होने वाली जैसे प्रभाती की सजीव स्वर-लहरी हो; प्राची दिशा पर सुमनसज्जिता उषा की मधुर मुस्कान की प्राणमयी शोभा हो। साक्षात् जगज्जननी किशोरी अन्नपूर्णा की भाँति उस समय अन्नपूर्णा की श्री शोभायमान थी। बापू जी उसके इस दिव्य स्वरूप पर विमुग्ध हो गये। उन्होंने उस समय ऐसा अनुभव किया मानो साक्षात् महामाया, उनकी बेटी का स्वरूप धारण करके, उनकी परिचर्य्या करने को इस धराधाम पर अवतीर्ण हुई हो। अन्नपूर्णा के उस सुन्दर-सहज शृङ्गार की ललित शोभा को देख कर, बापू जी ने, जगदम्बा को उद्देश्य करके, मन ही मन प्रणाम किया। अन्नपूर्णा के देवीत्व के इस दिव्य-दर्शन को पाकर बापूजी कृतकृत्य हो गये। उस दिन पहिले पहिल बापू जी के हृदय में एक नई भावना स्वतः ही जागृत हो उठी। उस दिन उन्होंने सोचा कि अन्नपूर्णा और राजेन्द्र यदि दोनों विवाह बन्धन में बँध जाँय, तो उनका वह प्रासाद प्रभामय हो उठे। उन्होंने देखा कि उनके इस सङ्कल्प में कोई बाधा नहीं है; उन्होंने उसी समय अन्नपूर्णा को अपनी पुत्रवधू बनाने का निश्चय कर लिया। विशुद्ध पुण्य प्रेम की यह पहिली मंगलमयी विजय थी।

अरुण प्रभात की पहिली आलोक-रश्मि प्रेम के गगन में उदय हो गई। पुण्य-पद्म की पहिली पाँखुड़ी सुख-सूर्य्य के सरस स्पर्श से विकसित हो उठी; आनन्द-समीर का प्रथम

हिल्लोल हिल उठा, पर इन सब का प्रस्फुटन, इन सबका स्पन्दन इतना अस्पष्ट था कि जिनके जीवन से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था, वे भी इसे नहीं देख पाये, नहीं अनुभव कर पाये।

प्रवृत्ति का आन्तरिक उल्लास हो या बाह्यिक विकास—उनकी प्रथम क्रिया अत्यन्त रहस्यमयी एवँ सूक्ष्म होती है।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद ।

निरीक्षण
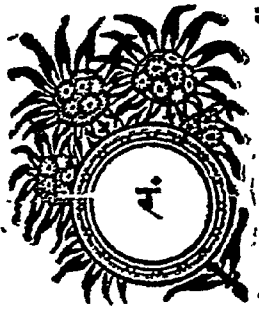
गपुर से लगभग १४ मील की दूरी पर रुद्रपुर स्थित है। यह गाँव किसी कल्लोलिनी के तट पर तो बसा नहीं है, पर इसके ठीक पूर्व की ओर, गाँव की अन्तिम सीमा पर, एक विशाल सरोवर भगवती की शीतल करुणा की भाँति, लहराता है। इस सरोवर का व्यास है लगभग ३ मील; देखने से यह एक बहुत बड़ी झील के समान प्रतीत होता है। बारहों महीने यह सलिल से परिपूर्ण रहता है; रुद्रपुर निवासियों के लिये तो यह मूर्तिमान सेवा का स्वरूप है। उसके जल से वे और उनके गो-धन अपनी तृष्णा और शरीर-दाह की शान्ति करते हैं; वर्षा के अभाव में उसकी वारि-राशि से वे अपनी सूखती हुई खेती को मरने से बचाते हैं। उसके शीतल तट पर युवक-प्रेमी और प्रेमिका ज्योत्स्नामयी रात्रि में मिल कर आनन्द की अनुभूति करते हैं; उसके इस हरे भरे तट पर प्रातःकाल और सायंकाल अनेक साधक प्रकृति की शोभा देखते हुये परम-पुरुष की आराधना करते हैं। पानी के लिये

आने वाली युवतियों का यहीं पर परस्पर सम्मिलिन होता है; यहीं पर युवति-मण्डल में गाँव की घटनाओं पर विवाद होता है। एक ओर कुछ दूर तक इस सरोवर की एक छाँट सी चली गई है; इस छाँट में शरद् ऋतु के निर्मल प्रकाश में कमल-वन विकसित होता है। इस समय, यद्यपि उसमें बहुत से कमल प्रस्फुटित नहीं होते थे, क्योंकि तुषार ने पद्म-वन को एकबार ही विनष्ट-सा कर दिया था, किन्तु फिर भी कहीं पर एकाध अर्ध-म्लान कमल अब तक मौजूद था और उसके चारों ओर फैले हुये पत्ते इस बात के साक्षी थे कि किसी समय उस प्रफुल्ल कमल-वन की अद्भुत शोभा रही होगी। यद्यपि इस समय, लुप्त साम्राज्य की भाँति, उस पद्म-वन की वह समृद्धि नष्ट हो गई थी, किन्तु वहाँ पर अब तक ऐसे चिह्न अवशिष्ट, थे जो यह बता रहे थे कि अभी थोड़े ही दिन हुये जब शारदीय सूर्य्य की प्रफुल्ल-श्री उस पद्म-वन की शोभामयी रंगभूमि पर नृत्य किया करती थी और वहाँ मकरन्द-लोभी मलिन्द-माला का मधुर रव सदा गूँजा करता था। पर आज सौभाग्यहीना-विधवा की भाँति उस पद्म-वन की समस्त कान्ति विनष्ट हो गई थी।

इसी विशाल सरोवर के पूर्व-तट पर एक विस्तृत, किन्तु कच्चा मकान है। कच्चा होने पर भी वह इतना साफ़ था कि उसके सामने बड़े बड़े पक्के प्रासाद भी हार मानते थे। पिरोड़ की पुताई इतनी स्निग्ध थी कि उस पर मक्खी के पैर नहीं जमते थे। दूसरे वह बहुत खुला हुआ था; उसके आँगन में

मौलसिरी, नीम, और आम के तीन बड़े बड़े वृक्ष थे जिनके नीचे सदा छाया छाई रहती थी। मकान के भीतर जो छप्पर थे, उन पर रंगबिरंगे फूलों की लतायें लहरा रही थीं; मकान की चार-दीवारी के पास ही चमेली, जुही और गुलाब की अलबेली बेली झूमती थी; इस समय जुही की तो बहार चली गई थी पर चमेली और गुलाब की लतायें, यौवनमयी सुर-सुन्दरी की भाँति, फूलों से सुसज्जित थी और उनके पराग से वह गृह, पारिजात-वन के समान, सुरभित हो रहा था। उस मकान में दो भाग थे—एक अन्तःपुर, दूसरा बाहरी। बाहरी भाग में एक विस्तृत चौपाल थी, जो पिरोड़ से पुती हुई थी और गोबर से लिपी हुई। उस चौपाल के खम्भों पर भी विभिन्न प्रकार की लतायें झूम रही थीं—उस चौपाल के सामने ही वह विशाल सरोवर लहरें मार रहा था। सूर्य्य के उदय और अस्त की अरुणरागमयी शोभा में सरोवर की तरङ्गें ऐसी प्रतीत होती थीं, जैसे गले हुये सुवर्ण पर तरल मणियों की लीला हो। यह मकान ज़िमीदार जी का ही बनवाया हुआ था—समय समय पर इसमें अतिथिगण ठहरते थे अथवा यदि गाँव के किसी आसामी के ब्याह शादी में, या गाँव के किसी उत्सव में, इसकी आवश्यकता होती, तो भी वह बिना कठिनाई के मिल जाया करता था। इसका प्रबन्ध गाँव के कारिन्दे के आधीन था—इसी सुन्दर विशाल गृह में राजेन्द्र और सुभद्रा आकर ठहरे—उनके आने की सूचना पहले ही से आ चुकी थी; गाँव के कारिन्दे ने उनकी सुविधा के अनुसार सारी सामग्री वहाँ पर एकत्रित कर दी थी।

सच पूछिये, तो वह गृह ऐसा प्रतीत होता था जैसे किसी वन-देवी ने अपने लिये निर्माण कराया हो। ऐसे पवित्र मनोहर स्थान में आकर ज़िमींदार के पुत्र और पुत्री आकर ठहरे। निर्जन, नीरव-गृह उनके आने पर इसी प्रकार मुखरित हो उठा जैसे अभिनय प्रारम्भ होने पर रंगभूमि हो जाती है।

सारा गाँव प्रभु-पुत्र और प्रभु-पुत्री के शुभागमन से आनन्द-मय हो उठा। उसका प्रमुख कारण यही था कि राजेन्द्र ने आने से पहिले ही कारिन्दे के द्वारा यह घोषणा करा दी थी कि वह किसी प्रका की भेंट अथवा नज़राना किसी दशा में भी स्वीकार नहीं करेंगे। उनकी उदारता—यद्यपि सिद्धान्त रूप से इसमें कोई उदारता नहीं है—का यह प्रथम प्रमाण पाकर गाँव के निवासी जनों को परम सन्तोष और सुख प्राप्त हुआ। होना ही चाहिये था क्योंकि राजेन्द्र की यह घोषणा एक नई चीज़ थी। सच पूछिये, तो ज़िमींदार का आना गाँव के सरल-निवासियों का ऐसा ही प्रतीत होता है मानो विकराल मृत्यु का आगमन हो। ज़िमींदार नहीं आते हैं, आता है गाँव के निवासियों का प्रचण्ड दुर्भाग्य, जो अनुनय-विनय, आँसू और आह, किसी से भी द्रवीभूत नहीं होता है। ज़िमींदार के पधारने पर गाँव के सरल वासियों को अपने शेष बर्तन बेचकर भी ज़िमींदार के श्रीपाद-पद्म में नज़राना समर्पित करने की व्यवस्था करनी पड़ती है; मृत-प्राय बच्चे के मुख का दूध छीन कर उन्हें ज़िमींदार के जमादार की सेवा में उसे उपस्थित करना पड़ता है; पितृ-श्राद्ध के लिये कौड़ी कौड़ी भर सञ्चित किया हुआ घी

उन्हें विवश होकर ज़िमींदार के रसोइया को अर्पण करना होता है; पत्नी का शेष सौभाग्य-भूषण बेंचकर उन्हें ज़िमींदार के अर्दली की आराधना करनी होती है! सच बात तो है; कि ज़िमींदार के पदार्पण करते ही उन पर डाका पड़ने लगता है; गाँव की शान्ति अन्तर्हित हो जाती है; स्वच्छन्द रूप से बाहर निकलने वाली गाँव की युवतियाँ घर के कोने में छिप कर भी ज़िमींदार के दूतों के परिहास-व्यंग्य से नहीं बचने पाती हैं; मरते हुये पिता की शय्या के पास से पुत्र बेगार के लिये पकड़ लिया जाता है; सूद के रुपये के लिये आसामी का शिर फोड़ा जाता है; क्या क्या कहें; उस समय गाँव का गाँव त्राहि त्राहि करने लगता है। पर राजेन्द्र और सुभद्रा के आने पर यह कुछ नहीं हुआ। नज़राना न लेने की घोषणा पहिले ही की जा चुकी थी—उन्होंने आते ही गाँव के बालक और बालिकाओं को अपने उस विशाल गृह के विस्तृत आँगन में बैठाकर बड़ी तृप्ति के साथ भोजन कराया; देवी सुभद्रा ने प्रत्येक बालक और बालिका को अपने हाथों से सुन्दर सुन्दर वस्त्र पहिनाये और राजेन्द्र ने प्रत्येक बालक बालिका के हाथ में २) देकर उन्हें बिदा किया। उस समय गाँव भर में, विभिन्न वर्णों के वस्त्र पहिने हुये बालक-बालिकाओं की श्रेणियाँ, बाग में उड़ती हुई चपल तितलियों की भाँति सुशोभित होने लगी। आनन्द और उल्लास से रुद्रपुर स्वर्गपुर के समान विलसित हो उठा।

और उन सरल सच्चे ग्राम-वासियों ने भी, प्रभु-पुत्र और

प्रभु-पुत्री का यह मधुर सुन्दर सौजन्य एवँ स्नेहमय औदार्य्य देखकर, उत्फुल्ल हृदय से उनकी अभ्यर्थना की। कोई यदि प्रेम के साथ हाँड़ी भर ताज़ा भैंस के दूध का दही लिये हुये आनन्द पूर्वक चला आ रहा है, तो कोई हरे हरे केले के पत्ते पर ताज़ा माखन रखे हुये प्रसन्न चित्त से ला रहा है। गाँव का समस्त पुरुष-मण्डल राजेन्द्र की परिचर्य्या में रत हो गया और रुद्रपुर का सारा रमणी-समाज देवी सुभद्रा की अभ्यर्थना और सेवा के लिये उस घर के अन्तःपुर में एकत्रित होने लगा। जैसे कोई अपना सहोदर बहुत काल के प्रवास के उपरान्त आया हो, जैसे कोई दयामय देवता आकाश-मण्डल से उतर कर कुछ समय के लिये रुद्रपुर में आया हो—राजेन्द्र के प्रति पुरुषों का यही पवित्र भाव था और इसीलिये वे उसकी सेवा में सब कुछ निसार कर लग गये थे। इधर स्त्रियों ने बाल-ब्रह्मचारिणी देवी सुभद्रा के उस स्निग्ध-मधुर लावण्य में जो दैवी तेज, सरस करुणा, एवँ तपोमय त्याग देख पाये थे, उन्होंने उनके हृदयों पर पवित्र प्रभाव डाल कर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लिया और वे देवी सुभद्रा को, जगज्जननी का स्वरूप मान कर, उनकी सेवा को अपना परम सौभाग्य जान कर, उसमें तल्लीन हो गईं। उन्हें विश्वास हो गया था कि उन्हें मंगल-पथ पर प्रवृत्त करने के लिये ही जगन्माता, अपने तेजोमय सन्यास रूप को धारण करके, उनके बीच में अवतीर्ण हुई हैं। वृद्धत्व वात्सल्य-रस से उन दोनों भाई बहिनों को स्नान कराने लगा; यौवन अपनी श्रद्धाञ्जलि लेकर

उन दोनों के पवित्र पाद-पद्म में समर्पित करने लगा; बचपन अपने निस्वार्थ सरस स्नेह से उन्हें परिशीतल करने लगा। गाँव के हृदय में एक अव्यक्त मधुर आशा का उदय हो उठा। गाँव के निवासियों के मन की यह भावना दृढ़ हो गई कि उनके परम कल्याण के लिये ही राजेन्द्र और सुभद्रा का शुभागमन हुआ है; इसी लिये, कृतज्ञता, श्रद्धा और प्रेम की त्रिवेणी उनके हृदयों में उच्छ्वासित हो उठी। उन्होंने अपने मानसिक लोचनों के सम्मुख अभ्युदय के पवित्र प्रभात को उदय होते हुये देखा, वे हर्ष और उल्लास की शीतल सरिता में अवगाहन करने लगे।

चतुर्थी का चन्द्रमा पश्चिम-प्रान्त की सीमा पर खड़े होकर सतृष्ण नयनों से प्रकृति के उस प्रसुप्त सौन्दर्य्य को देख रहा था। शुभ्र मेघ के आवरण ने अवश्य ही उसकी चिर हास्यमयी मूर्ति की सुषमा का बहुत बड़ा अंश छिपा लिया था, इसीलिये उसकी चाँदनी में वैसी चटकीला पन नहीं था। समस्त विश्व इस समय स्तब्ध था। कोई वियोगिनी भले ही उस समय भी अपने घर की सब से ऊँची छत पर खड़ी होकर चन्द्रमा के उस पतन को उदासीन भाव से देख रही हो, पर और उस शीतकाल में ऐसा कोई नहीं था, जो घर से बाहर निकल कर, खेत की मेढ़ पर खड़े होकर, प्रकृति के उस तुषार से ढके हुये शान्त सौन्दर्य्य को देखता। इसमें सन्देह नहीं कि वह अभिनव-शान्ति का मनोहर दृश्य था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रकृति-देवी, तुषार का शुभ्र पट तान कर,

सुख-निद्रा में सो रही हो। केवल कभी कभी वह तुषार-पट, शीतल वायु के हिल्लोल से, कहीं कहीं पर चञ्चल हो उठता था।

राजेन्द्र अपनी चौपाल में बैठे हैं। दिन की भाँति, इस समय उनके पास बहुत से पुरुषों का समूह नहीं था। राजेन्द्र ने सायँ-काल होते ही आग्रह पूर्वक उन्हें घर लौटा दिया था—"फिर अधिक ठण्ड हो जायगी; भोजन भी ठण्डा हो जायगा; स्त्रियाँ भोजन के लिये बैठी होंगी; अभी तो मैं ४-५ दिन रहूँगा—इत्यादि मधुर वाक्यों द्वारा बड़ी कठिनता से उन प्रेमी सरल कृषकों को विदा कर पाया था। इस समय वहाँ पर केवल दो जन उपस्थित थे। वे दोनों ही वृद्ध थे, दोनों ही समान वयस्क थे, दोनों की अवस्था लगभग ७० वर्ष की होगी। उनमें से एक तो थे ब्राह्मण, दूसरे थे जाट। उन दोनों में परम प्रेम था। यह दोनों वृद्ध देर में आये थे, एकान्त में राजेन्द्र से बातें करना ही उनका अभीष्ठ था इसीलिये वे घर से भोजन करके आये थे। दीपक के उस स्निग्ध प्रकाश में दोनों वृद्धों के मुख पर शान्ति और पवित्रता के भाव झलक रहे थे; दोनों ही की धवल दाढ़ी उनके वृद्धत्व की विजय पताका के समान लहरा रही थी; दोनों की आँखों से दया और वात्सल्य की धारायें प्रवाहित हो रही थीं। अवश्य ही जाट-वृद्ध का शरीर ब्राह्मण वृद्ध की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ था, पर ब्राह्मण-वृद्ध के ललाट पर जो दिव्य तेज विलसित हो रहा था, वृद्ध-जाट के ललाट पर उसका उतना विकास नहीं था। पर सरलता, शान्ति और पवित्रता की मधुर त्रिवेणी दोनों के वदन-मण्डल पर

समान-भाव से हिल्लोलित हो रही थी। उस समय चौपाल का दृश्य ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे वशिष्ट और विश्वामित्र के सामने ही रघुकुल-तिलक विराज रहे हों। उस समय उन दोनों की वात्सल्यमयी दृष्टि राजेन्द्र के सरल मुख-मण्डल पर प्रस्थापित थी और राजेन्द्र भी बड़ी श्रद्धा सहित उनकी ओर देख रहा था। राजेन्द्र के विशुद्ध व्यवहार, सरल सौहार्द एवं निर्मल निरहंकार न पहिले ही उन दोनों के हृदय में उसके प्रति असीम अनुराग उत्पन्न कर दिया था; इस समय उसकी मधुर मूर्ति को देख कर तो उनके मन-मानस में वात्सल्य-रस की शीतल तरङ्ग-राशि हिल्लोलित होने लगी। राजेन्द्र के सरल चित्त में भी, उन दोनों की सौम्य-सुन्दर मूर्ति के ऊपर विलसित होते हुये तपोमय वृद्धत्व की शान्त-शोभा को देख कर, श्रद्धा और भक्ति का सञ्चार हो उठा और स्वतः ही उसके हृदय में उनके प्रति वही आदर और सम्मान उत्पन्न हो गया, जो किसी एकान्त गुरु-भक्त के मन-मन्दिर में लीला करते हैं।

वृद्ध ब्राह्मण ने पहिले उस विमुग्ध शान्ति को भङ्ग करते हुये कहा—"भैया! सचमुच हमारे बड़े भाग्य हैं, जो तुमने हमारे इस गाँव में पदार्पण किया। ज़िमींदार जी की भी बड़ी दया हुई, जो उन्होंने तुम दोनों को अपनी प्रजा से मिलने और उनके दुःख-दर्द की कथा सुनने का अवसर दिया।"

वृद्ध-जाट ने भी उत्साह पूर्वक कहा—"इसमें क्या सन्देह है। सारा गाँव आज भैया की जयजयकार कर रहा है। गाँव के बालक-बालिकाओं के रंग-विरंगे कपड़े देख-कर हमारी सब की

आत्मा प्रसन्न हो रही है। वे सब के सब आनन्द से भैया की और बेटी सुभद्रा की जय मनाते घूमते हैं।"

राजेन्द्र के मुख पर सङ्कोच और लज्जा का वैसा मधुर सम्मिश्रण प्रकट हुआ जैसा पुरुष के मुख पर आत्म-प्रशंसा को सुनकर उदय होता है। उसने बड़े विनम्र एवँ विमल स्वर में कहा—"काका जी! भाग्य तो आज हमारे हैं जो आप के चरणों के दर्शन हुये। गाँव के सब लोगों से मिल कर वही प्रसन्नता प्राप्त हुई है जो सगे भाई से मिलने पर सगे भाई को प्राप्त होती है। दादाजी! आप दोनों मेरे बड़े हैं। आप हमें आशीर्वाद दीजिये जिससे हम दोनों भाई बहिन आप की सेवा करके अपना जन्म सार्थक कर सकें। आप की दया-दृष्टि से हमारे सब काम बन जाँयगे। बड़ों के आशीर्वाद ही में सौभाग्य-लक्ष्मी रहती है।"

वृद्ध-ब्राह्मण के मुख पर विशुद्ध आनन्द की आभा प्रकट हुई। उन्होंने हँस कर कहा—" भैया! हमारा, हम गाँव वालों का, रोम रोम तुम्हें आशीर्वाद दे रहा है। आज गाँव में ऐसा कौन अभागा है, जो हर्ष से पागल न हो रहा हो। हम वृद्धों को तो ऐसा प्रतीत हो रहा है, जैसे हमारा ही बच्चा बहुत दिनों के उपरान्त हमारी सूनी गोद में लौट आया हो। (वृद्ध जाट की ओर देख कर) क्यों, ठीक कहता हूँ न दादा भूपसिंह।"

वृद्ध जाट की दहिनी आँख के एक कोने में एक बूँद आँसू छलक उठा। उसने कहा—"ठीक कहते हो भाई। जिस साल भैया का जन्म हुआ था, उसी साल की बात है। इनके

अन्न-प्राशन पर ज़िमींदार जी ने बड़ी भारी ज्योनार की थी। बड़ा आनन्द रहा था। ज़िमींदार जी ने मुझे भी बुलाया था; मैं भी गया था। तुम भाई, उस साल सेत-बन्धुरामेश्वर की यात्रा पर गये थे; यात्रा पर क्या गये थे, गाँव से चुपके से भाग गये थे। हाँ, तो दोपहर का समय था; चौपाल में मैं बैठा हुआ था, उसी समय ज़िमींदार जी ने इन भैया को लाकर मेरी गोद में देते देते कहा था—"दादा भूपसिंह! अपने भतीजे को आशीर्वाद दो। मैंने तो उसी दिन इन्हें मन से आशीष दी कि भैया फले फूलें। उसी दिन मेरी दाढ़ी पकड़ कर भैया खूब हँसे और खेले थे। तब से कुछ ऐसा हुआ कि मैंने इन्हे आज देखा है। मैं तो इनके मुख पर आज भी वही बालकपन का सा भोलापन देख रहा हूँ। आज मेरे मन को बड़ा आनन्द हुआ कि भगवान ने मेरी आशीष को सफल किया। भैया लिख-पढ़ कर विद्वान हुये—ज़िमींदार जी भी अब बुड्ढे हुये, भैया के हाथ में उनकी प्रजा बड़ी सुखी रहेगी। भैया के विवाह को देखने की मन में एक और साध बाक़ी है। भैया! मैं तो आज तुम्हें यहा आशीर्वाद देता हूँ कि भैया! तुम जुग जुग जियो और तुम्हारे मन में दुखी दरिद्री के लिये सदा दया उमड़ती रहे।"

गाँव के इस सरल वृद्ध मुखिया के मुख से निकली हुई उस वात्सल्यमयी मधुर वाणी को सुन कर राजेन्द्र का मन-मन्दिर आनन्द और श्रद्धा के प्रकाश से देदीप्यमान हो उठा और प्रकाश के बीच में विवाह का नाम सुनकर, सुन्दरी अन्नपूर्णा की मधुर प्रतिभा जागृत हो उठी। राजेन्द्र ने श्रद्धा पूर्वक कहा—"दादा

जी ! चलते समय बापू जी ने मुझ से कह दिया था कि रुद्रपुर में जाकर अपने काका जी और दादा जी से हमारा प्रणाम कह देना। मुझे उन्होंने चलते चलते यही उपदेश दिया था कि सदा ही उनके अनुभव और उपदेशों को ध्यान पूर्वक सुनना। मैं तो आपका बच्चा हूँ—मैं तो इसी लिये आया हूँ कि आप मेरे गुरुजन मुझे यह बतावें कि मेरा अब कर्तव्य क्या है ? जब आपने मेरे हाथ में भार दिया है, तब आपको मुझे उस भार के उठाने योग्य भी तो बनाना ही होगा। जब आपने मुझे कर्तव्य के परि-पालन की आज्ञा दी है, तब उसके स्वरूप का ज्ञान भी तो आप ही को कराना होगा।"

वृद्ध ब्राह्मण ने मन्द मुस्कान के साथ कहा—"सो भैया ! हम क्या बतावेंगे। स्वयँ जगन्माता ने तुम्हारे सरल शुद्ध हृदय को उसी ओर प्रवृत्त कर दिया है ; तुम्हारे हाथों से तुम्हारी प्रजा का कल्याण ही होगा। बेटा ! मंगलमय संकल्प ही पर विजय की प्राप्ति निर्भर है। जब तुमने सच्चे हृदय से अपनी प्रजा के दुःख और दारिद्र्य को दूर करने का व्रत धारण किया है, जब तुम अपनी प्रजा की समस्त आवश्यकताओं को यथा-साध्य पूरा करने के लिये कर्तव्य-भूमि की ओर अग्रसर हो रहे हो, और जब तुमने अपने कर्तव्य-पथ पर पग धरने से पहिले ही अगाध ज्ञान का साहचर्य्य, देवता के समान आचार्य्य का आशीर्वाद, और ईश्वर-तुल्य पिता का मंगलमय अनुमोदन प्राप्त कर लिया है, तय तुम्हारे मार्ग में कोई बाधा, कोई व्याघात, कोई कण्टक ठहर ही नहीं सकता। स्वयँ जगन्माता

तुम्हारे पुण्य-पथ की पवित्र आलोकमाला बन कर तुम्हें सहायता देगी।"

राजेन्द्र—"पर तौ भी दादा जी, आपका और काका जी का विशाल अनुभव क्या मेरे काम नहीं आवेगा? सेवा करने का तो मेरा अखण्ड निश्चय है ही, किन्तु फिर भी मैं यह जानना चाहता हूँ कि मैं किस प्रकार से सेवा का प्रारम्भ करूँ। किस प्रकार की सेवा से जनता का कितना कल्याण हो सकता है, यह तो मुझे बताना ही होगा दादा जी!"

वृद्ध ब्राह्मण—"भैया! चिरायु हो। तुम्हारा यह विनम्र स्वभाव, तुम्हारा यह सरल सम्भाषण, तुम्हारे ही योग्य है। तुम्हें भगवान् ने ज्ञान दिया है, विद्या दी है, वैभव दिया है। भगवान की दी हुई इन निर्मल विभूतियों के द्वारा तुम उस मंगलमय जगदीश की प्रजा का कल्याण करने के लिये उद्यत हुये हो। इसे भी भैया! उसी सच्चिदानन्द की पुण्यमयी इच्छा का विधान मानना चाहिये। तुम मेरी सम्मति चाहते हो, (हँस कर) पर भैया! मैं पुराना पोप हूँ; गाँव का निवासी हूँ; संसार से सदा दूर रहता हूँ; अपने इस रुद्रपुर ही को तीर्थराज प्रयाग मानता हूँ। सो भैया! मेरे जैसे वृद्ध की सम्मति जान कर तुम्हारे हृदय का परितोष होगा या नहीं,—यह मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। यही मुझे संकोच है।"

राजेन्द्र—"दादा! आपकी इस बात का प्रतिवाद कर रहा हूँ, इसलिये मुझे क्षमा करना। दादा जी! आपका हृदय अनुभवों का विशाल भण्डार है। आपकी बुद्धि एकान्त स्वार्थ-त्याग

से पवित्र हो रही है। आपका मन-मन्दिर मातृ-भूमि की ममता से उज्ज्वल हो रहा है। संसार से दूर रह कर भी आपके हृदय से विश्व-संताप को शान्त रखने के लिये करुणा की शीतल धारा सदा उच्छ्वसित होती रहती है। आपका मधुर उपदेशमय वचन, आपका सरल-सुन्दर निर्णय ही मेरे मार्ग का पवित्र अक्षय आलोक बन जायगा।"

वृद्ध ब्राह्मण ने गम्भीर हो कर कहा—"तो सुनो भैया! हमारे हिन्दू शास्त्रों का मत है कि दुःख और दारिद्र्य को दूर करने का एकमात्र साधन है ज्ञान का परिपूर्ण प्रसार। जब तक जनता में ज्ञान का पुण्य प्रकाश नहीं फैलेगा तब तक उनके दुखों की इति-श्री होना असम्भव है। इसी लिये, भैया, हमारे यहाँ विद्या-दान की अनन्त-महिमा है और विद्या का दाता आचार्य्य पिता से भी दस गुने ऊँचे आसन पर आसीन होकर हमारी सेवा और श्रद्धा की अञ्जलि स्वीकार करता है। भैया! तुम्हारे इस नवीन युग में जिस मातृ-भूमि की, जिस भारतवर्ष की, सेवा का महत्व सब से बड़ा है, उस भारत का भव्य सौन्दर्य्य केवल शीतल सलिल-वाहिनी नदियों में, आकाश-चुम्बी काञ्चन-शिखर में, प्रफुल्ल-प्रभामयी प्रकृति के विलास-मन्दिर में ही विलसित नहीं होता है, वह तुम्हारे इस देश की प्रत्येक सन्तान के मुख-मण्डल पर प्रति-फलित होता है। इसी-लिये जब तक तुम्हारी प्रजा सुशिक्षित नहीं होगी, जब तक तुम्हारी प्रजा को आत्म-स्वरूप का ज्ञान नहीं होगा, जब तक तुम्हारी प्रजा अपने अन्तर में छिपी हुई महती शक्ति का परिचय

प्राप्त नहीं करेगी, तब तक, भैया, मेरी निश्चित सम्मति है कि उसका उद्धार नहीं होगा। वैसे तो यह विश्व ही एक पाठशाला है, जिसमें मनुष्य नित्य प्रति नूतन अनुभव का पाठ पढ़ता है। भैया, जन-समुदाय की शारीरिक रक्षा के लिये जिस प्रकार अन्न, जल, वायु इत्यादि की सुव्यवस्था अनिवार्य्य है, उसकी आध्यात्मिक उन्नति और लौकिक समृद्धि, शान्ति और शिक्षा की परम आवश्यकता है। इसी लिये तुम्हारा सब से प्रमुख और प्रथम कर्तव्य यही है कि तुम इस युग की सन्तान को सुशिक्षित बनाने का भगीरथ-प्रयत्न करके भगीरथ पुण्य की प्राप्ति करो। मैं ठीक कह रहा हूँ न, दादा भूपसिंह!"

वृद्ध जाट—"ठीक है, भाई! आप ठीक ही कह रहे हैं। हमारा तो जीवन व्यतीत हो चुका। हमने जिस युग में जन्म लिया था, वह इस युग से एक बार ही भिन्न स्वरूप का था। हमने २½ सेर का घी खाया है, १६ पसेरी का नाज बाजार में बेचा है; अपने घर पर ८-८ दुधारी भैंसी बाँधी हैं। उस समय, भैया, मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं का पूरा करना इतना कठिन नहीं था। पर वैसा युग अब नहीं है। इसी रुद्रपुर में जिनके पिता के यहाँ ५०-५० गाय-भैंसें थीं, उनके पुत्रों को आज पाव भर दूध मिलना कठिन है! इसी लिये, भैया, आज हमें दो बातों की परम आवश्यकता है—एक तो उदर-पूर्ति की, दूसरी शिक्षा की प्राप्ति की। सो भैया, तुम कुछ ऐसा प्रबन्ध करो जिससे हमें अपने कर्तव्य का भी ज्ञान हो जाय। और हम

अपने जीवन-संग्राम में भी युद्ध करने योग्य हो जाँय। भैया! यह एक अशिक्षित वृद्ध गँवार की सम्मति है।"

राजेन्द्र—"काका जी! आपका कथन बहुत ठीक है। आज हमारी सब से पहिली आवश्यकता है उदर-पूर्ति। भूखे, विवस्त्र, निर्बल, जनों को विद्यालय में बुला कर एकत्रित करना सहज नहीं है। आप क्या कहते हैं, दादा जी!"

वृद्ध ब्राह्मण—"बिल्कुल सच बात है, पर यह उदर-पूर्ति की जटिल समस्या भी तो बिना शिक्षा के हल होती नहीं दिखाई पड़ती है। भैया, बार बार बुख़ार होते ही दवा के लिये दौड़ने की अपेक्षा तो बुख़ार का समूल विनाश ही कर देना ठीक है। भैया! इस कृषक समुदाय को यह सब से पहिले बताना ही होगा कि उनकी इन सब विपत्तियों का मूल उद्गम कहाँ पर है? एक बार जहाँ उन्हें यह ज्ञान हो गया कि हमारी विपत्तियों का कारण हमारी शिक्षा-हीनता है, वहाँ वे उसे दूर करने के लिये स्वयँ ही कटिबद्ध हो जायँगे। तुम्हारे विद्यालय अपने आप ही इतने भर जायँगे कि तुम्हें प्रकृति के मन्दिर में पढ़ाना अनिवार्य्य हो उठेगा। समस्त जाति के एकत्रित होने योग्य विशाल मन्दिर कहाँ बन सकते हैं? वे तो उन्मुक्त आकाश के नीचे प्रकृति की उन्मुक्त गोद ही में बैठ सकते हैं।"

राजेन्द्र—"पर दादा जी! इनमें इतनी शक्ति का तो विकास होना ही चाहिये जिससे वे निर्भय होकर, निशंक होकर, शैतान से युद्ध कर सकें।"

वृद्ध ब्राह्मण—"इसी लिये तो मैं यह चाहता हूँ कि शिक्षा के

द्वारा उनकी इस आन्तरिक शक्ति को जागृत किया जाय। भैया! उनके हृदयों में भी वही तेज, वही आवेश और वही शक्ति छिपी हुई है, जो स्वतन्त्र से स्वतन्त्र प्राणियों के, शिक्षित से शिक्षित जनों के एवँ बलिष्ठ से बलिष्ठ लोगों के मन-मन्दिरों में प्रतिष्ठित होती है। पर अज्ञान के अन्धकार में वह शक्ति इस समय सोई हुई है; शिक्षा के पवित्र आलोक में उसे जगा कर खड़ा करना होगा। भैया! केवल पुस्तकों ही के द्वारा विद्या की प्राप्ति नहीं होती है; सच पूछो तो जिन जिन साधनों से आन्तरिक शक्ति का विकास हो, वही विद्या के अंग हैं। इस प्रसुप्त शक्ति के विकास के योग्य ही तुम्हें कार्य्य-क्षेत्र एवँ वायु-मण्डल जनता के सामने उपस्थित करना होगा। भैया राजेन्द्र! मेरी बात समझ तो रहे हो न?"

राजेन्द्र—"समझ तो रहा हूँ, दादा जी! पर यदि आप ज़रा उदाहरण सहित अपने सत्य-सुन्दर सिद्धान्त की व्याख्या करते तो मेरे हृदय में उसका भाव और भी स्पष्ट एवँ उज्ज्वल रूप से अङ्कित हो जाता। आपकी की हुई विद्या की परिभाषा तो मुझे सोलहो आने स्वीकार है, उसकी एकान्त सत्यता में मुझे रत्ती भर सन्देह नहीं है।"

वृद्ध ब्राह्मण मुस्कराये; बोले—"अच्छी बात है। सुनो राजेन्द्र! तुम्हें गाँव गाँव में शिक्षालय खोलने होंगे। इन शिक्षालयों में केवल पुस्तकीय शिक्षा ही नहीं दी जायगी, वरन् प्रकृति के परम सहयोग को प्राप्त करके विद्यार्थियों के आचरण को भी मधुर और मनोहर बनाना होगा। इसी लिये

इस काम के वास्ते तुम्हें विद्वान् आचार्य्य नियुक्त करना होगा, थोड़ा सा काग़ज़ रंग लेने वाले अर्ध-सभ्य अध्यापकों से काम नहीं चलेगा। वे विद्वान् आचार्य्य अपने पवित्र आचरण से विद्यार्थियों के सामने एक पवित्र उच्च आदर्श संस्थापित करेंगे और उनके हृदय की प्रसुप्त शक्ति को अध्यवसाय एवँ प्रेम के साथ जागृत करेंगे। इसी के साथ साथ यहाँ पर कला-कौशल की शिक्षा का भी मधुर सुन्दर व्यवस्था करनी होगी; खेती-बारी कपड़ा बुनना, कपड़े सीना इत्यादि विषयों में से एक विषय की शिक्षा तुम्हें अनिवार्य्य करनी होगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आजकल की शिक्षा हमारी गुलामी को और भी जकड़ देती है; इसी लिये हमें ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी जो हमें स्वतन्त्र रूप से जीवन-यापन करने के योग्य बना दे। इतने से ही काम नहीं चलेगा; तुम्हें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि विद्यार्थी अपने कला-कौशल के ज्ञान का उपयोग करने के लिये समुचित क्षेत्र प्राप्त कर सकें। नहीं तो उससे उनका क्या लाभ होगा? उदाहरण देता हूँ—जो खेती की वैज्ञानिक प्रणाली सीखेंगे, उन्हें खेती करने के लिये ज़मीन देनी होगी। जो कपड़ा बुनना सीखेंगे, उनको सूत ख़रीदने के लिये धन देना होगा और उनका माल जब तैयार होगा, तब उसकी नफ़े सहित निकासी का भी प्रबंध करना होगा। इस प्रकार पर्य्याप्त प्रोत्साहन और समुचित सहायता देकर उन्हें जीवन के कर्म-क्षेत्र में सफल बनाने की चेष्टा करना भी तुम्हारे प्रमुख कर्तव्यों में से होगा। तुम्हें गाँव गाँव में बैंक खोलने होंगे जो एक ओर तो गाँव के

शिक्षा प्राप्त युवकों को बैंक चलाने की शिक्षा देंगे और दूसरी ओर कम सूद पर रुपया देकर ग़रीब किसान की अत्याचारी महाजन से रक्षा करेंगे। इतना ही नहीं, इन बैङ्कों के खुल जाने पर कृषकों में सञ्चय का भाव स्वतः ही जागृत हो उठेगा और आज उनकी जो दारुण दशा है, वह बहुत बड़े अंश में सुधर जायगी। मैं समझता हूँ कि अब तो मैंने स्पष्ट रूप से अपना सिद्धान्त तुम्हारे सामने समुपस्थित कर दिया है। भाई भूपसिंह ! तुम क्या कहते हो, तुम तो एक बार ही चुप हो गये। तुम भी तो कुछ कहो।"

भूपसिंह—"मैं क्या कहूँ। मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो तुम मेरे हृदय-पट पर लिखी हुई मेरी इच्छाओं को अपनी मीठी और मनोहर वाणी में कह रहे हो। मैं शायद यह सब इस प्रकार नहीं कह सकता था, पर मुझे ऐसा मालूम होता है जैसे तुमने ठीक मेरे मन की बात कही है। साथ ही साथ मैं तो भैया को यह सलाह दूँगा कि जब कभी रुद्रपुर में वे विद्यालय खोलें, तब उसके प्रमुख पद पर तुम्हीं को, तुम्हीं वीतराग सन्यासी को, सादर और सप्रेम आसीन करें।"

राजेन्द्र—"ठीक कहा काका जी ! दादा जी आचार्य्य के महिमामय आसन पर अवश्य ही आसीन होने के योग्य हैं। दादा जी ने मुझे विद्यालय की बनी बनाई स्कीम दे दी और आपने मेरे लिये उस स्कीम के पूज्य सञ्चालक ला दिये। धन्य काका जी ! आज तो आपने बड़ी ही अनोखी बात कही है। यह आपके विशाल अनुभव-सागर की प्रोज्ज्वल मणि है।"

राजेन्द्र की इस सरल सुन्दर बात को सुन कर दोनों वृद्ध हँस पड़े। राजेन्द्र भी खिल उठा और उन तीनों की विमल हास्य शोभा से चौपाल उद्भासित हो उठी। इसके उपरान्त और कुछ थोड़ी सी बातें हुईं। इसके उपरान्त वे दोनों बिदा लेकर अपने अपने घर गये राजेन्द्र भी अन्तःपुर में चला गया। उस समय मध्य-रात्रि का समय था।

इस परिच्छेद को समाप्त करने से पहिले हम इन दोनों वृद्धों का संक्षिप्त परिचय दे देना चाहते हैं। यह तो हम नहीं कह सकते कि ये दोनों हमारी कथा की रंग-भूमि पर फिर दर्शन देंगे या नहीं, पर इन दोनों महात्माओं के पावन चरित्रों में जो परम पवित्र माधुर्य्य और रस है, उसको विवृत किये बिना हमारी हृदय की चञ्चल-कल्पना मानती ही नहीं। जो एक बार ही कथा भाग के प्रेमी हैं, वे यदि इस पवित्र मन्दाकिनी में स्नान करना न चाहें, तो वे इन दो चार पृष्ठों को छोड़ कर आगे बढ़ सकते हैं। कथा के स्रोत में इससे कोई बाधा नहीं पड़ेगी, अस्तु!

इन दोनों की जाति और आयु के विषय में तो हम पहिले ही लिख चुके हैं। वृद्ध जाट के तो नाम से भी पाठक पाठिकायें परिचित हो चुके हैं। अवश्य ही श्रद्धा और आदर के कारण वृद्ध जाट ने ब्राह्मण वृद्ध का शुभ नाम नहीं लिया था। ये दोनों वृद्ध परस्पर मैत्री सूत्र में बँधे हुये थे। कैशोर के कोमल कुञ्ज ही में दोनों ने एक दूसरे को सौहार्द रस में अभिषिक्त किया था, तब से वे दोनों साथ ही साथ यौवन युग में होते हुये वृद्धत्व की सुदूर सीमा पर आ पहुँचे थे और इस लम्बी यात्रा में उन

दोनों ने एक दूसरे की सहायता करने को अपना परम सौभाग्य माना था। झूठमूठ भी उन दोनों में कभी कलह नहीं हुआ था। दोनों में से कोई भी यौवन के उच्छृङ्खल वेग से कभी विचलित नहीं हुआ, दोनों सदाचार के मूर्तिमान् स्वरूप थे। इसी लिये वृद्धत्व की इस संध्या पर भी उन दोनों के पवित्र मुख-मण्डल उसी प्रकार दैदीप्यमान थे जैसे अस्तगत सूर्य्य होते हैं। दोनों ही इस समय पत्नी-विहीन थे; दोनों ही की गोदियों में अपने अपने प्रेम और पातिव्रत के साकार स्वरूप के समान वे अपने अपने पुत्रों को बिठा गई थीं। आश्चर्य्य की बात है कि आज से १२ वर्ष पहिले, जब भयंकर प्लेग के आक्रमण से समस्त देश त्राहि त्राहि कर उठा, उन दोनों की साध्वी पत्नियाँ एक महीने के अन्तर से, उन दोनों के हृदय-मन्दिर और गृहस्थाश्रम को आलोक-विहीन करके चली गई थीं। कहने का तात्पर्य्य यह था कि उन दोनों का भाग्य-सूत्र लगभग एक ही प्रकार का था और उन दोनों की ललाट-लिपि लगभग एक ही प्रकार के अक्षरों में लिखित हुई थी। दोनों ने समय समय पर समान दुःख और समान सुख भोगे थे।

ब्राह्मण शास्त्रों के पण्डित थे, वृद्ध जाट बहुत साधारण लिखे पढ़े थे; अथवा यों कहिये कि उन्हें अक्षर-ज्ञान मात्र था। परन्तु प्रकाण्ड विद्वान् ब्राह्मण देव के पवित्र सत्संग से उनकी बुद्धि विशाल, उनका ज्ञान विस्तृत, उनकी वाणी सुसंस्कृत और उनकी तर्क-शैली परिमार्जित हो गई थी। दोनों के f पुत्रों के आचार्य्य थे स्वयं ब्रह्मदेव—वे ही उन्हें शिक्षा देते थे

दोनों ही सन्यास धर्म के साधक थे। उन दोनों के दोनों पुत्र ही उनके और इस संसार के बीच में सुवर्ण-सेतु के समान स्थित थे। वैसे तो प्राणि-मात्र पर उनका अनन्य अनुराग था पर उन्होंने निष्काम कर्मयोग के सिद्धान्त को अपना सन्यासमय जीवन का प्रधान पथ-प्रदर्शक बना रखा था। रुद्रपुर के समस्त निवासी इन दोनों को आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। वृद्ध जाट तो गाँव के मुखिया थे और ब्राह्मणदेव ग्राम-वासियों के मन्त्री, आचार्य्य और पुरोहित थे। वृद्ध जाट गाँव के वासियों को लौकिक विषयों के सम्बन्ध में सच्ची सम्मति देते थे और ब्रह्मदेव आध्यात्मिक विषयों के विषय में गाँव के निवासियों में शास्त्र और धर्म के अनुमोदित सिद्धान्त बताते थे। स्वयँ ज़िमींदार भी उन दोनों वृद्धों को अशेष आदर और अनुराग की दृष्टि से देखते थे। इसी लिये राजेन्द्र से उन्होंने उन दोनों से मिल कर सादर उपदेश ग्रहण करने के लिये उपदेश दिया था। आज राजेन्द्र उन दोनों का प्रत्यक्ष पुण्य-दर्शन प्राप्त करके, उनका मधुर, सुन्दर, सरल सम्भाषण सुन करके, तथाच उनके उज्ज्वल आशीर्वाद को विनम्र भाव से शिर पर धारण करके परम प्रसन्न हुआ। उन दोनों की सौम्य मूर्ति ने, करुणामयी दृष्टि ने, एवँ वात्सल्यमयी वाणी ने राजेन्द्र के हृदय में आनन्द और पवित्रता की धारा प्रवाहित कर दी। राजेन्द्र उन दोनों का साधु-सत्संग प्राप्त करके उतना ही संतुष्ट हुआ जितने स्वयँ मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी ऋषिवर विश्वामित्र और महर्षिवर को आचार्य्य-रूप में पाकर परितुष्ट हुए थे।

उन दोनों ने राजेन्द्र का अनेक तारिकाओं के मध्य में चमकते हुए ध्रुव-नक्षत्र से परिचय करा दिया। राजेन्द्र ने उस दिन जाना कि देहात की हरी-भरी भूमि पर अब भी उज्ज्वल ज्ञान के भण्डार विद्यमान है। राजेन्द्र ने बड़े बड़े विद्वानों के मुख से समय समय पर आचार और नीति शास्त्रों के गूढ़तम सिद्धान्तों की पाण्डित्य-पूर्ण व्याख्यायें सुनी थीं ; पर उससे उनका किसी दिन परितोष नहीं हुआ था। कोई उनके हृदय की एक अस्पष्ट आकाँक्षा का, जो समय समय पर सहानुभूति के स्वरूप में संकरित हो उठती थी, एक अपरिचित प्रवृत्ति का, जो दीन और दुखी को देखते ही दया का रूप धारण करके प्रस्फुटित हो जाती थी, एवँ एक अस्फुट आयोजना का, जो उसके भविष्य जीवन के गगन में दूर पर एक झलझल करती हुई तारिका के समान चमक उठती थी, प्रमुख पात्र, प्रधान लक्ष्य एवँ पवित्र उद्देश्य को स्पष्ट रूप से बताकर उसके चञ्चल मन को परिशान्त नहीं कर सका था। पर आज थोड़ी ही देर में, दो घड़ी के भीतर ही, उन दोनों वृद्धों ने उसके सरल सुन्दर हृदय में सेवा और सहानुभूति, आकाँक्षा और आशा एवँ प्रकृति और प्रवृति का मधुर लक्ष्य भली भाँति अङ्कित कर दिया। जो बात उसने बार बार हमारे प्लेटफ़ार्मों पर सुनी थीं; जिस सिद्धान्त की महत्ता पर उसने बड़े बड़े प्रकाण्ड विद्वानों और नेताओं के ओजस्वी व्याख्यान सुने थे—पर तब भी, जिसने उसके हृदय की चंचल वृत्ति को शान्त नहीं क पाया था। आज शिक्षा के उसी सुन्दर सिद्धान्त को, उन २

सरल सुन्दर सौम्य ग्राम निवासियों के मुख से सुन कर, राजेन्द्र उसके महत्व को जान गया। यह है व्यक्तित्व का प्रभाव, यह है उस सुन्दर उपदेश की महिमा, जो आत्मानुभूति से उज्ज्वल होता है। आज पहिले पहिल उसका हृदय आत्म-दर्शन से विमुग्ध हो गया। जब वे दोनों विदा होकर चलने लगे, तब राजेन्द्र ने उनके श्री पाद-पद्मों में उतनी ही श्रद्धा से प्रणाम किया जितनी श्रद्धा से एकलव्य ने आचार्य्य द्रोण को अपने हाथ का अँगूठा गुरु दक्षिणा में देकर प्रणाम किया था, जितनी श्रद्धा से ध्रुव ने महर्षि नारद के श्री चरणों में 'नारायण' मन्त्र की दीक्षा लेकर प्रणिपात किया था, एवँ जितनी श्रद्धा से मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र ने सम्महिनास्त्र ग्रहण करके ऋषिवर विश्वामित्र के पवित्र पद-पंकज में अभिवादन किया था, उन दोनों ने भी उतने ही वात्सल्य से द्रवीभूति होकर उसे आशीर्वाद दिया।

अमृतमयी लेखनी एवँ रसमयी वाणी सत्य, शिव और सुन्दरता की दिव्य लावण्य-श्री के विलास को विवृत नहीं कर सकती है; उन तीनों की त्रिवेणी तो सर्वस्व-त्यागी महात्मा और विश्वप्रेमी योगी के जीवन व्यापार के प्रत्येक अंश को परिप्लावित करके उसे प्रयाग-तीर्थ के समान पवित्र और महिमामय बनाती है।

सोलहवाँ परिच्छेद

शुभ परामर्श

स समय राजेन्द्र बाहर चौपाल में बैठा हुआ उन दोनों पूज्य वृद्धों से वार्तालाप कर रहा था, उसी समय अन्तःपुर में देवी सुभद्रा भी दो युवतियों से बातचीत करने में संलग्न थीं। वे दोनों युवतियाँ रुद्रपुर ही की रहने वाली थीं; उनमें से एक के माँग का लाल सिन्दूर उसके सधवा होने का प्रमाण था और दूसरे का केश-विहीन शिरःप्रदेश उसके सन्यास-मय वैधव्य का परिचय दे रहा था। वे दोनों समान वय की थीं और उनकी अवस्था लगभग २३ या २४ वर्ष की होगी। उन दोनों में जो महीने दो महीने की छुटाई-बड़ाई थी, उसका पता बिना उन दोनों की जन्म-पत्रिकायें देखे साधारण दृष्टि से नहीं लग सकता था। हमें इन दोनों युवतियों से बार बार साक्षात् नहीं करना है, इसी लिये हम उनका यहाँ पर विशद परिचय नहीं देंगे, केवल उनके सम्बन्ध की दो-चार प्रमुख बातें कहकर ही अपने हृदय को परितुष्ट कर लेंगे। सधवा युवती एक समृद्धशाली कृषक की धर्म-पत्नी थी; उसके मुख

सरलता की शोभा, उसके नयनों में करुणा की लालिमा और उसके भावों में शीलवती विनम्रता प्रस्फुट रूप से परिलक्षित होती थी। उसको देखते ही मन में एक प्रकार का पवित्र आनन्द-रस भर जाता था; जैसे कोई सरल, सुन्दर, शान्तिमयी देवकन्या स्वर्ग से उतर कर पृथ्वी-मण्डल पर प्रकट हुई हो, उसको देखने से कवि-कल्पना से यही भाव उत्थित होता था। पर उसके संग की दूसरी युवती के मुख पर विषाद की प्रगाढ़ छाया परिव्याप्त थी; उसको देखते ही ऐसा आभास होता था कि वह अभाव और वेदना के हाथों से निरन्तर पीड़ित होती रहती है। एक तो वैधव्य की वेदना, दूसरे अभाव का निष्पीड़न-इन दोनों ने उस बेचारी विधवा के जीवन को जैसे विषमय बना दिया था। दुःख सागर के तट पर खड़ी हुई बिरह-विधुरा विधवा के उस कान्ति विहीन बदन-मण्डल को देख कर अपने आँसुओं को रोकना एक मात्र निशाचर ही के लिये सम्भव था। बेचारी विधवा अपनी विधवा माता की दरिद्र-कुटी में रह कर दिन भर परिश्रम करके भी अपने और अपनी जननी के भरण पोषण का समुचित प्रबन्ध नहीं कर पाती थी। पर इन दोनों युवतियों में परम सौहार्द था; सच पूछिये तो उस दयामयी सधवा का अनन्य अनुराग ही विधवा का जीवन धन था। एक दिन सायंकाल की धूम्र-धूसर छाया में, सरोवर के निर्जन नीरव तट पर, ब्राह्मण विधवा, दुख से कातर होकर अपने मस्तक पर हाथ रखे हुये रो रही थी; उसी समय उस कृषक युवती का उससे साक्षात् हुआ था। उसके आँसुओं से

द्रवीभूत होकर दयामयी कृषक-युवती ने उसे आन्तरिक सहानुभूति के साथ हृदय में लगा लिया था और आदर पूर्वक उसे सान्त्वना दी थी। उसी दिन से उन दोनों का सौहार्द, शुक्ल पक्ष के चन्द्र-मण्डल की भाँति, बढ़ता ही गया। इसमें सन्देह नहीं कि उस दिन से ब्राह्मण-विधवा का जीवन वैसा दुखमय नहीं रहा था। कृषक-युवती के सहज प्रेम ने उसके मरुस्थल के समान जीवन में शीतल रस-धारा प्रवाहित कर दी थी। परन्तु उसका जीवन जिस घोर अग्नि से भस्मागत हो चुका था, उसका हृदय जिस दारुण व्यथा की ज्वाला में जल चुका था, उसका चिह्न उसके मुख पर इस प्रकार से अङ्कित हो गया था; उसको कृषक-युवती का सहज स्नेह भी मिटा नहीं सका। यद्यपि कभी कभी कृषक-युवती उसे सहायता दिया करती थीं, परन्तु ब्राह्मण विधवा में स्वाभिमान की मात्रा इतनी अधिक थी कि सहायता के नाम ही से उसका हृदय व्याकुल हो उठता था। इसी लिये कृषक-युवती को सहायता देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता था, जिससे ब्राह्मण विधवा के स्वाभिमान को आघात न हो। यही कारण था कि कृषक-युवती जैसी समृद्ध-शालिनी सखी पाकर भी ब्राह्मण विधवा का अभाव के हाथों से निष्पीड़ित होना एकान्त रूप से बन्द नहीं हुआ था। यही इन दोनों युवतियों का संक्षिप्त परिचय है और इन्हीं दोनों युवतियों से इस समय देवी सुभद्रा वार्तालाप कर रही थीं।

आज ही के दिन दोपहर के बाद गाँव की प्रायः

स्त्रियाँ देवी सुभद्रा के दर्शन के लिये वहाँ एकत्रित हुई थीं। उसी समय बातों बातों में देवी सुभद्रा ने कहा था—"रमणी-मात्र को मैं भगवती की प्रतिनिधि मानती हूँ, इसी लिये उनकी सेवा करना मेरा परम धर्म है। मेरी सदा यही इच्छा रहती है कि मैं अपनी माताओं, बहिनों और बेटियों की सेवा कर सकूँ। परन्तु मेरी यह अभिलाषा जभी पूरी हो सकती है, जब मुझे यह मालूम हो जाय कि उन्हें मेरी किस प्रकार की सेवा की आवश्यकता है। मैं संन्यासिनी हूँ—सारा संसार मेरा परिवार है। तब मुझ से दुराव क्या? मैं तो अपनी उस दुखी बहिन को हृदय से लगा लूँगी जो मुझे अपने दुःख की अंश-भागिनी बनाना चाहेगी। इससे बढ़ कर मेरे साथ वे और क्या उपकार कर सकती हैं? मेरे जीवन का तो उद्देश्य और उपयोग ही यह है कि मैं उसे रमणी-मण्डल की सेवा में उत्सर्ग कर दूँ। इसी लिये मैं आप से प्रार्थना करती हूँ कि आप मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपने उद्देश्य में सफल हो सकूँ और साथ ही साथ अपनी सहायता देकर भी आप मुझे कृतार्थ करें।" उनकी यह सरल कोमल स्नेहमयी वाक्यावली कृषक युवती और ब्राह्मण विधवा ने भी सुनी थी। और स्त्रियों की भाँति उनके लोचन-युगल से भी आँसू की धारा बह चली थी। उस समय तो उन दोनों ने कुछ कहना उचित नहीं समझा; हृदय के रहस्य को सब के सामने विवृत करने में, जो एक स्वाभाविक सङ्कोच होता है, उसने उन दोनों की वाणी का प्रवाह रोक दिया। इसी लिये रात्रि के समय एकान्त में अपनी विधवा सखी को लेकर वह

कृषक-युवती देवी सुभद्रा के श्री चरणों में उपस्थित हुई। ब्राह्मण विधवा पहिले तो आना स्वीकार ही नहीं करती थी; संकोच और स्वाभिमान उसको आगे बढ़ने ही नहीं देते थे; विक्षोभ और ग्लानि तो उसके अञ्चल को पकड़ कर उसे पीछे की ओर खींच रहे थे। पर जब कृषक-युवती ने विशेष आग्रह किया, जब आँखों में आँसू भर कर तथाच कुछ कुछ रोष भरे शब्दों में कृषक युवती ने उससे अनुरोध किया, इसके साथ ही साथ जब उसने सुभद्रा के निर्मल प्रेम, निस्वार्थ त्याग, तथा अहङ्कार-शून्य व्यवहार का विशद वर्णन किया और जब उसने शपथ पूर्वक कहा कि देवी सुभद्रा के पास चलने में उसके—ब्राह्मण विधवा के—स्वाभिमान को आघात पहुँचाना तो दूर, उल्टे उसे अपने गौरव को अक्षुण्ण रख कर अपने जीवन को शान्तिमय बनाने का साधन प्राप्त हो सकेगा, तब कहीं जाकर ब्राह्मण विधवा ने देवी सुभद्रा के पवित्र पाद-पद्म में अपने हृदय के गम्भीर शोक की अञ्जलि अर्पण करना स्वीकार किया। अभाव के साथ अन्त समय तक युद्ध करने में यदि कभी कोई समर्थ हुआ है, तो केवल स्वाभिमान।

देवी सुभद्रा कुशासन पर बैठी हुई थीं और वे दोनों युवतियाँ ठीक उनके सामने एक शीतल-पाटी पर बैठी हुई थीं। दीपक का प्रकाश देवी सुभद्रा के विभूति-भूषित ललाट पर पड़ रहा था; उनके वदन-कुञ्ज में सर्वदा परिव्याप्त रहने वाली सन्तोष की वह मृदुल छाया, उनकी आँखों की रज-भूमि में निरन्तर नृत्य करने वाली करुणा की वह प्यारी ललाई एवँ उनके अधर कमल

पर, सूर्य्य-किरणों की भाँति विलसित होने वाली, पवित्र आनन्द की वह हास्य-रेखा—यह तीनों दीपक के उस स्निग्ध प्रकाश में प्रस्फुट हो रही थीं। उनके उस पवित्र सौन्दर्य्य का ऐसा महिमामय विलास था, जिसने ब्राह्मण-विधवा और कृषक-युवती को एकान्त विमुग्ध कर दिया था और वे दोनों एक टक होकर उसको देख रही थीं। ब्राह्मण-विधवा इस सन्तोष-शोभा-मयी बाल-विधवा के पवित्र उज्ज्वल लावण्य को देख कर अपने हृदय की तीव्र वेदना को बिल्कुल भूल गई थी, कृषक-युवती ने भी उस सन्यास-सौन्दर्य्य को देख कर सुध-बुध भुला दी थी। उस समय ठीक ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो ऋद्धि और सिद्धि, मोक्ष के चरणों में, उपासना के लिये उपस्थित हुई हों। पर उसकी दिव्य-श्री को देख कर उन्हें अपने अस्तित्व तक का ज्ञान नहीं रहा था। आत्मानुभूति का वह एक अभिनव दृश्य था।

देवी सुभद्रा ने ही सब से पहिले शान्ति भंग की—"क्या देख रही हो बहिन? तुम तो मुझे देख कर अपनी सुध-बुध तक भुला बैठीं। भला ऐसा मुझ में क्या है?"

कृषक-युवती और ब्राह्मण-विधवा, देवी सुभद्रा के सरल शान्त वचनों को सुन कर, संभल गईं; एक बार तो लज्जा से उन दोनों के मुख-मण्डल लाल हो गये। पर फिर भी कृषक-युवती ने संभल कर कहा—"बहिन! तुम में क्या है—सो तो मैं कैसे बताऊँ? बताना तो दूर रहा, मैं तो जानती भी नहीं। पर हाँ, इतना कह सकती हूँ कि तुम्हारे इस सुन्दर मुख पर

एक ऐसी मधुर शोभा खेल रही है, जो बरवश हमारे हृदयों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। क्या जाने यह कैसी शोभा है? पर बहिन, मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे स्वयँ भगवती पार्वती हमारे सामने बैठी हों। मैं सच कहती हूँ—तुम्हारे चरणों की शपथ खाकर कहती हूँ— मैंने अपने जीवन में कभी ऐसा निर्मल सौन्दर्य्य नहीं देखा। बहुतेरे रूप देखे, आग के जैसे जलाने वाले, सूरज के जैसे चमकने वाले, फूल के जैसे मद से झूमने वाले—अनेक प्रकार के सुन्दर मुख देखे पर तुम्हारे जैसा सुन्दर, सरल, शोभामय वदन मण्डल मैंने कभी नहीं देखा—देखकर मेरी आँखें, मेरा मन, मेरा शरीर, सब शीतल, और शान्त हो गये। गङ्गा जी में नहाकर देवी अन्नपूर्णा का दर्शन करके मन की जो दशा होती है, ठीक वही दशा इस समय मेरे हृदय की हो रही है।"

देवी सुभद्रा की आँखों में कुछ कुछ सङ्कोच का भाव, उनके मृदुल अधर पर एक छोटी सी हास्य-रेखा और उनके कपोलों पर लज्जा की हलकी सी लाली-तीनों साथ ही साथ प्रकट हुईं। उन्होंने सरस शब्दों में कहा—"बहिन! यह सब तुम्हारे निर्मल प्रेम की प्रभुता है—तुम सब मुझे अत्यन्त स्नेह करती हो, अपनी सहोदरा के समान समझती हो, इसी लिये तुम्हारी अनुराग भरी दृष्टि में मेरे मुख पर ऐसा सौन्दर्य्य दिखाई पड़ता है। बहिन! मेरे में कोई भी असाधारण बात नहीं है—पर हाँ; मेरे मन की यही साध है, कि मेरा जीवन यदि तुम्हारी सेवा करते करते समाप्त हो जाय, तो इससे बढ़ कर मेरा और कौन

सौभाग्य हो सकता है ? मेरी तो यही आन्तरिक अभिलाषा है कि मैं तुम सब का दुख लेकर भगवान के चरणों में जाकर अर्पण कर दूँ। तुम्हारे अधर पर नाचती हुई सरल हास्य-धारा में मेरा हृदय स्नान करके आनन्द से उत्फुल्ल हो उठता है—इसी लिये मैं यही कामना करती हूँ कि आपके अधर पर निरन्तर हास्य-सरिता प्रवाहित होती रहे। जानती नहीं कि कहाँ तक मेरी यह आकांक्षा पूर्ण होगी पर यह मैं जानता हूँ कि मेरी इस अभिलाषा को जानकर ही तुम मुझे अपनी सहोदरा के समान स्नेह करती हो—तुम्हारे हृदय का सहज स्नेह ही तुम्हारी आँखों में आ बैठा है और इसी कारण तुम मेरे मुख पर एक दिव्य शोभा का विलास देखती हो—बस यही बात है।"

ब्राह्मण-विधवा ने आँख उठाकर देवी सुभद्रा के निर्मल मुख-मण्डल की ओर देखा—उसी समय उन दोनों की आँखें परस्पर मिल गईं—उस समय ब्राह्मण-विधवा को ऐसा प्रतीत हुवा जैसे देवी सुभद्रा की आंखों ने उसकी आँखों में अमृत-धारा उड़ेल दी हो—उसने धीरे धीरे कहा—"कुछ भी हो, बहिन, पर तुम करुणा की समुद्र हो। तुम्हारे मुख से अमृतमयी वाणी की धारा, तुम्हारे नयनों से शान्तिमयी प्रेम-गंगा, और तुम्हारे हृदय से दया की शीतल कल्लोलिनी प्रवाहित होती है। ऐसा न होता, तो तुम अपना दुख विसार कर, घर का आनन्द छोड़कर, पिता के विरह-दुख को सहकर, हम दुखिनी अबलाओं की व्यथा को शान्त करने के लिये क्यों दौड़ पड़तीं ? तुम्हें देखकर हमारे व्याकुल हृदयों को बड़ा धीरज बँधा है; हम अनाश्रितों को तुमने

आकर आश्रय दिया है? मैं जानती हूँ, बहिन, विधवा होना किसे कहते हैं? मुझे अनुभव है कि वैधव्य की दारुण-व्यथा हमें किस प्रकार धीरे धीरे जलाती है। देवि! तुम कदाचित् न जानती होगी; दुर्भाग्य से तुम विधवा होगई हो; तुम तो अनेकों सधवाओं को अहिवात दे सकती हो। पर, बहिन, मैं जानती हूँ कि विधवा होना कैसा अग्निमय है? समाज हमारे प्रति सदा खड्ग-हस्त रहता है; परिवार के लोग हमें पिशाचिन के समान मानते हैं; कुटुम्बी हमारे मुख का दर्शन साक्षात् अपशकुन का स्वरूप समझते हैं। बहिन, इतनी बड़ी पृथ्वी पर हमारे लिये दो पग भूमि मिलना कठिन है! घोर परिश्रम करने पर भी हमारे लिये भोजन और वस्त्र की पर्य्याप्त प्राप्ति नहीं होती—पग पग पर हमारे लिये पाप और शैतान प्रलोभन देते हैं; हमारे ही अपने हमें पतन के गह्वर में गिरा देने के लिये सदा तैयार रहते हैं। विश्व हमारे लिये नहीं; स्वर्ग का द्वार हमारे लिये बन्द, और पाताल का पथ हमारे लिये अवरुद्ध; हमारे लिये तो केवल नरक की धाँय धाँय करती हुई अग्नि है, जिसमें हम जीते जी भी जलते हैं और मरने पर भी शायद उसी में जलेंगे, पर बहिन, इस घोर व्यथा की अग्नि में स्थित होकर भी आज मेरे हृदय को तुम्हारे पवित्र दर्शन से धैर्य्य मिला है—तुम्हें देख कर आज मेरे प्रज्वलित हृदय को शान्ति मिली है। वास्तव में, बहिन, तुम धन्य हो; तप की तुम मूर्त्ति हो, पुण्य की प्रतिमा हो, सत्य की सजीव-शोभा हो—मेरा विश्वास है कि तुम महामाया की अंश-भूता हो और हमारा दुख दूर करने ही के लिये तुम्हें इस विश्व

पर विश्व-माता ने भेजा है। तुम जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रकट हुई हो, उसके लिये सन्यास धर्म के परिपालन की एकान्त आवश्यकता है, इसीलिये तुम्हें भगवती ने वैधव्य दिया है। तुम्हारा वैधव्य व्यथा का केन्द्र नहीं है, वह तप का तेज है—यही कारण है कि म इतने सरल सुन्दर भाव से दुख को काट सकती हो। बहिन तुम निस्सन्देह ही महामाया की सन्यास-मयी मूर्ति हो—इसी लिये मैं—मैं अभागिनी ब्राह्मण-विधवा तुम्हारे श्रीचरणों में अपनी इस दारुण अग्नि की शान्ति के लिये प्रणाम करती हूँ। देवि! मेरी रक्षा करो! तुम्हीं अब मेरी अवलम्ब हो।"

यह भक्ति और प्रेम के सहज उद्गार थे: इनमें कपट अथवा स्वार्थ की नीति का रत्ती भर भी अंश नहीं था—सच्चे, सरल स्नेहमय शब्दों की यह माला थी, जिसे ब्राह्मण-विधवा ने देवी सुभद्रा को समर्पण की थी। सचमुच ब्राह्मण-विधवा की दृष्टि में देवी सुभद्रा भगवती की मूर्तिमती सन्यास-श्री के समान प्रतिभासित होती थी—उसने बड़े भक्तिभाव से उनके चरणों में अपना मस्तक रख दिया; उसके आँसुओं ने उनके पवित्र पाद-पद्म को धोना प्रारम्भ कर दिया। पर देवी सुभद्रा ने अत्यन्त शीघ्र, अत्यन्त आदर और प्यार से, ब्राह्मण-विधवा का मस्तक उठाकर अपने पवित्र वक्षस्थल पर रख लिया। ब्राह्मण-विधवा ने इतना आदर कभी काहे का पाया था, सखी के प्रेम और आदर में भी इतनी शान्ति और शीतलता उसे उपलब्ध नहीं हुई थी। उसकी आँखों से और भी तीव्रता से अश्रुधारा पतित होने लगी,

देवी सुभद्रा का वक्षस्थल उस उत्तप्त धारा से भीग गया। देवी सुभद्रा के मुख से निकल रही थी स्नेह भरी सान्त्वनामयी वाणी और उसकी आँखों से पतित हो रही शीतल शान्तिमयी सहानु-धारा! कृषक-युवती भी इस करुण दृश्य के प्रभाव से नहीं बची। उसकी आँखों में भी आषाढ़ के नवीन मेघ की जल-धारा के समान द्रवविगलित अश्रुधारा पतित होने लगी! स्नेह, सहानु-भूति, और सौहार्द—इन तीनों की ललित लीला को आकाश के निवासी सुरगण आनन्द से विह्वल होकर देखने लगे!

अहा! इन आँसुओं की महिमा को कौन वर्णन कर सकता है? भगवान शङ्कर के मौलि-मण्डल से भगवती मन्दाकिनी मानो संसार के संताप को शमन करने के लिये उतर रही हों! आँसुओं की वह त्रिवेणी, अक्षय पुण्य की देने वाली, अशेष दुख को दूर करने वाली एवँ दारुण व्यथा को शान्त करने वाली थी। उसकी महिमा का कौन पार पा सकता था? मन्दाकिनी के समान पुण्यमयी, करुणा के समान शान्तिमयी, आनन्द के समान अनुभूतिमयी, पवित्र अश्रुधारा में जिसे स्नान करने का अवसर मिलता है, वह सदा के लिये शोक-संताप से परिमुक्त हो जाता है। उन आँसुओं का एक एक बिन्दु मानो स्वर्ग की कान्ति का, नन्दन की शीतलता का, जगदीश्वरी के श्रीचरणों के पराग का, भगवान की ऐश्वर्य्यमयी विभूति का, एवँ साधना की पवित्रता का सार था। तब उस अश्रु बिन्दु-माला की पवित्रता, महिमा और गरिमा का समुचित वर्णन इस उपन्यासकार की साधारण लेखनी से कैसे सम्भव है? वह तो जगज्जयी

कालिदास की अमृतमयी कल्पना की चारु रागिनी ही में गुम्फित हो सकती है। अस्तु।

कुछ देर तक—लगभग ५-६ मिनट तक—तीनों की यही दशा रही। धीरे धीरे देवी सुभद्रा ने शान्त होकर शान्त स्वर में कहा—"बहिन! शान्त होओ! मैं जानती हूँ तुम्हारे दुःख की सीमा नहीं है तब क्यों न तुम उसे असीम, अनन्त, सच्चिदानन्द के चरणों में अर्पण कर दो? क्यों न तुम उसे पवित्र तपस्या में परिणत कर दो? बहिन, दुःख को मार कर भगा देना एक बार ही असम्भव व्यापार है; पर हाँ, उस अपने घोर दुःख को तुम तपोमयी साधना का सत्य सुन्दर स्वरूप अवश्य दे सकती हो। इसी लिये, बहिन, मेरा कहना मानो; इस व्यथा की अग्नि को आन्तरिक यज्ञ की अग्नि का तेजोमय स्वरूप दे दो। मेरी प्यारी बहिन! मैं जानती हूँ कि हमारा यह उद्भ्रान्त समाज हम लोगों का हम अभागिनी, अनाथिनी, विधवाओं का—अत्यन्त अपमान और अनादर करता है; वह हमारे दुःख को दूना करने के लिये सदा सचेष्ट रहता है। पर बहिन, आओ, हम विधवा सन्यासिनी, इस अनादरकारी परिवार को, इस दुखदायी कुटुम्ब को अपने निस्वार्थ प्रेम की धारा से परिप्लावित कर दें; आओ, हम आदर और स्नेह से, इस भूले हुये को, बच्चे की भाँति, हृदय से लगा लें। बहिन! सेवा और स्नेह ही हमारी सन्यास-साधना की कुटीर के दो जाज्वल्यमान प्रदीप हैं; देखना, यह न बुझने पावें; यदि यह बुझ गये, तो उस घोर अन्धकार में हमारा पुण्य-पथ विलीन हो जायगा और फिर हमारे निस्तार की समस्त सम्भा-

बना, सदा के लिये, समाप्त हो जायगी। आपत्ति के अन्धकार में, विपत्ति के वज्र-प्रहार में, अत्याचार के दारुण निष्पीड़न में, अभाव के घोर दंशन में एवँ विकार के भयंकर कोलाहल में देखना, कहीं इधर उधर मत हो जाना नहीं तो वहिन, पाप के नरक में निश्चय हमारा पतन हो जायगा। सन्यास-धर्म ही हमारा एक मात्र सहायक है; विश्व-प्रेम ही हमारा एक मात्र पथ-प्रदर्शक है और सेवा ही हमारी एक मात्र साधना है। वैधव्य हमारा व्रत है; हमारी शोभा है; सन्यास की इस ऐश्वर्य्य-मयी विभूति को पाकर हमें विक्षोभ करने का कोई कारण नहीं है। जिससे हम गौरव के साथ ऊँचा मस्तक कर के जगन्माता के पार्श्व-देश में खड़े हो सकें, इसकी ओर सदा ध्यान रखना ही हम सन्यासिनी विधवाओं का प्रमुख कर्तव्य है।"

ब्राह्मण-विधवा ने कुछ आवेग के स्वर में कहा—"पर बहिन! इतनी बड़ी साधना कैसे सम्भव हो सकती है? जो निर्मम जन हमारे मस्तक पर पाद-प्रहार कर रहे हैं, जो ममता-शून्य चाण्डाल की भाँति, हमें अग्नि में जलता हुआ देख कर भी हमारे सामने खड़े खड़े मुस्कराते हैं और हमारे घोर दुःख में भी हम पर अश्राव्य कटाक्ष करते हैं, जो पापी हमारे इस नीरस जीवन को परिभ्रष्ट करने के लिये सदा अवसर की खोज किया करते हैं, जो शैतान और पाप के प्रतिनिधि बन कर हमें पतित करने ही में अपना परम गौरव मानते हैं, उन निर्दय, निर्मम, जनों की सेवा करना क्या हमारे लिये सम्भव हो सकता है? वह तो सर्प को दूध पिलाने के समान है, देवि!"

सुभद्रा ने सान्त्वना-भरे स्वर में कहा—"आह मेरी बहिन! तुम्हारे इन वचनों को सुन कर मुझे अच्छी तरह मालूम हो गया है कि इस मत्सरमय संसार के निष्ठुर हाथों ने तुम्हें अनेक दुःख और वेदनायें पहुँचाई हैं। तुम्हारे इन तीव्र वाक्यों में तुम्हारे हृदय में जलनेवाली भयंकर अग्नि का उत्ताप विशेष रूप से परिलक्षित होता है। पर मेरी प्यारी बहिन! विधवा का समस्त जीवन अग्निमय है। इस अग्नि को चाहे तो तुम चिता की अग्नि बना दो और चाहे इसे यज्ञ-वेदी की पूज्य अग्नि में परिणत कर दो। बहिन! इसी लिये मैं कहती हूँ कि आओ, अपने दुःख की ज्वाला को हम तप का स्वरूप दे दें। अपनी इस अग्नि में अपनी समस्त वासनाओं की आहुति देकर अपने समग्र विकारों को इसमें भस्मासात करके, आओ, हम अपने पवित्र जीवन को उद्भ्रान्त एवँ उत्तप्त जगत की परिचर्य्या में लगा दें। बहिन! इस विशाल विश्व में केवल तुम और मैं यह दो ही दुखी नारियाँ नहीं हैं—इस अभागे देश का प्रत्येक घर दुखी नारियों की संतप्त आहों से परिपूर्ण हो रहा है। तब क्या हमारा यही धर्म है कि हम अपने ही दुःख की रात-दिन चिन्ता करते रहें? नहीं; हम अपने इस जीवन को अपनी व्याकुल बहिनों की सेवा में लगा दें; जहाँ तक हो सके उनके दुख को दूर करें—यही हमारा सन्यास-धर्म है। पराये दुख को, पराई वेदना को, पराई व्याकुलता को अपनी बनाकर दूसरे को सान्त्वना-सलिल से शीतल करना ही भारतीय विधवा की प्रधान साधना है। बहिन! जीवन का सब से बड़ा सुख यही है कि दूसरे के दुःख को अपना

बना लिया जाय और निस्वार्थ सेवा का यही बीज मन्त्र है।"

देवी सुभद्रा के मुख से अमृत की धारा सी बह रही थी—उनके मुख से निकलने वाली उस पवित्र वाणी में ब्राह्मण-विधवा और कृषक युवती दोनों के हृदय स्नान करके शीतल हो रहे थे। कृषक-युवती ने सरस शब्दों में कहा—"बहिन! तुम्हारे कथन में रत्ती भर भी अतिशयोक्ति नहीं है। तुम जो कह रही हो, वह सोलहो आना सत्य है। पर यह मेरी बहिन सचमुच बड़ी दुःखिनी है। इन्हें आज विधवा हुये ७ वर्ष हुये। जिस दिन इनका सोहाग लुटा था, उस दिन इन्होंने १७वें वर्ष में पैर रखा था। केवल दो वर्ष तक यह अपने पतिदेव की पूजा कर पाईं; सच पूछो, बहिन, इन्होंने पूजा का प्रकृत मर्म जान भी नहीं पाया था कि मंगल-प्रदीप बुझ गया और उसी समय, दुर्भाग्य के उस घने अन्धकार में इनके पतिदेव इन्हें छोड़ कर चले गये! यह निराश्रय हो गईं और उनकी उस दारुण दशा को देख कर विश्व का द्रवीभूत होना तो दूर, उलटा वह भयंकर निशाचर की भाँति इन्हें नष्ट करने की चेष्टा करने लगा। संसार इनके लिये नरक की भूमि बन गया। इनके पिता पहिले ही गत हो चुके थे; सास-ससुर तो विवाह होने से पहिले ही परम-धाम की यात्रा पर चले गये थे। पति के परिवार में थे कई लोग, पर उन्होंने तो राक्षस का स्वरूप धारण कर लिया और लगे इन्हें दारुण दुःख देने! इनके पति बहुतेरा छोड़ गये थे; इनके पास भी आभूषण इत्यादि की कमी नहीं थी—पर उस राक्षस-मण्डल ने सब कुछ छीन

लिया। इनके शरीर के ढकने को एक साड़ी और पेट भरने को रोटी तक देना उन राक्षसों को कठिन प्रतीत होने लगा। दिन भर बिचारी दासी के समान परिश्रम करती, पर कौन सुनता है; ज़रा ज़रा सी त्रुटि पर इनके ऊपर घोर अत्याचार होने लगा। होते होते एक दिन साधारण सी बात पर इनके दुरात्मा जेठ ने इन्हें मार कर घर से बाहर कर दिया। उस समय इनके शरीर पर एक चीथड़ा साड़ी मात्र थी, पास एक पैसा भी नहीं था। बड़ी कठिनता से पूछते पूछते यह अपनी माँ के पास पहुँची। बहिन! स्वयँ सोच सकती हो कि जिस कुलाङ्गना ने एक दिन भी घर के बाहर पैर न रखा हो, उसे १५-१६ कोस की यात्रा करके, पूछते पूछते अपने मायके में पहुँचना कितना दुष्कर कार्य्य है! और उस पर लोलुप निशाचरों की काम दृष्टि! कहाँ तक सुनाऊँ, बहिन! इनके जीवन का प्रत्येक परिमाणु व्यथा और वेदना से जल रहा है। घर पर बुड्ढी माँ को लेकर रहती हैं, किसी प्रकार दिन भर कठिन परिश्रम करके अपना और माता का पेट पालती हैं। स्वभिमानिनी इतनी है कि सहायता के नाम मात्र से रोने लगती हैं—दूसरे का दिया हुआ कभी नहीं ग्रहण करती हैं। भूखे रहना स्वीकार, पर सहायता लेना किसी प्रकार इन्हें स्वीकार नहीं। इसी लिये आज मैं अपनी इन अभागिनी दुखिया बहिन को लेकर तुम्हारी शरण में आई हूँ। बड़े भागों से तुम्हारे दर्शन मिले हैं। भगवान् की मूर्तिमती दया के समान तुम हमारे यहाँ आई हो। यह मेरी बड़ी प्यारी बहिन हैं। देवि! इनके हृदय की अग्निमयी-व्यथा को अपनी सहानुभूति

और सान्त्वना की शीतल धारा से शान्त कर दो—यही तुम्हारे चरणों में मेरी प्रार्थना है।"

कृषक-युवती की इस करुण-कथा को सुन कर सुभद्रा का हृदय द्रवीभूत हो गया और उसके लोचनों से जल-धारा बहने लगी। उसने बड़े शान्त और स्नेह-भरे शब्दों में कहा—"आओ मेरी प्यारी बहिन! अपना सारा दुःख, अपनी सारी व्यथा तुम मुझे दे दो। आह! इतना कष्ट!! इतना क्लेश! तो भी तुम सह रही हो। बहिन! वास्तव में तुम बड़ी सहनशीला हो—तुम्हारी घोर तपस्या को देख कर स्वतः ही तुम्हारे सामने मेरा मस्तक झुका जाता है। बहिन! तुम तो पहिले ही से घोर साधना में प्रवृत्त हो। अच्छा! बहिन! तुम कुछ पढ़ी भी हो?"

ब्राह्मण-विधवा ने इन शब्दों में असीम स्नेह, अनन्त सहानुभूति, एवँ अपार सान्त्वना के दर्शन किये। कृतज्ञता से उसका हृदय भर गया। उसने धीरे धीरे कहा—"हाँ! मेरे पिता ने मुझे संस्कृत और हिन्दी की थोड़ी बहुत शिक्षा दी थी। संस्कृत के साधारण काव्य-ग्रन्थ मैं समझ सकती हूँ।"

सुभद्रा ने उल्लास-सहित कहा—"तब ठीक है, बहिन! कल ही यहाँ पर बालिकाओं के लिये एक पाठशाला मेरे इसी मकान में प्रतिष्ठित की जायगी और उसके प्रमुख-पद को स्वीकार करना पड़ेगा तुम्हें! मेरी बहिन! तुमने तो स्वयँ ही मेरी आयोजना को पूरा कर दिया। तुम्हारी जैसी त्याग-शीला सन्यासिनी के लिये शिक्षा-दान से बढ़ कर और कोई धर्म नहीं है—बहिन! तुम उसी धर्म की साधना में लग जाओ। समाज

के अपराध को क्षमा कर दो; पति-परिवार के घोर दुष्कृत्यों को भूल जाओ। बहिन! समाज और परिवार की तो सामर्थ्य ही क्या है, तुम्हारे तीव्र शाप से त्रिभुवन तक भस्म हो सकते हैं। इसी लिये तुम उद्भ्रान्त समाज और मूर्ख परिवार के किये हुये अपमान और अनादर को विस्मृत कर दो—वैसे ही भूल जाओ जैसे माता पुत्र के दुष्कृत्य की ओर बाल्य-चापल्य कह कर, ध्यान नहीं देती है। तुम जननी हो—विश्व, समाज, परिवार—सब की माता हो, तुम अपने उद्भ्रान्त सुतों के अपराधों को क्षमा कर दो। शाप मत देना बहिन, नहीं तो भयंकर काण्ड हो जायगा! तुम्हारे हृदय में जो रोष-प्रवृत्ति हो, उसे अपने तप की अग्नि में भस्म कर दो। इस गाँव की बालिकाओं को तुम शिक्षा दो। अपने वात्सल्य की शीतल धारा में उनके सहज-सरल स्नेह की सरिता को मिलने दो! और उस सम्मिलित धारा के शीतल शान्त तट पर, पति के पाद-पद्म का ध्यान करती हुई, सन्यास धर्म की साधना में तुम प्रवृत्त हो जाओ—इसी में जीवन की सार्थकता है और आत्म-सन्तोष की सिद्धि है।"

ब्राह्मण-विधवा—"पर मेरी माता............"

सुभद्रा—"उनके लिये तुम्हें चिन्ता न करनी होगी। जैसी वे तुम्हारी माता हैं; वैसी ही मेरी हैं। भाई राजेन्द्र स्वयँ उनके आराम की सारी व्यवस्था कर देंगे। बहिन! मेरे जीवन के उद्देश्य की सफलता तुम्हारी जैसी सन्यासिनी देवियों की सहायता ही पर निर्भर है। मैंने रमणी-मण्डल की सेवा के

लिये अनेक प्रकार की कल्पनायें की हैं—पर उनका कार्य्य-रूप में परिणत करना तुम्हारी जैसी वीतरागिनी का काम है। (कृषक युवती की ओर देख कर) मेरी यह सौभाग्यवती बहिन भी हमें सहायता देंगी। पर इनके ऊपर पति, पुत्र, इत्यादि की सेवा का सारा भार है। इसलिये यह हमारे कार्य्य में उतना सहयोग नहीं दे सकेंगी, जितना तुम दे सकती हो। पर इनका आशीर्वाद ही हमें सच्चा मार्ग बतावेगा। सौभाग्यवती रमणी का आशीर्वाद भगवती की मंगलमयी व्यवस्था की पवित्र सूचना है।"

कृषक युवती—"बहिन तुम्हारी जैसी पुण्यमयी देवी की पाद-वन्दना करने ही से हमारा अहिवात अटल होता है। इसी लिये मैं आज अपने सुहाग के लिये तुम्हारे श्री चरणों में प्रणिपात करती हूँ। आशीर्वाद दो मेरी पुण्यशीला, बहिन!"

इतना कह कर कृषक-युवती ने बड़े भक्ति भाव से देवी सुभद्रा के चरणों में प्रणाम किया। देवी सुभद्रा ने उसे उठा कर उसके शिर पर अपना पवित्र कर-कमल रख कर कहा—"बहिन! महामाया की दया से तुम्हारा सौभाग्य हिमालय के समान अटल रहेगा। जगदीश्वरी की कृपा से तुम अपने प्राणेश्वर की सदा प्रेम-पात्री बनी रहोगी। पर बहिन, देखना, अपनी इन अभागिनी बहिनों को कदापि मत भूलना। इनका इस विश्व में कोई नहीं है। तुम्हीं इनकी आश्रय हो। बहिन, यह कभी मत भूलना कि सौभाग्य की महिमा इसी में है कि वह दुर्भाग्य को हृदय से लगा कर उसकी अग्नि को शान्त कर दे। बहिन, अपने

पति, पुत्र, और परिवार को इनकी सहायता के लिये सदा उत्साहित करती रहना।"

कृषक युवती—"बहिन! यदि अपना सर्वस्व देकर भी मैं इन्हें अथवा तुम्हें परितुष्ट कर सकूँ, तो उसमें मुझे रत्ती भर भी संकोच नहीं होगा। आज तुमने मेरी बहिन का अमृतमयी शान्ति प्रदान की है; तुमने मुझे सौभाग्य का मङ्गलमय बरदान दिया है। तब क्या मैं इस ऋण से उऋण हो सकती हूँ, बहिन!"

सुभद्रा (हँस कर) बोली—"मेरी भोली प्यारी बहिन! क्या तुम इस ऋण से उऋण होना चाहती हो?"

कृषक युवती—"नहीं! मैं नहीं चाहती! इस ऋण के भार को वहन करना अत्यन्त आनन्द-प्रद है। पर बहिन, आपकी आज्ञा-पालन करने के लिये मैं सब कुछ, अपने प्राणों तक को विसर्जन कर सकती हूँ। तब आज्ञा करो, बहिन!"

सुभद्रा—"मेरी आज्ञा! मेरी क्या आज्ञा है? मैं तो स्वयँ तुम्हारी सेवा करने के लिये लालायित हूँ। हाँ! यदि तुम मेरे उद्देश्य में सहायता दे सको, तो उससे मेरे हृदय को परम परितोष होगा; उसी की सफलता ही मेरे जीवन की इष्ट-साधना है।"

ब्राह्मण-विधवा—"बहिन! वह उद्देश्य क्या है?"

सुभद्रा—"मैं तो पहिले ही सिद्धान्त रूप से बता चुकी हूँ कि रमणी-मण्डल की सेवा करके उनकी सब प्रकार की—आत्मिक, कायिक, मानसिक—उन्नति करना ही मेरे जीवन की इष्ट-साधना है। मैं चाहती हूँ कि मैं अपने पिता की ज़िमींदारी में रहने वाली

स्त्रियों की उन्नति करके उन्हें देश-सेवा के लिये जागृत कर सकूँ, यही मेरा उद्देश्य है। मैं चाहती हूँ मेरी प्रत्येक बहिन यह अनुभव कर ले कि वह महामाया की पवित्र प्रतिनिधि है, उसके हृदय में अनन्त शक्ति का भण्डार है, वह पातिव्रत की पूज्य प्रतिमा है, वह पुण्य की साकार कल्पना है, वह पुरुष की सहधर्मिणी है, विश्व की जननी है।"

कृषक-युवती—"बहिन! इस उद्देश्य की सिद्धि का साधन क्या है?"

सुभद्रा—"स्वार्थत्यागमयी सेवा! दूसरे के अस्तित्व के लिये अपने अस्तित्व को मिटा देने का पवित्र संकल्प! बहिन! मैं अपनी यात्रा को समाप्त करके ज्योंही लौटूँगी, त्योंही मैं गाँव गाँव में स्त्री-विद्यालयों का जाल फैला दूँगी। शिक्षा ही उन्नति का मूल मन्त्र है, इसी के द्वारा रमणी-मण्डल की वास्तविक उन्नति होना सम्भव है। इसी लिये मेरी इच्छा है कि तुम सब मेरी इस उद्देश्य-सिद्धि में अन्नपूर्णा की भाँति सहायता दो। मैं चाहती हूँ कि तुम पहिले ही उसके लिये उपयुक्त क्षेत्र बना डालो। गाँव के प्रत्येक घर की लक्ष्मियों के कानों में हमारे इस उद्देश्य के सन्देश को पहुँचा दो। उनके द्वारा उनके पति-पुत्रों की सहायता और सहयोग को प्राप्त करो और गाँव गाँव में ज्ञान की धारा प्रवाहित कर दो। रमणी-मण्डल जिससे जागृत होकर देश-माता की सेवा में लग जाय उसकी सुमधुर व्यवस्था के लिये हम सब को चेष्टा करना चाहिये।

ब्राह्मण-विधवा—"देवि! तुम्हारे उद्देश्य की जय हो। मैंने

आज तुम्हारे मुख से जो उपदेश सुने हैं, तुमने आज गुरु की भाँति मुझे जो दीक्षा-मन्त्र दिया है, उससे मेरे हृदय का सारा कालुष्य नष्ट हो गया है। तुमने मेरे जीवन को सत्य के सुन्दर और कल्याणमय पथ पर ले जाकर खड़ा कर दिया है, तुमने मेरे वैधव्य को सन्यास के शीतल सलिल से शान्त कर दिया है। बहिन, तुम्हारे उस पवित्र महिमामय उद्देश्य की सिद्धि ही मेरे जीवन की इष्ट साधना होगी।

कृषक-युवती—"और मैं भी यथाशक्ति यही प्रयत्न करूँगी कि जिससे तुम्हारे उस मनोहर उद्देश्य का संदेश घर घर में फैल जाय। मैं जानती हूँ, इसके लिये मुझे विशेष परिश्रम नहीं करना होगा क्योंकि तुम्हारी अमृतमयी दिव्य वाणी ने पहिले ही से स्त्रियों के हृदय में एक नई आशा, एक नई कल्पना, एक नई आकाँक्षा उत्पन्न कर दी है। मैं जानती हूँ कि मुझे केवल इतनी ही चेष्टा करनी होगी; जिससे यह नई आशा, नई ज्योति, नई भावना तुम्हारी अनुपस्थिति में मिटने न पावे। मुझे आशा है कि मेरे इष्टदेव भी मुझे इस विषय में सहायता देगें। वे तो आपके भाई राजेन्द्र जी के उपदेशों को सुन कर आनन्द से उन्मत्त हो रहे हैं।"

सुभद्रा के स्निग्ध लोचनों में एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई ठीक वैसी ही जैसी उषा के प्रथम-हास्य के समय प्राची दिशा के प्राङ्गण में प्रकट होती है। उसने आनन्द भरे स्वर में कहा—"मेरी प्यारी बहिनों! तुम दोनों की इस प्रबोध-वाणी ने मेरे हृदय को परम आनन्द प्रदान किया है। बहिनों! स्मरण रखना, त्याग और सेवा ही रमणी का सुन्दर शृङ्गार है; स्नेह और

सहानुभूति ही हमारे बीज-मन्त्र हैं। मेरे भाई और पिता दोनों ने दुखी और दरिद्री की सेवा का व्रत धारण किया है। यदि कभी तुम्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जिसे सहानुभूति और सहायता की आवश्यकता हो, तो निस्संकोच भाव से मुझे सूचना देना। मैं आदर और अनुराग के साथ उसकी सेवा करूँगी। सचमुच, बहिनों, दुखी के अधर पर नाँचने वाली परितृप्ति की निर्मल हँसी से बढ़ कर और कुछ भी सुन्दर नहीं है। स्वयँ भगवान् की विभूति का भी लावण्य उससे अधिक नहीं है।"

ठीक उसी समय राजेन्द्र ने घर में प्रवेश किया। उसके कानों में भी बहिन के उन अन्तिम दिव्य वचनों ने प्रवेश किया। अपने हृदय के आवेश में वह कह उठा—"ठीक है, बहिन!" दोनों युवतियों ने उसकी आवाज़ सुन कर घूँघट काढ़ लिये। राजेन्द्र भी लज्जित हो कर दूसरे कमरे में चला गया। इसके दो तीन मिनट के उपरान्त दोनों युवतियाँ भी देवी सुभद्रा से विदा माँग कर तथा बड़े भक्ति भाव में उन्हें अभिवादन करके अपने अपने घरों की ओर चल दीं। उस समय पश्चिम प्रान्त पर खड़े हो कर चन्द्रदेव ने स्पष्ट रूप से उन युवतियों के सरल-सुन्दर मुखों पर आत्म-सन्तोष और आनन्द की आभा को नृत्य करते हुये देखा। जिस समय वे आई थीं, उस समय भी उन्होंने उन्हें देखा था। उस समय एक के मुख पर विषाद और वेदना के चिन्ह परिस्फुट थे और दूसरी के मुख पर सरल सहानुभूति और आकुल स्नेह का प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता था। पर जब वे लौटीं उस समय उन दोनों के आननों पर

आनन्द और अनुराग की शीतल शान्ति की छबि दिखाई पड़ती थी। कृषक-युवती का ललित ललाट प्रसन्न सौभाग्य की शोभा से दैदीप्यमान था और ब्राह्मण विधवा का मुख-मण्डल सन्यास की शीतल शान्ति से आवृत था। वे दोनों अपनी अपनी व्यथा और वेदना को सुख और सन्तोष में परिणत कर के लौटी थीं। पारस-पथरी के स्पर्श से जैसे लोहा सोना हो जाता है, पुण्य सत्संग से उसी भाँति दुख, सुख में बदल जाता है!

साधु का पवित्र संग, देवता का मनोहर दर्शन एवँ पुण्य-हृदय का आशीर्वाद—इन तीनों में से जिसे सौभाग्यवशात् एक की भी उपलब्धि हो जाय, उसे फिर विश्व के अत्याचार से, शैतान के उत्पीड़न से, एवँ निशाचर के निर्य्यातन से भयभीत होने की कण भर भी आवश्यकता नहीं है। और यदि पूर्व जन्म के परम पुण्य की महिमा से एक ही समय में उसे इन तीनों देव-दुर्लभ पदार्थों की प्राप्ति हो जाय, तो स्वर्ग का सुख, योग की अनुभूति, तथा मोक्ष की प्राप्ति, इन तीनों को प्राप्त करना उसके लिये कन्दुक-क्रीड़ा के समान सरल है। कोई बाधा, कोई भय एवँ कोई विघ्न उसकी गति में व्याघात नहीं डाल सकता।

* * *

कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरे ही दिन, मध्याह्न के मंगल मुहूर्त में, रुद्रपुर की पुण्यभूमि पर एक कन्या-विद्यालय की स्थापना हो गई और उसकी आचार्या हुई सन्यास-धर्म-दीक्षिता ब्राह्मण-विधवा।

विशुद्ध हृदय का पावन संकल्प विजय की प्रथम सूचना है।

सत्रहवाँ परिच्छेद

दुःखिनी राधा

जिस दिन सायंकाल को राधा और उसकी सास में परस्पर भीषण कलह हो गई थी, उस दिन प्रातःकाल ही राधा के श्वसुर और उसके बाल-पति लालचन्द किसी दूसरे गाँव में कार्य्यवशात् चले गये थे। घड़ी भर रात बीतने पर वे दोनों घर लौटे। पर ज्योंही उन दोनों ने घर की देहरी पर पैर रखा, त्योंही किसी अज्ञात आशंका से उन दोनों के हृदय विकल हो उठे। घर में प्रवेश करते ही उन्होंने विस्मय-विमुग्ध होकर देखा कि सारे घर में एक भीषण अन्धकार परिव्याप्त हो रहा है। लालचन्द तो भला १२ वर्ष का बालक था—प्रकाश-विहीन गृह को देख कर उसका आशङ्कित एवँ भयभीत हो जाना अस्वाभाविक नहीं था, पर रामसनेहीमल तो इस विश्व की रंगभूमि पर अपने जीवन का अधिकाँश व्यतीत कर चुके थे। उनका अज्ञात आशंका से उद्विग्न हो जाना एवँ किसी आगत विपत्ति के भय से विह्वल हो जाना अवश्य ही यह सूचित करता था कि उनके मानसिक लोक में भय का जो स्वरूप बहुत दिनों से परि-

पुष्ट हो रहा था, वह सहसा हुँकार-नाद कर उठा है। उनके मुख से स्वतः और सहसा यह निकल गया—"आह! यह अन्धकार कैसा?" पिता पुत्र दो-तीन मिनिट तक घर के आँगन में खड़े रहे, वे इस बात की प्रतीक्षा कर रहे थे कि उनके पाद-क्षेप को सुन कर कोई न कोई अवश्य ही प्रकाश लेकर आवेगी। पर उन्हें निराशा हुई और किसी ने भी उनका स्वागत-सत्कार नहीं किया, किसी ने भी दीपक जलाने की चिन्ता नहीं की। जलाता भी कौन? राधा और उसकी सास दोनों ही उस समय रोष-रौरव की भयंकर ज्वाला में विहार कर रही थीं। राधा की सास अपने कमरे में भूषण-हीन होकर अर्ध-नग्न अवस्था में पड़ी पड़ी क्रोध और क्षोभ से, आहत सर्पिणी की भाँति, फुफकार रही थी। उधर राधा, अपने मन्दिर में, रोष से उन्मत्त और विकार से उद्विग्न हृदय को लिये हुये पृथ्वी पर बैठी हुई थी। जब उन पिता-पुत्र को खड़े ५-६ मिनिट व्यतीत हो गये, तब रामसनेहीमल ने पुकार कर कहा—"अरे! आज क्या इस घर में कोई नहीं है? सब के सब मर गये क्या?" घर की दीवारों से प्रतिध्वनित होकर उनकी वह तीव्र-ध्वनि उसी भाँति अन्धकार में विलीन हो गई जैसे अमावस्या की घन-कृष्ण यामिनी के तृतीय प्रहर में, निर्जन, नीरव, कालिमाछन्न स्मशान भूमि में पिशाच-पुञ्ज की कटकटाहट एक बार तीव्र वेग से प्रतिध्वनित होकर फिर शान्त हो जाती है। किसी ने भी उनकी उस पुकार का प्रत्युत्तर नहीं दिया। तब तो उन दोनों के हृदय और भी व्याकुल एवँ उद्विग्न हो उठे। अन्त में लाला रामसनेही-

मल ने पुत्र से कहा—"बेटा ! तू जा ! जाकर बहू के कमरे में देख तो वह क्या कर रही है ? मैं तेरी माँ को देखता हूँ।" पर लालचन्द जैसे भीरुप्रकृति के बालक के लिये पिता के इस आदेश का परिपालन करना एक बार ही असम्भव था। जो बालक संध्या के धूसर-काल में भी देहरी से बाहर पैर रखते ही काँप उठता था, रात में लघुशंका के लिये जो बिना पिता माता के संग लिये नहीं जाता था, उसके लिये इस सूचीभेद्य-अन्धकार को पार करके बहू के कमरे में जाना असाध्य-साधन के समान था। इसी लिये वह और भी पिता के पार्श्वदेश की ओर बढ़ गया। एक तीव्र भय, एक विकराल आशंका, एक भीषण भावना, उसके भीरु हृदय को व्याकुल करने लगी। पिता के वचनों को अङ्गीकार करके वह आगे नहीं बढ़ा, वह वहीं पर खड़ा रहा। पिता ने फिर एक बार अपनी आज्ञा को दुहराया, उसे सुन कर पुत्र ने भय-कातर कण्ठ से कहा—"मुझे डर लगता है, लालाजी !" लालाजी का हृदय भी भय से एक बार ही विमुक्त नहीं था; वे भी मन ही मन हनुमान जी के चरण कमलों का ध्यान कर रहे थे और हनुमान-चालीसा की टूटी-फूटी आवृत्ति भी उनके मुख से धीरे धीरे हो रही थी। इसी लिये पुत्र की इस भय-संकुल चेष्टा ने उनके क्रोध को जागृत नहीं किया। पिता-पुत्र निःशब्द होकर उस नीरव अन्धकार के बीच में चलने लगे। उस समय यदि कहीं से कोई साधारण ध्वनि भी हो जाती, तो पिता-पुत्र अवश्य ही मूर्छित होकर गिर पड़ते, बहुत सम्भव था कि उन दोनों में से किसी एक की व दोनों की इह-लीला भी समाप्त

हो जाती। लालचन्द पिता के भरोसे चल रहा था और पिता तैंतीस कोटि देवताओं के भरोसे आगे बढ़ रहे थे!

राधा और उसकी सास चम्पा ने पिता-पुत्र के आगमन को न जान पाया हो, सो बात नहीं है। पर उन दोनों पर रोष और विक्षोभ ने ऐसा पूर्ण आधिपत्य जमा रखा था कि उन्होंने पिता-पुत्र के आगमन की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं की। वे दोनों अपने अपने कमरों में बैठीं रहीं, पिता-पुत्र की ओर उन्होंने कण भर भी ध्यान नहीं दिया। पिता-पुत्र भी उस अन्धकार में धीरे धीरे आगे बढ़ने लगे। उनकी ऐसी दारुण दुर्दशा देख कर राधा से बैठा नहीं रहा गया, वह धीरे धीरे अपने स्थान से उठी, उसने दीपक जलाया और उस दीपक को लेकर उसने आँगन की दीवार के आले में रख दिया। उस सूचीभेद्य अन्धकार को दीपक के प्रकाश से परास्त होते हुये देख कर पिता-पुत्र कुछ शान्त हुये; पर फिर भी वह दुर्भावना लाला रामसनेहीमल के हृदय में बार बार उठती थी कि क्यों आज ऐसा हुआ? घड़ी भर रात बीतने पर भी आज घर में दीपक क्यों नहीं जलाया गया? उनके पुकारने पर भी आज किसी ने उत्तर क्यों नहीं दिया? भोजन तो दूर, आज किसी ने हाथ पैर धोने के लिये उन्हें पानी तक नहीं दिया! आख़िर बात क्या है? एक बार फिर पिता ने पुत्र से कहा—"बेटा! जाओ! बहू से पूछो, आज क्या बात है? आज अब तक भोजन इत्यादि का प्रबन्ध क्यों नहीं किया गया?" अब की बार पुत्र ने प्रतिवाद नहीं किया; दीपक के प्रकाश ने उसके भय को बहुत कुछ शान्त कर दिया था। पर फिर भी एक

अव्यक्त अशंका से उसका हृदय उद्विग्न हो रहा था; इसी लिये वह सशङ्कित भाव से अपनी युवती पत्नी के कमरे की ओर अग्रसर हुआ। लाला रामसनेहीमल भी शान्त नहीं थे, बार बार उनके कल्पना-मन्दिर में भार्या की प्रचण्ड मूर्ति उठ खड़ी होती थी। वे भी सन्त्रस्त हृदय से अपनी युवती पत्नी की कोठरी की ओर अग्रसर हुये। उन्होंने अपने हाथ में एक लालटैन ले ली थी। उनकी उस समय बुरी दशा थी; जैसे कोई विधि के अखण्डनीय विधान के वशीभूत होकर केशरी की कन्दरा में काँपते काँपते प्रवेश करता है; वैसे ही उन्होंने भी अपनी प्रचण्ड-पत्नी की कोठरी में पैर रखा। कोठरी में इससे पहले घोर अन्धकार था, परन्तु लालटैन के प्रकाश ने एक ही प्रहार में उस तिमिर-राशि को छिन्न-भिन्न कर दिया। सशङ्क दृष्टि से लाला रामसनेहीमल ने देखा कि चम्पा अर्धनग्न दशा में क्रोध से उद्दीप्त होकर भू-पृष्ट पर पड़ी है; सजीव सर्पिणी के समान वह सेठ जी को प्रतीत हुई। सेठ जी का कलेवर और अभ्यन्तर दोनों एक ही समय काँप उठे।

वहाँ का दृश्य था ही ऐसा भयंकर। चम्पा के केश-कलाप बिखरे हुये थे; आँखें रोते रोते लाल हो रही थीं; नासिका-पुटों से रोषमयी निश्वास निकल रही थी; शरीर पर आभूषण का चिह्न तक नहीं था; आधा शरीर अनावृत था; और चम्पा के शरीर के प्रत्येक परिमाणु से क्रोध की स्फुलिङ्ग-राशि विकीर्ण हो रही थी। वृद्ध-पति के कम्पित होकर अचेत हो जाने के लिये यह दृश्य पर्य्याप्त रूप से भयंकर था। राम-

सनेहीमल ने बड़े सयंम से अपने आपको संभाला था और इसके लिये हम उनकी प्रशंसा करते हैं। वृद्ध-पति वैसे ही अपनी युवती भार्य्या से सदा भयभीत और शङ्कित रहता है, युवती पत्नी के ललाट पर त्रिपुंड रेखा के निर्मित होते ही शुभ्र-केश पति का हृदय आगत आपत्ति की आशंका से कम्पायमान हो उठता है। व्याध को देख कर पिंजर बद्ध-पक्षी जैसे संत्रस्त हो जाता है, बधिक को देख कर खूटे से बँधी हुई गाय जैसे पीपल के पत्ते के समान काँपने लगती है, चाण्डाल को देख कर फाँसी के तख़्ते पर खड़ा हुआ अपराधी जैसे भय-विह्वल हो जाता है, अपनी युवती भार्य्या की रोष-मुद्रा को देख कर दन्त-विगलित, धवल-केश पति देवता की भी ठीक वैसी ही दशा हो जाती है। और आज की प्रचण्ड मुद्रा को देख कर तो रामसनेही-मल के प्राण तक काँप उठे—कैसा भयंकर दृश्य था! फटी हुई साड़ी ने उस परिपुष्ट शरीर को आधे से कम आवृत किया था, रोष और रुदन से नयन तप्त-अंगार के समान लाल हो रहे थे, ललाट पर यमराज के कोदण्ड के समान क्रोध-त्रिपुंड बना हुआ था, और अस्त व्यस्त धूल धूसरित केश-कलाप सजीव सरोष सर्पों के समान लहरा रहे थे। चम्पा का आज ठीक वैसा ही वेष था, जैसा यूनान साहित्य की उस मायाविनी का, जिसके शिर पर केश राशि के स्थान पर सजीव सर्प लीला करते थे! सेठ जी के पदार्पण करते ही चम्पा ने तीव्र स्वर में विलाप करना प्रारम्भ कर दिया, उसका वह विलाप भावी संकट की सूचना थी। सेठ जी स्तम्भित हो गये, उनकी वाणी

बन्द हो गई, उन्होंने लालटैन पृथ्वी पर रख दी और आप अवाक् होकर उस भयंकर-रस के मूर्तिमान् दृश्य को देख कर भयाकुल और किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये। उनसे कुछ कहते सुनते न बन पड़ा। चम्पा के विलाप का स्वर अपेक्षाकृत तीव्रतर होने लगा। सेठ जी के हृदय में भयाकुल भावों का जो संघर्षण हो रहा था, वह इस तीव्र रुदन से उसी भाँति और भी बढ़ गया, जिस प्रकार मृगराज की गर्जना सुन कर शृगाल-पुञ्ज संत्रस्त होकर इधर उधर विमूढ़-गति से पलायन करने लगता है। उस समय सेठ जी की भय-विह्वल मुद्रा को यदि कोई चञ्चल युवक देखता तो हँसी के मारे लोट-पोट हो जाता, यदि कोई गम्भीर-बुद्धि का मनुष्य देखता, तो उनकी उस दुःख-दशा पर अवश्य ही आन्तरिक सहानुभूति प्रकट करता। इसे कहते हैं दृष्टि-कोण की विषमता।

लगभग ३–४ मिनट तक उनकी यही दशा रही। पर सहसा उनके हृदय में यह भाव उठा कि अब और इसी भाँति निश्चेष्ट होकर उस दृश्य को देखते रहना मानो उस रोषमयी युवती-पत्नी की क्रोधाग्नि को और भी प्रदीप्त करना है। कुछ भी हो, चम्पा को शान्त तो करना ही होगा। इसी लिये सेठ जी धीरे धीरे उसके पास जाकर पृथ्वी पर बैठ गये, डरते डरते उन्होंने उसके अनावृत शरीर पर हाथ रखा और भय-संकुल होकर वे अपने दुपट्टे के अञ्चल से अपनी पत्नी की रोष-दीप्त आँखें पोछने लगे। चम्पा ने उनके इन कृत्यों में बाधा नहीं दी, तब तो सेठ जी का साहस कुछ बढ़ गया, उन्होंने विनम्र शब्दों में कहा—

"क्या हुआ ? आज तुम्हारी यह दशा क्यों हो रही है ? बताओ न ?"

इसके उत्तर में चम्पा ने अपने विलाप को तीव्र-तर कर दिया। अब की बार सेठ जी ने परिपुष्ठ-पत्नी के लम्बायमान कलेवर को उठाने की चेष्टा की। अवश्य ही यदि चम्पा उठना न चाहती और उनके इस कृत्य में कपट-भाव से स्वयँ सहायता न देती, तो उसे उठा कर बिठाना सेठ जी के लिये उसी प्रकार असम्भव था जैसे सीता-स्वयम्बर के लिये आये हुये नरेशों के लिये शिव-धनु का उठाना एक बार ही सामर्थ्य से परे था। इस विचारे जर्जर वृद्ध के शरीर में इतना बल कहाँ जो वह पुष्ठ-कलेवरा युवती को पृथ्वी पर से उठा लेता। पर अपनी कूट-नीति की सिद्धि के लिये उस समय वृद्ध की चेष्टा में कपट भाव से सहायता देना ही चम्पा को अभीष्ठ था। वह धीरे धीरे उनके उठाने पर उठ बैठी। सेठ जी ने फिर अपने डुपट्टे से उसके आँसू पोछे। उन्होंने बड़े आकुल-विनम्र शब्दों में कहा—"कुछ बताओ भी, बात क्या है ? मेरी तो बुद्धि हैरान हो रही है। चुप रहो, तुम्हें मेरे शिर की शपथ, अब मत रोओ। बात तो बताओ, जिससे उसका प्रतिकार किया जाय।"

क्रुद्ध सर्पिणी की भाँति फुफकार कर चम्पा ने कहा—"हुआ है मेरा सिर ! हाय ! तुम्हारे साथ मेरा विवाह क्या हुआ, मेरे भाग्य फूट गये। इससे तो मैं जन्म भर कारी रहती तो अच्छा था। हाय ! मेरे कपाल में ऐसी दुर्दशा बदी थी ?"

इतना कह कर चम्पा ने बड़े वेग से अपने कपाल को अपने

हाथों से पीटना प्रारम्भ कर दिया। अब तो सेठ जी और भी घबड़ा उठे। सेठ जी ने उसके दोनों हाथ पकड़ कर उसे रोकने की चेष्टा की। उसे रोकने में एकाध हाथ सेठ जी के भी सिर पर लग गया। किसी प्रकार उसे शान्त करके सेठ जी ने कहा—"बताओगी भी, बात क्या है? मैंने तो आज तक कोई ऐसी बात नहीं की जो तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध हो?"

चम्पा ने अब की वार गर्ज कर के कहा—"पर उसने—तुम्हारे दुलारे लड़के की उस बहू ने तो आज मेरी सब तरह से दुर्दशा कर डाला। देखते नहीं हो, कैसी साँड़ सी पली है। आज उसने मुझे जी भर के कोसा, मन भर के गाली दीं और जब मैंने मना किया तो मेरे शिर के बाल पकड़ कर मुझे आँगन भर में घसीट डाला। मेरे मुँह पर थूक दिया और मेरे पेट में लातें मारीं! हाय! इस दुर्दशा से तो मर जाना ही अच्छा था। इससे तो मैं विवाह होते ही विधवा हो गई होती, तो मुझे सन्तोष तो आता। पर तुम्हारे जीते जी मेरी यह दुर्दशा हो—हाय राम!"

चम्पा फिर हाहाकार कर उठी। सेठ जी ने फिर उसके आँसुओं को अपने दुपट्टे के अञ्चल से पोंछा। अपनी भार्य्या को शान्त करने के लिये उन्होंने रोष भरे शब्दों में कहा—"आह! बहू ने तुम्हारी ऐसी दुर्दशा की! बहू ने? अरे! क्या उसका इतना साहस हो गया? देखने में तो बड़ी सीधी मालूम होती है। पर उसके पेट में ऐसे ऐसे अवगुण भरे हुये हैं।"

चम्पा ने सिसकते हुये कहा—"हाँ! उसी राँड़ ने आज मेरी

ऐसी दशा कर डाली। वह पूरी डुष्टा है—वह औरत नहीं, राक्षसिनी है। उसकी नस नस में शैतानी भरी हुई है।"

सेठजी ने और भी अधिक क्रोध प्रकट करते हुये कहा—"मैं क्या जानता था वह इतनी बड़ी पिशाचिन है। आज देखो, कैसा ठीक करता हूँ? आज उसकी बेतों से खाल न उधेड़ दूँ, तो मुझ से कहना! पर यह सब हुआ क्यों? क्या कुछ कहा-सुनी हो गई थी?"

चम्पा ने हिचकी भरते भरते कहा—"आज सायंकाल के समय मैंने उसे कई बार पुकारा, पर उसने आवाज़ नहीं दी। जब मैंने जाकर देखा, तो वह दरवाजे पर खड़ी खड़ी गाँव के जवानों से सैनें कर रही थी। मैंने कहा—"बहू, चल घर में, इस तरह आदमियों के सामने खड़ी होना ठीक नहीं। बस फिर क्या था, लगी कोसने, लगी गालियाँ देने। मैंने मना किया तो बस मुझे लिपट गई; जो कुछ उसके मन में आया, सो किया।"

इतना कह कर चम्पा फिर एक बार उच्च स्वर से विलाप कर उठी—सेठजी ने अब की बार उसे खींच कर हृदय से लगा लिया, डुपट्टे से फिर उसके आँसू पोंछे। और कोई समय होता तो चाहे चम्पा वृद्ध-पति के इस आलिङ्गन का अनादर भी कर देती पर इस समय तो उसे अपनी अभीष्ट-सिद्ध करनी थी। वह और भी पास खिसक गई। वृद्ध-पति उसके उस कपट-अनुराग को देख कर विमुग्ध हो गये और राधा के प्रति उनका क्रोध बहुत बढ़ गया। चम्पा ने आँसुओं से रुँधे हुये स्वर में कहा—"मुझ से यह सब नहीं सहा जायगा। मेरे शरीर के जोड़

जोड़ में भारी दर्द हो रहा है। हाय! वह तो किसी दिन मेरे प्राण तक ले लेगी। न! अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी। मुझे मेरे पिता के घर पहुँचा दो।"

सेठजी—"उसकी क्या हिम्मत है, जो आज से तेरी ओर आँख भी उठा सके। मैं उसकी आँखें निकाल लूँगा। आज जो उसने तेरी दुर्दशा की है, तू मेरे सामने उससे चौगुनी उसकी दुर्दशा कर लीजो। मैं आज उसकी बुरी गति बना दूँगा। हाय! मुझे क्या मालूम था वह ऐसी कुलच्छिणी है। उठो! हाथ-मुँह धोओ! मैं अभी उसे बुला कर ठीक करता हूँ।"

चम्पा—"लालचन्द कहाँ है?"

सेठजी—"उसे मैंने बहू के पास भेजा है। देखूँ वह क्या कहती है?"

चम्पा—"वह क्या कहेगी? वह पक्की चुड़ैल है। मुझे ही थोड़े, वह तुम्हें भी गाली देती थी। कहती थी कि अगर ससुर जी ने मुझसे कुछ कहा, तो मैं उनकी भी बुरी गति बनाऊँगी। वह तो पूरी पिशाचिनी है।"

सेठ जी—"हाँ! यह बात! इतना साहस?"

चम्पा—"और क्या? उसकी आँखों में शील थोड़े ही रहा है? बैठे क्या हो? बुलाओ न लालचन्द को। अच्छी तरह दण्ड दिये बिना वह ठीक नहीं होगी।"

सेठजी—"अभी लो। तुम तो सावधान हो जाओ। चलो! आँगन में चलें।"

चम्पा उठी। धीरे धीरे उसने अपने वस्त्र ठीक किये। अना-

वृत्त शरीर को अच्छी तरह आवृत्त किया। पर आज वह जो कुछ करती थी, उस सब के द्वारा वह एक प्रकार का ऐसा भाव व्यक्त करती थी जो वृद्ध-पति की विमुग्धता को बढ़ाता ही जाता था। वे दोनों—युवती-पत्नी और उसका एकान्त अनुगत वृद्ध पति—असहाया पुत्र-वधू को दण्ड देने के लिये चले। हाय रे वृद्ध-पति! तू आज कितना पतित हो गया है! तेरी बुद्धि आज कितनी भ्रष्ट हो गई है? सत्य और असत्य का, सम्भव और असम्भव का, उचित और अनुचित का रत्ती भर भी विचार न करके, आज तू, एक मात्र अपनी युवती पत्नी के कहने से, उसकी प्रसन्नता की प्राप्ति के लिये, अपने पुत्र की असहाया वधू को दण्ड देने के लिये संकोच-शून्य होकर जा रहा है। धिक्कार है तुझे और तेरी वासना को और तेरी संकोच-शून्य युवती को रे अन्ध वृद्ध! रे युवती-पत्नी के निर्बल शिथिल अनुचर! तू जाकर यमुना के अगाध सलिल में डूब क्यों नहीं मरता है?

* * * * * * * * *

आँगन में दीपक रख कर राधा शीघ्रता से अपने कमरे को लौट गई थी। वहाँ पर फिर उसने अपना भी लेम्प जला लिया था। उसे कमरे में आये कठिनता से २–३ मिनिट हुये होंगे, कि पीछे से लालचन्द ने भी वहाँ पर पदार्पण किया। हम पहिले ही कह चुके हैं कि पिता के आदेश को अङ्गीकार करके लालचन्द पत्नी के पास गया तो अवश्य था, पर उसका हृदय सशंक और उद्विग्न था। पिता वृद्ध होने के कारण, जिस प्रकार अपनी पत्नी से सदा डरते रहते थे, लालचन्द भी बालक होने के कारण उसी

प्रकार अपनी पूर्ण-यौवन-पत्नी से दूर ही रहना पसन्द करता था। महीने में कभी एकाध दिन एकान्त में उन दोनों की बातचीत हो जाती थी, पर उस बातचीत का विषय विमल दाम्पत्य-प्रेम नहीं होता है, होता था कोई साधारण लौकिक विषय! एक तो लालचन्द वैसे ही लज्जा और संकोच के कारण अपनी पत्नी के साथ बहुत कम वार्तालाप करता था; दूसरे उसकी विमाता भी उसे राधा से दूर ही रखने के लिये सदा सचेष्ट रहती थी। इसमें सन्देह नहीं कि समय समय पर लालचन्द का हृदय राधा के साथ बातचीत करने को आकुल हो उठता था, पर उसमें इतना साहस कहाँ था कि वह अपने मन की अभिलाषा को पूरा कर सके। जब कभी चम्पा लालचन्द को राधा से बातचीत करता हुआ देख लेती, तभी उस पर अप्रसन्न होती; झूठमूठ उस पर किसी प्रकार का अपराध लगा कर उसे पिता के हाथों से दण्ड दिलाती थी। इसी लिये बिचारा बालक लालचन्द, समय समय पर आन्तरिक अनुराग के प्रस्फुटित होने पर भी, अपनी अनिन्द्य सुन्दरी पत्नी के मधुर सम्भाषण से वञ्चित रहता था। रात को भी लालचन्द अपनी विमाता के कमरे ही में शयन करता था। उसके पिता भी वहीं पर सोते थे। और राधा, राधा बिचारी अकेली अपने शून्य कक्ष में पड़ी रहती थी। विषादमय भाव, चिन्तामयी स्मृति और व्यथामयी वासना इन तीनों को लेकर वह कभी-कभी सारी रात निद्रा विहीन रह कर व्यतीत कर देती थी। लालचन्द अवश्य ही बालक होने के कारण जल्दी सो जाता था। पर जब कभी उसकी

आँख सहसा खुल जाती, तब वह चुपचाप अपने बिस्तर पर पड़े पड़े अपने वृद्ध पिता और युवती विमाता के रहस्यालाप एवँ रस-रंग को देखा करता था। उस समय उसके हृदय में भी स्वतः ही एक तीव्र वासना जाग्रत हो जाती थी। वह भी किसी अज्ञेय प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अपनी परम सुन्दरी भार्य्या के संग-सुख के लिये आकुल हो उठता था। यद्यपि वह अभी कैशोर-सीमा के इसी ओर था और अभी उसने यौवन-वन में प्रवेश नहीं किया था पर पिता और विमाता के उस उच्छृंखल रस-रंग और रहस्यालाप को देख और सुन कर वह वैवाहिक जीवन के आनन्द का रहस्य थोड़े बहुत अंश में जान गया था। पर फिर भी वह द्वादश वर्ष का कोमल किशोर था! शरीर भी उसका दुर्बल था; उदार विमाता का आतङ्क, तो उसे फिर उठाने का अवसर ही नहीं देता था। इसी लिये वह स्वयँ उस रसरंग को उपभोग करने की प्रबल इच्छा रखते हुये भी राधा के पास आ-जा नहीं सकता था। आज पिता की आज्ञा ही से उसे अपनी पत्नी के कमरे में जाने का अवसर मिला अवश्य, पर आज की भीषण परिस्थिति ने उसके हृदय के समस्त उल्लास और रसरंग को तिरोहित कर दिया था। वह आज भय और आशंका से आकुल था। और कोई समय होता, तो कदाचित् उसका हृदय आनन्द और अनुराग से परिपूर्ण भी हो जाता, पर आज तो उन कोमल प्रवृत्तियों के स्थान पर पैशाचिक भावों का ताण्डव-नृत्य हो रहा था। हम फिर कहेंगे लालचन्द फिर भी बालक ही था!

पर फिर भी लालचन्द इतना निर्बोध नहीं था कि परिस्थिति के रहस्य को बिल्कुल न जान पावे। घर में दीपक न जलने का कारण, भोजनालय में भोजन के अभाव का कारण, एवँ विमाता के कोठरी में पड़े रहने का कारण—बालक लालचन्द कुछ कुछ समझ गया था। उसने अनेक बार देखा था कि उसकी विमाता निरर्थक ही उसकी भार्य्या पर असन्तुष्ट और रुष्ट हो जाती थी और बिना बात के राधा को कुवाच्य और अवाच्य सुनाया करती थी। झूठा दोष लगा कर अनेक बार विमाता ने उसकी भार्य्या को उसके पिता के द्वारा भी बुरा-भला कहलाया था—यह बात भी लालचन्द से छिपी नहीं थी। बालक लालचन्द के हृदय में इन बातों से वेदना न होती हो, सो बात नहीं थी। पर वह डरता था; अशक्त और भीरु होने के कारण वह उस अन्याय का प्रतिवाद नहीं कर सकता था। वह राधा की तेजस्विनी प्रकृति से भी परिचित था। उसने अनेक बार राधा के फड़कते हुये कोमल अधर और रोष-प्रदीप्त लोचनों को देखा था। वह जानता था कि यद्यपि उसकी भार्य्या अपूर्व संयम के द्वारा सौतेली माँ का किया हुआ अपमान और अनादर सह लेती थी; पर उसका हृदय अवश्य ही रोष और विरोध की तीव्र ज्वाला से विक्षुब्ध हो उठता था। आज की परिस्थिति पर विचार करके उसने जान लिया था कि आज उसकी पत्नी और विमाता में कलह हुई है; साधारण कलह नहीं, किन्तु भीषण संग्राम हुआ है। इसी लिये बालक लालचन्द इस युद्ध के परिणाम की कल्पना करके और भी उद्विग्न हो रहा था। वह जानता था कि उसके पिता भी

उसकी विमाता का पक्ष लेकर थोड़ी ही देर में उसकी स्त्री पर कुपित होंगे। साथ ही साथ वह यह भी जानता था कि उसकी भार्य्या भी बड़ी तेजस्विनी है; एक बार यदि वह क्रोध के आवेश में बिगड़ उठी, तो फिर उसे शान्त करना कठिन हो जायगा। इन्हीं सब भावनाओं से उद्विग्न होकर बालक लालचन्द ने अपनी सुन्दरी पत्नी के कमरे में पदार्पण किया। उस समय एकान्त होने के कारण राधा घूँघट काढ़े हुये नहीं थी। अपने बाल-पति के आने पर भी उसने अपना प्रदीप्त मुख-मण्डल आवरण से आवृत नहीं किया। लालचन्द ने अवाक् होकर देखा कि राधा के उस सुन्दर बदन-मण्डल का प्रत्येक परिमाणु रोष का सजीव स्फुलिंग बना हुआ है। बालक ठिठक कर खड़ा हो गया। अमावस्या की घोर कालिमामयी रात्रि में सहसा प्रज्वलित चिता के आलोक के पास पहुँच कर भीरु पुरुष की जो दशा हो जाती है, बालक लालचन्द की भी वैसी ही दशा हो गई। विस्फारित लोचनों से वह अपनी पत्नी के उन रोष-रक्त लोचनों को देखने लगा। भय-संकुल मुद्रा को धारण करके बालक लालचन्द क्रोधोन्मादिनी पत्नी को एक टक देखने लगा।

राधा ने जब अपने निर्बल बाल-पति की वह भयाकुल मुद्रा देखी, तब उसके हृदय में ग्लानि और विक्षोभ की मात्रा और भी अधिक बढ़ गई। राधा के स्वभाव का चित्रण करते समय हम कह चुके हैं कि राधा का हृदय विलास-लालसा की रंग-भूमि थी। ऐसी वासनामयी स्त्रियों को परिपुष्ट कलेवर वीर युवक का आलिङ्गन ही परितुष्ट और शान्त कर सकता है। दुर्भाग्य से यदि

उनका पति ऐसा नहीं होता है, तो वह उसकी पूजा करना तो दूर, उल्टा उसे और घृणा करने लगती है। राधा भी अपने बाल-पति की ओर इसी घृणा भाव को धारण करती थी। राधा का पति निर्बल रोगी बालक था, वह सौतेली सास और ससुर के अत्याचार से उसकी रक्षा नहीं कर सकता था, आकुल आलिङ्गन और उन्मत्त चुम्बन के द्वारा वह उसकी प्रदीप्त वासना को परि-शान्त नहीं कर सकता था—इसी लिये राधा की दृष्टि में वह गली के कुत्ते से भी अधिक घृणा का पात्र था। यौवन के उस उद्दाम वेग ने राधा के उस विवेक को अन्धा बना दिया था। इसी लिये वह इस सिद्धान्त के सौन्दर्य्य का दर्शन तक नहीं कर पाती थी कि पति चाहे रोगी हो चाहे वृद्ध, कोढ़ी हो चाहे बालक, बलवान हो चाहे शिथिल, हृदय की उन्मत्त वासना को शान्त करने में सक्षम हो चाहे अक्षम, पर वह धर्म और समाज की दृष्टि में उसका पति होने के कारण, उसका आराध्य और पूज्य है। राधा ने इस पवित्र भावना को अपने हृदय में कभी स्थान नहीं दिया; सच पूछिये तो उसके विलास प्रिय मन-मन्दिर में इस पूजा भाव के लिये स्थान था ही नहीं। इसी लिये, जिस बालक-पति की निर्बल देह को देख कर उसके हृदय में दया का भाव जागृत होना चाहिये था, जिस मातृ-प्रेम से वञ्चित, विमाता के अत्याचार से प्रपीड़ित, एवँ पिता के वात्सल्य से रहित, रोगी पति की बुरी दशा को देख कर उसके मन में सहानुभूति का स्रोत उमड़ पड़ना चाहिये था एवँ धर्म और समाज से अनु-मोदित होने के कारण जिसके पवित्र पाद पद्म में श्रद्धा और भक्ति

के साथ उसे अपने सर्वस्व की सुमनाञ्जलि समर्पित करनी चाहिये थी उसे, उस अपने शिथिल शरीर इष्ट-देव को देख कर राधा के हृदय में घृणा का भाव हाहाकार कर उठता था! यह दृश्य भले ही अत्यन्त मर्म-स्पर्शी और दुखमय हो, पर विश्व की रंगभूमि पर इस प्रकार के उदाहरण विरल नहीं है। इस मत्सर-मय संसार में ऐसे अभिनय नित्य ही हमारी स्थूल लोचनों के सम्मुख अभिनीत होते हैं, यह बात दूसरी है कि हम देख कर भी अन्धे बन जाँय। स्वार्थ भला हो या बुरा, पर मानव-व्यापार में इसका प्रवेश-नियम-रूप से है, अपवाद रूप से नहीं। सच पूछिये तो संसार के अनेक दुखों का कारण यही है कि हम आदर्श की झोंक में स्वार्थ को बिलकुल ही विस्मृत कर देते हैं। आदर्श के सुन्दर सौन्दर्य्य को देख कर हम 'वास्तव' में कुत्सित स्वरूप को पुण्यमयी कल्पना के आवेश में भूल भले ही जाँय; पर इस स्वार्थ-संकुल संसार के अधिकांश व्यापारों में स्वार्थ-मय भावों की प्रेरणा अनिवार्य रूप से परिलक्षित होती है। सच पूछिये तो स्वार्थ की सम्पूर्ण सिद्धि ही से कभी कभी निस्वार्थ प्रेम की उत्पत्ति दिखाई पड़ती है। सुन्दर परिपुष्ट युवक-पति और सुन्दरी युवती पत्नी जब अपने उस वसन्त-यौवन के मदमत्त उल्लास में परस्पर आलिङ्गन करते हैं, उस समय उनका हृदय एक अपूर्व प्रेम और आनन्द से भर जाता है। युवक-युवती परस्पर दृढ़ भाव से सदा के लिये सम्बद्ध हो जाते हैं। उनके उस परस्पर सम्मिलन से निस्वार्थ प्रेम की उत्पत्ति होती है। पर क्या वृद्ध और युवती के सम्मिलन

का भी ऐसा ही मंगलमय परिणाम होता है ? नहीं। इसी लिये, इस संसार की रंगभूमि में स्वार्थ का वहिष्कार एकान्त असम्भव-व्यापार है। स्वार्थ के प्रावल्य को दृष्टिपात न करने के कारण ही आज हमारी यह दीन दशा है; इसी कारण हमारे समाज की यह अस्त-व्यस्त कुव्यवस्था है। इसी लिये हम फिर कहेंगे कि स्वार्थ 'कु' हो या 'सु', पर इस विशाल ब्रह्माण्ड के प्रत्येक परिमाणु में उसका निवास है। आकर्षण और उच्छेदन—इसी स्वार्थ की समुचित अथवा अनुचित आयोजना के सम अथवा विषम परिणाम हैं। यह बात एकान्त सत्य, एकान्त सुन्दर एवँ एकान्त शिव है। अस्तु।

राधा ने ही शान्ति भंग की—अवज्ञा के साथ उसने पूछा—"कहिये जी! आज कैसे इधर भूल पड़े।"

लालचन्द—"लाला जी ने मुझे भेजा है। उन्होंने पूछा है कि आज यह क्या बात थी कि घड़ी भर रात बीतने पर भी दीपक नहीं जलाया गया और न अब तक कुछ भोजन ही का प्रबन्ध किया गया।"

राधा—"लाला जी ने यह बात मुझ से ही क्यों पूछी है? अपनी दुलारी रानी जी से पूँछ लेते, सब मालूम हो जाता।"

लालचन्द—"वे तो माँ के ही पास गये हैं। मुझे तुम्हारे पास पूछने को भेजा है।"

राधा—"पर मेरा बताना न बताना एक ही सी है। लाला जी जब अपनी रानी जी की ओर से थोड़ी देर में मुझे मारने पीटने

को आवेगें, तब उस समय मेरी रक्षा कौन करेगा ? तब मैं क्यों कहूँ ? सारी कथा को कह कर व्यर्थ समय नष्ट करना है ?"

लाल०—"तो भी मुझे मालूम तो हो बात क्या है ?"

राधा—"पर क्या करेंगे आप जान करके ? जब थोड़ी ही देर में लाला जी और रानी जी सिंह-सिंहिनी के समान गरजते हुये मेरे ऊपर आक्रमण करने को आवेंगे, उस समय तुम क्या मेरी रक्षा करोगे ? उस समय तो आप भी एक ओर दुबुक जाँयगे। तब मैं क्यों बताऊँ ? तुम्हें बताना और दीवारों को कह कर सुनाना—एक ही बात है। इससे कुछ लाभ नहीं है।

लाल०—"तब क्या करूँ ? तुम्हारी क्या यह इच्छा है कि मैं लाला जी से और माँ जी से लड़ाई लड़ूँ।

राधा ने व्यंग्य की हँसी हँस कर कहा—"नहीं जी, यह कौन कहता है ? आप क्यों लड़ने लगे ! और आप क्या फिर लड़ने योग्य हैं ? दुबला पतला शरीर है; कहीं उन्होंने धक्का दे दिया, तो व्यर्थ में आप के कोमल शरीर में चोट लग जायगी। नहीं जी ! मेरे लिये आपका लड़ना एकान्त अनुचित है। आप पधारिये ! मैं स्वयँ अपनी रक्षा कर लूँगी।

इस तीव्र व्यंग्य को सुन कर लालचन्द्र के हृदय को बड़ी वेदना हुई, पर उसने संयम पूर्वक अपने भावों को दमन करके कहा—"क्या, क्या ! तुम लालाजी से भी लड़ोगी ?

राधा ने तीव्र स्वर में कहा—"नहीं, तो क्या चुपचाप जूते खाऊँगी ? बहुत सह लिया ; अब नहीं सहूँगी। जाओ, कह देना मुझ से यदि कोई कुछ कहेगा तो उसका परिणाम बुरा होगा।

मैं तो अब सब कुछ करने के लिये तैयार हूँ। समझते हैं आप ?"

लालचन्द—"पर·········?

राधा—"पर और किन्तु कुछ नहीं। मेरी रक्षा करने वाला जब कोई नहीं है, तब मैं ख़ुद ही अपनी रक्षा कर लूँगी। बहुत दिनों तक पिशाचिनी का अत्याचार सहा—अब नहीं सहूँगी। आवश्यकता होने पर उसका और अपना प्राण एक कर दूँगी। धैर्य्य और सन्तोष की भी कोई सीमा है!

लाल०—"धीरे धीरे! लाला जी सुन लेंगे।"

राधा (व्यग्य-पूर्वक)—हाँ हाँ! भागिये। कहीं उन्होंने सुन लिया तो मेरी जो दशा होगी, सो तो होगी ही, पर आपके इन कोमल कानों की ख़ैर नहीं है। अच्छी बात है—जाइये, धन्य है मेरे भाग्य को! आप—आप मेरे पति हैं, इष्टदेव हैं; आप—आप जिन्हें अँधेरे में जाते डर लगता है, जो अत्याचार के हाथों से अपनी भार्य्या की रक्षा नहीं कर सकते हैं। आह! जगदीश! यही तुम्हारा न्याय है? कहाँ मैं, कहाँ यह?

इतना कह कर राधा ने घृणा-पूर्वक दूसरी ओर मुँह फेर लिया, उस समय उसके हृदय में तुमुल-संग्राम हो रहा था। रोष, क्रोध, क्षोभ, ग्लानि इत्यादि हाहाकार कर रहे थे। अभी तक राधा की आँखों में आँसू नहीं आये थे। क्योंकि वह आज के युद्ध से विजयमाल धारण करके लौटी थी। परन्तु इस समय वह अपने आपको न रोक सकी। अब उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उस आत्म-ग्लानि की घनघोर घटा से धारा-

धाही वर्षा होने लगी और बीच में, रोष प्रवृत्ति, सौदामिनी की भाँति चमक उठती थी।

ठीक उसी समय वृद्ध सेठ ने बाहर आँगन में से पुकारा—"लालचन्द! लालचन्द!"

लालचन्द जल्दी से बाहर चला गया।

राधा भी दूसरे युद्ध के लिये प्रस्तुत हुई। अञ्चल से उसने अपने आँसू पोंछ डाले। नये आँसुओं को उसने आत्म-संयम के द्वारा बरबस रोक दिया।

एक बार जब कोई अपने हृदय में दृढ़ निश्चय कर लेता है कि "कार्य्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि", उस समय उसके प्रचण्ड आक्रमण के सामने शिव और शैतान—दोनों समझ-बूझ कर खड़े होते हैं।

अखण्ड संकल्प ही प्रचण्ड अनुष्ठान का प्रथम सोपान है।

अठारहवाँ परिच्छेद

दावानल

पिता की पुकार सुनते ही लालचन्द शीघ्रता से अपनी कुपित पत्नी के कमरे से बाहर निकल कर आँगन की ओर अग्रसर हुआ। चलते समय उसके मन में अवश्य यह इच्छा उत्पन्न हुई थी कि वह अपनी क्रोध से भरी हुई पत्नी से यह विनीत अनुरोध करे कि वह अपने रोष को दबा कर यदि इस कलह से विरत हो सके, तो अच्छा है। वह जानता था कि इस भीषण कलह में उस घर की शान्ति विलीन हो जायगी; इसी लिये पत्नी की भर्त्सना और व्यंग्य वाक्यावली सुन कर भी वह उससे यही आकुल विनय करना चाहता था, परन्तु कुछ तो स्वाभाविक संकोच ने और कुछ पिता की तीव्र पुकार ने उसे अपनी इस सदिच्छा को प्रकट करने का अवसर नहीं दिया। यह तो हम कह नहीं सकते कि सुन्दरी राधा अपने बालपति की उस व्याकुल विनय को स्वीकार करती या न करती, पर यह हम निश्चय रूप से कह सकते हैं कि पति की विनीत प्रार्थना एक बार ही व्यर्थ नहीं जाती। सुन्दरी राधा फिर

भी हिन्दू नारी थी; कितना ही कुछ हो, उसे पति की इच्छा को कुछ न कुछ महत्त्व तो देना ही पड़ता। पर भावी प्रबल थी। उस कुटुम्ब के भाग्य-गगन पर धीरे धीरे मेघ का एक टुकड़ा उठ रहा था; उसका उठना अनिवार्य था, तब फिर लालचन्द को वैसा अवसर कैसे मिलता?

बालक होते हुये भी लालचन्द बुद्धि का इतना हीन नहीं था कि वह अपनी युवती पत्नी की उन तीव्र बातों का प्रकृत-मर्म एक बार ही न समझ पाता। बुद्धि-विहीन पशु भी प्रेम और क्रोध को समझ लेता है; लालचन्द तो फिर भी मानव-पुत्र था। दूसरी बात यह थी कि जब से विमाता ने घर में पैर रखा था, तब से स्वयँ उसका जीवन भी वैसा रसमय नहीं रहा था। शिशुकाल ही में वह मातृ प्रेम से वञ्चित हो गया था; परन्तु पिता ने कभी उस प्रेम का अभाव उसे अनुभव नहीं करने दिया। किन्तु अब विमाता के आते ही दोनों ओर से उसका जीवन क्लेशमय हो उठा। एक तो विमाता उसके साथ बुरा व्यवहार करती, दूसरे पिता भी अब उस पर पहिले के समान स्नेह नहीं करते थे, कभी कभी क्या, अधिकांश समय पिता विमाता के कहने से अकारण ही उस पर रुष्ट और असन्तुष्ट होते और अनेक अवसरों पर उसे दण्ड भी मिलता। पहिले की भाँति अब उसकी कोई चिन्ता नहीं करता था, पहिले तो वह पिता ही के पास रहता। समय पर स्वयँ पिता उसे भोजन, स्नान इत्यादि कराते, पर अब तो विमाता के ऊपर यह भार था और वह तो उसकी ओर से एक बार ही उदासीन थी। भोजन

माँगता, मिल जाता और सो भी मन का नहीं; मैले वस्त्र हो जाने पर भी कोई नहीं बदलवाता; स्नान करता तो आप से; रहा पठन-पाठन, तो पिता ही जो कुछ बता देते सो पढ़ लेता। पिताजी के। विमाता और व्यवसाय से छुट्टी नहीं मिलती थी। इधर जब से उसकी स्त्री आ गई थी तब से तो नित्य की कलह और हाय-हाय में उसका जीवन और भी नीरस हो गया था। इस प्रकार उसके कोमल किशोर जीवन पर नित्य ही कोई न कोई आपत्ति आती रहती। एक तो वैसे ही शरीर का कृश था; इन नित्य के अनादरों और प्रहारों ने और भी उसका स्वास्थ्य बिगाड़ दिया था। परन्तु एक बात अवश्य हो गई थी कि इस छोटी अवस्था ही में वह संसार के स्वरूप के। कुछ कुछ पहिचानने लगा था। उसकी अवस्था के लाड़ में पले हुये बालक विश्व के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। परन्तु बालक लालचन्द में प्रति दिन की विपत्ति ने एक प्रकार की विशेष बुद्धि उत्पन्न कर दी थी। वह गम्भीर हो गया था, उसके मुख का वह कैशोर चापल्य जाता रहा था; सच पूछिये तो वह दार्शनिक बालक बन गया था। उसने चुपचाप संयम पूर्वक अनादर, अपमान और आपत्ति को सहन करना सीख लिया था। माता के प्रेम से शिशुकाल ही में वञ्चित होकर पिता के प्रेम को कैशोर काल में खोकर, विमाता के नियत अत्याचार को सह कर, एवँ युवती पत्नी के मूक-अनादर को मौन भाव से वहन करके, बालक लालचन्द यौवन-वन में प्रवेश करने से पहिले ही, मत्सरमय जगत के स्वार्थमय वीभत्स स्वरूप को

देख कर, विश्व से घृणा करने लग गया था। विपत्ति ने उसके जीवन को भले ही विरस कर दिया हो, पर उसने उसे बुद्धिमान अवश्य बना दिया था। उसका शरीर दुर्बल था पर मस्तिष्क प्रबल था; उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था पर विवेक विशेष विकसित था। इसी लिये पत्नी की तीव्र भर्त्सना और व्यंग्यमयी वार्ताओं का प्रकृत अर्थ उसने भली भाँति जान लिया था। उससे उसका बाल-हृदय अत्यन्त व्यथित हो उठा था और उसके मन-मन्दिर में ग्लानि और विक्षोभ दारुण हाहाकार कर उठे थे। पर वह विवश था; उसका प्रतिकार उसके सामर्थ्य से परे था। वह बेचारा १३ वर्ष का बालक कर ही क्या सकता था? उसकी दशा तो वास्तव में बड़ी दयनीय थी; वह कोमल किशोर क्या इतने भयंकर अत्याचार और इतने तीव्र अनादर का पात्र होने योग्य था? कोमल जुही का फूल क्या निठुर हाथों से मल डालने की चीज़ है? बसन्त का प्रथम गुलाब क्या पैरों से दल डालने का पदार्थ है? कवि की पहिली कल्पना क्या कठोर पाण्डित्य के आड़ोलित करने की वस्तु है? पर किया क्या जाय? नियति का नियम तो अनुल्लंघनीय है। कहाँ तो उसका कैशोर जीवन और कहाँ इतने दारुण प्रहार? उधर भगवान् की भी उस पर पूरी पूरी कृपा नहीं थी; शरीर उसका था चिर-रोगी। इन्हीं सब बातों के कारण बालक लालचन्द का हृदय अत्यन्त दुखी रहता था। आज की घटना ने तो उसके हृदय को और भी व्यथित और व्याकुल कर दिया था। उसके मन में यह भावना अच्छी तरह से बद्धमूल हो गई थी कि जगदीश्वर ने उसे इस अशान्ति,

में निमित्त रूप से नियोजित किया था। इसी लिये उसका विचार-मण्डल ग्लानि की अग्नि ज्वाला में भस्मीभूत होने लगा था। पर वह कर ही क्या सकता था? पत्नी का पक्ष लेकर पिता और माता से विरोध करना उसकी शक्ति के परे था; तब चुपचाप उस अशान्ति-व्यापार में योग देने के अतिरिक्त और उसके पास उपाय ही क्या था?

आँगन में पहुँचते ही उसने देखा कि उसकी विमाता और पिता दोनों रोष और अत्याचार के मूर्तिमान् स्वरूप की भाँति खड़े हैं। उन दोनों के मुखों पर पैशाचिक संकल्प परिलक्षित हो रहा था, दीपक के उस क्षीण प्रकाश में उनके वदन-मण्डलों पर छाई हुई वीभत्स कालिमा की छाया अत्यन्त भयंकर प्रतीत हो रही थी। पिता और माता के इस रौद्र रूप को देख कर बालक लाल-चन्द का हृदय एक बार ही भय से काँप उठा, भावी संग्राम की भीषणता का चित्र उसकी आँखों के सामने नृत्य करने लगा! वह धीरे धीरे आकर पिता के पार्श्व देश में खड़ा हो गया। आँगन में जो सूचीभेद्य अन्धकार छाया हुआ था, उसका कुछ अंश ही, और वह भी बहुत थोड़े परिमाण में, दीपक के क्षीण प्रकाश से आलोकित हुआ था—शेष भाग में वैसी ही भीषण तिमिर-राशि आच्छादित थी। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं उस प्रकाश की किरणें उन दोनों के मुख पर पड़ रही थीं और उनके शैतानी भावों को प्रकाशित कर रही थी। उस पैशाचिक दृश्य को देख कर बालक लालचन्द भय से काँपने लगा था। परन्तु सौभाग्य से जहाँ पर वह खड़ा था, वहाँ दीपक का प्रकाश नहीं पहुँचता था,

इसी लिये उसकी उस आकुल मुद्रा और स्फुट-कम्प को उसके पिता-माता ने लक्ष नहीं कर पाया था। बालक लालचन्द ने इसे भी अपने सौभाग्य का मधुर विधान ही समझा। कहने की आवश्यकता नहीं कि बालक लालचन्द पिता और विमाता से वैसे ही भयभीत रहता था जैसे पापी मृत्यु से डरता है।

लालचन्द को देखते ही उसकी विमाता आहत पिशाचिनी की भाँति चीत्कार कर उठी—"क्यों रे लालचन्द! कहाँ है वह डाइन? क्यों, अब कमरे में घुसी घुसी क्या कर रही है? क्यों, लाया नहीं तू? अब देखूँ, वह मुझे कैसे कोसती है? बुला तो देखूँ, अब कैसे मुझ पर हाथ चलाती है। आज उसकी जीभ निकाल लूँगी, उसके हाथ-पाँव तोड़ डालूँगी। इस राँड ने समझा क्या है?"

पिता ने भी उसी भयंकर स्वर में कहा—"हाँ, हाँ! उसकी इतनी हिम्मत हो गई! अभी तो मैं जीवित हूँ! (फिर लालचन्द की ओर देख कर) क्यों, खड़ा खड़ा क्या देखता है? लाया नहीं झोंटा पकड़ कर? आज, आज उसकी खाल उधेड़ डालूँगा। सास पर हाथ उठाना! हाथ तोड़ डालूँगा; है किस भरोसे पर?"

बालक लालचन्द चुप रहा, कहने को उसके पास था ही क्या? राधा को झोंटा पकड़ कर खींच लाने की आज्ञा दे देना पिता के लिये जितना सरल व्यापार था, बालक लालचन्द को तदनुरूप कार्य्य करना उतना ही कठिन था। वह चिर-रोगी बालक क्या परिपुष्ट-कलेवरा युवती पत्नी के बाल पकड़ कर उसे घसीट सकता था? इसी लिये बालक लालचन्द ने पिता के

इस आदेश का परिपालन करने के लिये आगे पैर नहीं बढ़ाया। वह मूक भाव से स्थिर जड़ पदार्थ की भाँति, वहीं खड़ा रहा।

उसे इस भाँति खड़ा हुआ देख कर चम्पा फिर गर्ज कर बोली—"अरे डरता है क्या? हाँ; डरे नहीं तो विचारा क्या करे? वह तो साँड सी पली है? वह क्या इस बालक से दबने वाली है?"

पिता ने कर्कश कण्ठ से कहा—"पर इस बालक के बाप में तो इतना बल है कि उस पापिन की हड्डी-पसली एक कर दे। तू ठहर, मैं अभी उसे लाता हूँ। यहाँ, इसी आँगन में, जहाँ उसने तेरी माँ की बेइज्ज़ती की है, आज मैं जब तक उसकी खाल नहीं खींच लूँगा, हाथ पैर नहीं तोड़ लूँगा, तब तक मुझे संतोष नहीं होगा।"

पिता माता के इन राक्षसी उद्गारों को सुन कर बालक लाल-चन्द अत्यन्त भयाकुल हो उठा। वह जान गया है कि आज बड़ी भयंकर घटना होगी। सम्भव है, उस आंगन में रक्त-धारा प्रवाहित हो जाय। मन ही मन वह जगन्नियन्ता से यह प्रार्थना करने लगा कि वे उस युद्ध को रोक दें। चुपचाप खड़ा खड़ा वह पिता-माता के उन शैतानी संकल्पों को सुनता रहा।

राधा का कमरा वहाँ से अधिक दूर नहीं था। ससुर के कर्कश उद्गारों और सास के पैशाचिक चीत्कारों को वह भली भाँति अपने कमरे में बैठी बैठी सुन रही थी। एक एक शब्द, एक एक ध्वनि उसकी क्रोधाग्नि में आहुति के समान प्रदीप्त हो रही थी। उसके हृदय-देश में भी भयंकर संकल्प और भीषण भावना धीरे

धीरे जागृत हो रही थी। परन्तु फिर भी वह अब तक आत्म-संयम किये हुये थी, पर जब उसने ससुर के अन्तिम वाक्य सुने और जब उसने यह जान लिया कि आज बिना युद्ध के निस्तार नहीं होगा, और साथ ही साथ उसने अपने कमरे की ओर अपने ससुर को बढ़ते हुये देखा, तब उसके संयम की सीमा का विध्वंस हो गया, उसके धैर्य्य का बन्धन छिन्न-भिन्न हो गया, क्रोध और क्षोभ से उसका हृदय व्याकुल हो उठा, उसकी बुद्धि-शाला में एक ज्वाला प्रज्वलित हो उठी, एवँ उसका कोमल कलेवर रोष से कम्पित होने लगी। उसकी आँखें तप्त अंगार के समान जल उठीं; उसकी नासिका से उष्ण विश्वास निकलने लगी; उसके प्रशस्त ललाट पर त्रिपुंड रेखायें अङ्कित हो गईं और उसका सहज-सुन्दर बदन-मण्डल रोष-रक्तिमा से प्रदीप्त हो उठा। उसने पास ही की मेज़ पर रक्खी हुई तीक्ष्ण छुरी को उठा लिया; क्षण भर तक उसने उसे अपने दक्षिण हाथ में तौला। उस समय सुन्दरी राधा का क्रोध-संदीप्त लावण्य एक अद्भुत वीर-तेज से दैदीप्यमान हो उठा था। यह एक दर्शनीय लावण्य था; वह शृङ्गार की प्रदीप्त शोभा का विमल विलास था। राधा, राधा उस समय ऐसी प्रतीत होती थी माने रण-सुन्दरी आज क्रोध-प्रदीप्त होकर हाथ में सौदामिनी की शोभा के जैसी छुरी लेकर त्रिभुवन विजय के लिये अग्रसर हो रही हो; माने वीर-रस की तेजोमयी आभा, सजीव मूर्ति को धारण करके, धरा-धाम पर अवतीर्ण हुई हो; माने भूषण की प्रखर-कान्तिमयी कविता मूर्तिमती होकर प्रकट हुई हो; माने अजेय योद्धा की

प्रचण्ड-प्रवृत्ति-सुन्दरी आज रणोन्मादिनी होकर साकार स्वरूप में आविर्भूत हुई हो, माना रणरंग-मयी सिंहवाहिनी-दुर्गा के प्रज्वलित तेज की एक स्फुलिङ्ग-राशि प्राणमयी होकर प्रादुर्भूत हुई हो। कैसा सुन्दर, पर कैसा भयंकर सौन्दर्य्य था! मानो शंकर के मौलि-मण्डल से पतित होती हुई हाहाकारमयी मन्दाकिनी-धारा हो, माना स्मशान-भूमि में धकधक करती हुई ऊर्ध्वगामिनी अग्निशिखा हो, मानो महिषमर्दिनी महामाया के हुंकारनाद का सजीव स्वरूप हो! आज यदि राधा के इस तेजोमय स्वरूप के अन्तराल में पुण्य की प्रखर प्रवृत्ति, धर्म की अजेय शक्ति एवँ पूर्ण पातिव्रत की प्रचण्ड संकल्प-धारा, विद्यमान होती, तो हम राधा के चरणों में अवश्य ही 'जय जय दुर्गे' कह कर प्रणिपात करते। पर वहाँ तो तेज था, तप नहीं था, अजेय संकल्प था, किन्तु सत्य नहीं था, प्रचण्ड वीरत्व था किन्तु प्रखर पातिव्रत नहीं था। राधा के वदन-मण्डल पर शङ्कर-तेज विलसित होता था पर हृदय-मन्दिर में शैतान का ताण्डव-नृत्य हो रहा था। राधा ने धीरे से छुरी को अपनी कञ्चुकी में रख लिया, माना उसने उसे हृदय से लगाकर उसके प्रति अपना अनन्य अनुराग प्रकट किया और उसके साथ अपना सौहार्द उस्थापित किया था। इसके उपरान्त वह द्रुत गति से, किन्तु स्थिरपद से आँगन की ओर अग्रसर हुई। अभी उसके वृद्ध ससुर अपने स्थान से एक गज़ से अधिक नहीं चलने पाये होंगे, कि वह उनके सामने जाकर खड़ी हो गई। यद्यपि उसका मुख घूँघट के पट से आवृत था तथाच अन्धकार के कारण भी परिदृष्ट नहीं होता

था, किन्तु उसकी स्थिर-गति से, उसके अकम्पित गात्र से एवँ उसकी निर्भय भाव-चेष्टा से यह सुस्पष्ट हो रहा था कि आज राधा उस युद्ध-क्षेत्र में अच्छी तरह अपनी रण-लालसा को शान्त करने के लिये आई है, आज वह पश्चात्पद नहीं होगा, आज उसका अटल संकल्प है, अजेय साहस है और आज वह विजय अथवा मरण दोनों में से एक को अवश्य आलिङ्गन करेगी। राधा चुपचाप खड़ी रही।

उसकी इस निर्भय मुद्रा को देख कर एक बार तो वृद्ध-ससुर और युवती पत्नी दोनों ही स्तम्भित हो गये। पर उन का यह भाव केवल निमेष व्यापी था, दूसरे ही क्षण उनके विस्मय के ऊपर रोषोन्माद का आधिपत्य फिर से उसी भाँति स्थापित हो गया। उसको देखते ही उसकी युवती सास बड़े कर्कश-कण्ठ से बोली—"क्यों री चाण्डालिन! अब बोल! उस समय तो तू शेरनी हो रही थी, मुझे मारने को टूट पड़ी थी (वृद्धपति की ओर देख कर) देखते क्या हो जी? राँड का झोंटा पकड़ कर पटक दो! लालचन्द! आज तू इसे लातों से मार, तब मेरे जी को ठंडक पड़ेगी। हाय! तेरी इतनी हिम्मत!"

पत्नी के कुलिश-कठोर शब्दों को सुन कर वृद्ध पति भी चीत्कार कर उठे—"अरे, इतना कलियुग! तू ने क्या समझ कर अपनी सास पर हाथ डाला था, राक्षसी! अभी तो मैं जीवित हूँ। ठहर तो जा, आज तुझे मैं ठीक कर दूँगा। तुझे इस लायक़ रखूँगा ही नहीं कि तू फिर कभी इतनी हिम्मत कर सके।"

इतना कह कर वृद्ध शिथिल ससुर क्रोधोन्मत्त होकर राधा की ओर अग्रसर हुये। राधा के ऊपर युवती सास और वृद्ध ससुर के पैशाचिक शब्दों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। हम उपन्यासकार अद्‌भुत शक्ति रखते हैं; हम घूँघट के पट के अन्तराल में छिपे हुये मुख-मण्डल पर नृत्य करने वाले भावों को भी देख सकते हैं; हमने अपनी उसी दिव्य-दृष्टि से देखा कि राधा के गुलाब-कोमल अधर पर उपेक्षा और तिरस्कार की हास्य-रेखा आविर्भूत हुई। राधा उसी भाँति निर्भय, निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व भाव से अपने स्थान पर खड़ी रही; भय, त्रास अथवा विकम्पन—इन तीनों में से किसी का अस्फुट चिह्न-मात्र भी उसके शरीर पर आविर्भूत नहीं हुआ। पर ज्योंही उसका वृद्ध ससुर उसके समीप पहुँचा और ज्योंही उसने उसके ललित हाथ को पकड़ने के लिये अपना शिथिल हाथ बढ़ाया, त्योंहीं वह तीव्र सौदामिनी की भाँति चञ्चल गति से एक ओर हट गई। उसी समय भावोन्मेष में उसने अपना घूँघट पट कुछ खोल दिया; क्रोध से उसके नयनों से स्फुलिङ्ग-राशि विकीर्ण होने लगी और उसका कोमल अधर उष्ण-गनिश्वास के स्पर्श से प्रकम्पित होने लगा। उसके कपोल-मण्डल पर वीर-तेज विलसित हो उठा; और उसके वक्ष-स्थल का तीव्रगति से उत्थान और पतन होने लगा। उसने तीव्र स्वर में कहा—"सावधान, ससुर जी! अगर अब की बार आपने एक पग भी आगे बढाया, तो अच्छा नहीं होगा।"

वृद्ध एक बार ही स्तम्भित हो गया; बालक लालचन्द भी पत्नी

का वह तेजोमय भाव देख कर विस्फारित लोचनों से उसके रौद्र लावण्य की ओर देखने लगा, युवती सास भी विस्मय से वाणी-विहीन हो गई। पर ज्योंही वृद्ध ने अपने तीव्र अनादर का अनुभव किया, त्योंही उसका क्रोध और भी उद्दीप्त हो उठा। अपनी सारी शक्ति लगा कर उसने चिल्ला कर कहा—"अच्छा री चाण्डालिन! मुझे भी तू आँखें दिखाने लगी। आज तेरी आँखें न निकाल लूँ तो मेरा नाम नहीं।"

यह कह कर फिर वृद्ध आगे बढ़ा। उस समय उसकी अद्भुत दशा थी। झुर्रीदार मुख पर पैशाचिक क्रोध की कालिमा छाई हुई थी; उसका शरीर क्रोध से प्रकम्पित हो रहा था; उसके पैर इसी लिये मद-सेवी की भाँति इधर उधर पड़ रहे थे। उसकी उस समय की मुद्रा को देख कर अपनी हँसी को रोकना उसी के लिये सम्भव हो सकता है, जो गम्भीरता की सब से नीची गहराई पर रहता हो। राधा उसे इस प्रकार अग्रसर होते देख कर एक बार मुस्कराई और दूसरे ही क्षण उसके रोष की मात्रा द्विगुणित हो गई—उसने तर्जनी से वर्जन करते हुये कहा—"ससुर जी! थोड़ा समझ-बूझ कर आगे बढ़ियेगा। आज मैं भी अटल संकल्प करके आई हूँ। मैं आपकी छोटी हूँ, इसी लिये आप से हाथ जोड़ कर मेरा निवेदन है कि आप अपनी इस लाड़िली रानी के पीछे व्यर्थ में अपनी प्रतिष्ठा और आदर की हत्या मत कीजिये। फिर भी मैं आपकी बहू हूँ, दया करके ऐसा मत कीजिये जिससे मुझे वाध्य हो कर आपका अपमान करना पड़े। इससे मुझे सुख नहीं होगा, मेरा हृदय

इसके लिये बड़ा दुखो होगा। पीछे हट जाइये, ससुर जी! आप की यह क्रोध भरी आँखें अब मुझे भयभीत नहीं कर सकतीं। अपने मन ही से जब तक मैं आपकी प्रतिष्ठा और आदर का ध्यान रखते हुये आप से डरती रही, तब तक डरती रही। पर आपने अपनी इन श्रीमती जी के पीछे अपना सम्मान अपने आप खो दिया। जब आज आप अपनी इन महाराणी के पोछे अपने पुत्रवधू की आँखें निकालने, हाथ-पैर तोड़ने, खाल खींचने न मालुम क्या क्या करने आये हो, जब आप लज्जा और संकोच, धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य किसी की रत्ती भर चिन्ता न कर के अपनी पुत्रवधू पर हाथ छोड़ने के लिये प्रस्तुत हो रहे हो, जब आप अपनी इन लड़ैती रानी के झूठी बातों को वेदवाक्य मान कर उनकी प्रसन्नता के लिये मेरी हत्या करने को उद्यत हुये हैं, तब मैं भी आप से स्पष्ट कहे देती हूँ कि आपकी यह पुत्रवधू भी इतनी सहज अन्धी नहीं बनेगी, न लूली-लङ्ड़ी बन कर अपना जीवन ख़राब करेगी। आह! इन शिथिल हाथों से आप मारियेगा? हट जाइये! पीछे हट जाइये!! नहीं तो आज इस घर के आँगन में एक बहुत बुरा काण्ड अनुष्ठित हो जायगा।"

राधा ने इतनी बड़ी वक्तृता दी पर किसी ने उसमें बाधा नहीं दी। जब तक वह बोलती रही, तब तक उसके वीर तेज के प्रभाव से किसी को बोलने तक का साहस नहीं हुआ। दोनों स्त्री-पुरुष आवाक् होकर उसके मुख से निकलने वाली रोष-मयी वाणी का प्रखर विलास देखने लगे। पर जब उसकी वचनावली समाप्त हुई, उसके दो-तीन क्षण के बाद चम्पा का

आश्चर्य-भाव तिरोहित हुआ। उस समय वह पिशाच सुन्दरी के समान तीखे स्वर में बोली—"हाय रे राँड़! क्या तू .खून करेगी? अरे! पूरा कलियुग आ गया! तू सचमुच डाइन है, राक्षसी है, घोर पापिन है। तुझे नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा। अरे देखो तो, कैसी लाल लाल आँखें निकाल रही है। अरे! तुझे लाज भी नहीं है; तेरी यह आँखें फूट भी नहीं जातीं।"

राधा ने व्यंग और भर्त्सना के तीव्र स्वर में कहा—"तुम कोई देवता तो हो नहीं सास जी, जो तुम्हारे कहते ही मैं अन्धी हो जाऊँगी। मुझे—मुझे जो तुम यह आँखे दिखा रही हो, वह सब व्यर्थ है। इन विचारे बुड्ढे को लाल लाल आँखे दिखा कर तुम जैसे डरा लेती हो, इन विचारे कोमल बालक को तुम डाँट-फटकार कर जिस प्रकार भयभीत बना देती हो, क्या तुम समझती हो, मैं भी वैसे ही तुम से डर जाऊँगी। वह दिन गये; अब तक मैंने चुपचाप, गाय की भाँति, तुम्हारी सब बातें सह लीं। पर अब नहीं सहूँगी। अबकी बार तुम्हें मैं फिर समझाये देती हूँ कि यदि तुम्हें कुशल प्यारी हो, तो फिर मेरे क्रोध को जागृत मत करना—नहीं तो उसका परिणाम बुरा होगा।"

विचारा वृद्ध सच पूछिये तो, घबरा उठा था; राधा की प्रखर तेजमय मुद्रा और निर्भय चेष्टा ने उसके हृदय में भय उत्पन्न कर दिया था। वह इसके लिये उद्यत नहीं था; उसने यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी कि राधा आज इस प्रकार सामना करने को प्रस्तुत होकर आई है। इसी लिये वह भयभीत

हो गया, वह विस्मय से अवाक्, भय से उद्विग्न होकर तथा परिस्थिति के वैचित्र्य से व्याकुल होकर राधा और उसकी सास के परस्पर सम्वाद को सुन रहा था। लालचन्द, बिचारा लालचन्द, उस दृश्य को देख कर और ही भावों में निमग्न था। पत्नी की वीर तेजोमयी मूर्ति देख कर कभी उसके मन में उल्लास का उद्रेक होता था और कभी भय का; उस संग्राम की घटनाओं को देख कर वह कभी आकुल होता था, कभी विस्मय-विमुग्ध ! इस प्रकार राधा के ससुर और पति दोनों ही इस समय उसके प्रभाव से परिमुग्ध हो रहे थे। पर उसी समय स्मशानवासिनी प्रेत-सुन्दरी की भाँति चम्पा ने चीत्कार करके कहा—"देखते क्या हो ? तुम्हें लाज नहीं आती; यह स्त्री होकर ऐसी बढ़ बढ़ कर बातें कर रही है और तुम पुरुष होकर भय से काँप रहे हो। धिक्कार है तुम्हें और तुम्हारे जीवन को। आज मैंने जाना कि वृद्ध के साथ विवाह करने की अपेक्षा विष खा कर प्राण दे देना अच्छा है।"

पत्नी के इस तिरस्कारमय शब्दों और अपमानकारी धिक्कार ने वृद्ध के हृदय को उथल-पुथल कर दिया। उसके मर्म मर्म में पत्नी के अन्तिम वाक्य बाणों के समान विद्ध हो गये। वह क्रोध से संदीप्त हो उठा। राधा ने युवती पत्नी के सामने उसका अपमान किया था; अपने इस अपमान की अग्नि से वह भयङ्कर रूप से कुपित हो उठा। अब की बार वह बड़े वेग से आक्रमण करने के लिये आगे बढ़ा किन्तु उसी समय राधा ने अपनी कञ्चुकी में से छुरी निकाल ली। दीपक के उस क्षीण

प्रकाश में वह मृत्यु-सखी तीव्र छुरिका चञ्चल सौदामिनी की भाँति, चमक उठी। वृद्ध जहाँ पर था, वहीं पर खड़ा रह गया। राधा ने वीर तेज से भरे हुये तीव्र शब्दों में कहा—"हट जाओ, युवती पत्नी के अन्ध-अनुचर! यदि तुम ने मेरे शरीर पर हाथ लगाया, तो आज यहाँ पर भयंकर हत्या-काण्ड अनुष्ठित हो जायगा। तुम दोनों निशाचर के समान निर्मम और निर्लज्ज हो। ससुर जी! लाज से तुम यमुना में जाकर कूद नहीं पड़ते! तुम अपनी पुत्र-वधू पर इस प्रकार आक्रमण करने को प्रस्तुत हो रहे हो। तुम्हारी बुद्धि और लज्जा दोनों वासना की अग्नि में भस्म हो गई हैं। और तुम सास जी! तुम इस घर में अशुभ ग्रह के समान आई हो, तुम इस घर की शान्ति को राहु के समान ग्रस लेने के लिये उद्यत हो रही हो; तुम्हारे हाथों से अवश्य यह परिवार नष्ट हो जावेगा। और तुम, तुम भी सुन लो मेरे सरल बाल-पति! यह दोनों तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं, यह हैं तुम्हारे परम शत्रु; मैं तो अपनी रक्षा कर लूँगी; मेरा तो यह दोनों कुछ नहीं बिगाड़ सकते, पर तुम इनके पाश में फँस कर कदाचित् एक दिन प्राणों की आहुति दे बैठोगे। पर मैं क्या करूँ? जो भगवान् की इच्छा होगी, वही होगा। अच्छी बात है, सास जी, ससुरजी; जाओ अपने कमरे में जाओ और जाकर वासना की वैतरणी में तैरो। बहुत कुछ नाटक हो चुका, मानती हूँ। आप दोनों ने अपना अपना खेल अच्छी तरह खेला। ससुर जी! तुम स्त्री के दास हो; उसकी भृकुटी पर बन्दर की भाँति नाँचते हो; तुमसे मैं क्या डरूँगी? और तुम सास जी! तुमसे भी मुझे कण भर भय नहीं है। जब

तक मेरे हाथ में छुरी है, हृदय में साहस है, शरीर में बल है, तब तक आप दोनों मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। आज से मेरा पथ दूसरा है, तुम्हारा दूसरा। हाँ, इतना स्मरण रखना कि यदि किसी ने मेरे मार्ग में बाधा पहुँचाई या मूर्तिमान् विघ्न बन कर कोई खड़ा हुआ, तो मैं घुटने घुटने तक रक्त-धारा को पार करके अपने पथ पर चली जाऊँगी। मुझे न संकोच होगा, न भय, न लोक-लाज और न विक्षोभ! इसी लिये फिर एक बार कहती हूँ, सावधान!"

इतना कह कर राधा द्रुतिगति से अपने कमरे में चली गई। जिस समय वह बोल रही थी, उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भाग्य-सुन्दरी भविष्य की सूचना दे रही हो। उसके जाने के उपरान्त भी उसकी तेजोमयी वाणी प्रतिध्वनित होती रही।

राधा के चले जाने के उपरान्त वे तीनों भी अपने कमरे में चले गये। रुद्र-रस-प्रधान नाटक की यवनिका का पतन हो गया। उन वृद्ध पति और युवती पत्नी ने जान लिया कि राधा को विजय करना एकान्त असम्भव है;—उन दोनों का क्रोध, भय में परिणत हो गया। लालचन्द के मन में जो भावों का द्रुतवेग से नृत्य हो रहा था, उसका प्रकृत-मर्म उसकी बाल-बुद्धि में नहीं आया। राधा की भैरवी मूर्ति ने उन तीनों को संत्रस्त, सशङ्कित और सभय कर दिया।

संघर्षण बुरी चीज़ है। उस पर भी जब अति हो जाती है, तब परिणाम सदा भयंकर और अमंगलमय होता है। जब

शीतल हरिचन्दन का कानन संघर्षण के कारण प्रज्वलित हो उठता है, तब यदि प्रशान्त मन-मन्दिर में उसी संघर्षण के परिणाम-स्वरूप भयंकर अग्नि लग जाय, तो आश्चर्य्य ही क्या है? और एक बार जब आग लग जाती है, तब शान्ति, सन्तोष और त्याग की त्रिवेणी भी उसे शान्त करने में प्रायः असमर्थ सिद्ध होती है। विवेक, बुद्धि और व्यवस्था तीनों ही उस दारुण दावानल में भस्मावशेष हो जाती हैं।

संघर्षण सौभाग्य की चिता है।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

सहोदरा की आशङ्का

सन्तकुमार के हृदय-मन्दिर में जो अग्नि भीषण रूप धारण करके हाहाकार कर रही थी, उसमें उनकी आरोग्यता, उनकी सुन्दरता एवँ उनकी शान्ति—तीनों की तीनों धीरे धीरे भस्म होने लगीं। वह ऐसी अग्नि थी जिसकी शान्ति की न तो कुछ वे औषधि ही कर सकते थे और न उसके स्वरूप को प्रकट ही कर सकते थे; वह तो भीतर ही भीतर प्रज्वलित हो रही थी और उनके मर्म-स्थलों की संजीवनी शक्ति को धीरे धीरे भस्मावशेष कर रही थी। जिधर वह देखते उधर दूर तक स्वर्ग और मर्त्य की मिलन सीमा तक ही नहीं, किन्तु उससे भी परे स्वर्ग और नरक की अन्तिम सीमा तक उन्हें अन्धकार—केवल घोर अन्धकार ही—दिखाई पड़ता था। उस अशेष अन्धकार के बीच में कहीं पर भी आलोक रेखा नहीं थी। प्रलय काल की तिमिर-राशि भी उनके लिये उससे अधिक घनघोर नहीं हो सकती थी। इस अखिल ब्रह्माण्ड में ही नहीं, किन्तु त्रिभुवन में ऐसा कोई नहीं था, जिसके आगे वे अपनी मर्म-भेदिनी व्यथा की कथा

कहते और वह उसे सुन कर उनके प्रति सहानुभूति प्रकट करता। इसमें सन्देह नहीं कि जगन्नियन्ता उनके हृदय की समस्त रहस्य-कथा को जानता था, परन्तु यदि उनका बस चलता तो वे अपनी अग्निमयी वेदना की बात उन्हें भी नहीं बताते। कभी कभी जो अपनी व्यथा की शान्ति के लिये वे विश्वेश्वर और विश्वेश्वरी से आकुल विनय कर उठते थे, उसका प्रमुख कारण यही था कि वे जानते थे कि इस अनादि-दम्पत्ति से अपने पुण्य-पाप की कोई भी बात छिपा कर नहीं रख सकते हैं। यदि ऐसा न होता, यदि कहीं भगवान् और भगवती ने अन्तर का साम्राज्य भी अपने आधीन न रखा होता, तो बसन्तकुमार का हृदय-राज्य उस प्रलयङ्करी ज्वाला में जल कर राख भले ही हो जाता, पर वे कदापि उस आदि-दम्पत्ति के श्री चरणों में रक्षा के लिये व्याकुल विनय नहीं करते। बसन्तकुमार की इस अग्नि का मूल कारण था ही ऐसा, जिसे मुँह तक लाने का वे साहस कर ही नहीं सकते। वह एक भीषण पाप-कृत्य था, जो उनकी इच्छा का फल न होते हुये भी उनके हृदय को ग्लानि और विक्षोभ से सदा परिपूर्ण रखता था। उसने उन्हें अशेष अशान्ति के कठोर कारागार में डाल दिया था; वह उस अग्नि को हृदय में धारण करके व्याकुल और उद्विग्न भाव से जिधर शान्ति की खोज में जाते उधर ही उन्हें निराशा की प्रचण्ड मूर्ति का दर्शन प्राप्त होता था। जहाँ बैठ कर वे सदा आन्तरिक आनन्द और मधुर शान्ति को उपलब्धि किया करते थे, जहाँ की शीतल छाया में उन्हें सरल

सन्तोष की प्राप्ति होती थी, जहाँ नील-सलिला यमुना का दिव्य संगीत सुन कर वे विशेष स्फूर्ति का अनुभव करते थे और जहाँ की प्रफुल्ल लताओं के कोमल विकम्पन को अवलोकन करके वे विशुद्ध शृङ्गार की कल्पना का रहस्य हृदय में अङ्कित करते थे, उसी यमुना-कूलवर्ती निर्जन निकुञ्ज में भी उन्हें मन की उद्विग्नता को शान्त करना असम्भव हो उठता था। विपरीत इसके उन छायामय निकुञ्जों की नीरव-शान्ति में उनके हृदय का उत्ताप और भी अधिक भयंकर रूप धारण कर लेता था। जिस प्रकार व्यभिचारी रस स्थायी रस को विशेष परिपक्व करते हैं, उसी प्रकार उनकी प्रत्येक परिचित वस्तु उनकी व्यथा को परिशान्त करना तो दूर, उलटे और उसे परिवर्द्धित करने लगी। वह प्रधावित होते शान्ति की प्राप्ति के लिये, पर मिलती थी उन्हें माया-मरीचिका! पिपासा-कुलित मृग की भाँति वह उत्तप्त मरु-प्रदेश में दौड़ रहे थे, ऊपर से प्रचण्ड प्रभाकर की कठोर कान्ति उन्हें झुलसा रही थी, नीचे प्रज्वलित रेणुका-राशि उन्हें दग्ध कर रही थी और उनके अन्तर में एक प्रचण्ड चिता धधक रही थी, जिसमें उनके पवित्र भाव, विशुद्ध विचार और पुण्य प्रवृत्ति सब के सब भस्म हो रहे थे। उनका जो हृदय-तीर्थ एक दिन सन्तोष, स्नेह और सेवा की त्रिवेणी से परिप्लावित होता था, उनका जो मन-मन्दिर एक आनन्द और अनुभूति की आलोकमयी रंगभूमि था, उनका जो चित्त-सदन एक दिन संयम-साधन का तपोवन था—वही आज श्मशान हो रहा है! यही दैव का दुर्विपाक है। काल-ज्वर का

रोगी जिस प्रकार दारुण दाह से छटपटाता है, हलाहल की घोर ज्वाला में भस्म होते हुये प्राणी जिस प्रकार अशेष उत्ताप से व्याकुल होकर पर्य्यंक पर इधर-उधर लोटता-पोटता है। सहस्र सहस्र बिच्छुओं के बिछौने पर पड़ा हुआ पापी जिस प्रकार भयंकर वेदना का अनुभव करता है, बसन्तकुमार की भी ठीक यही दशा थी और उस पर भी सब से बड़ा दुर्भाग्य का विधान यह था कि वह उस वेदना को किसी के सामने विवृत करके शीतल सहानुभूति का एक बिन्दु भी प्राप्त नहीं कर सकते थे!

दुर्बल मनुष्य जितना कुछ कर सकता है, उतना उन्होंने किया पर फिर भी वे अपनी इस व्याकुल वेदना को छिपा कर नहीं रख सके। उस वेदना का क्या कारण है, उस व्यथा का मूल-स्रोत कहाँ से है—इन बातों के रहस्य-मन्दिर में तो अवश्य उन्होंने किसी को प्रविष्ठ नहीं होने दिया था, किन्तु उस भीषण अग्नि के आक्रमण का उनके शरीर पर जो प्रभाव पड़ा उसे छिपा कर रखना उन्हें एक प्रकार से असम्भव हो उठा। उस अग्नि में उनके मुख की मधुर अरुणिमा भस्म होने लगी और उस प्रफुल्ल गुलाब से मुख पर उसी प्रकार के पीलेपन का स्वरूप दिखाई पड़ने लगा, जैसा शिशिर के प्रारम्भ में कोमल लताओं के कोमल पल्लवों पर छा जाता है; उनके विशाल लोचनों की वह अरुण शोभा उस व्यथा की ज्वाला में स्वाहा होने लगी और उनकी वह प्रफुल्ल-श्री तुषार-मथित कमल के समान प्रतीत होने लगी। उनके अधर और ओष्ठ कुछ कुछ काले पड़ने लगे और उनके ऊपर जो प्रसन्न-कान्ति नृत्य कर रही थी, वह

तो एक बार ही उस दारुण वेदना में भस्म विशेष हो गई। उनका परिपुष्ट सुन्दर शरीर रस-शून्य वृक्ष की भाँति कृष होने लगा। उनकी भूख अन्तर्हित हो गई, और उस वेदना का प्राबल्य यहाँ तक बढ़ा कि उनके कर्तव्य-कर्मों में भी अब अवहेलना होने लगी। और उनका यह करुण परिवर्तन स्नेहमयी सहोदरा की प्रेममयी दृष्टि से छिपा नहीं रह सका। और छिप भी कैसे सकता है? जो स्नेहमयी सहोदरा भाई के मुख-मण्डल पर प्रति-फलित होने वाले अत्यन्त साधारण विकार-चिह्न को भी ध्यान पूर्वक देख कर उद्विग्न हो उठती है। जो बहिन, भाई की गति में अत्यन्त साधारण उदासी को भी अवलोकन करके विशेष आशङ्कित हो जाती है, जो बहिन, भाई के साधारण शिर-शूल होने पर समस्त रात्रि निद्रा-विहीन रह कर उसकी परिचर्य्या करती है, जो बहिन, भाई के बिना भोजन किये भोजन नहीं करती है, भाई के मंगल के लिये जो बहिन कठोरव्रत, घोर संयम और अखण्ड अनुष्ठान में प्रवृत्त होती है, उस असीम स्नेहमयी सहोदरा की दृष्टि में इतना भीषण परिवर्तन कैसे छिप सकता है? अधर पर छाई साधारण सी कालिमा, आँखों में छलकने वाली थोड़ी से थोड़ी आलस्य-मात्रा, कपोलों पर परिलक्षित होने वाली अस्पष्ट उदासी, गति में प्रकट होने वाली नाम मात्र की शिथिलता एवँ बातचीत में ध्वनित होने वाली सूक्ष्म उद्विग्नता—यह सब भी जब प्यारी बहिन की दृष्टि से ओझल नहीं हो पातीं तब बसन्तकुमार की आन्तरिक अग्नि में भस्म होने वाली उनकी स्वास्थ्य-शोभा का वह विकृत परिवर्तन अन्नपूर्णा की

आँखों से कैसे ओट हो सकता था? इसी लिये भाई की निरन्तर नष्ट होने वाली अरोग्यता और सतत परिवर्द्धित होने वाली विषाद की मात्रा ने अन्नपूर्णा के सरल-कोमल हृदय को अत्यन्त उद्विग्न बना दिया। वसन्तकुमार यद्यपि गम्भीर प्रकृति और वैराग्य-स्वभाव के पुरुष थे, परन्तु वे अपने स्वास्थ्य की ओर से कभी उदासीन नहीं होते थे—वे नित्य कसरत करते थे; भोजन और जलवायु के सम्बन्ध में सदा सावधान रहते थे और स्वास्थ्य को वे जीवन की अमूल्य मणि मानते थे। परन्तु अन्नपूर्णा ने देखा कि अब उनका उस ओर रत्ती भर भी ध्यान नहीं है—न तो वे कसरत ही करते हैं और न वे अब ठीक समय पर भोजन ही करते हैं। रात रात भर उन्हें नींद नहीं आती है। जाड़ों की आधी रात तक वे बाहर केवल एक हल्का शाल ओढ़े हुए घूमते फिरते हैं। अन्नपूर्णा जब आँखों में आँसू भर कर बार बार उनसे भोजन के लिये अनुरोध करती है, तब कहीं बसन्तकुमार भोजनालय में जाते हैं और फिर भी झूठमूठ दो-चार कौर पानी के सहारे खाकर शीघ्र ही थाली पर से उठ बैठते हैं। अन्नपूर्णा कई दिनों से यह बराबर देख रही है कि बसन्त-कुमार अपने कमरे में लैम्प के सामने रात रात भर बैठे रहते हैं। यद्यपि उनके सामने कोई पुस्तक खुली रखी रहती है, पर उनका ध्यान उस ओर नहीं जाता है। यदि कभी घड़ी दो घड़ी के लिये उनकी आँखें लग भी जाती हैं तो उनके मुख पर किसी भयंकर स्वप्न के वीभत्स विकार परिलक्षित होने लगते हैं। बालिका अन्नपूर्णा उनकी वैसी मुद्रा देख कर भय से काँप

उठती है। यद्यपि अन्नपूर्णा का अधिकांश समय बापू जी की ही सेवा में व्यतीत होता था, परन्तु फिर भी वह भाई की सेवा में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने देती है। भाई की ऐसी दशा देख कर उस सरल बालिका की दशा भी खराब हो गई, भाई के विषाद का प्रतिबिम्ब उसके दर्पण-विमल मुख-मण्डल पर भी दृष्टिगत होने लगा। अन्नपूर्णा का इस प्रकार उद्विग्न हो उठना, अत्यन्त स्वाभाविक था। वसन्तकुमार यद्यपि सहोदर थे किन्तु उनकी गोद में उसने माता-पिता के परम प्रेम की विभूति भी प्राप्त की थी। वसन्तकुमार अपनी कैशोर-काल ही में अपनी सहोदरा के संरक्षक-पद पर असीन हुआ था, उसने स्वयँ दारुण दुःख उठाये पर उसने कभी अपनी प्यारी छोटी बहिन को क्लेश का आभास तक नहीं होने दिया। आप न खाकर उसने उसे खिलाया, आप न सोकर उसने उसे सुलाया, आप अर्ध-नग्न रह कर उसने उसे वस्त्र पहिनाये। ऐसे प्रेममय परम उदार भाई की उस निरन्तर बढ़ने वाली विषाद-छाया को देख कर अन्नपूर्णा का आकुल और आशङ्कित हो उठना इतना ही स्वाभाविक था जितना पुत्र की आकुलता पर मातृ-हृदय का व्यथित हो उठना।

परन्तु बहुत कुछ सोचने विचारने पर भी अन्नपूर्णा यह न जान सकी कि वसन्तकुमार की उस सतत स्वास्थ्य हानि और विषाद छाया की वृद्धि का मूल कारण क्या है ? यद्यपि अन्नपूर्णा के अन्तर और बाहर दोनों स्थलों में यौवन के सुरभित प्रभात का मधुर आलोक विलसित हो गया था और उस आलोक के

मध्य में प्रेम के महिमामय आसन पर एक मनोहर मूर्ति भी आसीन हो चुकी थी, पर वह सरल बालिका विश्व-प्रपञ्च से एकान्त अनभिज्ञ थी और इसी लिये वह इस बात की कल्पना तक नहीं कर सकती थी कि उसके सहोदर के कोमल फूल के समान हृदय में पाप का विष-कीट प्रविष्ट हो गया और उसके दारुण-दंशन से उसके मन में भीषण व्यथा उत्पन्न हो गई है। एकाध बार सरल भाव में अन्नपूर्णा ने भाई से उनकी विषाद्-छाया का कारण पूछा भी था, परन्तु उन्होंने उसे सदा टाल दिया था। उस समय उस विषाद्-छाया का प्रारम्भ था; उस समय वह उतनी प्रस्फुट नहीं थी; इसी लिये सरल सहोदरा ने उनकी बातों पर विश्वास करके सन्तोष धारण कर लिया था। पर जब वह विषाद्-कालिमा, अमावस्या की मेघमयी रजनी के अन्धकार की भाँति, धीरे धीरे घनीभूत होने लगी, जब बसन्त-कुमार के शरीर की कान्ति के प्रत्येक परिमाणु में उसका बुरा प्रभाव परिलक्षित होने लगा और तुषार-मथित कमल दल के समान उनकी स्वास्थ्य-श्री विरूप होने लगी, तब तो अन्नपूर्णा कारण जानने के लिये अत्यन्त विकल हो उठी। उसके हृदय में यह आशंका अङ्कित हो गई कि भाई जी उससे अपनी व्यथा का रहस्य छिपा रहे हैं और उस व्यथा का स्वरूप जैसा वह बताते हैं, उससे वह कहीं अधिक भयंकर और वीभत्स है। तब उसने अपने मन में यह दृढ़ संकल्प किया कि वह प्रेममय सहोदर की उस भयावनी व्यथा का मूल कारण जाने बिना शान्त नहीं होगी। अन्नपूर्णा ने निश्चय कर लिया कि आज जैसे भी हो, अनुनय से,

विनय से, राग से, रोष से, आँसू से, शपथ से, मान से—जैसे भी होगा, वह भाई से उनके दुःख का कारण पूछे बिना चैन नहीं लेगी। दुःख का कारण जान लेने पर वह उसके निवारण करने की चेष्टा करेगी और उस प्रयास में आवश्यकता होने पर अपने प्राणों को भी उत्सर्ग कर देगी। अपना समस्त आनन्द, अपना सारा सुख, अपना उज्ज्वल प्रेम-राज्य, अपना सम्पूर्ण सर्वस्व वह भाई के मंगल के लिये हँसते हँसते परित्याग कर देगी। बहिन यदि दुःख में साथ नहीं देगी, तो क्या केवल सुख ही में अपना भाग लेगी? आनन्द में अपना अंश लेने वाले जनों की इस विश्व में कमी नहीं है; पर दारुण दुःख में, विपुल विपत्ति में भीषण-वज्रपात में, भयंकर नैराश्य में, अन्धकार मय स्मशान में—कंधे से कंधा लगा कर खड़े होने वाले अत्यन्त विरल हैं। बहिन इन्हीं विरल बन्धुओं की चूणामणि है। बहिन का स्नेह स्वर्गीय विभूति से भी अधिक उज्ज्वल और महामन्त्र से भी अधिक पवित्र है। भाई बहिन दोनों ही एक ही गुच्छे के दो फूल हैं; एक ही प्राण-वायु के दो हिल्लोल हैं, एक ही विभूति की दो किरणें हैं; एक ही आत्मा के दो स्फुलिंग हैं; एक ही रत्नाकर के दो रत्न हैं। इसी लिये एक का दुःख दूसरे का दुःख है, एक का सुख दूसरे का सुख है। यह हो ही नहीं सकता कि उनमें से एक हँसे और दूसरा अश्रु-वर्षा करे, एक आनन्द का अनुभव करे और दूसरा सतत व्यथा का दुःख भोगे। यदि कहीं इसके विपरीत मिले, तो समझ लेना चाहिये कि वहाँ पर पुण्य और प्रेम का सुवर्ण राज्य नहीं है, वहाँ पर पाप और पिशाचों का शैतानी साम्राज्य

है। इस मत्सरमय विश्व में भाई-बहिन के जैसा सरस, सुन्दर, स्वार्थ-शून्य, स्नेहमय सम्बन्ध दूसरा नहीं है। सच पूछिये तो जिसे बहिन कह कर पुकारने का सौभाग्य नहीं मिला है, वह नर त्रिलोक की विभूति का अधीश्वर होकर भी अत्यन्त अभागा है। पति के प्रेममय पार्श्व देश में स्थित हो, अथवा पिता की स्नेह-मयी गोदी में, पर सहोदरा सदा सहोदर की मंगल-कामना करती है। भाई के साधारण शिर-शूल मात्र से उसका हृदय व्यथित हो जाता है, भाई के साधारण क्षत से उसका वक्षस्थल विदीर्ण हो जाता है, भाई की साधारण विकृत से उसका कलेजा काँपने लगता है। इसी लिये यह नित्य-सत्य है कि बहिन के जैसा अकृत्रिम स्नेह दूसरे का नहीं है। भाई चाहे एक वार को बहिन की ओर से उदासीन और स्नेह-शून्य भले ही हो जाय, पर सहस्र सहस्र अनादरों और लक्ष लक्ष विपत्तियों के बीच में बहिन का प्रेम, उज्ज्वल अक्षय नक्षत्र की भाँति, दैदीप्यमान रहता है। तब यदि अन्नपूर्णा भाई की विषाद-छाया का वास्तविक रहस्य जान कर उसके निवारण करने के लिये व्याकुल हो उठी, तो उसमें आश्चर्य्य की क्या बात है?

चन्द्रमा की विमल सुधा-धारा में गुलाब की फूली हुई लता स्नान कर रही थी और शीतल समीर, उस सद्यःस्नाता से रस मय परिहास कर रहा था। कभी कभी कोई पक्षी चाँदनी के सौन्दर्य्य पर उत्फुल्ल होकर दूर पर कूक उठता था। उस समय लगभग आधी प्रहर रात्रि व्यतीत हुई होगी परन्तु ज़िमींदार के प्रमोद-बन में उस समय एकान्त शान्ति विराज रही थी। और

उसी सुरभित शीतल शान्ति के साम्राज्य में सुन्दरी अन्नपूर्णा चिन्तित भाव से इधर उधर मन्द मन्थर-गति से घूम रही थी। उस समय वह करुणा रस की निर्मल कल्पना के समान श्रीमयी प्रतीत हो रही थी। उसकी मुख-मुद्रा से ऐसा प्रतीत होता था मानो वह किसी गम्भीर चिन्ता में निमग्न है। पाठक पठिकायें उस चिन्ता के स्वरूप को अच्छी तरह जान गई होंगी। उस समय उसे अपनी बिल्कुल सुध-बुध नहीं थी; उसके चारों ओर प्रकृति की जो ललित लावण्य-सरिता प्रवाहित हो रही थी, उसकी ओर भी उसका ध्यान नहीं था। वह तो चिन्ता के छायामय निकुञ्ज में अपने विचारों के साथ विहार कर रही थी। उस समय वह आत्म-विस्मृति की चरम सीमा पर स्थिति थी।

इसी लिये, जब बसन्तकुमार वहाँ पर आया, अन्नपूर्णा को तब उसके आने की रत्ती भर भी खबर नहीं हुई। वहीं, उसी चिन्ताकुल दृष्टि से चन्द्रिमा चर्चित असीम-शून्य की ओर वह देख रही थी। वह इस लोक में थी ही नहीं। नहीं तो भला वह उसी के आने को नहीं जान पाती, जिसकी वह उत्कण्ठित हृदय से प्रतीक्षा कर रही थी। बसन्तकुमार सहोदरा की इस चिन्ता निमग्न मुद्रा को देख कर कुछ क्षण के लिये स्वयँ भी विमुग्ध हो गया। वास्तव में उसका उस समय का वह विमुग्ध-सौन्दर्य्य एक विलक्षण आलोक से समुद्भासित था। बसन्तकुमार ने बड़े सरस स्नेहमय स्वर में पुकारा—"अन्नपूर्णा!"

अन्नपूर्णा मानो विस्मृति के लोक से उतर कर शीघ्र ही इस विश्व में आ गई, उसने मधुर कण्ठ से कहा—"हाँ दादा! मैं तो

बड़ी देर से आपकी प्रतीक्षा कर रही थी। आप कब आये, इसका तो मुझे पता भी नहीं लगा। पर आपको आने में कुछ न कुछ तो विलम्ब अवश्य हुआ है।"

बसन्त०—"हाँ, मैंने आठ बजे आने को कहा था पर इस समय मुझे २०–२५ मिनट की अवश्य देरी हुई है। पर यह तो बता कि आज तेरा यह फूल सा मुख कुम्हलाया हुआ क्यों है? आज की जैसी तो मैंने विषाद-छाया तेरे सरल-सुन्दर मुख-मण्डल पर कभी नहीं देखी! इसका क्या कारण है, अन्नपूर्णा?"

अन्नपूर्णा—"तुम्हीं इसके कारण हो, दादा!"

बसन्त०—"मैं? मैंने तो जान-बूझ कर ऐसा कोई काम नहीं किया है, जिससे तेरे कोमल हृदय को आघात पहुँचने की सम्भावना हो। परन्तु फिर भी यदि प्रमाद वश अथवा अनजाने मैंने अपने किसी व्यवहार से तेरा चित्त दुखाया हो, तो अन्नपूर्णा! तू अपने दादा के अपराध को क्षमा कर दे।"

अन्न पूर्णा—"सो बात नहीं है, दादा! तुम क्या जान-बूझ कर मेरे हृदय को कष्ट पहुँचा सकते हो? तुम्हारी गोद में बैठ कर मैंने वात्सल्य का सुधा-रस पान किया है, तुम्हारी गुरु-गम्भीर वाणी से मैंने अपूर्व उपदेशों की निधि प्राप्त की है, तुम्हारे पवित्र स्नेह से मैंने अपने हृदय को परिपूर्ण किया है, तब क्या मैं आपके व्यवहार से किसी प्रकार भी असन्तुष्ट हो सकती हूँ? न दादा! कारण कुछ दूसरा ही है।"

वसन्त०—"वह क्या कारण है, अन्नपूर्णा ?"

अन्नपूर्णा—"दादा ! अपने मुख को दर्पण में देखो। तुम्हारा वह चिर-प्रफुल्ल वदन-मण्डल आज कैसा विषादमय हो रहा है, तुम्हारी सरस आँखें नीचे को बैठी जा रही हैं, तुम्हारी स्वास्थ्य-श्री मुरझा गई है, तुम्हारा कान्तिमय परिपुष्ट शरीर कैसा कृश हो गया है ? यही सब देख कर मेरा हृदय आकुल हो उठा है। दादा ! तुम्हारे इस विषाद और व्याकुल-भाव का क्या कारण है ?"

वसन्त०—"अन्नपूर्णा ! तू जानती है, मैं दुःख की गोद में पला हूँ, विषाद मेरा चिर-सहचर है। अवश्य ही मैंने यथाशक्ति अपने अन्तर के विषाद को संयम की रस्सी से बाँध रखा है, पर जब कभी उसका बन्धन किसी कारण से शिथिल हो जाता है, तभी वह सहसा हाहाकार कर उठता है और अपना भयंकर स्वरूप दिखाये बिना शान्त नहीं होता है। मेरी प्यारी अन्नपूर्णा ! विषाद की यह छाया कुछ दिनों में दूर हो जायगी। तू इसके लिये क्षण भर भी चिन्ता मत कर ! देख ! यदि तुझे मैं दुखी देखूँगा, तो मेरा दुःख और भी बढ़ जायगा। इसी लिये तू अपने कोमल हृदय में इस विषाद को आश्रय मत दे।"

अन्नपूर्णा—"दादा ! क्षमा करना ! आज आपके इन शब्दों से मेरा परितोष नहीं हो रहा है। उसका कारण है। मैंने आपके मुख पर कभी ऐसी भीषण विषाद-छाया आज तक नहीं देखी। मैं भूली नहीं हूँ, पिता जी के देहान्त हो जाने पर भी आप जब मेरे आँखों के आँसू पोंछ कर आपने मुझे सान्त्वना दी थी;

उस समय भी आपके मुख पर ऐसी विषाद-वेदना की कालिमा नहीं दिखाई दी थी। दादा! आप मेरे गुरु हैं, आप मेरे आचार्य्य हैं, इसी लिये यद्यपि आपकी बातों पर अविश्वास करना मेरे लिये पाप है। परन्तु फिर भी न मालूम क्यों मेरी अन्तरात्मा से बार बार कोई यह कह रहा है कि आप अपने इस गुरु-गम्भीर दुःख की बात मुझ से छिपा रहे हैं। क्या अब आप अपनी छोटी बहिन का विश्वास नहीं करते हैं?"

अन्नपूर्णा की बड़ी बड़ी आँखों से आँसू छलक आये, बसन्त-कुमार के भी लोचनों में जल-बिन्दु उमड़ आये। बसन्त ने स्नेह-सरस स्वर में प्रबोध देते हुये कहा—"अन्नपूर्णा! मैं सब कुछ सह सकता हूँ, पर तेरी आँखों के आँसुओं को मैं सहन नहीं कर सकता। तू शान्त हो जा! मैं अपने इस दुःख को दबाने की चेष्टा करूँगा।"

अन्नपूर्णा—"पर दादा! वह दुःख क्या है?"

बसन्त०—"अन्नपूर्णा! वह दुःख? वह दुःख बड़ा भयंकर, बड़ा प्रचण्ड है? उसे मुख पर लाने की मेरी शक्ति नहीं है। अन्नपूर्णा! आज मैं तेरा बड़ा भाई होकर तुझ से यह भिक्षा माँगता हूँ कि तू मुझ से इस सम्बन्ध में और कुछ मत पूँछ। जितना ही तू इस दुःख के स्वरूप को जानने की चेष्टा करेगी, उतना ही वह भीषण होता जायगा। अन्नपूर्णा! मैंने आज तक तुझ से कुछ नहीं छिपाया; छिपाने की आवश्यकता भी नहीं थी। पर यह दुःख, यह विषाद मेरे मर्म-स्थल से सम्बन्ध रखता है; उसे मैं प्राणों के समान रक्षित रखता हूँ। कारण ही कुछ

ऐसे आ पड़े हैं; परिस्थिति की प्रतिकूलता ने मुझे ऐसा करने के लिये विवश कर दिया है। यदि तू यह चाहती है कि मैं इस दुःख का कारण बता कर अपनी इस इह-लीला को समाप्त कर दूँ, तो मैं तेरी प्रसन्नता के लिये वैसा करने को भी उद्यत हूँ।"

भाई की बातें सुन कर पहिले तो अन्नपूर्णा स्तब्ध हो गई; पर पीछे से उसने बड़े शान्त-मधुर स्वर में कहा—"न दादा! यदि ऐसी बात है तो मैं इसके लिये आप पर दबाव नहीं डालूँगी। दादा! आपकी इस विषादमयी मुख-मुद्रा ने मेरे हृदय की शान्ति को हर लिया था। इसी लिये मैंने आप से इतना आग्रह और अनुरोध किया था। दादा! मैं फिर भी आप की छोटी बहिन हूँ। मेरी बालोचित चपलता के अपराध को आप ही यदि क्षमा नहीं करेंगे, तो कौन करेगा?"

बसन्त०—"क्षमा! अन्नपूर्णा! मेरी दृष्टि में तेरा अपराध भी अपराध नहीं है, तेरा यह अनुरोध तो तेरे असीम अनुग्रह का ही फल था। मेरी प्यारी अन्नपूर्णा! इस विशाल विश्व में मेरे जीवन का यदि कोई आश्रय है, तो वह तू ही है। तुझी को लेकर मैं इस संसार में घूम रहा हूँ। तेरे ही स्नेह के कारण मैं संसारी बन कर जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। नहीं तो मैं इस विश्व के शीश पर पाद-प्रहार करके अब तक किसी पर्वत कन्दरा में चला गया होता।"

अन्नपूर्णा—"दादा! जो कुछ भी हो—पर मैं आप से यही प्रार्थना करती हूँ कि आप अपनी इस विषाद-छाया को दूर

करने का यथा-साध्य यत्न करिये। आपके दुःख की छाया को देख कर मैं आकुल हो जाती हूँ और मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है।"

बसन्त०—"अच्छी बात है। मैं सब कुछ करके भी इस विषाद को परास्त करने की प्रचेष्टा करूँगा। पर अन्नपूर्णा! यह बड़ा कठिन व्यापार है, पर तो भी मैं प्रयत्न करने में कुछ उठा नहीं रखूँगा। जा! बापूजी पूजा पर से उठ बैठे होंगे।"

अन्नपूर्णा—"जाती हूँ। तुम कहाँ जाओगे, दादा?"

बसन्त०—"मैं यमुना किनारे कुछ देर तक टहलने के उपरान्त आ जाऊँगा। अन्नपूर्णा! मेरी दुलारी! भगवती तेरा मंगल करें।"

बसन्त की आँखों में प्रेमाश्रु उमड़ आये; एक बार सरल-स्नेहमयी दृष्टि से उन्होंने सहोदरा के सुन्दर बदन चन्द्र की ओर देखा। उसके उपरान्त एक ठंडी साँस छोड़ कर वहाँ से शीघ्र ही चले गये।

यद्यपि भाई ने बचन दिया था कि वे अपने हृदय की अग्नि-ज्वाला को शमन करने की चेष्टा करेंगे, पर न मालूम क्यों, अन्न-पूर्णा के हृदय को उससे परितोष नहीं हुआ। उसके हृदय की अशान्ति और भी बढ़ गई। भाई के हृदय में कौन सा विष-कीट दंशन कर रहा है—इस बात को लेकर अन्नपूर्णा की कल्पना और चिन्ता दोनों आन्दोलन करने लगी। पर उन दोनों के उस आन्दोलन का परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। अन्नपूर्णा कुछ भी उस सम्बन्ध में निश्चय नहीं कर सकी। सब से बढ़कर उसे यह

दुःख था कि वह भाई के मुख-मण्डल पर छाई हुई विषाद मेघ-माला को देख कर भी उनसे उसका प्रकृत कारण नहीं पूछ सकती है। अन्नपूर्णा, इसी लिये, दुख से कातर, आशंका से आकुल, और वेदना से विह्वल हो उठी।

सहोदरा और सहोदर के स्नेह के अभ्यन्तर में जो परम पवित्र सुधा-धारा प्रवाहित होती है, उसमें स्नान करने से हृदय त्यागमय हो जाता है, बुद्धि उदार हो जाती है, और प्रवृत्ति-मण्डल आनन्द से प्रदीप्त हो जाता है।

विश्व के विभूति-भवन में सहोदरा का पुण्य प्रेम कलित-कान्त-मयी कौस्तुभ-मणि के समान शोभायमान होता है।
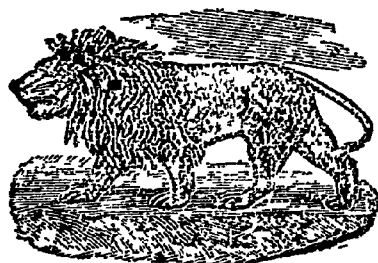
बीसवाँ परिच्छेद

रहस्य भेद

दय-भूमि में हाहाकार करने वाली प्रज्वलित ज्वाला में तिल तिल करके भस्म होना जितना क्लेशकर है, उससे कहीं अधिक वेदनामय है विश्व की दृष्टि से उस भीषण अग्नि को छिपा कर रखना। 'ज़हरे इश्क' की नायिका ने प्राण विसर्जन करने के पूर्व अपने प्रेमी से यह प्रार्थना की थी कि वह उसके शव के साथ उसी प्रकार उदासीन भाव से जावे, जिस प्रकार साधारण जन जाते हैं, तथाच उसकी क़ब्र पर अश्रु-वर्षा न करे, जिससे उन दोनों का गुप्त प्रणय विश्व के सम्मुख प्रकट न होने पावे। इसी लिये उस परम लज्जामयी प्रेयसी ने ऐसी आकुल अनुनय की थी। उस अभागे प्रेमी को इस प्रार्थना के अनुसार कार्य्य करना कितना कठिन हो उठा होगा और उसके हृदय में कैसी निदारुण-ज्वाला धक धक करके जल उठी होगी—इसका समुचित वर्णन कदाचित् आर्ष-कवि की लेखनी भी नहीं कर सकती है। इसका कारण प्रत्यक्ष है; आज तक मनुष्य ने उस भाषा का आविष्कार नहीं कर पाया, जो दग्ध-हृदय की करुण-चीत्कार

को पूर्ण रूप से परित्यक्त करती। इस उपन्यास के उन पाठक पाठिकाओं का निराशाकुल हृदय ही उस व्यथा के मर्म को जान सकता है, जिन पर दुर्भाग्य से अथवा सौभाग्य से कभी ऐसा अवसर पड़ा हो। सभी जानते हैं कि दुःख को प्रकट कर देने से उसकी बहुत कुछ अग्नि शान्त हो जाती है। जो दुःख पड़ने पर हाहाकार करके रो लेते हैं, वे तो कुछ दिनों में दुःख को भुला कर फिर से संसार के कोलाहल में विचरण करने लगते हैं। परन्तु जिनकी व्यथा की अग्नि उनके आँसू और वाणी को भी भस्म कर देती है, वह या तो उन्मत्त होकर विश्व की रँग-मञ्च पर धूल फाँकते फिरते हैं या फिर वह इस मत्सरमय विश्व की सकल ज्वाला से परिमुक्त होकर आनन्द-कन्द के तुरीयधाम को पधार जाते हैं। इसी लिये दुःख को अपने जीवन का परम रहस्य बना कर रखना बड़ी साधना का विषय है। हृदय की भूमि पर वह अग्नि भीषण रूप धारण कर लेती है और सारा प्रवृत्ति-मण्डल, अपने समस्त विकारों और विचारों के साथ, उसमें भस्म हो जाता है। जो मन-मन्दिर एक दिन भावों का मधुर उद्यान था, जो हृदय एक दिन प्रवृत्ति का लीला-मन्दिर था, जो चित्त एक दिन चिन्ता और कल्पना का पारिजाति-कुञ्ज था, वह सहसा श्मशान-भूमि की वीभत्स एवँ भयंकर शोभा को धारण कर लेता है। प्रवृत्ति की प्रकाण्ड चिता में जीवन का रस और आनन्द भस्म हो जाता है और विक्षोभ और व्यथा, प्रेत-पुञ्ज की भाँति, उस भीषण अन्धकार में जलती हुई चिता के आलोक में ताण्डव-नृत्य करने लगते

हैं। अभागा मनुष्य उस समय अशेष यातना से व्याकुल होकर अकाल मृत्यु के मन्दिर की ओर दौड़ता है। उस समय सौभाग्यवशात् यदि मार्ग में उसे किसी आनन्दमयी आत्मा का पवित्र संसर्ग प्राप्त हो जाता है, तब तो वह उसकी अमृतमयी उपदेश-गंगा की शीतल तरङ्ग-राशि में स्नान करके उस दारुण ज्वाला को प्रशमित करने में समर्थ होता है। परन्तु यदि दुर्भाग्य से ऐसा नहीं हुआ, तब वह अभागा इस मत्सरमय विश्व के अन्धकारमय पथ पर इधर उधर उद्भ्रान्त भाव से दौड़ने लगता है और किसी कुक्षण में, अपनी व्यथामयी ज्वाला के ताप को न सह कर प्रचण्ड नैराश्यभाव म अकाल मृत्यु का आलिङ्गन कर लेता है। आज बसन्तकुमार की भी यही दशा है; वे उद्विग्न एवँ आकुल होकर शान्ति की खोज में इधर उधर दौड़ते फिरते हैं; प्रकृति के छायामय निकुञ्ज में, यमुना-दुकूल की शीतल शान्ति में, ज्योत्स्नामयी यामिनी की नीरव विश्रान्ति में—जहाँ कहीं वे अपनी व्यथा की शान्ति के लिये सुधा-रस को प्राप्त करने की आकाँक्षा और आशा से जाते हैं, वहीं उन्हें प्रचण्ड निराशा की भयंकर मूर्ति के दर्शन मिलते हैं। दूर से मरीचिका का जो तरङ्गमय प्रवाह दिखाई देता है, वह पास पहुँचते ही भीषण अग्नि-शिखा में परिणत हो जाता है। कौन जानता है, उनकी अन्त में क्या दशा होगी? भगवती की कृपा से उन्हें किसी प्रसन्न श्रीमयी आत्मा का मधुर संसर्ग प्राप्त होगा या शैतान उन्हें पाप की अन्धकारमयी कन्दरा में पीछे से ढकेल देगा—इसके विषय में निश्चित् भाव से कौन कह सकता

सकता है? मायामयी भावी की गुप्त पुस्तक में इसका विवरण लिखा हुआ है पर जब तक समुचित अवसर पर वह स्वयँ इस प्रकरण को उद्घाटित नहीं करेगी, तब तक इन चर्मचक्षुओं में इतनी शक्ति कहाँ कि उसके अच्छेद्य आवरण को भेद करके इस प्रश्न की मीमांसा कर डालें।

और इस पर भी सब से निदारुण विपत्ति यह है कि वह अपनी इस प्रज्वलित ज्वाला को विश्व के सामने प्रकट नहीं कर सकते हैं। किससे कहें? इस विशाल-विश्व में कौन ऐसा है जो उन्हें इस अग्नि-ज्वाला के बीच से बाहर निकाल सकता है? कौन ऐसा निर्विकार महात्मा है जो उनकी इस व्यथा के पापमय स्वरूप की रत्ती भर चिन्ता न करके उन्हें सहानुभूति देने के लिये गले से लगा ले सकता है? वे जानते थे कि उनकी उस पापमयी व्यथा की बात जो कोई सुनेगा, वही उन्हें धिक्कारेगा और पापी से पापी भी उनकी ओर से घृणा पूर्वक मुख फेर लेगा। अन्नपूर्णा सुनेगी तो उसके हृदय को असीम वेदना होगी और बहुत सम्भव है कि भाई के इस जघन्य स्वरूप को देख कर वह प्राण-त्याग कर दे! पितृ-तुल्य बापूजी जब अपनी तपोमयी दुहिता के सम्बन्ध में उसके ऐसे कलुषित विचारों की बात जानेंगे, तब उन परम साधक का प्रशान्त मन-मानस भी उद्वेलित हो उठेगा और वह उसकी ओर क्रोधमयी एवँ घृणा-भरी दृष्टि से देखेंगे और तीव्र तिरस्कारमयी वाणी से उसकी भर्त्सना करेंगे; सरल सुहृद राजेन्द्र अपनी पवित्र ब्रह्मचारिणी सहोदरा के विषय में जब उसके वैसे पापमय संकल्प से परिचित होगा, तब

वह उसे महापापी कह कर उसका अशेष अपमान करेगा और बहुत सम्भव है कि वह उसका प्राण लेने को भी समुद्यत हो जाय; श्रीश्री गुरुदेव आनन्दस्वामी अपने प्रिय शिष्य का ऐसा वीभत्स विचार जान कर लज्जा और जुगुप्सा से उसका सदा के लिये परित्याग कर देंगे और बहुत सम्भव है कि उनका तपोमय शान्त मनोमण्डल इतना विक्षुब्ध हो जाय कि वह उसे शाप दे देवें; और सुभद्रा, परम पुण्यमयी देवी सुभद्रा, जो उसे सहोदर के समान स्नेह करती है, जिसने उसकी बहिन का अपनी छोटी बहिन के समान लालन-पालन किया है, जो पवित्रता की प्रत्यक्ष प्रतिमा, संयम की साकार शोभा, धर्म की मूर्तिमती कल्पना, एवँ तप, त्याग तथा तेज की जाज्वल्यमयी त्रिवेणी है, जब उसके ऐसी पापमयी प्रवृत्ति की बात जानेगी, तब उसके विमल-कोमल हृदय को मर्मान्तक पीड़ा पहुँचेगी, उसका अखण्ड विश्वास हिल जायगा, उसकी अविचल श्रद्धा विकल हो जायगी और, बहुत सम्भव है, वह उस आकुल अवस्था में मुझे शाप देकर अपनी इह-लीला को समाप्त कर दे! ओफ़! बाल-विधवा ब्रह्मचारिणी का शाप! कितना तीव्र, कितना भयंकर एवँ कितना प्रचण्ड होगा?

इस प्रकार के ज्वालामय भाव बसन्तकुमार के मन-मानस को सदा विक्षुब्ध करते रहते थे। एक ओर तो हाहाकार करती थी वह अनुचित प्रणय की अग्नि-ज्वाला और दूसरी ओर ताण्डव-नृत्य करती थी वह वेदनामयी विचार-माला! वेचारे बसन्तकुमार की वेदना और आकुलता क्षण भर के लिये भी

शान्त नहीं होती थी। आज जब अन्नपूर्णा ने उनकी अन्तर्ज्वाला की बात उनसे अत्यन्त आग्रह के साथ पूछी, तब तो उनकी आकुलता और भी बढ़ गई। उन्होंने जान लिया कि हृदय के भीतर जो दारुण ज्वाला जल रही है, उसका प्रभाव बाहर भी परिलक्षित होने लगा है इसीलिये अब उसे छिपा कर रखना दुष्कर ही नहीं, असम्भव है। यद्यपि उन्होंने अपने प्राण-त्याग का भय दिखाकर अन्नपूर्णा को अपनी वेदना के रहस्य को जानने की चेष्टा करने से विरत कर दिया था पर वे यह भली भाँति जानते थे कि अन्नपूर्णा, बड़े भाई के बड़प्पन के कारण तथा अपनी स्वाभाविक सरल प्रवृत्ति के कारण उनसे भविष्य में आग्रह तथा अनुरोध भले ही न करे, किन्तु उससे उसका परितोष न होगा। यद्यपि वह छोटी बहिन को शान्त करने के लिये कह आये थे कि वे अपनी उस रहस्यमयी व्यथा को दबाने का प्रयास करेंगे परन्तु यह बात उनसे छिपी नहीं थी कि यह एक असम्भव-व्यापार था; ऐसा करके सफलता प्राप्त करना उनकी शक्ति और सामर्थ्य के बाहर है। इसी लिये वे और भी विक्षुब्ध हो उठे। सम्भवतः जीवन में यह पहिला अवसर था जब उन्होंने अपनी छोटी बहिन को निराश और प्रतारित किया था। यह सोच कर उनका मन-मानस और भी उद्वेलित होने लगा कि उनकी विषाद-छाया अन्नपूर्णा की शान्ति और आनन्द की मृदुल-गति में मूर्तिमती बाधा बन कर खड़ी हो जायगी; वे अच्छी तरह जानते थे कि अन्नपूर्णा उनके दुःख की बात जान कर कदापि सुखी नहीं रह सकती। तब क्या

होगा? तब क्या अन्त में मुझे अपना रहस्य प्रकट करना होगा? न, न, यह कैसे सम्भव है? चाहे कुछ हो जाय, चाहे पृथ्वी पर प्रलय हो जाय, और उस प्रलय के भयंकर काण्ड में चाहे वे और उनके साथ सारा विश्व-मण्डल, क्षण भर में विलीन हो जाय, पर वे उस रहस्य को प्रकट नहीं कर सकते। प्राण देकर भी वे उस रहस्य की रक्षा करेंगे! इस सम्बन्ध में वे स्वयँ जगदीश्वर की आज्ञा को भी अमान्य कर देंगे—बसन्तकुमार ने अपने हृदय में यह संकल्प दृढ़ कर लिया।

इस प्रकार सोचते सोचते बसन्तकुमार यमुना-दुकूल पर पहुँच गये। सप्तमी के चन्द्रमा की मधुर चाँदनी यमुना की चपल सुन्दर तरङ्ग राशि से बड़े प्रेम पूर्वक गले मिल कर हँस रही थी; समस्त प्रकृति शान्ति की विश्राममयी गोद में सो रही थी, शीतल वायु भी, उस समय बड़े अलस-भाव से झूम रहा था। यमुना का कोमल कलकल उस नीरव शान्ति में एक मधुर दिव्य संगीत के समान प्रतीत हो रहा था। प्रकृति पुत्री को सुलाने के लिये मानो अनन्त-शान्ति मधुर लोरी गा रही थी। प्रकृति उसे सुनते सुनते माता की गोद में सो गई थी, परन्तु माता का गान अभी बन्द नहीं हुआ था; प्रेममयी पुत्री की सुख-निद्रा के लिये माता अभी तक लोरी गा रही थी। शान्ति के उस दिव्य राग को सुनते सुनते बसन्तकुमार भी यमुना दुकूल-वर्ती शिला-खण्ड पर बैठ गये; परन्तु और दिनों में जिस प्रकार यह दिव्य संगीत उनके हृदय को शान्त और शीतल करता था, वैसा उसने आज नहीं किया। उनका समस्त शरीर और

हृदय जल रहा था, अन्तर की अग्नि को शान्त करने का तो साधन उनके पास उपलब्ध नहीं था। पर शरीर के सन्ताप को प्रशमित करने के लिये उन्होंने यमुना के शीतल सलिल में अपने दोनों पैर डाल दिये, उससे उनके उत्तप्त कलेवर को कुछ शान्ति अवश्य मिली। परन्तु यमुना की शीतल सलिल-राशि और शान्ति का मधुर दिव्य सँगीतामृत दोनों मिल कर भी उनकी अन्तर्व्यथा को रत्ती भर भी शान्त नहीं कर सके। शीतलता उस भयँकर अग्नि में विलीन हो गई और सँगीत हाहाकार में विलुप्त हो गया। वसन्तकुमार शून्य शान्ति के बीच में ज्वालामुखी पर्वत के समान स्थिर होकर बैठे रहे। अन्तर हाहाकार कर रहा था; हृदय स्मशान के समान धकधक कर रहा था; पर चारों ओर दिव्य-शान्ति का वातावरण था। विश्व के चतुर सूत्रधार की यह कैसी मायामयी रचना है?

जहाँ पर वे बैठे थे, वहाँ पर, ठीक उनके पीछे, कुछ वृक्ष और लताओं ने एक छायामय सुन्दर कुञ्ज-भवन बना रक्खा था। उस निकुञ्ज मन्दिर में वसन्तकुमार ने अनेक बार निदाघ की प्रचण्ड ज्वाला से शान्ति प्राप्त की थी। जिस शिला पर वह उस समय बैठे थे, वह उस निकुञ्ज के तोरण-द्वार पर थी। उस निकुञ्ज के दो द्वार थे, एक तो वह जहाँ पर वसन्तकुमार बैठे थे और दूसरी ओर ठीक उस द्वार के सामने था। जिस समय वसन्तकुमार उस शिला पर बैठे बैठे अपने भावों के ताण्डव नृत्य और प्रवृत्ति-मण्डल के हाहाकार से उद्विग्न हो रहे थे, उसी समय एक गैरीक वसनधारी युवक ने निकुञ्ज के दूसरे द्वार से

प्रवेश किया। बसन्तकुमार को शिलाखण्ड पर बैठा हुआ देख कर वह युवक ठिठक गया। उसके मुख पर उस समय जो विकृति उत्पन्न हो गई थी, उससे तो यही प्रतीत होता था कि वह वहाँ पर किसी दूसरे मनुष्य की उपस्थिति की आशा करके नहीं आया था और बसन्तकुमार की उपस्थिति उसको भली नहीं मालूम हुई थी। एक बार उसने लौट जाने का विचार किया पर ठीक उसी समय बसन्तकुमार स्वतः ही धीरे धीरे कुछ कहने लगे। उनके शब्दों को सुन कर वह युवक ठहर गया वह और भी आगे बढ़ कर ठीक निकुञ्ज के प्रवेश-द्वार पर, लताओं और वृक्षों की अन्धकारमयी छाया में, चुपचाप बैठ गया। वह उत्सुक भाव से उनके मुख से निकलने वाली वाणी को सुनने लगा। जितनी ही बसन्त की वाणी की धारा प्रवाहित होती जाती थी, युवक की उत्कण्ठा और औत्सुक्य भी उतना ही बढ़ता जाता था। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि बसन्त उस युवक के आगमन से एकान्त अनभिज्ञ थे। उस युवक का विशेष परिचय हम यथा-समय प्रकट करेंगे।

हृदय की तीव्र अग्नि के दारुण उत्ताप से बसन्तकुमार जब अत्यन्त विह्वल हो उठे तब उनके मुख से स्वतः ही उनके भाव-समूह, वाणी का अम्बर परिधान करके निकलने लगे। यह एकान्त स्वाभाविक है, जब मनुष्य किसी ऐसी एकान्त स्थली में होता है, जहाँ उसके शब्दों को किसी और के श्रवण-पथ पर पड़ने की सम्भावना नहीं होती है, तब वह उस स्थल की अधिष्ठात्री देवी शान्ति को अपनी परम विश्वास-पात्री बना कर

उसके श्री-चरणों में अपनी आन्तरिक व्यथा की समस्त कथा निस्संकोच भाव से निवेदन करने लगता है। व्यथा की अभिव्यक्ति से ताप में कुछ न कुछ शान्ति अवश्य होती है—यह बात सभी जानते हैं। इस विशाल विश्व में जब व्यथित-जन कोई ऐसा विश्वासपात्र सनेही नहीं पाता है, जिसके सामने वह अपने हृदय की गुप्त पुस्तक खोल कर रख दे, तब वह स्वतः ही प्रकृति के प्रासाद में निवास करने वाली परम करुणामयी शान्ति को अपने समस्त रहस्यमय दुःख की करुण-कहानी जी खोल कर सुना देता है। वसन्तकुमार भी उस चन्द्रिका-चर्चित शान्ति की गोद में बैठ कर अपने हृदय के अग्निमय भावों को परिव्यक्त करने लग गये। वे विचारे क्या जानते थे कि जिस रहस्य को प्राणों के समान अपने अन्तर की वस्तु मानते थे; जो रहस्य वे इस विश्व में किसी के सामने प्रकट करने को उद्यत नहीं थे; जिस रहस्य की बात उन्होंने अपनी स्नेहमयी सहोदरा से भी नहीं कही थी; उनका वह प्राणों से भी अधिक मूल्यवान् रहस्य, उनके अनजाने में, दूसरे के कानों में पड़ रहा है। यदि वे कदाचित् इस बात को जान पाते कि उनके पीछे एक अपरिचित युवक बैठा हुआ बड़े मनोयोग पूर्वक उनके मुख से निकले हुये प्रत्येक शब्द को सुन रहा है, तो इसमें सन्देह नहीं कि उस हेमन्त रात्रि को, यमुना के निर्जन, नीरव-तट पर, अवश्य ही एक रक्त-रञ्जित हत्याकाण्ड अनुष्ठित हो जाता; उस वीभत्स काण्ड में किसकी बलि होती—वसन्त की अथवा उस युवक की—इसका निर्णय करना वास्तव में अनिश्चित-

भविष्य की अन्धकारमयी कन्दरा में निरर्थक घूमने के समान है। अस्तु;

वसन्तकुमार के संतप्त भाव-समूह इस प्रकार वाणी का अम्बर पहिन कर उनके हृदय-मन्दिर से बाहर निकले :—

"तब क्या होगा? जिस अग्नि की ज्वाला में मेरा हृदय और उसमें रहने वाले समस्त भाव समूह जल रहे हैं, वह क्या अवश्य ही प्रकट हो जायगी? हाय! मैं कैसा अभागा हूँ!! यह दुर्भाग्य का कठोर विधान नहीं है, तो क्या है? मैं क्या जानता था कि श्रद्धा और आदर इस प्रकार मेरे हृदय की सरल प्रवृत्ति को छल कर अन्त में उन्हें पापमय प्रेम की अग्निमयी नरक-स्थली में डाल देंगे? मैं क्या जानता था कि मेरा हृदय इस प्रकार उद्भ्रान्त होकर किसी दूसरे ही मार्ग पर चला जायगा? मैंने तो स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं की थी कि एक दिन मेरे जीवन में नरक की ऐसी ज्वाला सहसा प्रज्वलित हो उठेगी। ओफ़!

"कैसी भयंकर वेदना है? कैसा दारुण उत्ताप है? नरक! यही नरक है? यही हलाहल है? जीवन क्या है, एक श्मशान है। इस अग्नि की प्रकाण्ड चिता में मेरा समस्त संयम, मेरा सर्वस्व भाव-समूह, मेरे परम प्रिय मनोरथ—सब के सब भस्म हो रहे हैं। और मैं कुछ नहीं कर सकता! शैतान ने एक ओर से इस मेरे प्रमोद-वन में आग लगा दी और हाय! मुझे खबर तक न हुई! ओफ़! जीवन का कैसा करुण अधःपात है!

"देवी सुभद्रा! कुक्षण में मुझे तुम्हारे गृह में आश्रय मिला

था। उस दिन यदि मुझे तुम्हारे यहाँ प्रश्रय न मिलता, ऋषि-तुल्य बापूजी यदि मुझे पुत्र की भाँति अपने पवित्र चरणों में स्थान न देते, सहोदर-समान राजेन्द्र यदि सगे भाई के समान मुझे कलेजे से न लगा लेता और तुम, तुम देवी, यदि पवित्र सहज मुस्कान से मेरा भाई के समान अभिनन्दन न करतीं, तो सम्भवतः आज मेरे जीवन का अंश कालिमा से परिपूर्ण कदापि न होता? इसमें सन्देह नहीं कि इस विश्व के गम्भीर महासागर में पतवार-विहीन नाव के समान हम दोनों भाई बहिन विलीन हो जाते; पर यह नरक की ज्वाला तो मेरे हृदय को भस्म न करती! पर इसमें तुम्हारा क्या दोष है? तुमने तो मुझे स्वर्ग के समान आश्रय दिया था, मेरे ही दुर्भाग्य से वह रौरव में परिणत हो गया! तुमने तो दिया अमृत-फल, पर दुर्भाग्य ने उसे विष-फल बना दिया। जीवन के महाकाव्य का यह कैसा भीषण विरोधाभास है? सुधाकर की चाँदनी आज मेरे लिये दावानल के समान हो रही है; प्रकृति की यह समस्त सुन्दरता आज मेरे दुःख को दूना करने में सहायता सी पहुँचा रही है। ओफ़! कैसी वेदना है?

"देवि सुभद्रे! तुम्हारे अपूर्व संयम, अद्भुत इन्द्रिय-निग्रह और अखण्ड तप को देख कर मैंने भक्ति के सहित तुम्हारे श्री-चरणों में अपने हृदय की विशुद्ध श्रद्धाञ्जलि अर्पण की थी। मैं भी असीम दुःख को लेकर तुम्हारे और तुम्हारे पूज्य पिता के आश्रय में आया था, पर जब मैंने देखा कि तुमने बाल-वैधव्य की असह्य वेदना को अपने अखण्ड अनुष्ठान के द्वारा तेजोमय

तप में परिणत कर दिया है और तुम्हारा सत्सङ्ग पाकर घोर दुःख भी तेजोमय तप के समान सुन्दर हो गया है, तब मैं अपना दुःख भूल गया और तुम्हारी उस सरल प्रसन्नमयी मूर्ति के सामने मैंने अपना मस्तक नत कर दिया। तुम्हें मैंने अपना आचार्य्य बना लिया; हृदय की समस्त श्रद्धा, हृदय की समस्त भक्ति और हृदय की शेष समस्त सम्पत्ति मैंने तुम्हारे पवित्र पाद-पद्मों में साधारण भेंट के समान समर्पित कर दी। पर मैं क्या जानता था कि शैतान इस परम पवित्र भाव-मण्डल के आवरण का आश्रय लेकर किसी और ही षड्यन्त्र की रचना कर रहा है! मैं क्या जानता था कि वह मेरी श्रद्धामयी आराधना को प्रलुब्ध करके पाप के पथ पर ले जायगा? मैं क्या जानता था कि मेरी आदर-बुद्धि उसके प्रच्छन्न प्रभाव से धीरे धीरे परिभ्रष्ट हो रही है? ओफ़! पाप का वह कपट मैं जान नहीं सका! मैं संसार के अनुभव से शून्य था; प्रवृत्ति के पथ से विचलित हो जाने की बात तक मैंने नहीं सुनी थी। पर जब मैंने जाना, उस समय बहुत देर हो चुकी थी, सारा हृदय प्रज्वलित हो चुका था और उसमें मेरा समस्त संयम और निग्रह भस्म हो चुका था। मैंने उस प्रभात के प्रोज्ज्वल प्रकाश में देखा कि मैं एक ऐसे भयंकर स्थल पर पहुँच गया हूँ, जहाँ से मैं न पीछे हट सकता हूँ, न आगे बढ़ सकता हूँ! आगे मूर्तिमान् रौरव है और पीछे प्रज्वलित अग्नि-कुण्ड है। हाय! अब मैं क्या करूँ? देखता हूँ कि इस जीवन को भस्म ही करना होगा। पर क्या यह अग्नि जीवन की समाप्ति पर, मेरा पीछा

छोड़ देगी? हाय! यह भी तो एक अनिश्चित समस्या है? इस पर भी तो पूर्ण विश्वास नहीं होता है। अहह! कैसी दारुण ज्वाला है!!

"क्या? क्या रँगपुर छोड़ कर चला जाऊँ? कहाँ जाऊँ? जहाँ कहीं जाऊँगा, यह पापमयी ज्वाला तो मेरे साथ ही रहेगी। कर्त्तव्य-क्षेत्र को छोड़ कर भाग जाने पर क्या आन्तरिक अग्नि से पीछा छूट सकता है? नहीं, वह तो चिर-सङ्गिनी है, उससे कैसे निस्तार हो सकता है? और फिर अन्नपूर्णा! अन्नपूर्णा मेरे सहसा अन्तर्हित होने से कितनी व्याकुल हो उठेगी, कितनी विक्षुब्ध हो जायगी—इस बात पर विचार करने से तो मेरा एक पग भी आगे नहीं बढ़ता। अन्नपूर्णा! सरल, प्यारी अन्नपूर्णा! न, अपनी शान्ति के लिये उसे अशान्त नहीं बनाऊँगा और यह सम्भव भी तो नहीं है। यह हो ही नहीं सकता कि वह दुखी हो और मैं सुखी—न, न, उसको यदि कहीं अधिक विक्षोभ हुआ, तो मेरी यह अग्नि इतनी विकराल हो जायगी कि उसमें मेरा अवशिष्ट ज्ञान भी भस्म हो जायगा। हा! तब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ समझ ही में नहीं आता है। बुद्धि तो एक बार ही उद्भ्रान्त हो गई है। इस निदारुण व्यथा ने मेरे जीवन के समस्त अंगों को वेदना से व्याकुल कर रखा है। ओफ़! दूर तक—दूर तक, केवल अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है! नहीं, एक भी प्रकाश रेखा नहीं है, एक भी नक्षत्र की आभा नहीं है। इस अन्धकार के महासागर को मैं, मैं परम निर्बल व्यक्ति, कैसे पार कर सकूँगा—ओफ़! भयंकर ज्वाला है.........।"

बसन्तकुमार की वाणी रुक गई। हृदय के उत्तप्त प्रदेश में व्याकुल भावों का संघर्षण इतना प्रबल हो उठा कि फिर उन्हें वाणी का स्वरूप देना बसन्तकुमार के लिये असम्भव-व्यापार हो गया। उस समय उनके भाव उसी प्रकार उच्छृङ्खल भाव से इधर-उधर भाग रहे थे, जैसे आग लग जाने पर व्याकुल और विह्वल पशु-समूह बन्धन छुड़ा कर इधर-उधर प्रधावित होता है। तब बसन्तकुमार उन्हें फिर कैसे परिव्यक्त करते। वे मौन होकर निदारुण यातना के साथ महाशून्य की ओर देखने लगे। उस महा शून्य में वे क्या देख रहे थे— इसे हम तो क्या, वे स्वयँ ही नहीं जानते थे! कोमल कल्पना क्या यातना का प्रचण्ड प्रहार सह सकती है?

* * *

जब उस युवक ने देखा कि बसन्तकुमार अब मौन भाव से शून्य की ओर एक दृष्टि होकर देख रहे हैं, तब वह धीरे से उठा और पीछे के द्वार से निकल गया! चन्द्रमा की चाँदनी में उसके मुख पर जो भाव परिव्यक्त हो रहे थे, उनसे यह स्पष्ट विदित हो रहा था कि युवक के हृदय में उस रहस्य को जान कर एक प्रकार का उल्लास उत्पन्न हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि उस उल्लास का स्वरूप था शैतानी; वह उल्लास एक विकट अभिसन्धि की प्रथम सूचना थी! युवक धीरे धीरे आगे बढ़ा। बसन्त ने जिस प्रकार उसके आने की बात नहीं जान पाई थी, उसी प्रकार उसके जाने के विषय में भी वे न जान पाये—यह कहना एक प्रकार से व्यर्थ है।

युवक थोड़ी दूर पर जाकर बैठ गया। वहाँ पर भी एक शीतल शिला-खण्ड पड़ा हुआ था और यमुना की निर्मल मृदुल तरङ्गमाला उसे—उस पाषाण-हृदय को—भी बार बार चूम रही थी। यद्यपि बसन्तकुमार और उस युवक के बीच में विशेष दूरी नहीं थी, परन्तु उन दोनों के बीच में लता और वृक्षों का एक ऐसा झुरमुट था जिसके कारण वे एक दूसरे को देख नहीं सकते थे। युवक वहाँ पर ५ मिनट तक मौन भाव से बैठा रहा; उतने समय में उसके मुख पर एक के उपरान्त दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस प्रकार अनेक भाव नृत्य करके अन्तर्हित हो गये थे! उसके हृदय के समस्त विचारों का विश्लेषण करना यहाँ पर व्यर्थ होगा परन्तु इतना हम अवश्य कहेंगे कि वह किसी विकट षड्यन्त्र की आयोजना अपने मन ही मन कर रहा था। अन्त में उसने अपने हृदय में कोई विशिष्ट विचार निश्चित कर लिया और उसी समय उसके विशाल लोचन उसी प्रकार की उल्लासमयी आभा से प्रदीप्त हो उठे; जैसे किसी प्रचण्ड डाकू के विकराल नयनों में उस समय प्रादुर्भूत होती है, जब उसका शिकार उससे एक हाथ की दूरी पर होता है। एक बार वह मुस्कराया, उसने सामने यमुना की तरङ्गों पर हँसती हुई चाँदनी की ओर देखा, उस नीरव निर्जन स्थल पर तीव्र छुरिका की प्रदीप्ति के समान उसकी हँसी विलसित हो उठी!

उसी समय रात्रि की उस मधुर शान्ति को मुखरित करता हुआ, अत्यन्त मधुर कण्ठ से वह युवक नीचे लिखा मधुर राग गाने लगा, गान की प्रतिध्वनि से समस्त वातावरण गूँज उठा—

चाँदनी जैसे और खिल उठी और विश्व विमुग्ध होकर सुनने लगाः—

राग

विश्व-वन्दित विश्व के केवल तुम्हीं आधार हो।
प्राण के भी प्राण हो पुनि पुण्य पारावार हो॥
सत्य के कल्याण-पथ के तुम रुचिर आलोक हो।
शान्ति लक्ष्मी के तुम्हीं प्रभु प्राणधन श्रृङ्गार हो॥
ज्योति हो जीवन की प्यारे धर्म के ध्रुव-धाम हो।
प्रेम की पावन विभूती के तुम्हीं आगार हो॥
सींचते हो नेह-जल से आस की प्यारी लता।
व्यथित प्राणी के तुम्हीं 'हृदयेश' बस आधार हो॥

ज्योत्स्नामयी यामिनी की प्रफुल्ल शान्ति में उस युवक का मधुर स्वर गूँज उठा। सारी प्रकृति सोते से जैसे जाग पड़ी; यमुना की तरङ्ग-माला पर चन्द्रिका मानों और भी मदमयी होकर नृत्य करने लगी। उस मधुर कण्ठ की मधुर ध्वनि ने बसन्त-कुमार की भी उस व्यथित चिन्ता को भङ्ग कर दिया। वे उस युवक के अति-मधुर-राग से आकृष्ट होकर, वीणा-विमुग्ध सर्प की भाँति, उसकी ओर अग्रसर हुये। उन्हें उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि जहाँ से वह मधुर स्वर-लहरी आ रही है, वहाँ पर अवश्य कोई शान्ति सरोवर है और वे उस शान्ति-सरोवर के शीतल जल को पान करने के लिये उत्सुक भाव से उसी ओर चलने लगे। वह मानो किसी देवता का आवाहन था, जिसके प्रबल आकर्षण को अमान्य करना उनकी शक्ति से

परे था। वे मन्त्र-मुग्ध की भाँति, उसी ओर चल दिये; यद्यपि वे चाहते थे कि वे वहाँ बहुत शीघ्र पहुँच जाँय पर उनकी गति उससे अधिक तीव्र हो ही नहीं सकी। जैसे कोई हाथ पकड़ कर उन्हें ले जा रहा हो, उस समय वे इसी भाँति आगे बढ़ रहे थे।

उस समय मूर्तिमान् सौन्दर्य्य का विलास था। प्रफुल्ल प्रकृति की मनोहर-श्री थी, कलकलमयी यमुना की तरङ्ग-राशि पर आनन्दमय चन्द्रदेव की किरणमाला का ललित नृत्य हो रहा था; विमल कविता की कोमल कान्त पदावली की ललित गति की अपूर्व शोभा थी; और उस पर कलित कण्ठ की मधुर मृदुल संगीत-धारा थी। उस समय सब कुछ था—शान्ति थी, कविता थी, रागिनी थी, चन्द्र-श्री थी, नील-सलिला यमुना थी, कहने का तात्पर्य्य यह है कि उस समय मूर्तिमान् महोत्सव का सुन्दर समारोह था। उसे देख कर, आज १½ महीने में, पहिली बार बसन्तकुमार अपनी अग्निमयी व्यथा को भी कुछ काल के लिये भूल-से गये।

आनन्द और आत्म-विस्मृति दोनों ही आनन्दमयी मूर्ति के विमल सौन्दर्य्य की दो रेखायें हैं!

इक्कीसवाँ परिच्छेद

आन्तरिक प्रतीति

बसन्त चले गये, अन्नपूर्णा बैठी रही। आज तक एक प्रकार की आशा के द्वारा उसने अपने हृदय की व्यथा को उग्र रूप धारण करने से रोक रक्खा था। उसका विश्वास था कि बसन्त उसके आग्रह को अमान्य नहीं कर सकेंगे, इसी अविचल विश्वास के भरोसे पर उसने आज लगभग प्रण-सा कर लिया था कि वह भाई की विषाद-छाया का रहस्य अवश्य ही जान लेगी। पर आज पहिली बार उसके इस अखण्ड विश्वास पर प्रहार हुआ, उसकी आँखों के आँसुओं ने भी आज भाई के हृदय को इतना द्रवीभूत नहीं कर पाया कि वह अपने भयंकर विषाद का रहस्य उसे बता देते। अन्नपूर्णा को, इसी लिये, आज अत्यन्त दुःख हुआ, वह बहुत कुछ रोकने पर अपने आँसू नहीं रोक सकी। इसमें सन्देह नहीं कि भाई ने उसे अनेक प्रकार से परितोष देने की चेष्टा की थी, पर आज उसे सन्तोष नहीं हुआ। भाई की आज की बातचीत ने उसके हृदय को और भी आशङ्कित कर दिया। वह जान गई कि भाई के हृदय में कोई भीषण वेदना छिप कर

बैठ गई है। और कोई समय होता, तो कदाचित् अन्नपूर्णा रहस्य छिपाने के कारण भाई से क्षण भर के लिये मान भी करती, परन्तु भाई की आज की करुण-विषादमयी मुद्रा ने उसके हृदय में इन सब कोमल भावों को ठहरने ही नहीं दिया। उंगली के लगते ही जैसे बीणा के तार झंकारने लगते हैं, उसी प्रकार भाई के उस व्यथामय भाव और अश्रुमयी गद्गद् वाणी को सुन कर अन्नपूर्णा का स्नेहमय हृदय विकल हो उठा। यद्यपि भाई के भयंकर अनुरोध को अमान्य करना उसकी शक्ति के बाहर था, फिर भी भाई की व्यथा का कारण जानने के लिये वह आकुल हो उठी। उसकी इस आकुलता की शान्ति एक प्रकार से अत्यन्त कठिन व्यापार था, वह विषण्ण-वदन होकर उसी कठिन व्यापार को सरल करने का साधन सोचने लगी। पर क्या यह सम्भव था ?

अपनी आकुल चिन्ता को लेकर, अन्नपूर्णा बाग़ के बीच में बने हुये छोटे से सरोवर के संगमर्मर-निर्मित तट पर जाकर बैठ गई। यद्यपि उसे इस समय दूध और फल लेकर बापूजी की सेवा में समुपस्थित होना चाहिये था, परन्तु वह एक के उपरान्त दूसरा, दूसरे के उपरान्त तीसरा, इस प्रकार विचारों की श्रृङ्खला में उसका हृदय कुछ ऐसा उलझ गया कि वह सब सुधबुध खो बैठी। वह अपने नित्य-कर्तव्य को भूल गयी।

चन्द्रमा की शीतल किरण-राशि उस निर्मल सरोवर के विमल जल पर आनन्द से किलोल कर रही थी और सौन्दर्य्य

की सजीव रेखाओं के समान वह उस समय सुशोभित हो रही थी। इसी सरोवर के पूर्व ओर गुलाब की फूली हुई लतायें पूर्णयौवना सुन्दरी के समान शीतल समीर के मधुर स्पर्श से विकस्मित हो रही थीं। वह रसिक समीर बार बार उनके पल्लवाञ्चल को हटा कर उनको छेड़ रहा था और जितनी ही अधिक यह शोभामयी वेलि-बालायें अपने सलज्ज भावों को परिव्यक्त करती थीं, उतना ही वह और भी आनन्द से उन्मत्त होकर उनके साथ परिहास-क्रीड़ा करता था। इस सरोवर के दूसरी ओर एक मौलसिरी का पेड़ था; पर इस समय उसकी पुष्प-सम्पत्ति हेमन्त-तुषार के द्वारा विनष्ट कर दी गई थी। इसी लिये इस चन्द्रिका चर्चित यामिनी में वह विषाद-भाव से एकाकी खड़ा हुआ था। आज उसके इस दुर्दिन में कोई भी उसकी बात नहीं पूछने वाला था। एक दिन बसन्त की मधुर ज्योत्स्नामयी यामिनी में, जब फूलों के गुच्छे के गुच्छे उसके सुन्दर शरीर पर रत्नमयी माला के समान सुशोभित थे, उस समय अनेक भ्रमर, अनिमन्त्रित-अतिथि गण की भाँति उसके सौरभ रस का पान करते थे और बड़े मधुर स्वर में उसकी स्तुति का राग गाया करते थे; पर आज स्वार्थी चाटुकारों की भाँति, उनका कहीं पता नहीं था। आज इस दुःख की रात्रि में, जब उसके बहुत सी, पल्लव-सम्पत्ति तक नष्ट-भ्रष्ट हो चुके थे, एक भी भ्रमर उसे सान्त्वना देने के लिये वहाँ पर उपस्थित नहीं था। यही है स्वार्थमय संसार का वास्तविक स्वरूप! जिधर देखो उधर ही इसी स्वार्थ का साम्राज्य है।

पर इन सब बातों की ओर कुमारी अन्नपूर्णा का ध्यान नहीं था, वह अपने ही भावों में आत्म-विस्मृत सी हो रही थी। बार बार उसके हृदय में यही प्रश्न उत्थित होता था—भाई के इस विषाद का ऐसा क्या गुप्त कारण है जिसे वे अपनी एकान्त स्नेहमयी सहोदरा को भी नहीं बता सकते? अन्नपूर्णा अपने भाई को देवता के समान निर्मल-आचरण और स्वभाव का समझती थी। उसका यह विश्वास था कि उसके भाई बसन्तकुमार का कोई भी कृत्य, कोई भी व्यापार ऐसा नहीं हो सकता, जो धर्म से अनुमोदित न हो, पुण्य से पवित्रीकृत न हो और विशुद्ध कल्पना से समर्थित न हो। पर आज जब उसके भाई ने अपनी विषाद छाया को बताने में अत्यन्त अनिच्छा प्रकट की, तथाच अधिक आग्रह करने से प्राण-त्याग करने तक का संकल्प प्रगट किया, तब कुमारी अन्नपूर्णा को अपने हृदय के उस अविचल विश्वास को उसी प्रकार उज्ज्वल और अक्षुण्ण रखना बड़ा कठिन प्रतीत हुआ। उसके उस अखण्ड विश्वास पर आज जैसा दारुण प्रहार हुआ था, उसको देखते हुए अन्नपूर्णा का विक्षुब्ध हो जाना कोई अस्वाभाविक व्यापार नहीं था। उसने कभी स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं की थी कि भाई के हृदय की व्यथा का कारण इतना रहस्यमय है कि उसे, अत्यन्त विश्वास-पात्री बहिन के सामने प्रकट करने में भी भाई के प्राणों की इति-श्री होना सम्भव है। उसने बहुत कुछ प्रयत्न किया कि वह अपने विक्षुब्ध हृदय कोप्रबोध देवे, परन्तु हठी बालक की भाँति, आज उसका मन मानता ही नहीं था। आज जो उसके अखण्ड

विश्वास पर आघात लगा था, वह अत्यन्त प्रचण्ड था और इसी लिये भाई के प्रति पिता और आचार्य्य के समान श्रद्धा, भक्ति और स्नेह रखते हुए भी वह अपनी इस कल्पना को किसी प्रकार भी दमन नहीं कर सकी कि उसके भाई की उस भयँकर विषाद-छाया के मूल में पाप की प्रच्छन्न प्रेरणा है। पर इस कल्पना से उसके हृदय की शान्ति, उसके चिन्ता-लोक की माधुरी और उसके आनन्द-मन्दिर की सन्तोष-श्री तीनों ही अत्यन्त विचलित हो उठीं। यहाँ पर हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि कुमारी अन्नपूर्णा ने इस कल्पना को अपनी उस श्रद्धा, उस भक्ति और उस प्रीति को स्पर्श नहीं करने दिया, जिनकी सम्मिलित धारा से वह अपने भाई का सदा अभिषेक किया करती थी। यद्यपि उसके परम पावन विश्वास-मन्दिर का कलश आज धराशायी हो गया था, पर उस मन्दिर के अन्दर पुण्य-भावों के सुवर्ण-आसन पर भाई की जो पवित्र-मूर्ति विराजती थी, उसकी पूजा और अर्चना में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पाई। अन्नपूर्णा भाई की उस मर्म-भेदी शब्दावली के कारण स्वयँ चाहे कितनी विक्षुब्ध हुई हो, पर उसने अपनी सहज स्नेहधारा को पङ्किल नहीं होने दिया। अन्नपूर्णा सरल, सच्ची सहोदरा थी; भाई के अमङ्गल की आशङ्का ही ने उसे इतना कातर बना दिया था।

राजेन्द्र और देवी सुभद्रा को गये आज १½ महीने से अधिक होने आया, पर अन्नपूर्णा ने उनके वियोग-दुःख को कभी आज के समान उग्र-रूप में अनुभव नहीं किया। राजेन्द्र की मानसिक मूर्ति की वह मानसिक आराधना करती थी; देवी सुभद्रा की

निस्वार्थ सेवामयी तपस्या की सफलता के लिये वह सदा जगदीश्वरी से प्रार्थना करती थी और उन दोनों के पूज्य पिता की सेवा करते तथा अपने स्वाध्याय में रत रह कर, वह अपना समय बड़ी शान्ति के साथ व्यतीत करती थी। इस प्रकार उसने परम आनन्द की उपलब्धि की थी और उसके हृदय में स्नेह, सन्तोष, और शान्ति की त्रिवेणी सदा प्रवाहित रहती थी, जिसके पुण्य प्रभाव से उसका मन-मन्दिर विशुद्ध भावनाओं और सुन्दर कल्पनाओं का लीला-निकेतन बन गया था। पर आज भाई की वह दारुण दुर्दशा देख कर बार बार उसके सरल कैशोर हृदय में कोई कहने लगा कि यदि राजेन्द्र और सुभद्रा रङ्गपुर लौट आवें, तो उसके भाई की क्लेश-कालिमा बहुत बड़े अंश में (और बहुत सम्भव है कि सम्पूर्ण अंश में) तिरोहित हो जाय। उसके हृदय में बार बार यह भावना क्यों उत्पन्न होती थी और धीरे धीरे वह भावना बद्धमूल होकर क्यों दृढ़ होती जाती थी। इसका समुचित कारण निर्दिष्ट करने में अन्नपूर्णा समर्थ नहीं हुई थी। वह एक प्रकार का स्वयम्भू भाव (inspiration) था, जिस में से कार्य्य-कारण के सम्बन्ध का ठीक ठीक निर्देश न होने पर भी, सत्य का विपुलांश होता है। राजेन्द्र और सुभद्रा के प्रवास से भाई के दुःख का कोई न कोई परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से सम्बन्ध अवश्य है—इसकी यद्यपि उसे स्पष्ट रूप से आन्तरिक प्रतीति होती थी, पर बहुत कुछ सोचने विचारने पर भी अन्नपूर्णा उस प्रतीति का प्रत्यक्ष कारण स्थिर नहीं कर पाती थी। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन में एक नहीं,

विश्वास पर आघात लगा था, वह अत्यन्त प्रचण्ड था और इसी लिये भाई के प्रति पिता और आचार्य्य के समान श्रद्धा, भक्ति और स्नेह रखते हुए भी वह अपनी इस कल्पना को किसी प्रकार भी दमन नहीं कर सकी कि उसके भाई की उस भयँकर विषाद-छाया के मूल में पाप की प्रच्छन्न प्रेरणा है। पर इस कल्पना से उसके हृदय की शान्ति, उसके चिन्ता-लोक की माधुरी और उसके आनन्द-मन्दिर की सन्तोष-श्री तीनों ही अत्यन्त विचलित हो उठीं। यहाँ पर हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि कुमारी अन्नपूर्णा ने इस कल्पना को अपनी उस श्रद्धा, उस भक्ति और उस प्रीति को स्पर्श नहीं करने दिया, जिनकी सम्मिलित धारा से वह अपने भाई का सदा अभिषेक किया करती थी। यद्यपि उसके परम पावन विश्वास-मन्दिर का कलश आज धराशायी हो गया था, पर उस मन्दिर के अन्दर पुण्य-भावों के सुवर्ण-आसन पर भाई की जो पवित्र-मूर्ति विराजती थी, उसकी पूजा और अर्चना में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होने पाई। अन्नपूर्णा भाई की उस मर्म-भेदी शब्दावली के कारण स्वयँ चाहे कितनी विक्षुब्ध हुई हो, पर उसने अपनी सहज स्नेहधारा को पङ्किल नहीं होने दिया। अन्नपूर्णा सरल, सच्ची सहोदरा थी; भाई के अमङ्गल की आशङ्का ही ने उसे इतना कातर बना दिया था।

राजेन्द्र और देवी सुभद्रा को गये आज १½ महीने से अधिक होने आया, पर अन्नपूर्णा ने उनके वियोग-दुःख को कभी आज के समान उग्र-रूप में अनुभव नहीं किया। राजेन्द्र की मानसिक मूर्ति की वह मानसिक आराधना करती थी; देवी सुभद्रा की

निस्वार्थ सेवामयी तपस्या की सफलता के लिये वह सदा जगदीश्वरी से प्रार्थना करती थी और उन दोनों के पूज्य पिता की सेवा करके तथा अपने स्वाध्याय में रत रह कर, वह अपना समय बड़ी शान्ति के साथ व्यतीत करती थी। इस प्रकार उसने परम आनन्द की उपलब्धि की थी और उसके हृदय में स्नेह, सन्तोष, और शान्ति की त्रिवेणी सदा प्रवाहित रहती थी, जिसके पुण्य प्रभाव से उसका मन-मन्दिर विशुद्ध भावनाओं और सुन्दर कल्पनाओं का लीला-निकेतन बन गया था। पर आज भाई की वह दारुण दुर्दशा देख कर बार बार उसके सरल कैशोर हृदय में कोई कहने लगा कि यदि राजेन्द्र और सुभद्रा रङ्गपुर लौट आये, तो उसके भाई की क्लेश-कालिमा बहुत बड़े अंश में (और बहुत सम्भव है कि सम्पूर्ण अंश में) तिरोहित हो जाय। उसके हृदय में बार बार यह भावना क्यों उत्पन्न होती थी और धीरे धीरे वह भावना बद्धमूल होकर क्यों दृढ़ होती जाती थी। इसका समुचित कारण निर्दिष्ट करने में अन्नपूर्णा समर्थ नहीं हुई थी। वह एक प्रकार का स्वयम्भू भाव (inspiration) था, जिस में से कार्य्य-कारण के सम्बन्ध का ठीक ठीक निर्देश न होने पर भी, सत्य का विपुलांश होता है। राजेन्द्र और सुभद्रा के प्रवास से भाई के दुःख का कोई न कोई परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से सम्बन्ध अवश्य है—इसकी यद्यपि उसे स्पष्ट रूप से आन्तरिक प्रतीति होती थी, पर बहुत कुछ सोचने विचारने पर भी अन्नपूर्णा उस प्रतीति का प्रत्यक्ष कारण स्थिर नहीं कर पाती थी। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन में एक नहीं,

ऐसे अनेक अवसर आते हैं; जब वह अपने हृदय की किसी प्रबल प्रतीति का प्रत्यक्ष कारणों से सम्बन्ध प्रस्थापित करने में असमर्थ होकर भी, उस पर अखण्ड विश्वास स्थापित करने को विवश होता है। इतना ही नहीं, कभी कभी प्रत्यक्ष स्थूल कारणों का विपरीत निर्देश होते हुये भी, वह आन्तरिक प्रतीत को एक बार ही असत्य, असार एवँ अर्थ-शून्य मानने में एकान्त असमर्थ सिद्ध होता है। हमने प्रसंग वश इस बात का उल्लेख-मात्र कर दिया है; मनोविज्ञान की सहायता लेकर उसका विश्लेषण करना न तो हमारा अभीष्ट ही है, न उसके लिये यह उपन्यास उपयुक्त स्थल ही है। हमें तो केवल तर्क-प्रिय पाठक-पाठिकाओं को यह बात समझानी है कि अन्नपूर्णा के हृदय में जो भावना सहसा उत्थित हो गई थी, वह कोई असाधारण घटना नहीं थी; हम सबों के जीवनों में ऐसे अवसर आते हैं। ऋषियों और महात्माओं की तो यही आन्तरिक प्रतीति सच्चिदानन्द की अनुभूति कह कर शास्त्रों और उपनिषदों ने स्वीकार की है। अन्न-पूर्णा के सरल सुन्दर हृदय की प्रतीति भी उसी प्रकार सत्य-सागर की एक तरङ्ग थी। वह तरङ्ग किस कारण से उठी थी—यह जानना अन्नपूर्णा के लिये असम्भव था।

पर हृदय के विक्षुब्ध हो जाने से उसकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा प्रवाहित होने लगी थी। भाई के विशुद्ध तपोमय मन-मन्दिर की प्रचण्ड ज्वाला के विषय में जितना ही वह सोचती थी, उतनी ही उसके हृदय की भी व्यथा बढ़ती जाती थी। पर जब भाई के दुःख की बात के स्थान पर वह उस दुःख का

कारण सोचने लगी और जब अपने प्राणेश्वर राजेन्द्र और देवी सुभद्रा के प्रवास के साथ अपने भाई की व्यथा का सम्बन्ध निश्चय करने के लिये, जब वह तर्क और प्रवाह के विचार में अधिकाधिक निमग्न होने लगी, तब उसकी अश्रु-धारा बन्द हो गई। केवल उसके विशाल कमल-लोचनों के प्रान्त देशों पर एक एक बूँद आँसू और उसकी सुन्दर कपोल-श्री पर दो कण अश्रु-विन्दु अवशिष्ट रह गये। हेमन्त-रात्रि की चन्द्रिका के स्निग्ध प्रकाश में, निर्मल सरोवर के संगमर्मर निर्मित सोपान पर, अपने कपोल-कमल को अपने दहिने कर-कमल पर प्रस्थापित कर के वह, ध्यान की प्रत्यक्ष प्रतिमा की भाँति, बैठी हुई थी। उस समय उसका ध्यान-मग्न सौन्दर्य्य नन्दन-वन की कल्प-वेलि के अञ्चल में अर्ध-परिस्फुट, किन्तु प्रसुप्त पारिजात-कली के समान शोभायमान हो रहा था। हम इस लोक के निवासी हैं, इसी लिये हम निश्चित रूप से तो कह नहीं सकते; पर हाँ, यदि चन्द्रदेव के सजीव हृदय है और उस हृदय में सौन्दर्य्य और स्नेह के पवित्र भावों का निवास है, तो वे अवश्य उस समय अतृप्त नयनों से उस सरल कुमारी की लावण्य-लक्ष्मी को अतृप्त नयनों से देख रहे होंगे। बात सच हो चाहे झूँठ, पर हमारी आनन्द-मयी कल्पना को इससे अत्यन्त प्रसन्नता होती है। चन्द्रदेव की सरल कुमारिका की सौन्दर्य्य-श्री पर विमुग्ध होना कवि-दृष्टि से एक अद्भुत, अनोखा, आनन्दमय विषय है। अस्तु;

अन्नपूर्णा को इस प्रकार ध्यान-मग्न अवस्था में बैठे बैठे लगभग दो घड़ी से अधिक व्यतीत हो गई। अपनी उस अटूट

विचार-धारा में वह ऐसी निमग्न थी कि वह अपने देह की सारी सुध-बुध भूल गई थी। यहाँ तक उसके विचारों की अविरल धारा अन्त में जाकर शून्य चिन्ता में सम्मिलित हो गई थी। प्रायः यह हम सब का अनुभव है कि कभी कभी हम अपनी विचार-धारा में इतने निमग्न हो जाते हैं कि हमें अपने विचारों तक का ध्यान नहीं रहता है। हम आत्म-विस्मृत हो जाते हैं, विचारों की शृङ्खला टूट जाती है, और हम सब कुछ भूल कर मूल विषय को भी विस्मृति के हाथों में देकर, चिन्ता के उस लोक में पहुँच जाते हैं, जहाँ न द्वेष है न राग, न शोक है न विषाद, न स्मृति है न विस्मृति, जो एक छायामय विशाल विस्तार के समान है, उसी विशालत्व में हमारा मूल विषय एक साधारण बुद्बुदे के समान विलीन हो जाता है। उस समय न हम सोते हैं, न जागते; न सोचते हैं, न विचारते—उसी अवस्था को उस समय अन्नपूर्णा प्राप्त हो गई थी। इसी लिये, पल पर पल, मिनिट पर मिनिट, घण्टे पर घण्टा बीतने लगा, पर अन्नपूर्णा को इसका कुछ पता नहीं था। कहाँ तो वह बापूजी के पास जा रही थी और कहाँ वह ऐसी आत्म-विस्मृत हुई कि शीतकाल की उस तुषारमयी चन्द्रिका में सरोवर के तट पर बैठ कर वह अपनी नित्य की सेवा को भी भूल गई। आज १½ महीने में पहिली बार बापूजी की सेवा में उससे त्रुटि हुई थी। बापूजी का यह नियम था कि वे लगभग २ घड़ी रात बीतने पर अपनी समाधि से जागते थे और उसी समय वह दूध और फल का सात्विक सूक्ष्म आहार करके उप-

निषदों को शान्तिमय कानन में विहार करने लगते थे। इन दूध और फल की आयोजना का भार था पहिले सुभद्रा पर और अब अन्नपूर्णा पर। पर आज अन्नपूर्णा इस सेवा को भूल गई। भाई की विषाद-छाया ने उस किशोरी की नित्य-सेवा में भी व्याघात डाल दिया। इस समय ४ घड़ी रात व्यतीत हो चुकी थी पर अन्नपूर्णा उसी भाँति, ध्यान-मग्ना तपोमयी पार्वती की भाँति; निश्चल पाषाण-प्रतिमा की भाँति, अविचल चित्र की भाँति बैठी हुई थी।

इधर जब दो घड़ी तक बापूजी प्रतीक्षा कर चुके और अन्नपूर्णा न आई, तब उन्हें भी चिन्ता हो गई। अन्नपूर्णा की सरल सौम्य मूर्ति बापूजी के एकान्त विमल हृदय में बाल-सती की मनोहर प्रतिमा की भाँति अङ्कित हो गई थी। साक्षात् किशोरी अन्नपूर्णा की भाँति वह उनकी स्नेहमयी सेवा करके उनको संतुष्ट करती थी। उसको पाकर वे सुभद्रा और राजेन्द्र के वियोग-दुःख को अधिकाँश में कम कर सके थे, वह उनके वात्सल्य-रस की पवित्र पात्री हो गई थी। इसी लिये जब आज वह ४ घड़ी रात बीतने पर भी दूध और फल लेकर कुटी में नहीं आई, तब वे अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। क्या अन्नपूर्णा किसी भयङ्कर रोग में तो सहसा नहीं फँस गई? है कोई न कोई विशेष बात अवश्य, नहीं तो वह अब तक आई क्यों नहीं? इसी प्रकार सशङ्क हृदय से उन्होंने अन्तःपुर में प्रवेश किया। वहाँ पर भी जब उन्हें अन्नपूर्णा दिखाई नहीं दी, तब उन्होंने दासी से पूछा। दासी ने कहा कि वह घड़ी भर रात बीते बसन्त के साथ

बाग़ में थी, तब से वह यहाँ लौट कर नहीं आई। "तूने भी इतनी देर तक उसकी कोई सुधि नहीं ली"—इस भाँति दासी की कोमल भर्त्सना करके वे स्वयँ बाग़ की ओर चल दिये। इधर-उधर देखते हुये सरोवर के तट पर पहुँचे, जहाँ अन्नपूर्णा ध्यान-मग्ना होकर बैठी हुई थी। बापूजी सामने से नहीं आये थे; वे आये थे उसकी दक्षिण ओर से। वे अन्नपूर्णा के निकट जाकर खड़े हो गये, पर अन्नपूर्णा इतनी ध्यान-मग्ना थी कि उसे उनके आने की रत्ती भर भी ख़बर नहीं हुई। बापूजी ने भी सहसा उसे पुकार कर विचलित नहीं किया; वे अन्नपूर्णा की उस चन्द्रिका-चर्चित लावण्य-लक्ष्मी को देखने लगे। देखते देखते वे विमुग्ध हो गये। हम उपन्यास लेखक हैं; मानव-हृदय ही हमारी कल्पना की रंग-भूमि है। इसी लिये उस समय ऋषिवर बापूजी के प्रशान्त मन-मानस में जो विशुद्ध भाव हिल्लोलित हो रहे थे, वे हमारी अन्तर्विहारिणी दृष्टि से ओझल नहीं हो सकते। उस समय अन्नपूर्णा उन्हें ऐसी प्रतीत हो रही थी मानो साक्षात् किशोरी सती ध्यानमयी होकर चन्द्रिका की धारा में बैठी हो। उस समय अन्नपूर्णा के सुन्दर मुख-मण्डल पर पवित्र-श्री का मनोहर विलास दैदीप्यमान हो रहा था; उसकी आँखों से विश्व-प्रेम एवँ करुणा की रस-धारा प्रवाहित हो रही थी; उसके अधर पर नृत्य करने वाला मधुरिमा का समारोह अपूर्व शोभा के साथ विलसित हो रहा था; और उसका वह ललित लवाण्य बापूजी के हृदय में आनन्द और वात्सल्य को जागृत कर रहा था। बापूजी उस अनिंद्य कैशोर-कान्ति को देख कर विमुग्ध हो गये!

पवित्रता की प्रभा को, सेवा की शोभा को, प्रेम की प्रतिमा को, करुणा की रस-धारा को, शान्ति की माधुरी को एवँ महामाया की महिमा को, साक्षात् साकार रूप में अपने सामने अपूर्व सुषमा के साथ आसीन देख कर, बापूजी अनिमेष लोचन होकर, विमुग्ध दृष्टि से देखने लगे। उनके हृदय का वात्सल्य-रस उमड़ पड़ा; उनके हृदय का अनुराग जाग उठा; उनके मन-मन्दिर में रहने वाली एक अतृप्त आकाँक्षा की वीणा झंकृत हो उठी; उनके भाव-मण्डल के मध्य में विलसित होने वाला एक अर्ध-परिस्फुट भाव बड़े मधुर तेज से हँस पड़ा; उनके प्रवृत्ति-पुञ्ज की एक अस्पष्ट मनोवृत्ति अत्यन्त आनन्दमयी होकर दैदीप्यमती हो उठी; उनके कल्पना-मन्दिर में एक प्रोज्ज्वल विचार, प्रफुल्ल पद्म-राग-मणि की भाँति, विलसित हो उठा; उनकी प्रतीति के निर्मल गगन में एक शिव, सुन्दर, शुभ संकल्प बड़े समारोह के साथ उदय हो उठा। बापूजी ने उस सती की साकार बाल-प्रतिमा को मन ही मन प्रणाम करके पुकारा—'बेटी!'

अन्नपूर्णा चमत्कृत हो उठी। उसने देखा कि उसके सामने वात्सल्य एवँ तप के मूर्तिमान् स्वरूप बापूजी खड़े हैं। आज उसने बापूजी के मुख पर जो पवित्र भाव देखा, उसे अनेक बार देख कर भी उसने उसके प्रकृत अर्थ को नहीं जान पाया था। आज वह अर्थ, नील गगन में, नक्षत्रों के अक्षरों में लिखी हुई भविष्यवाणी की भाँति, उसके मानसिक लोचनों के सामने विलसित हो उठा। वह आश्चर्य-दृष्टि से बापूजी के विमल दर्पण के समान मुख-मण्डल को देखने लगी। उसे उस समय ऐसा

प्रतीत हुआ मानो तप से विभूषित होकर, तेज से उद्दीप्त होकर एवँ त्याग से सुशोभित होकर, उसके पिता ही बापूजी के स्वरूप में ऋषिलोक से उतर आये हैं। आनन्द के आँसू उसकी विशाल आँखों में उमड़ पड़े। भगवती सीता ने जिस प्रकार एक दिन महाराज दशरथ के श्रीचरणों में भक्ति पूर्वक प्रणिपात किया था; देवी सावित्री ने जिस प्रकार एक दिन अपने अन्ध-सास-ससुर के पाद-पद्म को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया था; देवी उत्तरा ने जिस पुण्यभाव से वीर-श्रेष्ठ अर्जुन के चरणारविन्द में अपना राजमुकुट मण्डित मस्तक प्रस्थापित किया था—ठीक उसी प्रकार अन्नपूर्णा ने भी, बिना कुछ उत्तर दिये, हृदय के आवेश में सहसा उठ कर, बापूजी के पाद-प्रान्त में अपना मस्तक स्थापन कर दिया। दो क्षण तक दोनों स्तब्ध रहे; तीसरे क्षण बापूजी ने उस कोमल प्रतिमा को बड़े आदर से उठा कर, बड़े वात्सल्य से उसके पवित्र शिर पर अपना पावन कर-पल्लव रख कर अन्तर से आशीर्वाद दिया—"बेटी! महामाया तुम्हारा परम मंगल करें।"

इसके उपरान्त दो-तीन क्षण तक फिर दोनों स्तब्ध रहे। बापूजी ने कहा—"बेटी! आज तू यहाँ अन्य-मनस्क भाव से कैसी बैठी है? आज तो तू अपने बूढ़े बापूजी को दूध और फल देना भी भूल गई।"

अन्नपूर्णा को अब ज्ञान हुआ कि आज उससे सेवा में त्रुटि हो गई है। उसने बड़े भोले स्वर में कहा—"बापूजी! मैं हाथ जोड़ कर आपसे प्रार्थना करती हूँ, मेरी इस त्रुटि को क्षमा कर दीजिये; अब कभी ऐसा नहीं करूँगी।"

अन्नपूर्णा की इस सरल वाणी को सुन कर बापूजी का हृदय गद्गद्, लोचन जलार्द्र एवँ कंठ अवरुद्ध हो गये। पर वे धीरे धीरे हँस कर बोले—"बेटी! मेरी दृष्टि में तेरे अपराध भी परम मधुर हैं। पर आज तू यहाँ इस समय तक क्यों बैठी है? बसन्त आया था? चला गया क्या? ऐसी शीतल रात्रि और तू यहाँ पर सरोवर तट पर बैठी है।"

अन्नपूर्णा—"हाँ बापूजी! दादा आये थे। वे यमुना जी के तट पर घूमने गये हैं। बापूजी! आज मेरा हृदय बहुत व्याकुल हो रहा है। अवश्य ही आपके सामने वैसी अशान्ति नहीं रह जाती है; पर तब भी हृदय में एक दुःख-रेखा सी अङ्कित हो गई है।"

बापूजी—"क्यों? क्यों बेटी? इसका कारण?"

अन्नपूर्णा—"कारण? बापूजी! आज दादा १½ महीने से बहुत दुखी रहते हैं। उनका स्वास्थ्य नष्ट होता जा रहा है। उनका शरीर एक बार ही कृश हो गया है। आज मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कुछ नहीं बताया। विशेष आग्रह करने पर कहा कि यदि तू चाहती है कि मैं प्राण-त्याग कर दूँ, तो मैं तुझे बता सकता हूँ। बापूजी! उनकी इस बात ने मेरे हृदय पर बड़ा तीव्र आघात किया है।"

बापूजी की मुख-मुद्रा गम्भीर हो गई; उन्होंने कहा—"बेटी! बसन्त आजकल मेरे पास भी बहुत कम आता है। और आता भी है तो प्रायः रात में। इसी लिये मैंने उसके इस विषाद-मय परिवर्तन की बात नहीं जान पाई। पर अब मैं उससे पूछूँगा।"

अन्नपूर्णा—"न ! बापूजी ! मैं आप से हाथ जोड़ कर निवेदन करती हूँ कि आप उनसे इस सम्बन्ध में कुछ न कहें। वे मुझ पर सन्देह करेंगे। मैं उनकी प्रकृति से परिचित हूँ। वे देवता हैं, पर उनकी प्रकृति में एक प्रकार का उद्धतपन है जिसे वे दूर नहीं कर पाते। बापूजी ! आप उनसे कुछ न कहें; हृदय के आवेग में वे न जाने क्या कर बैठें।"

बापूजी—"अच्छी बात है, बेटी ! पर तब भी कुछ न कुछ तो इसका निदान और औषधि करनी ही होगी।"

अन्नपूर्णा—"अवश्य ! पर इस सम्बन्ध में आप ही समर्थ हैं। बापूजी ! मेरे दादा का यह भाव मुझे बड़ा शङ्कित कर रहा है। रह रह कर मेरे हृदय में एक अनिष्ठ भावना उत्पन्न होती है। आपने मुझे और उन्हें आश्रय दिया है। बापूजी ! दया करके उनकी रक्षा कीजिये।"

अन्नपूर्णा की आँखों में आँसू आ गये। बापूजी भी विचलित हो उठे; उन्होंने गम्भीर स्वर में कहा—"बेटी ! धैर्य्य धारण करो। अपनी इस अमंगल-भावना को शान्त करो। महामाया मंगलमयी है, वे सदा मंगल करेंगी। बसन्त के ऊपर मैं राजेन्द्र से कम स्नेह नहीं करता हूँ। और बेटी ! तू तो मेरी आँखों की ज्योति है। सुभद्रा और तू—इन्हीं दोनों के लिये मैं जीवित हूँ। तेरे सरल मुख पर दुःख की छाया देखना मेरे जैसे विरागी के लिये भी सम्भव नहीं है।"

अन्नपूर्णा—"बापूजी ! आपने हम दोनों को पिता से भी

अधिक दिया है। दीदी सुभद्रा मेरी आचार्य्या हैं, आप मेरे पूज्य पिता हैं। आज मेरे भाई के ऊपर संकट है, इसी लिये मैं इतनी उद्विग्न हूँ।"

बापूजी—"संकट दूर हो जायगा, बेटी! इसमें सन्देह नहीं कि बसन्त के हृदय में अवश्य कोई विष-कीट प्रविष्ट हो गया है। उसे दूर करना ही होगा। हाँ! मैं एक बात सोच रहा हूँ, कदाचित् वही हो।"

अन्नपूर्णा—"वह क्या बात है?"

बापूजी—"अभी उसे कहने की अवश्यकता नहीं है। पर, सम्भव है, मेरा विचार ठीक न हो। पर तब भी मैंने रोग के निदान के लिये जो व्यवस्था की है, कल ही उसके अनुसार कार्य्य करूँगा।"

अन्नपूर्णा—"वह व्यवस्था क्या बताने योग्य है, बापूजी?"

बापूजी—"हाँ! मैं कल ही राजेन्द्र और सुभद्रा को अपनी यात्रा पर से शीघ्र लौटने के लिये लिखूँगा। बसन्त की स्वास्थ्य-सिद्धि के लिये उन दोनों का यहाँ होना आवश्यक ही, नहीं अनिवार्य्य है।"

अन्नपूर्णा के हृदय में एक प्रकार का सन्तोष हुआ। उसने देखा कि बापूजी और उसकी धारणा का स्वरूप एक ही सा है। बापूजी का भी यही विचार है कि राजेन्द्र और सुभद्रा के प्रवास से बसन्त की इस विषादमयी अवस्था का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। पर अन्नपूर्णा ने अपनी आत्म-सन्तुष्टि के लिये फिर प्रश्न किया—"बापूजी! आपकी इस धारणा का कारण क्या है?

बापूजी—"मैंने अपने मन में बसन्तकुमार की इस व्यथा का जो मूल कारण प्रकल्पित किया है, उसकी परीक्षा के लिये उन दोनों का यहाँ जल्दी से जल्दी पहुँचना आवश्यक है। यदि मेरा विचार असत्य भी हुआ; तो भी राजेन्द्र और सुभद्रा के आ जाने से बसन्त का मन कुछ न कुछ अवश्य बदल जायगा।"

अब की बार अन्नपूर्णा के हृदय में भी एक अस्पष्ट भावना उत्पन्न हो गई। उस भावना ने उसकी मानसिक व्यथा को और भी बढ़ा दिया। पर तौ भी वह चुप हो रही। उसने कुछ नहीं कहा। एक बार उसने बापूजी की ओर देखा, उसने देखा कि उनके गम्भीर मुख-मण्डल पर भी विषाद की एक सूक्ष्म रेखा है। हाय जगदीश! क्या यह ठीक है? बापूजी ने धीरे से जो एक ठंढी श्वाँस ली थी, उसकी ध्वनि अन्नपूर्णा ने स्पष्ट रूप से सुनी। उनकी निश्वास में वेदना की तीव्रता का स्पष्ट आभास था। उसके उपरान्त उन्होंने कहा—"चलो, बेटी! रात विशेष बीत गई है। मेरे लिये दूध और फल ले आ। फिर तू भी विश्राम कर।"

अन्नपूर्णा—"आज तैत्तरीयोपनिषद् का पारायण नहीं होगा, बापूजी?"

बापूजी—"नहीं बेटी! १० बज चुके हैं। आज अनध्याय ही सही। कल दोनों दिनों का पाठ हो जायगा।"

अन्नपूर्णा ने उनकी बात का प्रतिवाद नहीं किया; प्रतिवाद करने का उसे साहस ही नहीं हुआ। वह और बापूजी दोनों चल दिये। आगे चल कर बापूजी तो कुटी की ओर चल दिये और अन्नपूर्णा अन्तःपुर की ओर दूध और फल लाने के लिये चली गई।

साधारण दृष्टि से तो नहीं, पर सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर यह अवश्य प्रतीत होता था कि उस समय बापूजी का प्रशान्त मन मानस भी उद्वेलित और विक्षुब्ध हो रहा था। पर बापूजी ने अपूर्व सँयम और निग्रह का अभ्यास किया था। उन्होंने अपने उस भाव को हृदय-सागर के तल-प्रदेश में डाल दिया। जब अन्नपूर्णा दूध एवँ फल लेकर लौटी, उस समय उनके तेजोमय मुख-मण्डल पर वही चिर-परिचित शान्ति और आभा विलसित हो रही थी। उसे देख कर अन्नपूर्णा के हृदय को भी अतुल प्रबोध हुआ।

तप, त्याग और तेज—जो हृदय इस पुण्य त्रिवेणी का पवित्र प्रयाग तीर्थ है, वहीं पर योग की आनन्द लहरी, धर्म की उल्लास शोभा एवँ विश्व-प्रेम की विशुद्ध-श्री का निवास होता है; वहीं पर शिव का काञ्चन कैलाश है; वहीं विष्णु का सुन्दर स्वर्ग है; वहीं पर परम पुण्यमयी आदिमाता अपनी अनन्त शोभा के साथ, श्रद्धा और भक्ति के मणिमय आसन पर विराज कर, मन्द मन्द मुस्कराती है। उसी मूर्ति को हम भी सादर, सप्रेम सभक्ति, साष्टाँग प्रणिपात करते हैं।

बाईसवाँ परिच्छेद ।

नवीन चिन्ता ।

सन्तकुमार मन्द गति से उस स्थल पर पहुँच गये जहाँ वह युवक आनन्द-मग्न होकर कोमल ललित गान गा रहा था । सप्तमी के चन्द्रमा की किरणें उसके सुन्दर मुख-मण्डल का चुम्बन कर रही थीं और शीतल वायु का मृदुल हिल्लोल उसके बड़े बड़े घुँघराले केशों से क्रीड़ा कर रहा था । यहाँ पर हम उस युवक के स्वरूप, वेश और चेष्टा पर कुछ लिखने की इच्छा रखते हैं, क्योंकि यह युवक हमारी इस कथा की रंग-भूमि में एक नहीं, अनेक बार अपना अभिनय खेलने के लिये प्रकट होगा ।

युवक की आयु लगभग २५ वर्ष की होगी; उसका वर्ण गौर था; अंग परिपुष्ट थे और मत्त-मृगेन्द्र के समान उसके शरीर में बल था । यद्यपि उसका गठन मल्ल-योद्धाओं के समान था, किन्तु उससे उसके कलेवर की कोमल कान्ति में कण मात्र कमी नहीं हुई थी । उसका मुख-मण्डल सौन्दर्य्य और तेज का विलास-मन्दिर था; उसके कपोलों पर अरुण गुलाब की लालिमा

विकसित होती थी। यद्यपि युवक का वेष वैराग्य-प्रधान था, किन्तु उसके उस उज्ज्वल सौन्दर्य्य में वैराग्य-विभूति की अपेक्षा विलास-वैभव का ही विशेष बाहुल्य था। हम पहिले ही कह चुके हैं कि युवक के वस्त्र गेरुये रंग के थे, एक लम्बा कुर्ता और एक अधोवस्त्र-केवल यही दो वस्त्र उसके स्वस्थ सुन्दर शरीर को आवृत किये हुये थे। उसके पास न था दण्ड, न था कमण्डल ऐसा प्रतीत होता था मानो शरीर की लज्जा की रक्षा के लिये वस्त्रों के अतिरिक्त और उसने सब प्रकार की लौकिक सामग्री को तिलाञ्जलि दे दी थी। पर वैराग्य के ऊपर उसका इतना प्रत्यक्ष अनुराग होते हुये भी, उसके विशाल मदमय लोचनों में वह आनन्द-रस-मयी शान्ति-श्री नहीं थी, जो विश्व प्रेमी सन्यासी के नयनों में सदा विलसित होती है। उसके विशाल मस्तक पर भस्म का त्रिपुंड् शोभायमान था और उस त्रिपुंड् के बीच में एक रोली की टिकली ऐसे ही शोभित हो रही थी जैसे चन्द्र-हार में मध्य मणी का विलास होता है। उसका शिर प्रदेश घन कृष्ण कुन्तल केश-राशि से आच्छादित था और उसका अधिक भाग उसके पृष्ठ भाग पर हिल्लोलित हो रहा था, दो एक लटें उसके मनोहर मुख-चन्द्र पर भी, सर्प-शावक के समान, चञ्चल हो रही थीं। प्रायः जैसे विरागी साधुओं का समस्त शरीर भस्म से विभूषित रहता है, उस युवक के शरीर पर उस प्रकार धूलि का आवरण नहीं था। उसके वस्त्र अत्यन्त स्वच्छ और सुन्दर थे; गैरिक रंग में रंगे हुये होने पर भी वे रेशमी थे। युवक का कण्ठदेश स्फटिक माल्य और रुद्राक्ष-हार से विभूपित था। युवक के ओंठ पतले

और गुलाबी थे, धूम्रपान जनित कालिमा का कणमात्र भी चिन्ह उन पर नहीं था। युवक का समस्त शरीर यौवन की शोभा और सौन्दर्य्य की लक्ष्मी के सम्मिलित विलास से दैदीप्यमान हो रहा था पर उसमें उस आनन्द-श्री का एकान्त अभाव था जो योगियों के पवित्र कलेवर को सदा सुशोभित किये रहती है। उसके उस विमल लावण्य पर विराग-वेश अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता था पर वह उसके उपयुक्त नहीं जंचता था। सच पूछिये तो उस सुन्दर युवक को देखने से स्वतः ही मन में यह विचार उत्पन्न हो जाता था कि युवक ने किसी विशिष्ट कारण वश उस वैराग्य वेश को धारण किया था, वह उसकी वास्तविक वेषभूषा नहीं थी। युवक अपने वैराग्य वेश में ऐसा प्रतीत होता था मानो मूर्तिमान् विलास किसी देवता के शाप से परिभ्रष्ट होकर, विराग-वेश को धारण करके, यमुना के उस पवित्र शीतल दुकूल पर, अपने शाप की अवधि बिताने के लिये आकाश-मण्डल से अव-तीर्ण हुआ हो। भारत के जगज्जयी कवि ने अपने मेघदूत में जिस शाप-भ्रष्ट यक्ष की कथा अपनी विमल वाणी में विवृत की है, हमारी दृष्टि में वह युवक भी उसी का कोई वंशज था और अपने पुण्य के क्षीण होने पर वसुन्धरा की गोद में कुछ समय व्यतीत करने के लिये आया था। इस समय सुधामयी चन्द्रिका की शीतल धारा में स्नान करती हुई शान्ति और प्रकृति को देख कर उसके हृदय में मानो स्वर्ग की स्मृति जागृत हो उठी थी और इसी लिये वह अपने आकुल हृदय को प्रबोध देने के लिये अपने मधुर कण्ठ से गाने लगा था। बसन्तकुमार इस सुन्दर

युवक के मनोहर लावण्य को विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से देखने लगे। शृङ्गारमयी कविता के मूर्तिमान् सुन्दर भाव के समान, उसने बसन्त के हृदय को अपनी ओर आकर्षित कर लिया!

युवक गान में तन्मय हो रहा था, उस विमल शान्ति के मन्दिर में उसका मधुर गान गूँज रहा था, उस चन्द्रिका-चर्चित आकाश-मण्डल में उसके गान का प्रत्येक स्वर, आनन्द मग्न विहङ्ग की भाँति, उड़ रहे थे। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो चन्द्रमा उसके मधुर गान को सुन कर और भी प्रफुल्लित हो रहे हैं, शीतल वायु मानो उस ललित गान के माधुर्य पर विमुग्ध होकर उसी की ताल पर नृत्य करने लगा है, यमुना की कलकलमयी तरङ्गमाला मानो उस सरस संगीत का अनुकरण कर रही है, प्रकृति मानो अपनी सुख-निद्रा से जाग कर फिर उस स्वर-लहरी में निमग्न हो गई है। युवक का वह मधुर गान चन्द्रिका-चर्चित, यमुना चुम्बित, प्रकृति की शान्तमयी रंग-भूमि पर मूर्तिमती मोहिनी की भाँति थिरक रहा था, बसन्त उस आनन्द-मय अभिनय के सुन्दर दृश्य को आश्चर्य से अवाक् होकर देखने लगे और गान की रस-धारा से उनका हृदय अभिषिक्त होने लगा। कुछ समय के लिये उनकी वह हाहाकारमयी अग्नि उस सरस संगीत की शीतल सुधा-धारा में स्नान करके शान्त सी हो गई। शान्त तो क्या हो गई थी, हाँ, बसन्तकुमार उस सुन्दर युवक को देख कर और उस सुन्दर गान को सुन कर, अपनी अग्नि को विस्मृत कर बैठे थे। कहने की आवश्यकता

नहीं कि प्रकृति की अव्यक्त रस-धारा ने भी उनकी अग्नि को कुछ न कुछ अंश में अवश्य शान्त किया था।

उस युवक ने बसन्तकुमार के आगमन को तथा उनके उस विस्मय-विमुग्ध भाव को न जान पाया हो, सो बात नहीं है। पर उसने जान-बूझ कर ऐसा भाव प्रदर्शित किया मानो वह अपने सरस संगीत की सुधा-धारा में इतना निमग्न है कि उसे अपने चारों ओर की कुछ भी सुध-बुध नहीं है। युवक गाता रहा; बसन्त उसके पास ही खड़े खड़े उसके गान को सुनते रहे, पर उस युवक ने एक बार भी आँख उठा कर बसन्त की ओर नहीं देखा। नील सलिला यमुना की तरङ्ग राशि पर गान की ताल के अनुसार नाचती हुई सुधाकर की किरणों को वह अर्ध निमीलित लोचनों से तन्मय होकर देखता रहा। १० मिनिट के उपरान्त जब उसने अत्यन्त मधुर एवँ करुण स्वर में यह अन्तिम पद "व्यथित प्राणी के तुम्हीं 'हृदयेश' बस आधार हो" गाकर अपना सरस गान समाप्त किया, उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानो करुणा की स्रोतस्विनी उमड़ पड़ी, मानो अनुराग का सागर अपनी मर्य्यादा को अतिक्रम कर उठा, मानो हृदय के अन्तर में बहुत दिनों का जन्मजन्मान्तर का सञ्चित किया हुआ प्रेम-रस वेग-सहित प्रधावित हो उठा। उसी अन्तिम पद के साथ साथ बसन्तकुमार के विफल-प्रेम की दारुण अग्नि फिर हाहाकार कर उठी, उनके हृदय का वह प्रचण्ड उन्माद फिर उन्मत्त वेग से प्रधावित हुआ। अभी तक जो व्यथा विस्मृति के आवरण में छिपी हुई थी, वह उस सूक्ष्म पट को छिन्न-भिन्न

करके आहत सिंहिनी की भाँति क्रोध पूर्वक गर्ज उठी। वसन्त-कुमार ने आवेग के वशीभूत होकर सहसा उस युवक को इस प्रकार सम्बोधन किया—"ब्रह्मचारी युवक! तुम्हारा परिचय?"

वसन्त का यह उद्धत, उन्मत्त वाक्य सुन कर उस युवक ने बड़ी धीर गम्भीर दृष्टि से वसन्तकुमार को अपाद्-मस्तक देखा। उसकी उस दृष्टि में आश्चर्य्य था, औत्सुक्य था तथाच कुछ कुछ रोष की भी अरुणिमा थी। उसकी दृष्टि से यह स्पष्ट विदित होता था कि वह कुछ उद्वेलित हो उठा है और वसन्त के उस उद्धत प्रश्न ने उसके आत्माभिमान को जागृत कर दिया है। जैसे कोई किसी अपरिचित की ओर देखता है, जैसे कोई अपनी शान्ति में उद्धत रूप से व्याघात डालने वाले को कुछ चकित, कुछ विक्षुब्ध एवँ कुछ क्रोधमयी दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार उस युवक ने वसन्तकुमार की ओर देख कर कहा—"इस प्रकार इतने उद्धत भाव से किसी का परिचय पूछने का तुमको क्या अधिकार है?"

वसन्तकुमार के हृदय का वेग इस बीच में कुछ शान्त हो गया था। उन्होंने अनुभव किया कि वास्तव में उनका उस प्रकार उन्मत्त भाव से प्रश्न करना एकान्त अनुचित था। उन्होंने विनम्र स्वर में कहा—"क्षमा कीजिये! मैं इस समय कुछ उद्विग्न था इसीलिये मुझ से ऐसा अपराध हो गया। मैं वास्तव में इसके लिये बहुत लज्जित हूँ और बार बार आपसे क्षमा का प्रार्थी हूँ। मैं आपके श्रीचरणों में अभिवादन करता हूँ।"

वसन्त के विनीत वाक्यों को सुन कर उस युवक के मधुर

अधरों पर मृदुल हास्य की रेखा दिखाई दी। क्षण भर पहिले उसकी वाणी में जो तीव्र प्रतिवाद और रोष की झलक थी, वह एक बार ही अन्तर्हित होगई। उसने कोमल मधुर स्वर में कहा—"महामाया तुम्हारा मंगल करे। तुम्हारे मुख के भाव और तुम्हारी चेष्टाओं से तो यही प्रतीत होता है कि तुम्हारे हृदय में एक भयंकर अग्नि ज्वाला प्रज्वलित हो रही है।"

युवक की बात सुन कर बसन्तकुमार चौंक से पड़े। पर जिससे उनका वह भाव प्रकट न हो, इसलिये उन्होंने बात बदलने के ढंग से कहा—"क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ?"

युवक हँसा; व्यंग्य भरे स्वर में उसने कहा—"परिचय? हमारा परिचय ही क्या? महामाया मेरी माँ है; महेश्वर मेरे पिता हैं, पृथ्वी मेरी धात्री है, आकाश मेरा वितान है; छायामय कानन मेरा निवास है और ब्रह्म-चिन्तन मेरा परम प्रिय विषय है। यही मेरा परिचय है।"

युवक की बातों से बसन्तकुमार ने भली भाँति समझ लिया कि वह रात-दिन गलियों में भीख माँग कर पेट भरने वाला साधु नहीं है। वह अवश्य कोई विद्वान् पुरुष है, उसकी वाणी में ज्ञान की आभा है, उसके वचनों में रस की माधुरी है। इसी-लिये उन्होंने और भी विनीत भाव से पूछा—"सो ठीक है, प्रभो! पर तो भी हम मत्सरमय जीवों के लिये आप जैसे उन्मुक्त संसार-त्यागी महात्मा भी कुछ न कुछ लौकिक परिचय प्रदान करके कृतार्थ करते ही हैं।"

युवक ने उसी प्रकार सरस स्वर में कहा—"संसार-त्यागी!

मैं तो संसार-त्यागी नहीं हूँ। संसार की गोद में मैं पला हूँ। संसार के अन्न-जल से मेरा यह शरीर परिपुष्ट हुआ है, तब संसार को क्या मैं परित्याग कर सकता हूँ? न, भाई, संसार पर मेरा परम अनुराग है। यह देखो, प्रकृति का यह ललित लावण्य, कलकलमयी यमुना का यह दिव्य संगीत, सुधामयी चन्द्रिका की धारा में स्नान करती हुई यह सरस शान्ति! यह सब संसार ही की तो वस्तुयें हैं। इन्हें क्या मैं त्याग सकता हूँ? न, इन पर मेरा परम प्रेम है। संसार ही तो हमारी प्रधान कर्म-भूमि है, धर्म-क्षेत्र है, संसार की सेवा, संसार का हित—यही हमारे जीवन के परम लक्ष्य हैं, यही हमारी परम साधना के मुख्य विषय है।"

वसन्तकुमार युवक के इस उत्तर को सुन कर कुछ संकुचित, कुछ लज्जित और कुछ हतप्रभ हो गये। उन्होंने और भी श्रद्धा पूर्वक निवेदन किया—"मैंने इस उद्देश्य से आपको संसार-त्यागी नहीं कहा था। मेरा यह अभिप्राय था कि आप विश्व का हित करके, विश्व की सेवा करके भी, जल में कमल की भाँति, विश्व के मद-मोह से परे हैं। आपकी सेवा निस्स्वार्थ है; आपकी कल्याण-कामना त्यागमयी है।"

युवक ने हँस कर कहा—"सो बात भी नहीं है। संसार की सेवा करने से मुझे आनन्द मिलता है, संसार की कल्याण-कामना में मेरे निज का भी हित सम्मिलित है। संसार मेरे इतने आदर की वस्तु है कि उसे मैं अपने अन्तर में लिये हुये फिरता हूँ। भाई, यदि ऐसा नहीं है, तो पृथ्वी के प्रत्येक परिमाणु में

अधरों पर मृदुल हास्य की रेखा दिखाई दी। क्षण भर पहिले उसकी वाणी में जो तीव्र प्रतिवाद और रोष की झलक थी, वह एक बार ही अन्तर्हित होगई। उसने कोमल मधुर स्वर में कहा—"महामाया तुम्हारा मंगल करे। तुम्हारे मुख के भाव और तुम्हारी चेष्टाओं से तो यही प्रतीत होता है कि तुम्हारे हृदय में एक भयंकर अग्नि ज्वाला प्रज्वलित हो रही है।"

युवक की बात सुन कर बसन्तकुमार चौंक से पड़े। पर जिससे उनका वह भाव प्रकट न हो, इसलिये उन्होंने बात बदलने के ढंग से कहा—"क्या मैं आपका परिचय प्राप्त कर सकता हूँ?"

युवक हँसा; व्यंग्य भरे स्वर में उसने कहा—"परिचय? हमारा परिचय ही क्या? महामाया मेरी माँ है; महेश्वर मेरे पिता हैं, पृथ्वी मेरी धात्री है, आकाश मेरा वितान है; छायामय कानन मेरा निवास है और ब्रह्म-चिन्तन मेरा परम प्रिय विषय है। यही मेरा परिचय है।"

युवक की बातों से बसन्तकुमार ने भली भाँति समझ लिया कि वह रात-दिन गलियों में भीख माँग कर पेट भरने वाला साधु नहीं है। वह अवश्य कोई विद्वान् पुरुष है, उसकी वाणी में ज्ञान की आभा है, उसके वचनों में रस की माधुरी है। इसीलिये उन्होंने और भी विनीत भाव से पूछा—"सो ठीक है, प्रभो! पर तो भी हम मत्सरमय जीवों के लिये आप जैसे उन्मुक्त संसार-त्यागी महात्मा भी कुछ न कुछ लौकिक परिचय प्रदान करके कृतार्थ करते ही हैं।"

युवक ने उसी प्रकार सरस स्वर में कहा—"संसार-त्यागी!

मैं तो संसार-त्यागी नहीं हूँ। संसार की गोद में मैं पला हूँ। संसार के अन्न-जल से मेरा यह शरीर परिपुष्ट हुआ है, तब संसार को क्या मैं परित्याग कर सकता हूँ? न, भाई, संसार पर मेरा परम अनुराग है। यह देखो, प्रकृति का यह ललित लावण्य, कलकलमयी यमुना का यह दिव्य संगीत, सुधामयी चन्द्रिका की धारा में स्नान करती हुई यह सरस शान्ति! यह सब संसार ही की तो वस्तुयें हैं। इन्हें क्या मैं त्याग सकता हूँ? न, इन पर मेरा परम प्रेम है। संसार ही तो हमारी प्रधान कर्म-भूमि है, धर्म-क्षेत्र है, संसार की सेवा, संसार का हित—यही हमारे जीवन के परम लक्ष्य हैं, यही हमारी परम साधना के मुख्य विषय है।"

वसन्तकुमार युवक के इस उत्तर को सुन कर कुछ संकुचित, कुछ लज्जित और कुछ हतप्रभ हो गये। उन्होंने और भी श्रद्धा पूर्वक निवेदन किया—"मैंने इस उद्देश्य से आपको संसार-त्यागी नहीं कहा था। मेरा यह अभिप्राय था कि आप विश्व का हित करके, विश्व की सेवा करके भी, जल में कमल की भाँति, विश्व के मद-मोह से परे हैं। आपकी सेवा निस्स्वार्थ है; आपकी कल्याण-कामना त्यागमयी है।"

युवक ने हँस कर कहा—"सो बात भी नहीं है। संसार की सेवा करने से मुझे आनन्द मिलता है, संसार की कल्याण-कामना में मेरे निज का भी हित सम्मिलित है। संसार मेरे इतने आदर की वस्तु है कि उसे मैं अपने अन्तर में लिये हुये फिरता हूँ। भाई, यदि ऐसा नहीं है, तो पृथ्वी के प्रत्येक परिमाणु में

विलसित होने वाली सौन्दर्य्य-श्री को देख कर मेरा हृदय क्यों उत्फुल्ल हो उठता है? विश्व की विभूति को देख कर मैं क्यों बसन्त-कोकिल की भाँति, कूक उठता हूँ। संसार! संसार मेरे परम स्नेह का पात्र है।"

बसन्तकुमार एक ओर तो युवक के इस मधुर तर्क से अभिभूत हो गये और दूसरी ओर बार बार अपने प्रश्न का उत्तर न मिलने के कारण वे कुछ खिन्न भी हुये। पर उनसे कुछ उत्तर देते न बन पड़ा; वे दो-तीन क्षण तक युवक के मनोहर मुख-मण्डल पर लीला करती हुई आनन्द-श्री को देखते रहे। उसके उपरान्त विनीत वाणी में वे बोले—"आपसे विवाद करने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है। क्या मैं आशा करूँ कि आप अपना लौकिक परिचय देने की कृपा करेंगे?"

युवक ठट्ठा कर हँस पड़ा मानों बँधा हुआ जल-स्रोत फूट निकला हो। वह अपनी मधुर वाणी में बोला—"अच्छी बात है, सुनो। मैं ब्राह्मण कुमार हूँ। ब्रह्मचारी हूँ। इस समय इस विश्व में मेरे माता-पिता नहीं है। अपनी आत्मा की शान्ति के लिये तथा संसार की सेवा के लिये मैं सदा पर्यटन करता रहता हूँ। मैं कहीं कुटी बना कर नहीं रहता, मेरी जन्म-भूमि है विश्वनाथपुरी वाराणसी। आज मैं घूमते घूमते यहाँ आ पहुँचा हूँ। मेरा नाम है प्रेमतीर्थ; तुम्हारा परिचय?"

बसन्तकुमार—"मैं भी अनाथ ब्राह्मण कुमार हूँ। इस गाँव के ऋषि-तुल्य ज़िमींदार ने मुझे अपने यहाँ आश्रय दिया है।

उनकी ज़िमींदारी की देख-रेख मैं करता हूँ। मेरा नाम है वसन्तकुमार।"

प्रेमतीर्थ—"इसी लिये तुमने यह जानना चाहा था कि रात्रि के समय साधु वेश धारण करके कोई बटमार तो तुम्हारे प्रभु की ज़िमींदारी में प्रवेश नहीं करना चाहता है। क्यों वसन्त-कुमार! ठीक है न।"

प्रेमतीर्थ फिर बालकों के समान हँस पड़े—वसन्तकुमार प्रेमतीर्थ ने इस व्यंग्य को सुन कर अत्यन्त संकुचित और लज्जित हुये; बोले—"नहीं ब्रह्मचारी जी! मैं एकान्त प्रिय हूँ। यहाँ यमुना तट पर घूमते घूमते मेरे कानों में आपकी मधु संगीत-लहरी की ध्वनि पड़ी; उसने मुझे विमुग्ध कर लिया और मैं स्वतः ही आपकी ओर आकृष्ट हो गया। मन के एक कुत्सित आवेग में मैं आप से वैसा उद्धत प्रश्न कर बैठा। मैं फिर एक बार अपने अपराध के लिये आप से हाथ जोड़ कर क्षमा माँगता हूँ।"

प्रेमतीर्थ हँसे; बोले—"जाने दे। इन बातों में क्या रक्खा है? पर हाँ तुम्हारा एकान्त प्रिय होना एकान्त स्वाभाविक है।"

वसन्तकुमार फिर चौंके (उन्होंने उत्कण्ठा पूर्वक प्रश्न किया) "क्यों?"

प्रेमतीर्थ ने गम्भीर भाव धारण करके कहा—"क्यों? जब मन-मन्दिर में असफल प्रणय की एक अग्निमयी वेदना प्रवेश कर जाती है, जब प्रणय के प्रोज्ज्वल धवल-पट में एक प्रकार के पापमय कलङ्क का विन्दु लग जाता है, उस समय मानव हृदय

का शान्ति और संतोष की खोज में एकान्त स्थलों में विहार करना एकान्त स्वाभाविक है। पर.........।"

यह सुनते ही बसन्तकुमार के मुख-मण्डल पर विवर्णता छा गई। उनका हृदय व्याकुल हो उठा। यह ब्रह्मचारी मेरे रहस्य को कैसे जान गया? यह क्या त्रिकालदर्शी है? इसे तो मैंने कहीं देखा तक नहीं—इत्यादि आकुल भावनायें बड़े तुमुल वेग से उनके विक्षुब्ध हृदय को आडोलित करने लगीं। उन्होंने उत्कण्ठित एवँ उद्विग्न होकर कहा—"पर? पर क्या ब्रह्मचारी जी?"

प्रेमतीर्थ—"पर......पर एकान्त स्थल में वह ज्वाला और भी प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है। कर्तव्य के अजस्र परिपालन में, विश्व के निरन्तर कोलाहल में, तथा कर्म-क्षेत्र के अनवरत व्यापार में वह अग्नि कुछ शान्त भी रहती है। पर एकान्त में तो उसका स्वरूप और भी भीषण हो जाता है।"

बसन्त ने आकुल स्वर में कहा—"पर मेरे हृदय में वैसी अग्नि जल रही है, यह आपने कैसे अनुमान कर लिया! ऐसा अनुमान असत्य भी तो हो सकता है।"

प्रेमतीर्थ मुस्करा कर बोले—"तुम्हारा यह आकुल प्रश्न ही मेरे अनुमान की सत्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तुम्हारी प्रत्येक चेष्टा, तुम्हारा प्रत्येक वाक्य, तुम्हारा प्रत्येक भाव मेरे अनुमान को परिपुष्ट कर रहा है। बसन्तकुमार! मुख-मण्डल पर लीला करने वाले भाव और वाणी में प्रस्फुटित होने वाली

व्याकुलता—यह दोनों हृदय की रंगभूमि पर अभिनीत होने वाले प्रवृत्ति-अभिनय के छाया-चित्र हैं।"

वसन्तकुमार चुप हो गये, उन्होंने कुछ नहीं कहा। क्षण भर के उपरान्त फिर प्रेमतीर्थ बोले—"तुम क्या मेरी बातों का बुरा मान गये। मैंने तुम्हारे हृदय की व्यथा को बढ़ाने के लिये यह सब नहीं कहा है। तुम्हारी इस आकुलता को यदि मैं शान्त कर सकूँ, तो मुझे अत्यन्त आनन्द होगा।"

वसन्तकुमार ने व्यथित वाणी में कहा—"नहीं ब्रह्मचारी जी, मैं अप्रसन्न नहीं हुआ हूँ। वास्तव में आपके इस अगाध ज्ञान और आपके मधुर वाक्यों ने मेरे हृदय को कुछ न कुछ सान्त्वना ही दी है।"

प्रेमतीर्थ ने अविश्वास की हँसी हँस कर कहा—"सो बात नहीं है। मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारा हृदय मेरी बातें सुन कर अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठा है। रहस्य-प्रकाश की आशंका से तुम और भी आकुल हो उठे हो; पर मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे हाथों से तुम्हारा अमंगल नहीं होगा। मैं तो तुम्हारी कल्याण-कामना ही करता हूँ।"

वसन्तकुमार ने जान लिया कि अब इस विषय को छिपाना व्यर्थ है। अतः उन्होंनें अपने हृदय की आकुलता को दबाकर पूछा—"इसकी औषधि क्या है, प्रभो!"

प्रेमतीर्थ की आँखों में विजय की आभा प्रकट हुई; गुलाब के फूल के समान उनका मुख खिल उठा। पर उन्होंने अपने इस भाव को दमन करके सहानुभूति पूर्ण स्वर में कहा—"जब

व्याधि का पता चल गया है, तब उसकी औषधि की भी व्यवस्था हो ही जायगी। पर इसके लिये तुम्हें कठोर साधना करनी होगी; उग्र तप का अनुष्ठान करना होगा। बोलो; कर सकोगे, बसन्तकुमार!"

बसन्त ने श्रद्धा भरे स्वर में कहा—"आपकी सहायता से। क्या आप इस गाँव में कुछ दिन रहने की कृपा करेंगे?"

अब की बार फिर युवक के कपोल और लोचन उल्लास की आभा से आलोकित हो उठे। बसन्तकुमार की इस बात को सुन कर जैसे उसे परम सन्तोष और आनन्द हुआ हो—उसकी चेष्टा से यह स्पष्ट प्रतीत हुआ पर अपने उस उल्लसित भाव को उसने शीघ्र ही दबा दिया। उसने गम्भीर भाव धारण करके गम्भीरता पूर्वक कहा—"पर यह कैसे सम्भव है? मैं तो एक जगह अधिक दिनों के लिये ठहरता नहीं। निरन्तर पर्य्यटन ही मेरा व्रत है।"

बसन्त ने अनुनय करते हुये कहा—"पर रोगी की परिचर्य्या, दुखी की सेवा एवँ उत्तप्त को शान्ति प्रदान करना भी तो आपका कर्तव्य है। मुझे आशा है, आप मेरे इस आकुल अनुरोध को अमान्य नहीं करेंगे। जब रोग का निदान आपने किया है, तब औषधि का विधान भी आप ही को करना पड़ेगा।"

प्रेमतीर्थ क्षण भर के लिये चुप रहे, मानो वह किसी गहरी चिन्ता में निमग्न हों। इसके उपरान्त वे बोले—"बसन्तकुमार! पता नहीं क्यों तुम्हारे ऊपर इतने समय ही में सहोदर के समान मेरा स्नेह हो गया है। तुम्हारे अनुरोध को

इसी लिये, मैं अङ्गीकार करता हूँ पर एक बात है। मैं यह नहीं चाहता कि सारा गाँव मेरी उपस्थित से परिचित हो जाय। मैं यहाँ यमुना-तट पर किसी एकान्त छायामयी निकुञ्ज स्थली में रहूँगा। इसी वन में मेरा प्रच्छन्न निवास होगा और रात्रि की नीरव निर्जन शान्ति में मैं तुमसे नित्य मिला करूँगा।"

वसन्त—"अच्छी बात है। आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य्य है। पास ही में मेरे गुरुदेव श्री श्री आनन्दस्वामी की कुटी है। वे आजकल यहाँ नहीं है। आप उसमें निवास करें। वहाँ पर कोई आता जाता भी नहीं है। जब गुरुदेव पधारते हैं, उस समय अवश्य वहाँ पर कुछ लोग आते-जाते हैं, पर आज-कल उनके यहाँ न होने के कारण वहाँ कोई नहीं आता-जाता है। आपकी शान्ति में वहाँ कणमात्र व्याघात नहीं पड़ेगा। आप वहाँ निर्विघ्न रूप से रह सकते हैं। मैं आपसे नित्य इसी समय साक्षात् किया करूँगा।"

प्रेमतीर्थ—"तुम्हारी व्यवस्था बहुत ठीक है।"

वसन्त—"आपके भोजन का प्रबन्ध ?"

प्रेमतीर्थ—"मैं अन्न नहीं खाता हूँ। दूध और फल ही मेरे भक्ष्य हैं और वह भी रात्रि को एक समय।"

वसन्त—"अच्छी बात है। मैं अपने साथ ही वे सब पदार्थ लेता आऊँगा।"

प्रेमतीर्थ—"पर देखना मेरे सम्बन्ध में कोई जानने न पावे।"

वसन्त—"आप निश्चिन्त रहे।"

श्री श्री आनन्दस्वामी की कुटी में प्रेमतीर्थ को ठहरा कर बसन्त घर की ओर लौटे।

पर ज्योंही बसन्त प्रेमतीर्थ से पृथक् हुये, त्योंही उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनकी बुद्धि पर जो एक घन-कृष्ण आवरण पड़ा हुआ था, वह सहसा हट गया था। प्रेमतीर्थ के मनोहर व्यक्तित्व और उनके मधुर सम्भाषण ने बसन्त को अभिभूत कर लिया था। जैसे कोई किसी विशेष सिद्धि के प्रभाव से किसी को विमुग्ध कर दे, ठीक इसी प्रकार प्रेमतीर्थ का प्रभाव बसन्त के ऊपर पड़ा था। यद्यपि बसन्त ने प्रेमतीर्थ को आग्रह पूर्वक ठहरा लिया था, पर जब वह उससे विमुक्त हुआ, उस समय सहसा उसके हृदय में कोई यह कह उठा कि उसने ठीक काम नहीं किया है। प्रेमतीर्थ की सरस वाणी, उसका मधुर गान, उसका उज्ज्वल तर्क, उसका सुन्दर स्वरूप—इन सब ने बसन्त की बुद्धि और हृदय को एक बार ही अपने वशीभूत कर लिया था और जब उनके प्रभाव से वह परिमुक्त हुआ, तब उसके मन में एक प्रकार की व्याकुलता भी उत्पन्न हो गई। प्रेमतीर्थ का इतने गुप्तभाव से निवास करना उसके हृदय को और भी आशङ्कित करने लगा और उनके मन में भाँति भाँति के संशय उत्पन्न होने लगे। उस ब्रह्मचारी युवक के ऊपर सरल बसन्तकुमार की जो अनन्त आस्था उत्पन्न हो गई थी, वह संशय के सागर में, एक क्षुद्र लवण-खण्ड के समान, विलीन हो गई। पर बसन्त इतना आगे बढ़ गया था कि वह सहसा पीछे हट ही नहीं सकता था। जब उसने स्वयँ ही उसे अनुरोध करके ठहराया

था, तब वह कैसे उसी समय लौटकर उसके चले जाने के लिये कहता ? पर उसके हृदय के निभृत कोण में बैठी हुई कोई अज्ञात आशंका बार बार यह कह उठती थी कि प्रेमतीर्थ वास्तव में वह नहीं है, जो वह देखने में प्रतीत होता है। उसको यह आभास होने लगा कि उस गेरुये वस्त्र के नीचे कोई भयंकर हृदय छिपा हुआ है। प्रेमतीर्थ जब तक उसकी आँखों के सामने थे, तब तक उनके ऊपर बसन्त विमुग्ध था, पर ज्योंही वह उनकी आँखों से ओझल हुआ त्योंही उसका विवेक और हृदय दोनों प्रेमतीर्थ के प्रभाव से मुक्त होगये ! वसन्तकुमार के हृदय में यह भावना और भी स्पष्ट होने लगी कि जिस अग्नि को प्रशमित करने के लिये उसने प्रेमतीर्थ से सहायता की याचना की थी, वह उसके द्वारा दूर नहीं होगी। उसका हृदय बार बार उसे यह समझाने लगा कि प्रेमतीर्थ के नयनों में एक अद्भुत आकर्षण-शक्ति है; उसकी वाणी में एक आश्चर्य्यमय सम्मोहन है, पर उसके पास शान्ति और आन्तिरिक आनन्द की वह अक्षय सम्पत्ति नहीं है, जिसके द्वारा वह अशान्त, को शान्त उत्तप्त को शीतल, रोगी को निरोग एवँ व्यथित को निराकुल कर सके। उसी समय सहसा उसके गुरुदेव की प्रसन्न गम्भीर मूर्ति उसके हृदय में उदय हो उठी। उस समय उसके मानसिक लोचनों ने देखा कि उसके गुरुदेव के मुख पर जो अखण्ड आनन्द की आभा है, उनके लोचनों में जो अगाध करुणा है, उनके अधरों पर जो अक्षय सन्तोष की हास्य-रेखा है, उसका प्रेमतीर्थ के पास कहीं पता भी नहीं है। प्रेमतीर्थ की आँखों में मद की अरुणिमा,

अधर पर विलास का हास्य एवँ कपोलों पर वारुणी की लालिमा है। वे मनुष्य की अग्निमयी व्यथा को कुछ काल के लिये विस्मृति की कन्दरा में ढकेल दे सकते हैं, और सो भी मनुष्य के विवेक, हृदय एवँ मस्तिष्क पर प्रभाव प्रस्थापन करके। रास्ते में घर की ओर चलते चलते वार वार उसके हृदय में यही भाव उठने लगे कि प्रेमतीर्थ अमंगल की प्रतिमा है, वे एक मायामय ऐन्द्र-जालिक हैं; वे मानव-हृदय को अपनी मदमयी दृष्टि से अभिभूत करने की कला में एकान्त कुशल हैं। वे वैद्य नहीं है जो रोग को सुन्दर औषधि के द्वारा शान्त कर सकें, वे वास्तव में तीव्र मदिरा पिलाकर मनुष्य को अचेत कर सकते हैं। पर इससे क्या अग्नि शान्त हो सकती है? वसन्त ने अपने मन में सोचा कि उसने भारी भूल की है, पर उसने अपने मन को इस प्रकार प्रबोध दिया कि वह शीघ्र ही प्रेमतीर्थ को विदा करने की चेष्टा करेगा। उसने अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि वह अपने आप को उसके दूषित प्रभाव से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करेगा। वसन्तकमार यमुना-तट से एक और चिन्ता लेकर घर लौटे। एक ही चिन्ता के कारण विचारे का हृदय स्मशान-भूमि सा भयंकर बन रहा था, इस दूसरी चिन्ता ने तो उसमें और भी आग लगा दी। बार बार बसन्त यह सोचने लगे कि प्रेमतीर्थ को किस प्रकार बिदा करें? प्रेमतीर्थ को इस प्रकार गुप्त रीति से प्रश्रय देना उन्हें अपना एक और पापमय कृत्य जान पड़ने लगा। जब वे घर आये, तब उन्होंने देखा कि अन्नपूर्णा उस समय गीता का पारायण कर रही थी। अन्नपूर्णा

के स्नेहमय आग्रह से उन्होंने कुछ थोड़ा सा गर्म दूध पी लिया वे जाकर अपने बिस्तर पर लेट गये। पर उनके हृदय-मन्दिर के समस्त-भाव अग्निमयी शय्या पर व्यथित होकर तड़प रहे थे। और उन्हीं में यह दूसरी चिन्ता भी जाकर तुमुल कोलाहल मचाने लगी थी। वसन्तकुमार अनिद्रित नयनों से अपने हृदय-कानन की दावानल की भयंकर संहार-लीला देखने लगे।

चिन्ता के दो स्वरूप हैं—एक आनन्दमय, दूसरा ज्वालामय जो चिन्ता योगियों के प्रशान्त मन-मानस में सौरभमयी कमलिनी बनकर प्रस्फुटित होती है, वह चिन्ता पापमय हृदय में भयंकर अग्नि-शिखा बनकर हाहाकार करती है। इसमें आश्चर्य्य भी क्या है? स्वयँ जगदीश्वर का एक स्वरूप स्वर्ग की सुन्दर रंगभूमि में महामाया महा-लक्ष्मी के साथ भी विहार करता है और उनका दूसरा स्व रूप श्मशानभूमि की प्रचण्ड चिता के आलोक में, भूत प्रेत परिवेष्टित होकर, विषधर-माल्य से विभूषित होकर एवँ शव-धूलि से धूसरित होकर, रौद्र रूप से ताण्डव नृत्य करता है। स्वर्ग और संसार— दोनों ही की इस विषय में समान स्थिति है।

तेईसवाँ परिच्छेद

अनुचित अहंकार

च लिये, अब एक बार राजेन्द्र और सुभद्रा से भी साक्षात् कर आवें। इन १½ महीनों के भीतर राजेन्द्र और सुभद्रा ने अपनी ज़िमींदारी के एक बहुत बड़े अंश को देख लिया था। रुद्रपुर में जिस प्रकार उन्होंने समस्त बालक-बालिकाओं को भोजन और वस्त्रों से परितृप्त किया था, रुद्रपुर की प्रजा को उन्होंने जिस प्रकार अनुराग और आदर से अपनाया था, उसी प्रकार जहाँ जहाँ वे गये, जिस जिस गाँव में उन्होंने पदार्पण किया, वहाँ वहाँ उनका वही क्रम रहा। अपनी आँखों से अपनी प्रजा की अवस्था देख कर राजेन्द्र और सुभद्रा ने उनकी अत्यन्त आवश्यकताओं को भली भाँति जान लिया था। उनके प्रेम-पूर्ण एवँ सहानुभूति-सरस व्यवहार से प्रोत्साहित होकर उनकी प्रजा ने, निःसंकोच भाव से, अपने अभाव और आवश्यकताओं को प्रभु-पुत्र और प्रभु-पुत्री की सेवा में सादर एवँ साग्रह निवेदन कर दिया था। यदि हम उनके प्रत्येक गाँव की रिपोर्ट दें, तो अवश्य ही इस उपन्यास का कलेवर बहुत विस्तृत हो जायगा। और

साथ ही साथ हमारा कथा भाग भी नीरस और शुष्क हो जायगा। इसी लिये हम ऐसी असार चेष्टा से विरत होते हैं। जैसा हम पहिले कह चुके हैं कि राजेन्द्र और सुभद्रा ने अपने प्रोग्राम में अपनी ज़िमींदारी के अतिरिक्त और भी कई जमींदारों की ज़मींदारी में जाने का निश्चय किया था। अपनी समस्त ज़िमींदारी का दौरा करके वे अपने उस गाँव में पहुँचे जो उनकी ज़िमींदारी की अन्तिम सीमा पर अवस्थित था। इस समय हमारी कथा की रंग-भूमि यही गाँव है। इस गाँव का नाम है विलासपुर। विलासपुर में आये हुये उन्हें आज तीसरा दिन है। परसों वे इस गाँव से एक दूसरे ज़िमींदार के गाँव में जाने का विचार कर रहे हैं। यहाँ से उनके निज की जन्म-भूमि रंगभूमि केवल २० मील है। उनकी ज़िमींदारी अर्ध-चन्द्ररेखा में में अवस्थित थी। विलासपुर में विशेषतया किसी एक जाति के लोगों की संख्या का आधिक्य नहीं था; जहाँ ऊँचे कुल के ब्राह्मणों के ४ घर थे, वहाँ कुछ डोम चमारों के भी ३—४ घर थे। कुछ थोड़े से मुसलमान भी इस गाँव में रहते थे। उनमें भी सब पठान ही नहीं थे; कुछ जुलाहे भी थे। पर राजेन्द्र और सुभद्रा का सभी ने समान प्रेम और आदर से अभिनन्दन किया, राजेन्द्र और सुभद्रा ने भी जाति-गत वैमनस्य और विरोध को दूर ही से नमस्कार कर लिया था। इस गाँव में आने पर राजेन्द्र के सामने अन्त्यज लोगों की समस्या बड़े भीषण रूप से आकर उपस्थित हुई। एक दिन तो बड़ी भीषण घटना हो गई—उसी की बात हम नीचे लिखते हैं।

एक दिन की बात है। प्रातःकाल का समय था—सूर्य्यदेव को गगनदेश में पदार्पण किये हुये लगभग १½ घंटे से अधिक हो चुका होगा परन्तु हेमन्त ऋतु के कारण उनका दर्शन अत्यन्त प्रिय प्रतीत होता था। राजेन्द्र प्रातःकाल की शुद्ध शीतल वायु सेवन करने के लिये गाँव के पश्चिमीय प्रान्त पर प्रवाहित होने वाली सरमा नदी के दुकूल पर गये हुये थे। प्रभात के प्रोज्ज्वल प्रकाश में चाँदी की तरल-धारा के समान चमकती हुई सरमा नदी दिव्य संगीत गाती गाती पयोधि-पति के पास जा रही थी। प्रकृति भी उस समय सुन्दर श्रृङ्गार किये हुये प्रभात-सूर्य्य के चारु दर्शन कर रही थी। राजेन्द्र प्राकृतिक शोभा का निरीक्षण करते करते इधर उधर विहार कर रहे थे। उनके हृदय में उस समय अपूर्व शान्ति विराज रही थी। वे मन ही मन किसी आवश्यक सुधार की आयोजना कर रहे थे कि उसी समय उनके कानों में एक मर्मभेदी ध्वनि पड़ी—"अरे मार डाला रे ! दौड़ियो ! बचाइओ !!" राजेन्द्र चकित होकर वहीं ठिठक गया, और क्षण भर के उपरान्त वह उसी ओर को प्रधावित हुवा जिधर से वह करुण चीत्कार आई थी थोड़ी दूर पहुँचने पर उसने देखा कि एक निर्बल वृद्ध एक प्रौढ़ मनुष्य की लाठी के आघात से अचेत होकर पृथ्वी पर पड़ा हुवा है। प्रौढ़ मनुष्य इतने पर भी सन्तुष्ट न होकर उस असहाय वृद्ध को अनेक कुवाच्य कह रहा है। पास पहुँचते ही राजेन्द्र ने एक दृष्टि में जान लिया कि मारने वाले तो हैं मिश्र गदाधर-प्रसाद जी और आहत व्यक्ति है नेमू चमार। इन दो दिनों ही में

राजेन्द्र गाँव के प्रत्येक व्यक्ति का परिचय प्राप्त कर चुका था। राजेन्द्र ने जल्दी से अपना साफ़ा नदी में भिगोया और उसे फाड़ कर आहत व्यक्ति के शिर पर लगे हुये आघात पर कपड़े की तर गद्दी रखकर बाँध दिया। धीरे धीरे उसने नेमू चमार के मुख पर पानी के छींटे देना प्रारम्भ किये। धीरे धीरे नेमू चमार ने आँखे खोल दीं। प्रभु-पुत्र को अपनी सेवा में संलग्न देख कर नेमू विचारा बड़ा संकुचित हुआ, वह कुछ कहना ही चाहता था कि राजेन्द्र बोल उठा—"चुप रहिये काका जी! आप बोलिये मत। आपको बोलने में कष्ट होगा; मैं आपको अभी ले चलने का प्रबन्ध करता हूँ।" इतना कहकर उसने बड़ी तीव्र दृष्टि से मिश्र जी की ओर देखा। मिश्र जी पहिले ही से प्रभु-पुत्र के इस अनाचार को देखकर आश्चर्य्य से अवाक् हो रहे थे। मिश्र जी अपने मन में इस प्रकार की कल्पना कर रहे थे—"यह कैसे ब्राह्मण के पुत्र हैं? चमार को छूते इन्हें घृणा भी नहीं आती। इतना ही, नहीं चमार को आप काका कह कर पुकार रहे हैं? क्या कहूँ आज यह देवता यदि ज़िमींदार के पुत्र न होते, तो मैं इनकी भी वही गति करता, जो इस नेमू चमार की मैंने की है।" पर जब राजेन्द्र ने क्रोध भरी दृष्टि से मिश्र जी की ओर देखा, तब वे एक बार ही घबड़ा उठे और उनकी उस आकुलता में उनकी वह कल्पना, न जाने कहाँ विलीन हो गई। भय से उनका हृदय काँप उठा; लाठी पृथ्वी पर गिर पड़ी, मुख पर विवर्णता छा गई और उनके मुख का भाव उस समय कुछ ऐसा हो गया कि यदि वहाँ कोई दर्शक होता तो अवश्य ठठाकर हँस पड़ता।

राजेन्द्र ने गर्ज कर कहा—"क्यों मिश्र जी! यह क्या बात है? तुमने इन नेमू काका को क्यों लाठी से मारा? ऐसा इन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था?"

मिश्र जी भय-विकम्पित कण्ठ से बोले—"अन्नदाता! इसने चमार होकर मुझे छू लिया। मैं स्नान किये हुये जा रहा था उसी समय इसने देखा न भाला और अपना कपड़ा मेरे शरीर में छुला दिया। इसी लिये मैंने क्रोध में आकर धीरे से एक लाठी मार दी अन्नदाता!"

मिश्र जी की बात सुनकर राजेन्द्र और भी कुपित हो उठा। उसने रोषमयी वाणी में कहा—"धीरे से लाठी मार दी? इनका शिर फूट गया, यह बेचारे अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े और तुम कहते हो तुमने धीरे से लाठी मार दी। तुम्हें लाज नहीं आती मिश्र जी। मान लिया, अनजाने में इनके कपड़ा तुम से छू भी गया, तो क्या यह मनुष्य नहीं हैं? क्या भगवान ने इन्हें नहीं बनाया है? तुमसे कौन सी वस्तु इनके पास कम है?"

मिश्र जी प्रभु-पुत्र का रोषमय मुख-मण्डल देखकर और भी संत्रस्त हो उठे। धीरे धीरे विनम्र स्वर में बोले—"पर चमार तो है। हम ब्राह्मण हैं, हम ईश्वर के स्वरूप हैं। चमार क्या स्नान किये हुये ब्राह्मण को छुवेगा? ऐसा घोर कलियुग! न, अन्नदाता, धर्म की ऐसी हानि हमसे नहीं सही जायगी।"

राजेन्द्र ने सात्विक क्रोध से उद्दीप्त होकर कहा—"चमार के स्पर्श-मात्र से यदि ब्राह्मण के धर्म की हानि होती हो, तो ब्राह्मण

का धर्म अत्यन्त निर्बल है। मिश्र जी! अभी यदि मैं तुम्हें पुलिस के हाथ में दे दूँ और तुम्हें जेलखाना हो जाय, तो तुम वहाँ जाकर देखोगे कि चमार के क्या, भंगी तक के छूने से ब्राह्मण के धर्म की हानि नहीं होती है। मिश्र जी! तुमने आज बहुत बड़ा पाप कर्म किया है। तुम्हें अपने पाप कर्म के लिये दण्ड भोगना पड़ेगा। मैं अपनी आँखों के सामने ऐसा अत्याचार और अनाचार नहीं देख सकूँगा।"

मिश्र जी के होश उड़ गये। उनकी मानसिक दृष्टि के सामने जेलखाने की उस अंधेरी कोठरी का चित्र खिंच गया, जिसमें एक बार वे डाके में संलिप्त होने के संदेह में २ महीने तक रह आये थे। सौभाग्य से उस समय वे छूट गये थे पर आज राजेन्द्र ने जब उन्हें उसी नरक-सदृश जेलखाने में भिजवा देने की बात कही, तब उनका हृदय भय से विकम्पित हो उठा। वे भय से विह्वल होकर कातर वाणी में बोले—"अन्नदाता! दुहाई है। मैं भी ब्राह्मण हूँ आप भी ब्राह्मण हैं। क्या इस नीच चमार के पीछे आप ब्राह्मण को जेलखाने भिजवावेंगे। न, अन्नदाता, आपके हाथों में ऐसा घोर अनर्थ न होना चाहिये, गीता में भगवान ने लिखा है कि ब्राह्मण मेरा स्वरूप है.........।"

मिश्र जी की बात बीच ही से काट कर राजेन्द्र कुमार भयंकर क्रोध से गर्ज उठे—"चुप रहो मिश्र जी! गीता का पवित्र नाम अपने अपवित्र मुख से मत उच्चारण करो। तुम जैसे नृशंस दया-शून्य ब्राह्मण को गीता की दुहाई देने का कण-मात्र अधिकार नहीं है। मनुष्य न नीच है न ऊँच, अपने ही गुण

के अनुसार वह नीच और ऊँच की पदवी पाता है। आप अपने आपको परम पूज्य ब्राह्मण मानते हैं पर कहाँ है आपका वह पवित्र शान्त ब्राह्मणत्व, जो संतोष की सीमा, शान्ति का सरोवर एवँ विश्व-प्रेम का रत्नाकर है? आप तो निर्मम निशाचर के समान निर्दयी और दया-शून्य बधिक के समान निर्दय हैं। इधर देखिये, इनको देखिये। इन विचारे वृद्ध की क्या दशा है? उम्र इनकी ६० वर्ष की, शरीर इनका दुर्बल, और आपने इनके ऊपर रत्ती भर भी दया नहीं की। इनके वस्त्र मात्र के स्पर्श से आप इतने उत्तेजित हो उठे कि इन्हें आपने लाठी से मार गिराया। यही क्या ब्राह्मणत्व है? ब्राह्मणत्व तो शान्ति, सन्तोष और क्षमा की त्रिवेणी से पवित्र किया हुआ प्रयाग-तीर्थ है, वह हिंसा, रोष और विद्वेष की पिशाच-भूमि नहीं है। याद रखना मिश्र जी! जिस ब्राह्मण के हृदय में दया नहीं है; जिसका मन-मन्दिर क्षमा की विभूति से विभूषित नहीं है, जिस ब्राह्मण की वाणी में विनय का विलास और जिसकी दृष्टि में करुणा का भाव नहीं है, वह ब्राह्मण चाण्डाल के समान है। केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से, दो पैसे का यज्ञोपवीत धारण कर लेने से और नाम के साथ मिश्र की उपाधि धारण कर लेने से ब्राह्मणत्व नहीं मिलता है। वह तो तपोमयी साधना से सिद्ध होने वाली दिव्य विभूति है। मिश्र जी! तुम्हें अपने इस पाप का दण्ड भोगना ही पड़ेगा। मेरे हाथों में भगवान ने अपने कुछ सेवकों की रक्षा का भार दिया है, मैं उस जगन्नियन्ता के दिये हुये भार को न्याय, सत्य एवँ पुण्य की आज्ञा के अनुसार ही अपने शिर पर वहन

करूँगा। तुमने इन असहाय वृद्ध पर लाठी छोड़ी है; उसके दारुण पाप का दण्ड तुम्हें भोगना ही पड़ेगा। तुम इससे किसी भाँति नहीं बच सकते। न्याय की दृष्टि से तुम घोर अपराधी हो।"

अब तो मिश्र जी अत्यन्त विचलित हो उठे। अभी दो घड़ी पहिले जो ब्रह्मदेव निर्भय निशंक होकर निर्बल चमार के ऊपर लाठी चला बैठे थे, वे अब सबल प्रभु-पुत्र की भृकुटि देख कर कायर के समान विकम्पित हो उठे। इस बीच में चमार को भी यथेष्ट चैतन्य लाभ हो चुका था, वह एकान्त चित्त से प्रभु-पुत्र और ब्रह्मदेव की बातें सुन रहा था। राजेन्द्र के प्रत्येक शब्द में जो अनन्त माधुर्य्य, आन्तरिक सहानुभूति एवँ विशुद्ध स्नेह झलक रहा था, उसने नेमू चमार के हृदय को आनन्द रस से भर दिया और राजेन्द्र के प्रति उसके मन में अगाध श्रद्धा, असीम आदर और अनन्त स्नेह उत्पन्न हो गये। नेमू चमार की दृष्टि में राजेन्द्र साक्षात् देव-किशोर की भाँति प्रतीत होने लगा। उसने देखा कि उसकी आँखों के सामने भगवान की प्रोज्ज्वल विभूति, सहानुभूति की प्रफुल्ल प्रतिभा एवँ उदार स्नेह साकार स्वरूप में स्थित होकर उसके मन-मन्दिर के घोर अन्धकार को अपनी पावन-प्रभा से दूर कर रहा है। उसने देखा कि अन्धकार के आवरण के हटते ही उसके हृदय में आत्म-गौरव की आभा चमक उठी और उसने भी यह जान लिया कि वह भी भगवान के पवित्र हाथों का बनाया हुआ पवित्र मनुष्य है। नेमू चमार उस महिमामय दृश्य को देख कर आनन्द से उत्फुल्ल हो उठा और आनन्द के उस

उज्ज्वल आवेश में वह अपने क्षत का दर्द बिल्कुल भूल गया। उसका हृदय, जो जन्म से घृणित व्यवहार पाते पाते रस-हीन हो गया था, उसकी वह आँखें, जो अपमान और अनादर के निरन्तर निष्पीड़न से रोते रोते अश्रु-विहीन हो गई थीं और उसका विवेक, जो उच्च जातियों के सतत् अत्याचार से एक वार ही परिभ्रष्ठ हो गया था—वे तीनों,—हृदय, लोचन एवँ विवेक—आनन्द, शान्ति और प्रेम की सम्मिलत प्रभा से उज्ज्वल, उद्दीप्त एवँ पवित्र हो गये। सच पूछिये तो उसके हृदय में अपूर्व सतोगुण एवँ विमल ब्राह्मण-वृत्ति, जागृत हो उठी। राजेन्द्र की सत्य-न्याय-मयी वाणी सुन कर, पुण्य और धर्म के प्रति उसका वह मधुर, किन्तु अखण्ड आग्रह देख कर, एवँ मानवी स्वतन्त्रता और समानता के लिये उसका वह दिव्य पक्षपात देख कर, नेमू आन्तरिक उल्लास से विभोर हो गया। वह सहसा उठ बैठा; पीड़ा और निर्बलता उसकी आवेश-धारा में विलीन हो गई; उसने प्रेम और आनन्द से गद्गद् होकर राजेन्द्र से कहा—"मेरे देवता! इन्हें क्षमा कर दीजिये। इन पर रोष मत कीजिये। मेरे भाग्य ही में यह दुःख बदा था। मेरा इन पर कोई द्वेष नहीं है। भैया! इन्हें जाने दो; यह फिर भी ब्राह्मण है! मैं फिर भी चमार हूँ। तुम्हारे पैर छू कर मैं यही विनती करता हूँ कि तुम इन्हें दया करके क्षमा कर दो। भगवान तुम्हारा मङ्गल करेंगे।"

इतना कह कर नेमू चमार आनन्द के आवेग में राजेन्द्र के चरणों में गिर पड़ा। जल्दी से बड़े आदर पूर्वक उसे उठाकर

राजेन्द्र ने गले से लगा लिया। दोनों की आँखों में आँसू आगये। वह एक महिमामय दृश्य था। उस दिन उस पुण्य प्रभात के पावन आलोक में मानव-स्वतन्त्रता और समानता की वह पवित्र विजय देख कर आकाश के देवता आनन्द से जय-घोष कर उठे। नेमू को कलेजे से लगाकर, नेमू को, वयोवृद्ध होने के कारण अपना गुरुजन स्वीकार करके, उस दिन ब्राह्मण-कुमार राजेन्द्र ने सात्विक क्रोध के साथ हिन्दू-समाज के सब से बड़े कलङ्क के शिर पर तीव्र वेग से पाद-प्रहार किया। उसके इस पुण्य-कर्म से धर्म उत्फुल्ल हो उठा; पुण्य प्रफुल्ल हो उठा; स्वतन्त्रता का सरोज सरसित हो उठा। समानता के सिद्धान्त की उस मङ्गल-मयी विजय से समाज श्रीमय हो उठा। उस दिव्य प्रभात के उज्ज्वल प्रकाश में, पुण्यमयी सरमा नदी के पवित्र सुन्दर दुकूल पर, उस ऊँच नीच के पापमय विभेद की पराजय पर मानव-स्वतन्त्रता और समानता को विजय का संगीत चारों ओर परिव्याप्त हो गया। राजेन्द्र ने गद्गद्, किन्तु गम्भीर स्वर में कहा—"देखते हो मिश्र जी! इनमें और तुममें कितना प्रकाण्ड प्रभेद है। तुम अपने आपको ब्राह्मण कह कर अहङ्कार करते हो पर कृत्य है तुम्हारे निर्मम नृशंस निशाचर के समान, इन्हें तुम नीच चमार मानते हो, पर इनके उदार व्यापार में पूज्य ब्राह्मणत्व की पवित्र प्रभा झलक रही है। तुमने अपने पापमय क्रोध के वशीभूत होकर, अपनी शैतानी प्रवृत्ति और कलुषित अहङ्कार की परितुष्टि के लिये, जिस महानुभाव के पुण्य शिर-प्रदेश पर लाठी का दारुण आघात किया था, वे द्वेष और प्रतिहिंसा की

तिलाञ्जलि देकर, तुम्हें हँसते हँसते क्षमा कर रहे हैं! कैसा असीम अन्तर है। सच कहना मिश्र जी, ब्राह्मण तुम हो या यह! इन पुण्य जन के सामने तुम कितने क्षुद्र और नीच प्रतीत हो रहे हो। जाओ, अब कभी ऐसे पाप कर्म करने का साहस मत करना! नेमू काका ने तुम्हें क्षमा कर दिया है। देखना, इस पवित्र क्षमा का कभी दुरूपयोग मत करना। सावधान!"

मिश्र जी लज्जित होकर चले गये। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रभु-पुत्र के अस्पृश्यता-सम्बन्धी स्पष्ट प्रबल विरोध ने तथाच अछूतों के प्रति उन के उस पुण्य-पक्षपात ने उनकी ज़िमींदारी में अपमानित एवँ अनाहत अन्त्यज जाति की स्थिति बहुत कुछ सुन्दर बना दी। उस दिन से उनकी ज़िमींदारी में अछूत के अपमान करने का किसी को साहस नहीं हुआ।

अपने ही राज्य में अपने ही बनाये हुये मनुष्य का इतना अपमान और तिरस्कार जगन्नियन्ता को भी असह्य हो उठता है। इसी लिये अस्पृश्यता का प्रश्रय देना भागवती-शाप का जान-बूझ कर आवाहन करना है।

चौबीसवाँ परिच्छेद

पवित्र आयोजना

भद्रा आदर्श विधवा थी। वैधव्य-व्रत की पुण्य-कठोर साधना में वह सिद्धि-लाभ कर चुकी थी। ब्राह्म-मुहूर्त से एक घड़ी पहिले ही वह अपनी भूमि-शय्या को परित्याग कर देती थी; सूर्य्योदय से पहिले ही वह स्नान, पूजन इत्यादि से निवृत्त हो जाती थी, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, शिशिर, हेमन्त कोई भी ऋतु उसके इन नित्य-कर्मों में वाधा नहीं डाल सकती थी। आज भी नित्य की भाँति स्नान-पूजन से निवृत्त हो कर सुभद्रा अपने निवास-स्थान के खुले हुये आँगन में किसी चिन्ता में निमग्न होकर टहल रही थी। चिन्ता की मधुर छाया ही में उसकी प्रवृत्ति का विकास हुआ था, यह चिन्ता उसी पुण्यमयी भावना की मधुर सखी थी, जो योगियों के हृदय में शान्ति और अनुभूति का स्वरूप धारण करके आनन्द-पूर्वक विहार करती हैं। प्रभात-प्रकाश में उसका वह वैराग्य-विभूषित मुख-मण्डल, सन्तोष और शान्ति की शोभा से, अत्यन्त मनोरम प्रतीत हो रहा था और पवित्रता की उज्ज्वल आभा उस पर नृत्य कर-

रही थी। ठीक उसी समय उस आँगन में एक २०-२१ वर्ष की युवती ने पदार्पण किया। उसे देखते ही सुभद्रा का चिन्ताशोभी वदन-मण्डल आनन्द से खिल उठा और उसने अत्यन्त स्नेह एवँ आदर से उसका स्वागत किया। उसका हाथ उसने अपने हाथ में ले लिया और उसे बड़े प्रेम से ले जाकर उसने बरामदे में शीतल पाटी पर बैठाया। आप भी उसी के सामने कुशासन पर बैठ गई। आगत रमणी अत्यन्त सुन्दरी थी, उसके मुख पर आनन्दमयी चञ्चलता का आभास स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर हो रहा था। देखने से ऐसा प्रतीत होता था मानों उसके अधरों पर सदा हँसी खेला करती है, आमोद और रस-रंग पर मानों उसका अपार अनुराग है और एक बार दुर्धर्ष विपत्ति में भी मानों वह ज्योतिर्मय रत्न-माला के समान प्रकाश विकीर्ण कर सकती है। ऐसे जन दुःख और क्लेश में भी कहीं न कहीं से एक रसमय व्यंग्य का आविष्कार कर लेते हैं, पर जब विपत्ति उनके सिर पर, ठीक एक बाल भर के अन्तर पर आ पहुँचती है, उस समय उनकी हँसी सहसा, चञ्चल सौदामिनी की भाँति, अन्तर्हित हो जाती है और उसके स्थान पर एक भयङ्कर वज्र संकल्प प्रकट होता है जिसे देख कर एक बार शिव और शैतान दोनों आश्चर्य्य-चकित हो जाते हैं। इस श्रेणी की रमणी हलाहल का प्याला अधरों पर रख कर प्राणेश्वर को रस भरी दृष्टि से देख सकती है और अपनी कोमल छाती को छुरी से विदीर्ण करके, वे प्रणय पात्र की ओर, मुसकराते हुये अवलोकन कर सकती हैं। आगत रमणी के चरित्र का यह संक्षिप्त विश्लेषण है।

सुभद्रा ने मृदुल स्वर में कहा—"मैं तो तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रही थी, बहिन !"

रमणी—"मेरा विश्वास है कि मुझे विलम्ब नहीं हुआ है।"

सुभद्रा—"नहीं, तुम ठीक नियत समय पर आई हो, न एक पल इधर, न एक पल उधर। पर कदाचित् तुम से यह बात छिपी नहीं होगी, कि जो किसी की प्रतीक्षा करता है, वह निश्चित समय से बहुत पहिले ही व्याकुल हो उठता है। ठीक है न, बहिन !"

रमणी—"बिल्कुल ठीक ! इसमें रत्ती भर झूँठ नहीं है। पर मैं नहीं जानती थी कि मैं एक ही दिन में तुम्हें अपने वश में कर लूँगी। दीदी ! क्या सचमुच मैं जादूगरनी हूँ ?"

सुभद्रा—"सो तो कैसे कहूँ ? पर तुम्हारी मधुर बातों में, तुम्हारी चिर-हास्यमयी मुख-श्री में तथा तुम्हारी इस रंगमयी प्रकृति में आकर्षण और सम्मोहन का निवास अवश्य है।"

रमणी ने खिली हुई कली के समान हँस कर कहा—"है अवश्य ! नहीं तो तुम्हारी जैसी वैराग्यमयी योगिनी को भी मैं कैसे इतनी जल्दी अपने प्रेम-पाश में और लावण्य के इन्द्रजाल में सदा के लिये फाँस लेती ?"

सुभद्रा—"अच्छी बात है। पर अब हमें उन बातों पर विचार करना चाहिये जिनके विषय में तुम मुझ से एकान्त में मिलने के लिये इतनी आतुर हो उठी थीं।"

रमणी—"हाँ दीदी ! प्रेम और रसरंग की बातें एकान्त ही में

होती हैं। इस समय घर में कोई है तो नहीं ? कहो तो दरवाज़ा बन्द कर आऊँ। क्या आज्ञा है ?"

सुभद्रा ठहरी वैराग्य की अनुरागिणी, उसे रसरँग की बातें नहीं रुचती थीं पर इस रमणी की मधुर रसरँगमयी प्रकृति से वह परिचित थी। इसी लिये उसकी बातों से उसे हँसी आ गई। उसने थोड़ा गम्भीर होकर कहा—"जाने दो बहिन! विधवा-जीवन में इस रसरंगमयी गोष्ठी के लिये स्थान नहीं है। हम सन्यासिनी हैं, सेवा और साधना ही हमारा धर्म है। यह रसरँग तुम्हारे—तुम परम पुण्यमयी सौभाग्यवती नारियों के—आमोदमय जीवन का एक अनिवार्य्य आनन्द है, हम इस सीमा से परे हैं।"

सुभद्रा के इन करुण, किन्तु मधुर शब्दों को सुन कर रमणी के चिर-प्रफुल्ल मुख-कमल पर विषाद की छाया प्रादुर्भूत हो गई, उसके मन में ग्लानि का उद्रेक हो गया, उसकी विशाल मद-भरी आँखों में आँसुओं के दो बूँद छलक उठे। उसने विनय-गद्गद् स्वर में कहा—"क्षमा करना मेरी दीदी! मैं वास्तव में बड़ी मूर्ख हूँ। समय कुसमय, पात्र अपात्र का मुझे ज्ञान नहीं रहता है। मैं कभी कभी अपनी बुरी प्रकृति के वशीभूत होकर न करने वाली बात कह जाती हूँ।"

सुभद्रा—"जाने दो! मैं तो महामाया आदि जननी से यही प्रार्थना करती हूँ कि तुम्हारा सौभाग्य हिमालय के समान अटल, पारिजात के समान मधुर एवँ मन्दाकिनी के समान पवित्र बना रहे। भगवती करे तुम्हारे पूज्य पतिदेव का हृदय

तुम्हारी इस आमोदमयी प्रकृति के उज्ज्वल आलोक से सदा उद्भासित रहे। बहिन! रसरंग तुम्हारे लिये दूषण नहीं है, वह तुम्हारे सुन्दर सौभाग्य का भूषण है।"

रमणी—"दीदी! तुम्हारा पवित्र आशीर्वाद मेरा परम मंगल करे।"

सुभद्रा—"अच्छा बहिन! तुम मुझ से क्या कहना चाहती थीं?"

रमणी—"दीदी! परसों रात्रि को दीपक के प्रकाश में मैंने तुम्हारे पवित्र मुख-मण्डल पर उदार विश्व-प्रेम की आभा देखी थी। उसे देखते ही मेरे हृदय की श्रद्धा और प्रीति, दोनों एक धारा होकर तुम्हारे चरणों की ओर प्रवाहित हुईं। तुम्हारे मुख से निकली हुई अमृतवाणी के रस को मैंने आनन्द-पूर्वक पान किया; मैंने अनुभव किया कि तुम्हारे उपदेशों में दिव्यवाणी का विलास है। कल फिर मैंने तुम्हारे दर्शन किये। परन्तु बहुत सी स्त्रियों की समुपस्थिति में मैं तुम से न कुछ कह सकी, न पूँछ सकी। इससे मेरी तृप्ति नहीं हुई। तुमसे एकान्त में मिल कर, बिना किसी बाधा के, बिना किसी संकोच के, तुम्हारे अमृतमय उपदेशों और दिव्य प्रवचनों को सुनने के लिये मैं आकुल हो उठी। इसी लिये मैंने इस समय तुम्हें इतना कष्ट दिया।"

सुभद्रा—कष्ट! न बहिन, यह कष्ट नहीं है। मैं आई ही इसी लिये हूँ। मेरी बहुत दिनों से ऐसी इच्छा थी कि मैं तुम सब से मिल कर, तुम सब से बातें करके, अपने जीवन को सार्थक

करूँ। भगवती ने मेरी वह अभिलाषा पूरी की। सच कहती हूँ बहिन, मैं अपने साथ स्नेहमयी, आनन्दमयी, पवित्र-स्मृति लिये जा रही हूँ जो मेरे इस सन्यास जीवन में सदा दिव्य नक्षत्र के समान दैदीप्यमान रहेगी। पर क्या सचमुच इतने ही के लिये तुमने इस प्रभातकाल में मुझे दर्शन देकर प्रसन्न किया है?"

रमणी—"पवित्र आत्माओं का यह विनम्र प्रेममय स्वरूप त्रैलोक्य की सर्वश्रेष्ठ विभूति है। दीदी! इस प्रभात में तुम्हारे पवित्र दर्शन करके मेरे लोचन सफल हुये हैं, मेरे हृदय के कपाट खुल गये हैं। प्रेम की प्रतिभा, सेवा की सुन्दरता और त्याग की शोभा—इन सब का मैंने तुम में दिव्य सम्मिलन देखा है। पर देवता के मन्दिर में हम संसारी पुरुष किसी कामना ही को लेकर जाते हैं; देवता के प्रसाद से हमारी इच्छा पूरी होती है।"

सुभद्रा—"यह सब तुम नहीं कह रही हो, तुम्हारे हृदय में बैठी हुई विमल प्रेम की पवित्र प्रवृत्ति ही तुम्हारे इस सुन्दर मुख से वाणी बनकर निकल रही है। नहीं तो मैं भगवान की इस विशाल सृष्टि में एक तुच्छ परिमाणु के समान हूँ। पर तौ भी, बहिन, यदि मैं किसी प्रकार तुम्हारी थोड़ी सी भी सेवा करके तुम्हें थोड़ा सा भी सन्तुष्ट कर पाऊँ, तो मुझे परम प्रसन्नता होगी और मेरा जीवन सफल होगा।"

रमणी—"दीदी! तुम्हारे श्रीचरणों की कृपा से मुझे वह सब कुछ प्राप्त है, जिसे पाकर रमणी अपने को परम सौभाग्यवती

एवँ इस विश्व को स्वर्ग के समान समझने लगती है। सरल-सुन्दर शिव के समान मेरे आराध्यदेव हैं; व्यापार में उन्होंने यथेष्ट धन उपार्जन किया है। उनका मुझ पर अगाध प्रेम है; और उनके अत्यधिक अनुराग ने ही मेरी प्रकृति को चंचल और रंगमयी बना दिया है। दीदी! आज मैं अपने लिये कुछ नहीं माँगने आई हूँ, मुझे तो तुमने बे-माँगे ही अहिवात का मंगलमय वर दे दिया है। दीदी! आज मैं कुछ उन अभागिनी स्त्रियों की दारुण दुर्दशा की कथा आपको सुनाने आई हूँ, जिन्हें दुर्भाग्य अपने निठुर अत्याचार से पीसे डाल रहा है। उन्हीं की रक्षा के लिये मैं आप से निवेदन करूँगी।"

सुभद्रा—"मेरी प्यारी बहिन, मेरे जीवन का तो व्रत ही यह है कि मैं अपने शरीर का प्रत्येक परिमाणु तक अपनी बहिनों और माताओं की सेवा में समर्पित कर दूँ। बहिन! तुम अपनी बातें स्पष्ट रूप से कहो।"

रमणी—"कहती हूँ। कहने ही के लिये आई हूँ। दीदी! मेरा अनुभव बहुत विशाल नहीं है पर मेरी आँखों के सामने दो तीन ऐसी मर्मभेदिनी घटनायें उपस्थित हुई हैं, जिनके स्मरण-मात्र से मुझे अत्यन्त वेदना होती है।"

सुभद्रा—"उन घटनाओं का विवरण सुनाने में अब विलम्ब न करो, मेरी बहिन?"

रमणी—"सुनो दीदी! इसी गाँव में मेरी एक सखी रहती हैं। वे जाति की ब्राह्मण हैं। ५ वर्ष हुये दुर्भाग्य से उनके पति का देहान्त हो गया। उनके एक देवर था, पति के मरने के

उपरान्त वह उनका अभिभावक बना। भगवान ने उन्हें रूप दिया था, और उनके यौवन-वन में उस समय बसन्त फूला हुआ था। देवर ने धीरे धीरे उनके, संसार-ज्ञान के अनुभव से शून्य मन में, कलुषित विचारों को प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया और एक दिन उनका धर्म-भ्रष्ठ कर दिया! उस नीच ने उन्हें बड़ी बड़ी आशायें दिखाईं, उसने उन्हें प्रलोभन दिया कि वर्तमान समय में विधवा-विवाह हो सकता है, मैं तुम्हारे साथ विवाह कर लूँगा। एक तो वह था उनका अभिभावक, दूसरे उसकी बातों में ऐसा प्रलोभन था, जिसने उस सरल युवती की बुद्धि को परिभ्रष्ठ कर दिया। वे पतित हो गईं। धीरे धीरे उनके गर्भ रह गया। उस समय अपनी उस लज्जामयी स्थिति के परिणाम को सोचकर वह व्याकुल भाव से विवाह करने के लिये जितना ही उस दुष्ट से आग्रह करती थीं, उतना ही वह पापी शैतान उनसे दूर हटता जाता था। धीरे धीरे वह अपना शैतानी स्वरूप प्रकट करने लगा, धीरे धीरे वह उन पर अत्याचार करने लगा। होते होते अत्याचार की मात्रा यहाँ तक बढ़ी कि एक दिन उस नीच ने उन्हें उन निराश्रया, निरावलम्बिनी गर्भवती विधवा को घर से बाहर निकाल दिया। उनका सब कुछ उसने छीन लिया। सारे गाँव में उसने यह समाचार फैला दिया कि वे जारिणी हैं; उनके गर्भ है। असहाया युवती इस विशाल विश्व में अत्याचार का ऐसा दारुण साम्राज्य देख कर अत्यन्त भयभीत हो उठी, उसे चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पड़ने लगा। इधर तो आसन्न-प्रसवा, उधर

गृह-हीना और उस पर भी धन के नाम से पास फूटी कौड़ी भी नहीं। पर क्या करतीं, बहुतेरा रोई-धोई, पर उस पापी ने आश्रय नहीं दिया। उस गाँव में भी सब निशाचर ही रहते थे, उनमें से भी किसी का हृदय द्रवीभूत नहीं हुआ और किसी ने उस निराश्रया और निष्पीड़िता युवती को आश्रय देकर उसकी वेदना को कम करने की चेष्ठा नहीं की। अन्त में वे उस पिशाचपुरी को परित्याग करके चल दीं। किसी प्रकार भीख माँग कर उन्होंने अपने दिन काटना प्रारम्भ किये। अन्त में शिशिर की मध्यरात्रि में उन्होंने एक पुत्र प्रसव किया। उस समय वे एक नगर की दुर्गन्ध दूषित गली में पड़ी थीं! बालक को तो भगवान ने अपने पास बुला लिया; युवती फिर भीख माँग माँग कर अपने व्यथित प्राणों की रक्षा करने लगी। एक दिन सहसा वह इस गाँव में आ निकली। प्रातःकाल का समय था और मैं उस समय नदी-तट पर स्नान करने के लिये गई थी। वह धीरे धीरे मेरे पास आई; उस समय उसकी जो दशा थी, उसे देखते ही मेरा हृदय उमड़ पड़ा। उसके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण थे; वह बड़ी कठिनता से अपनी लज्जा निवारण कर रही थी। अभाव और अत्याचार ने उसके कोमल शरीर को शक्तिहीन और कृश कर दिया था। उसने आँखों में आँसू भर कर अत्यन्त वेदना भरे शब्दों में मुझ से भोजन की याचना की। हाय! तीन दिन से उसने भोजन नहीं किया था। मैं उसे घर पर ले आई; उसे स्नान कराया, कपड़े दिये, भोजन कराया। देवि! जिस समय उसने मेरे अत्यन्त आग्रह करने पर बड़े करुण-स्वर में;

गद्गद् कण्ठ से, अश्रुलोचना होकर अपनी वेदना की कहानी सुनाई, उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों मेरे हृदय पर किसी ने तीव्र आघात किया हो। मैंने उसे सान्त्वना देकर गले लगा लिया; अपने पास ही एक छोटे से मकान में मैंने उसे रख लिया। आज वह मेरी सखी है, उसका अधिक समय भगवच्चिन्तन में तथा तप-पूजन में बीतता है। उसका शेष समय सीने-पिरोने में बीतता है। मेरे बहुत कुछ मना करने पर भी वह अपने भोजन-वस्त्र के लिये स्वयँ उपार्जन कर लेती है। दीदी! हमारी जाति की ऐसा असाहाया नारी को पाप से बचाने के लिये आपने क्या सोचा है?"

सुभद्रा रो रही थी, उसका कोमल हृदय उस वेदना भरी कहानी को सुन कर अत्यन्त व्यथित हो गया था। उसने कुछ क्षण के उपरान्त कहा—"बहिन, मैं सच कहती हूँ, मुझे इस विश्व में होने वाले शैतान के अत्याचारों का पूरा पूरा पता नहीं है। इसी लिये मैंने इस सम्बन्ध में अब तक कुछ नहीं सोचा है। वास्तव में नारी को शैतान के इस पाप-पाश से बचाने से बढ़ कर दूसरा कोई पुण्य नहीं है। बहिन, तुम धन्य हो, आदि माता की तुम पर अपार कृपा है जो उसने तुम्हें ऐसी सेवा करने का शुभ अवसर प्रदान किया। वास्तव में तुम बन्दनीया हो, तुम्हारे चरणों में मैं प्रणाम करती हूँ।"

रमणी—"दीदी! तुम्हें ऐसा कहना नहीं सोहता है। मैं तो तुम्हारी चरण-धूलि के एक सामान्य परिमाणु बराबर भी नहीं हूँ। सच कहती हूँ, दीदी, इस करुण कहानी ने बहुत

समय से मेरे हृदय में एक भयंकर आन्दोलन मचा रखा था। बार बार मेरे हृदय में यह कल्पना उठती थी कि असहाय एवँ अभागे नारी-मण्डल की सहायता के लिये कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिये। मेरी एक और बाल सखी थी; उनके पति उनसे किसी बात पर अप्रसन्न होकर उन्हें छोड़ कर दूर देश को चले गये। कहते लज्जा और दुःख होता है कि ससुर के अनुचित अत्याचार से आकुल होकर उन्होंने नदी में कूद कर प्राण दे दिये! मेरी एक रिश्ते में भौजाई लगती थी; पति के मरने के उपरान्त उन्होंने दरिद्रता और अभाव से दलित होकर आत्म-हत्या कर ली, पीछे हमें उनका समाचार मिला। इन्हीं सब मर्म-भेदिनी घटनाओं को देख-सुन कर, दीदी, मेरा हृदय बहुत दिनों से व्याकुल हो रहा था। मैं चाहती थी कि कुछ करूँ, पर मुझे मार्ग दिखाने वाला कोई नहीं था। पर जब परसों मैंने दीपक के प्रकाश में तुम्हारे दर्शन किये, उसी समय मेरे मन में, न मालूम क्यों, यह धारणा स्वतः ही उत्पन्न हो गई कि अब मुझे मंगल-मार्ग दिखाने वाला मिल गया। तुम्हें देखते ही मैंने जान लिया कि तुम्हारा अनुकरण करके, तुम्हारी आज्ञा का परि-पालन करके, मैं अपनी अनाथिनी बहिनों का कुछ न कुछ उप-कार साधन कर सकूँगी।"

सुभद्रा—"क्या तुमने अपने पति-देव से भी इस विषय में कुछ सम्मति ली है? और क्या तुमने भी इस सम्बन्ध में कुछ सोचा-विचारा है बहिन?"

रमणी—"न, दीदी, उनसे मैंने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं

पूँछा। कहते लज्जा आती है पर बात तो यह है कि दिन भर के उपरान्त जब वे सायंकाल को घर पर आते हैं, उस समय उनका मन-मोहन दर्शन करके मैं सब कुछ भूल जाती हूँ। संसार की सारी चिन्तायें, सारे विचार, सारे संकल्प, सारे विकल्प, उस समय न मालूम कहाँ अन्तर्हित हो जाते हैं। दिन भर में मैं जो सोचती हूँ, वह क्षण भर में भूल जाती हूँ। रस-रङ्ग, आमोद, आनन्द—इसी त्रिवेणी में हम केलि-लीला करते करते विश्व की समस्त भावनायें भूल जाते हैं। रोज़ सोचती हूँ—आज उनसे पूछूँगी; पर जब पूछने का समय आता है, तब सब बिसर जाता है। दूसरे उनसे पूछना भी व्यर्थ है। मैं जानती हूँ, वे सब कुछ मेरे ही ऊपर छोड़ देते हैं। वे उपार्जन करते हैं, मैं व्यय करती हूँ। (हँस कर) दीदी! मैं महाराणी हूँ, वे मेरे सेनापति हैं।"

सुभद्रा उस सुन्दरी के इस सरल रसमय व्यंग्य को सुन कर मुस्करा पड़ी; बोली—"जय हो महाराणी की! जगदीश्वरी करे महाराणी और सेनापति का यह पवित्र प्रेम ध्रुव-नक्षत्र के समान स्थिर और प्रकाशमान रहे।"

रमणी—"तुम्हारा आशीर्वाद शिर माथ पर! पर देवी! तुम स्वयँ इस सम्बन्ध में क्या आज्ञा करती हो।"

सुभद्रा—"मैं क्या बताऊँ? पर मैं इतना अवश्य कह सकती हूँ कि इस समय इस बात की परम आवश्यकता है कि इन अनाथिनी अबलाओं को शैतान के अत्याचार से बचाने की चेष्टा की जाय और इस बात का समुचित प्रबन्ध किया जाय कि वे

सांसारिक आपत्तियों से बचने में समर्थ हो सकें। बहिन, सच बात तो यह है कि मैंने कभी अपने मन में यह कल्पना तक नहीं की थी कि अपने को परम करुणामय भगवान का स्वरूप मानने वाले पुरुष, अनाथ अबला पर ऐसा भयंकर अत्याचार कर सकते हैं। अवश्य ही मेरा अनुभव इस विषय में अत्यन्त संकुचित है। मेरी भी एक सखी है। उसका पति अभी बालक है। उसके स्वशुर ने वृद्धावस्था में विवाह किया है। वृद्ध और उसकी पत्नी उस पर भयंकर अत्याचार करते हैं। आज तुम्हारी बातों ने मुझे उसका स्मरण दिला दिया। परन्तु, बहिन, मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि पुरुष अपनी पापमयी वासना की शान्ति के लिये रमणी के पवित्र सतीत्व को भी विनष्ट कर सकता है। पुरुष के इस दारुण अत्याचार की कथा से मैं, सच पूछो तो, अब तक अनवगत थी। सच्ची बात तो यह है कि राग-रोष रहित स्नेहमय ऋषितुल्य पिता की सेवा में सदा संलग्न रहने के कारण, मैं इस विश्व पर होने वाले शैतान के भीषण अत्याचारों से पर्य्याप्त रूप में परिचित नहीं हूँ।"

रमणी—"इसका प्रधान कारण यह है कि तुम इस विश्व की नहीं, स्वर्ग से भी ऊँचे, ऋषि-लोक की पवित्र विभूति हो। मैंने अपने पति-देव के मुख से सुना है कि भगवान् बुद्धदेव भी पहिले यह नहीं जानते थे कि विश्व, वेदनाओं की लीला-भूमि है; रोगों की विहार-स्थली है; दुख और दारिद्र्य का क्रीड़ा-मन्दिर है। वे यह नहीं जानते थे कि यह जगत् अनन्त क्लेशों का भंडार है; यहाँ का प्रत्येक पदार्थ विनाश का लक्ष्य है। पर भगवान् को

तो उनके द्वारा अपने मंगलमय उद्देश्य की पूर्ति करनी थी; वे तो उनके द्वारा अहिंसा की अमृतमयी धारा प्रवाहित कराके विश्व का संताप शान्त करना चाहते थे। इसी लिये एक दिन सहसा विश्व का वास्तविक स्वरूप उनके सामने प्रकट हो गया। संसार की वेदनायें, रोग-राशि एवँ दुख-दारिद्र्य—सब के दृश्य उनके दयामय लोचनों के सामने आ गये। उनका करुण हृदय रो उठा; विश्व की शान्ति के लिये, वे राजमहल को छोड़ कर चल दिये। देवि! तुम भी वैसी ही आत्मा हो; तुम्हारा दर्पण-विमल मुख-मण्डल इस बात का स्पष्ट साक्षी है। यही कारण है कि मेरे मुख से रमणी-मण्डल की विपत्ति-कथा सुनते ही तुम्हारे हृदय की करुणा जागृत हो गई। मेरा विश्वास है कि अब तुम अवश्य ही अभागिनी, अनाथिनी अबलाओं को शैतान के जाल से बचाने की आयोजना करोगी और उनकी शान्ति और मुक्ति की भी व्यवस्था तुम्हारे ही द्वारा होगी।"

सुभद्रा—"बहिन, इतनी विशाल आत्मा से मेरी तुलना ही क्या? पर तौ भी मैं रमणी-समाज की इस दुरावस्था का वृतान्त सुन कर अत्यन्त उद्विग्न हो उठी हूँ। रुद्रपुर में भी मुझे एक ऐसी ही अनाथिनी अबला का दर्शन हुआ था; पर मैंने उस समय उसे एक अपवाद मात्र समझा था। पर अब मुझे विश्वास हो गया है कि हमारे इस अभागे देश में ऐसी बहुत सी अभागिनी एवँ अनाथिनी अबलायें हैं, जो पुरुष की पापमयी वासना और अत्याचार के हाथों से असह्य यातना भोग रही हैं। इस भयँकर सत्य को जान कर मेरा हृदय टूक टूक हुआ जा रहा है!

रमणी—"होना ही चाहिये। वहिन, मैं जानती हूँ कि तुम्हारी विशुद्ध-भावना के द्वारा इन अभागिनी अबलाओं की रक्षा की कुछ न कुछ अवश्य ही व्यवस्था होगी। देवि! जिनकी आत्मा शुद्ध है, हृदय दयामय है, बुद्धि विमल है, कल्पना उज्ज्वल है और प्रवृत्ति पर-हित की साधना करने वाली है, उनके लिये स्वयँ जगन्माता मंगलमयी आयोजना प्रस्तुत कर देती है। इसी लिये मेरा यह अटल विश्वास है कि तुम इस सम्बन्ध में जो कुछ कहोगी, वह अवश्य मंगलमय होगा। इसी लिये मैं तुम्हारी सम्मति जानने के लिये विशेष उत्सुक हूँ।"

सुभद्रा—"मैंने इस विषय में विशेष कुछ विचार नहीं किया है पर फिर भी मेरे हृदय में बार बार यही उठता है कि इसी जगह—तुम्हारे इसी गाँव में, एक विशाल भवन बनाया जाय; जिसमें उन अभागिनी एवँ अनाथिनी अबलाओं को जो शैतान के दारुण अत्याचार से निष्पीड़ित हों, सानन्द और सादर आश्रय दिया जाय। किन्तु इतने ही से काम नहीं चलेगा। उन्हें यहाँ रख कर रोटी कपड़ा देने ही से उनका सुधार और उद्धार नहीं होगा। उन्हें इस योग्य बनाना होगा कि वे आत्म-गौरव को जान सकें और उन्हें इतनी शक्तिमयी बनाना होगा कि वे शैतान और उसके सहायकों के विरुद्ध साहस पूर्वक खड़ी हो सकें। उनके हृदय में जो दिव्य शक्ति इस समय सोई हुई है, उसे जगाना पड़ेगा। भीख के तौर पर उन्हें भोजन वस्त्र देकर उनके आत्म-सम्मान को विनष्ट कर देना और भी हानि-कर होगा। इसी लिये इस विशाल भवन में उनकी शिक्षा और

दीक्षा का भी समुचित प्रबन्ध होना चाहिये। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जिससे वे स्त्रीत्व की महिमा और अपने सम्माननीय आसन की गरिमा को जान सकें। उन्हें कला-कौशल सिखा कर इस योग्य बनाना होगा जिससे वे अपनी आजीवका के लिये पराई सहायता न ढूँढती फिरें। बहिन, यह सदा स्मरण रखना कि जो उपकार उपकृत का आत्म-गौरव विनष्ट कर देता है और जो सहायता प्राणी को निर्बल एवँ पर-निर्भर बना देती है, वह अमृत नहीं विष है, आशीर्वाद नहीं अभिशाप है। उससे तो लाभ हो ही नहीं सकता।"

उपरोक्त वाक्यों को कहते कहते सुभद्रा के सरल मुख-मण्डल पर और दयामय लोचनों में एक दिव्य आभा विलसित हो उठी। उसे देख कर वह रमणी भी आनन्द और अनुराग से उत्फुल्ल हो गई। उसने कहा—"ठीक कहती हो देवि! तुम्हारी यह आयोजना बड़ी सुन्दर है। उसके नीचे अगाध करुणा, गम्भीर सहानुभूति और अपार स्नेह की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। बहिन, देवता की प्रेरणा की उसमें स्पष्ट झलक है। सत्य का उज्ज्वल आलोक उसे दैदीप्यमान कर रहा है। बहिन, मेरी एक विनय है, आज्ञा हो तो निवेदन करूँ।"

सुभद्रा—"बहिन, इस दुराव का क्या अर्थ है? मैं तुम्हारी बहिन हूँ, तुम मुझे सहोदरा के समान प्रिय हो। तब इस प्रकार पूछने की आवश्यकता कहाँ रह जाती है?"

रमणी—"बहिन, भगवत्कृपा से मेरे पति देव ने व्यापार में १ लाख रुपया कमाया है। मैं इस शुभ कार्य्य के लिये २५

सहस्र रुपयों पर तुलसी-दल रखती हूँ। देवि ! इस धन को अपनी इस मँगलमयी आयोजना में लगाने की कृपा करना।"

सुभद्रा—"बहिन, तुम मूर्तिमती उदारता हो। तुम्हारे इस उदार भाव ने मेरे हृदय को प्रफुल्लित कर दिया है। जहाँ मेरा हृदय नारी की अनाथ अवस्था को जानकर विचलित हो गया था, वहाँ अब यह जान कर मुझे परम सन्तोष हुआ है कि उनकी रक्षा के लिये उनकी समृद्धि-शालिनी बहिनें सब कुछ करने को तैयार हैं। जब पतित बहिनों को उठाने के लिये उनकी सौभाग्यमयी बहिनों का इतना प्रेममय आग्रह है, जब अनाथ अबला को आश्रय देने के लिये उनकी उदार बहिनों का ऐसा सुन्दर संकल्प है, तब अवश्य महामाया उनके दुःख दूर करेंगी; हम लोगों के हृदय की यह भावना भी उसी मातेश्वरी की अपार करुणा की प्रेरणा है।"

रमणी—"ठीक कहती हो, बहिन, यदि ऐसा न होता तो क्यों आज तुम अपना शान्ति-कुञ्ज छोड़ कर इस प्रकार एक जगह से दूसरी जगह मारी मारी फिरतीं ? स्वयँ जगज्जननी की प्रेरणा से तुम यहाँ आई हो; तुम्हारे ही द्वारा यह मंगलमय उद्देश्य सफल होगा। बहिन, आशीर्वाद दो कि अपने पतिदेव के पाद-पद्म में स्थित होकर अपनी जाति की निस्वार्थ सेवा करके मैं अपना जीवन सफल करूँ ?"

रमणी ने बड़े भक्तिभाव से सुभद्रा के चरणों में अपना शिर रख दिया। वह एक महिमामय दृश्य था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो सौभाग्य-श्री वैराग्य विभूति के पाद-पद्म में अपनी सिद्धि के लिये प्रणाम कर रही हो; मानो पुण्य-प्रभा

सायुज्य-मुक्ति के पादारविन्द में श्रद्धा पूर्वक प्रणिपात कर रही हो; मानो प्रणय-प्रतिभा आनन्द-श्री के श्री चरणों में अभिवादन कर रही हो। सुभद्रा ने बड़े स्नेह और आदर से उठाकर उसे अपने गले से लगा लिया। उसने उसे आशीर्वाद दिया। सुभद्रा ने पूछा—"बहिन तुम्हारा नाम?"

रमणी—"दीदी! मेरा नाम है प्रेमा।"

सुभद्रा—"कैसा सुन्दर नाम है? गुणों के एकान्त अनुकूल ही प्यारा नाम है। बहिन! इस संस्था का नाम रखा जायगा प्रेम-धाम। भगवती करे, तुम पति की, पुण्य की और मेरी सब की प्रेमा बनी रहो।"

प्रेमा—"आपके मंगल वचनों की जय हो। बहिन! मेरी एक भेंट है। स्वीकार करोगी?"

सुभद्रा—"अब क्या रह गया? तुम मेरी सहोदरा हो; तब इस प्रकार पूछना व्यर्थ है।"

प्रेमा ने अपने पीछे से एक बण्डल उठा लिया। उसे खोल कर उसने उसमें से एक साड़ी निकाली। सुभद्रा की ओर प्रेम से देख कर उसने कहा—"दीदी! यह एक खद्दर की साड़ी है। इसका एक एक सूत मेरे हाथ का कता हुआ है। तुम मूर्तिमती वैराग्य-शोभा हो; तुम्हें मैं क्या अर्पण करूँ? पर मेरी दीदी, यह खद्दर की साड़ी तुम्हारे पवित्र शरीर पर देख कर मुझे अत्यन्त आनन्द होगा।"

सुभद्रा—"प्रेमा बहिन, तुम्हारा यह उपहार मैं बड़े आनन्द से स्वीकार करती हूँ। सच कहती हूँ, बहिन, इसके एक एक सूत

ने मुझे चारों ओर से जाल की भाँति बाँध लिया है। प्रेमा! तुम वास्तव में प्रेमा हो।"

प्रेमा के आग्रह से सुभद्रा को उसी समय वह साड़ी पहिननी पड़ी। सुभद्रा सदा ही खद्दर की शुभ्र साड़ी पहिनती है। परन्तु आज इस प्रेम पूर्वक उपहार में दी हुई प्रेमा की साड़ी को पहिन कर सुभद्रा की वैराग्य-श्री अत्यन्त शोभित हो उठी। उस समय अच्छी तरह सूर्य्य का प्रकाश चारों ओर फैल चुका था। जहाँ पर वे दोनों बैठी थीं वहाँ पर भी सूर्य्य की किरणें पहुँच चुकी थीं। प्रभात सूर्य्य की एक कोमल किरण सुभद्रा के वैराग्य-लक्ष्मी से शोभित ललाट पर नृत्य कर रही थी और ढेर की ढेर सूर्य्य-रश्मि उसके पाद-प्रान्त का चुम्बन कर रही थीं। प्रेमा सुभद्रा के उस पवित्र सौन्दर्य्य को विमुग्ध दृष्टि से देख रही थी। वह एक अद्भुत दृश्य था; प्रभात के अरुण प्रकाश में दैदीप्यमती होती हुई त्याग-श्री को मानो श्रद्धा प्रफुल्ल नयनों से देख रही थी। सुभद्रा भी प्रेमा के उस नैसर्गिक प्रेम को देख कर आनन्द से उत्फुल्ल हो रही थी। प्रेमा की उस मधुर हास्यमयी मुख-श्री पर सुभद्रा के सरस लोचन अमृत की वर्षा कर रहे थे। दोनों तन्मयी थीं; दोनों मानों विश्व से ऊँचे उठ कर, स्वर्ग से भी ऊँचे उठ कर, ऋषि लोक के दिव्य शोभामय तपोवन में आनन्द की दिव्य अनुभूति में मग्न थीं। विश्व, अपने मोह-मत्सर को भूल कर उन दोनों की पवित्र शोभा देख रहा था; स्वर्ग अपना रमणीय अस्तित्व उन दोनों पर निछावर कर रहा था। मंगलमय संकल्प की शोभा उनके अधरों पर नृत्य कर रही थी; सहानुभूति

और करुणा, उनके लोचनों में लीला कर रही थी; त्याग और पवित्रता की प्रभा से उनके ललाट दैदीप्यमान हो रहे थे। वह दिव्य-द्वयी महामाया की वैराग्य विभूति और सौभाग्य-श्री की साकार कल्पनाओं के समान उस अरुण-प्रभात के प्रकाश में खड़ी होकर अखिल ब्रह्माण्ड को त्याग, तप और तेज की पवित्र त्रिवेणी से परिप्लावित कर रही थीं।

पच्चीसवाँ परिच्छेद ।

मधुर सूचना

अन्नपूर्णा के मुख से वसन्तकुमार के उस रहस्यमय दारुण दुःख की बात सुन कर बापू जी के शान्तिमय हृदय में भी एक अस्पष्ट कल्पना जागृत हो गई थी। यद्यपि उन्होंने तप और इन्द्रिय निग्रह के सतत् अभ्यास से अपने मन-मन्दिर की विकारमयी प्रवृत्तियों को बहुत कुछ दमन कर लिया था, पर तो भी चित्त का चाञ्चल्य कुछ ऐसा विलक्षण है कि वह समय समय पर अपना नृत्य दिखाये बिना मानता ही नहीं है । अन्नपूर्णा के अस्पष्ट संकेत से तथा अपनी निज की विचार-सरिणी से ऋषिवर बापूजी ने यह जान लिया था कि बसन्त के विषाद की जन्म-तिथि तथा सुभद्रा और राजेन्द्र की यात्रा-मुहूर्त एक ही है। बापूजी के हृदय में भी, इसी लिये, यह धारणा लगभग निश्चित सी हो गई थी कि राजेन्द्र और सुभद्रा के प्रवास से वसन्तकुमार के दारुण दुःख का परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। तब क्या वसन्त और राजेन्द्र का समुज्ज्वल अनुराग ही बसन्त की विषाद-छाया का मूल कारण है? क्या राजेन्द्र के वियोग ही में बसन्त

दुःखी है? पर यह तो एक विलक्षण बात सी है। राजेन्द्र और बसन्त तो सदा ही से पृथक् पृथक् रहे हैं? ऐसा बहुत कम समय उन दोनों को मिला है जब वे परस्पर साथ साथ रहे हों। अब की बार अवश्य तीन महीने उन दोनों का साहचर्य्य रहा है। तब क्या इस तीन महीने के साहचर्य्य से ही उन दोनों का स्नेह इतना अधिक दृढ़ हो गया है कि राजेन्द्र से कुछ दिनों का साधारण वियोग भी बसन्त को असह्य हो उठा है? मान भी लिया जाय कि ऐसी ही बात है, तो इस बात को गुप्त रखने की क्या आवश्यकता है? अन्नपूर्णा से छिपाने की तो इसमें कोई बात नहीं है। पर बसन्त के विषाद का मूल कारण तो इतना रहस्यमय है कि वह उसे अपने प्राणों के समान रखना चाहता है। प्राण-त्याग उसे स्वीकार है, पर रहस्य-भेद नहीं। तब निश्चय ही इसमें कोई न कोई भयंकर भेद है। राजेन्द्र और बसन्त का विशुद्ध सौहार्द इसका प्रमुख कारण नहीं है। तब क्या बसन्त के हृदय में कोई पाप-प्रवृत्ति अङ्कुरित हो उठी? बसन्त के प्रेम का प्रवाह क्या पाप-पथ की ओर प्रधावित हुआ है? कहीं बसन्त का उद्भ्रान्त हृदय वीतरागमयी सुभद्रा पर तो चलायमान नहीं हुआ है?

बापूजी के मन-मानस में बार बार इसी प्रकार की विचार-धारायें उत्थित होने लगीं। तर्क और विश्लेषण उनकी अन्तिम भावना को परिपुष्ट करने लगे। परन्तु वे बसन्तकुमार को पहिचानते थे; वे जानते थे कि बसन्तकुमार का चरित्र एकान्त पवित्र और प्रोज्ज्वल है। आज ६ वर्ष हुये पर बसन्त के चरित्र के विरुद्ध

न तो उन्होंने कोई बात देखी, न सुनी। सारा गाँव वसन्त के आदर्श आचरण और पवित्र चरित्र की सराहना करता था। गाँव का समस्त नारी-मण्डल वसन्त के शुद्ध सात्विक स्वभाव के कारण उन पर अगाध विश्वास और अपार अनुराग रखता था। बापूजी का स्वयँ भी वसन्त के ऊपर असीम अनुराग था; वे राजेन्द्र और वसन्त में उसी प्रकार भेद-भाव नहीं मानते थे, जिस प्रकार वे सुभद्रा और अन्नपूर्णा को अपनी दोनों आँखों की ज्योति के समान समझते थे। इतना सब कुछ होते हुये भी क्या वसन्तकुमार का हृदय-वासना की पापमयी छाया से आवृत होकर पाप-पथ पर प्रधावित होने लगा है? हो सकता है—यह कोई असम्भव व्यापार नहीं है। बड़े बड़े महापुरुषों को बहुत कुछ संयम और इन्द्रिय-निग्रह करने पर भी, प्रवृत्ति के प्राबल्य के सामने नत-शिर होना पड़ता है। तब बिचारे अनुभव-शून्य सरल युवक वसन्त का तो कहना ही क्या है? उस पर भी वे यौवन-वसन्त के उस अरुण रागमय प्रभात के आलोक में खड़े हैं, जिसकी एक एक किरण अपने स्पर्श-मात्र से, मन्त्र की शक्ति के समान, हृदय की रंगभूमि में प्रवृत्ति को उन्मत्त बना देती है, जिस के प्रकाश-प्रवाह में स्नान करके लालसा और भी तीव्र हो जाती है और जिस प्रभात समीर का प्रत्येक सुरभित हिल्लोल वासना को और भी मदमयी बना देता है। और उस पर वसन्त और सुभद्रा का चिर-साहचर्य! तब यदि वसन्त यौवन के उद्भ्रान्त उद्दाम-वेग में पाप-पथ पर अग्रसर भी हो गये, तो इसमें आश्चर्य्य क्या है? वसन्तकुमार

का इस प्रकार पाप के प्रश्रय में चले जाना कुत्सित दृश्य भले ही हो, पर अस्वाभाविक नहीं है। एक दिन द्विजराज चन्द्र ने भी तो आचार्य पत्नी के प्रफुल्ल लावण्य पर विमुग्ध होकर उन्हें परिभ्रष्ठ कर दिया था। एक दिन बसन्त के अरुण प्रभात में मैनका की रूप माधुरी पर विमोहित होकर अखण्ड तपस्वी विश्वामित्र ने भी तो अपनी ६० सहस्र वर्ष की सारी तपस्या क्षण भर में गँवा दी थी! परन्तु फिर भी बसन्तकुमार के वर्तमान भावों से यही प्रतीत होता है कि वे अत्यन्त सदाशय है और अभी उनके पुण्य विवेक पर पाप का पूर्ण प्रभाव नहीं होने पाया है। उनके हृदय पर यद्यपि पाप-वासना का साम्राज्य हो गया है, पर उनके बुद्धि-लोक में अभी पुण्य प्रभाकर अपनी समुज्ज्वल शोभा के साथ दैदीप्यमान है। बसन्त जानते हैं कि वे पापमयी प्रवृत्ति से पराजित होकर पाप-पथ पर प्रधावित हो रहे हैं, वे समझते हैं कि वे अपनी उद्दाम वासना के वशीभूत होकर, कुत्सित-कर्म के काण्ड में प्रलिप्त हो रहे हैं; उनकी अन्तरात्मा यह जान कर विक्षुब्ध हो रही है कि उनका प्रेम-लालसा से प्रतारित हो कर अमंगल मार्ग का पथिक बन रहा है। उनका चित्त उद्भ्रान्त है, पर तो भी उनका विवेक विशुद्ध एवँ विमल है। यही कारण है कि वह इस दारुण अग्नि में अपने अन्तर और बाहर को प्रत्येक पल में तिल तिल भस्म होते हुये देख कर भी उस भयंकर पापमय रहस्य को प्रकट नहीं करना चाहते हैं; वह प्राण-पण से उस पापमयी प्रवृत्ति को प्रकट होने से रोक रहे हैं। पाप की इस प्रज्वलित ज्वाला में भस्म होकर प्राण विसर्जन कर देना

उन्हें स्वीकार है, किन्तु अपने उस पाप-प्रलुब्ध प्रेम की वीभत्स मूर्ति को विश्व के प्रकाश में लाना वे किसी भाँति अङ्गीकार नहीं करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वसन्त अपनी इच्छा से इस पापमय प्रेम को प्रश्रय नहीं दे रहे हैं। यदि ऐसा न होता, तो वे अवश्य अब तक किसी न किसी भाँति अपनी कुत्सित वासना की शान्ति के लिये कुछ न कुछ, प्रच्छन्न रूप में अथवा प्रकट रूप में, प्रयत्न अवश्य करते। पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने कभी ऐसी कुचेष्टा की हो। अन्तर की बात तो जगदीश्वरी जानें, पर और सब बातों पर विचार करने से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वसन्तकुमार पापमयी वासना के द्वारा एकान्त पराजित होकर भी उसकी सत्ता स्वीकार नहीं कर रहे हैं, वे इस दारुण लालसा के वशीभूत होकर भी उसका आधिपत्य मानने को उद्यत नहीं हो रहे हैं। वे यह बात किसी प्रकार भी नहीं भूले हैं कि उनका प्रेम कुत्सित है; शैतान प्रेरित है। ऐसी स्थिति में क्या वसन्त एकान्त घृणा के पात्र हैं? उन पर क्या क्रोध करना उचित है? नहीं; वे दया के पात्र हैं; शैतान के प्रबल पाप-पाश से उन्हें पूर्णतया परिमुक्त करना ही इस समय हमारा प्रमुख कर्तव्य है।

इसीलिये दयामूर्ति उदार बापूजी का बसन्तकुमार पर जो अपार प्रेम था, उसमें इस घटना से रत्ती भर भी अन्तर नहीं पड़ा। उसका कारण यही था कि बापूजी मानव-हृदय की नैसर्गिक दुर्बलताओं और यौवन के उद्दाम वेग से घटित होने वाले

प्रवृत्ति के पापमय पतन को भली भाँति जानते थे। यौवन के प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न, और संध्यकाल में उन्होंने इस प्रकार के अनेक दारुण दृश्य देखे थे; अनेक दिग्गज विद्वानों को, अनेक धुरन्धर आचार्य्यों को, अनेक वीतराग विरक्तों को एवँ अनेक महिमामय महापुरुषों को, उन्होंने लालसा के एक विदग्ध कटाक्ष पर, अपनी विद्या, बुद्धि, तपस्या और साधना को समर्पित करके वासना के अन्ध-कूप में पतित होते हुये देखा था। वेद, उपनिषद्, पुराण एवँ इतिहास के पृष्ठों में उन्होंने कन्दर्प की गौरवमयी विजय-वार्तायें पढ़ी थीं। बसन्त तो फिर भी प्राणपण से उस वासना-दानवी से युद्ध कर रहा है; पाप से परास्त होकर भी वह उसकी आधीनता स्वीकार करने की अपेक्षा। उसके पाद्-तल में प्रणिपात करने की अपेक्षा, प्राण विसर्जन कर देना ही उचित समझ रहा है, संग्राम-भूमि में हृदय के असमय विश्वासघात ने यद्यपि उसे शैतान की प्रबल शक्ति के सामने छाती फुला कर गौरव से खड़े होने योग्य नहीं रखा था, किन्तु फिर भी वह उसका अनुगत बन कर पापमय जीवन अतिवाहित करने की अपेक्षा अपना अस्तित्व तक विसर्जन कर देने के लिये उद्यत था। बसन्तकुमार का हृदय था हाहाकारमयी ज्वाला से परिवेष्ठित, शैतान की रौरव-गुफ़ा, पर उसका मस्तिष्क था विमल ज्ञान के आलोक से उद्भासित शिव की कैलास-कन्दरा। थोड़े ही अन्तर पर शिव और शैतान का निवास था; स्वर्ग और नरक में केवल ½ गज़ का अन्तर था। बापू जी बसन्त की इस पापमयी वासना की कुत्सित मूर्ति को

देख कर जितने ही विक्षुब्ध हुये थे, उनके दृढ़ संयम, विमल-विवेक तथा पुण्य-पक्षपात की कल्पना करके उतने ही परितुष्ट भी हुये।

परन्तु उसी समय उनकी विचार-धारा दूसरी ओर को प्रवाहित हुई। क्या सुभद्रा के हृदय सुमन में भी तो यह विष-कीट प्रविष्ट नहीं हो गया है? वसन्त का हृदय पाप के पाश में फँस कर जिस प्रकार उद्विग्न हो रहा है, सुभद्रा का सरल मन भी तो उसी प्रकार कुत्सित वासना की अग्नि में भस्म नहीं हो रहा है? पर नहीं, इस पर विश्वास नहीं होता है। सुभद्रा बाल-विधवा है; उसने अखण्ड ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण किया है। तप, संयम और इन्द्रियनिग्रह के सतत अनुष्ठान से उसने वासना, लालसा और विकार को एक बार ही परास्त कर दिया है। नहीं; शैतान का उस पर कण-मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। वह तो पुण्य की मूर्तिमती ज्वाला है, पाप उसको स्पर्श ही नहीं कर सकता। और यदि वह इस कुचेष्ठा में प्रवृत्त भी होगा, तो, शिव के तृतीय अग्नि-लोचन से भस्म होने वाले अनङ्ग की भाँति, वह भी भस्मावशिष्ठ हो जायगा। वह तो पवित्रता की मन्दाकिनी की वेग-वती धारा है, जिसके प्रबल प्रवाह के सामने लालसा की रेणुभित्ति क्षण भर में टूट जाती है। नहीं, सुभद्रा के प्रशान्त मन-मानस में ऐसी भाव-तरङ्ग उत्थित नहीं हो सकती है। वह तो सदा मेरी सेवा में रहती थी, किसी समय मैंने उसके किसी भाव-प्रकाश में वासना की दुर्गन्ध नहीं पाई। उसने तो सतत संयम से अपने

मन को शान्त कर दिया है; कठोर इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा उसने अपने विकार को विनष्ट कर दिया है; तप और स्वाध्याय के द्वारा उसने अपनी प्रवृत्ति को पुण्य और सुकर्म की ओर प्रेरित कर दिया है। सारा संसार उसके लिये बच्चे के समान है, वह तो मूर्तिमती जगद्धात्री है। न, उसके सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणा के लिये स्थान नहीं है, देवता के मस्तक पर हँसने वाली कुसुम-कली की भाँति उसके मुख पर सरलता का विलास शोभा पाता है; विकार शून्य मीठी नींद के समान उसके हृदय में अखण्ड शान्ति का साम्राज्य है; चन्द्रमा की चाँदनी में मन्दगति से प्रवाहित होने वाली मन्दाकिनी के समान उसके लोचनों से करुणा की धारा प्रवाहित होती है। उसके विषय में क्षण भर के लिये कण भर भी सन्देह करना जान-बूझ कर पाप की उद्भ्रान्त भावना को प्रश्रय देना है। नहीं, सुभद्रा इस बात को जानती भी नहीं है, कि बसन्त उसके ऊपर अनुरक्त है, वह बसन्त को सहोदर के समान स्नेह करती है, वह नहीं जानती है कि उसके दिव्य सरल सौन्दर्य्य की आड़ में शैतान अपना विनाश-काण्ड रच रहा है। तब प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य क्या है? किस प्रकार इस आगत अमंगल को दूर करना चाहिये?

बापूजी अच्छी तरह जानते थे कि इस सम्बन्ध में रत्ती भर भी अविवेक से काम लेने पर बसन्त के प्राण-विसर्जन की सम्भावना है। उन्हें यह विश्वास था कि यदि बसन्त को झूठ-मूठ भी यह आभास हो गया कि उसके हृदय के रहस्य को

बापूजी अथवा अन्नपूर्णा जान गये हैं, तो वह अवश्य आत्म-हत्या कर लेगा। वसन्त के स्वभाव से बापूजी परिचित थे, उसके उद्धत संकल्प एवँ अदम्य साहस की बात वे ख़ूब जानते थे। वे क्या वसन्त का प्राण-विसर्जन सह सकते थे? वसन्त उनका दूसरा राजेन्द्र था; उनकी एकान्त प्रेम-पात्री अन्नपूर्णा का प्यारा सहोदर था; इसी लिये बापूजी से अनवगत नहीं था कि वसन्त की अकाल मृत्यु उनके हृदय की चरम अशान्ति, उनके परिवार की दारुण विपत्ति एवँ उनकी भावी पुत्र-वधू की चिर-व्यथा का मूल कारण हो जायगी। इसी लिये वे अत्यन्त आकुल हो रहे थे, वे वसन्त को बुलाकर, उसकी रहस्यमयी व्यथा के विषय में पूछने का उन्हें साहस नहीं होता था। बापूजी जैसे वयोवृद्ध विद्वान एवँ तपस्वी के लिये भी यह समस्या अत्यन्त जटिल हो उठी।

पर जिनका हृदय शान्ति का निकेतन, स्नेह का सदन एवँ त्याग का निकुञ्ज होता है, उनके हृदय की प्रेरणा भी वैसी ही विमल, कल्याण की अनुगामिनी एवँ पुण्य की सहचरी होती है। ऐसे ही महापुरुषों के विषय में भारत के जगज्जयी कवि ने कहा है कि किसी जटिल समस्या के समुपस्थित होने पर उनके अन्त.करण की प्रेरणा ही उन्हें मंगल मार्ग पर ले जाती है। उनके हृदय की प्रेरणा उसी दिव्य शक्ति से सञ्चालित होती है, जो पुण्य की जननी है, सत्य की माता है और आनन्द की उद्गमस्थली है। अपने आप ही ऐसे महापुरुषों के हृदय में जो विचार, जो भाव, जो संकल्प उत्पन्न होते हैं वह उन्हें कल्याण

पथ पर ही ले जाते हैं। जहाँ वासना की दुर्गन्ध नहीं है, जहाँ क्रोध और द्वेष के बीभत्स दर्शन नहीं हैं, वहाँ बुरे विचारों की उत्पत्ति होगी कहाँ से? सत्य के उज्ज्वल आलोक में चमकती हुई पुण्य-सुन्दर विचार धारा ही उनकी हृदय-भूमि पर प्रवाहित होगी, उसी में उनका पवित्र संकल्प स्नान करके पवित्र और कल्याण-प्रद बन जाता है; बापूजी के हृदय में यह धारणा अपने आप उत्पन्न होगई कि राजेन्द्र और सुभद्रा का यहाँ पर उपस्थित होना बसन्त की व्यथा को प्रशमित करने के लिये एकान्त आवश्यक है। एक तो यह बात उनके अन्तःकरण में स्वतः ही प्रस्फुटित हुई थी और दूसरे सुभद्रा के आ जाने से इस बात के पूर्ण निश्चय हो जाने की सम्भावना थी कि बसन्त के विषाद का कारण सुभद्रा के प्रति उनका पाप-प्रणय है भी या नहीं? बापूजी की कुशाग्र बुद्धि से यह बात छिपी हुई नहीं थी कि जब तक सुभद्रा रंगपुर में थी, उस समय तक बसन्त के हृदय में यह दारुण अग्नि अपने तीव्र रूप में प्रकट नहीं हुई थी उस समय तक सुभद्रा के पुण्य-प्रभाव से बसन्त के हृदय की ज्वाला उत्थित नहीं हो सकी थी। सुभद्रा की उपस्थिति से अनुचित लाभ उठाकर शैतान ने बसन्तकुमार के मन-मन्दिर में आग लगा दी। इसीलिये सुभद्रा के आजाने से यह अग्नि कम से कम बहुत बड़े अंश में शान्त हो जायगी। सुभद्रा का सरल सुन्दर पवित्र दर्शन बसन्त की व्यथा को बहुत कुछ प्रशमित कर देगा। अपने इसी संकल्प के अनुसार कार्य्य करने के अभिप्राय से उन्होंने बसन्त को अपने पास बुला भेजा।

उस समय दो घड़ा दिन व्यतीत हो चुका था। सूर्य्य-देव की प्रोज्ज्वल कान्तिधारा में उससमय देवी धारित्री आनन्द पूर्वक स्नान कर रही थी, शीतल समीर के मृदुल हिल्लोल से चञ्चल प्रकृति के नील अञ्चल पर कोमल किरणों का नृत्य एक अपूर्व शोभा का विस्तार कर रहा था। दूर पर तरल नीलमणि की धारा के समान कलकल मयी जमुना बही जा रही थी और उसकी विमल तरङ्ग-राशि पर सूर्य्य की किरणें आकाश-मण्डल से बरसने वाले सुवर्ण-सुमनों की भाँति प्रतीत हो रही थीं। आनन्द की प्रसन्न-मूर्ति के समान गाँव के किशोरगण प्रेम का प्रोज्ज्वल राग अलाप रहे थे; प्रेम की प्रसन्न-प्रतिमा की भाँति सरल किशोरिकायें नदी की ओर से दस दस पाँच पाँच के समूह में ललित कण्ठ से सरस राग गाती हुई घरों को लौट रही थीं। थोड़ी दूर पर गाय और भैंसे आनन्द पूर्वक हरी हरी घास के मृदुल मधुर तृणों को खाकर आनन्द से रम्भा रही थीं। और यमुना के दुकूल पर उस हरित तृणाच्छादित टीले पर ग्वाल-बालकों का समूह बाल्य आनन्द से विभोर होकर भाँति भाँति के खेल खेलने में संलग्न था उस समय रंगपुर आनन्द और श्री की मिलन-भूमि की भाँति शोभायमान था। बसन्तकुमार दिन में जिस कमरे में बैठकर ज़िमींदारी का काम काज करते थे, वहाँ से यह प्रफुल्ल-सुन्दर दृश्य भली भाँति दिखाई देता था। कभी बसन्तकुमार इस मधुर सुन्दर दृश्य को देखने लगते थे, कभी वे अन्तर की ज्वाला से व्याकुल होकर चारों ओर शान्ति की खोज में दृष्टिदौड़ाने लगते थे और कभी गत-रात्रि

वाली घटना पर विचार करने लगते थे ऐसे ही समय एक आदमी ने आकर उन्हें ज़िमींदार की आज्ञा से सूचित किया। बापूजी प्रायः बसन्त को बुला भेजते थे; इसी लिये यद्यपि उनका बुला भेजना कोई असाधारण घटना नहीं थी परन्तु फिर भी बसन्तकुमार को इस आज्ञा में कुछ न कुछ विशेषत्व सा प्रतीत हुआ। आदमी से पूछने पर मालूम हुआ कि बापूजी इस समय कुटी में अकेले ही हैं और अन्नपूर्णा अन्तःपुर में है। उत्कण्ठित हृदय के चाञ्चल्य को यथाशक्ति शान्त करके बसन्तकुमार बापूजी की कुटी की ओर अग्रसर हुये। लगभग २ मिनिट में वे वहाँ पहुँच गये।

स्थूल जगत में आकर्षण का जैसा अटूट प्रभाव है, सूक्ष्म जगत में भी उसका एक प्रकार से वैसा ही साम्राज्य है। एक नहीं, अनेक बार हम लोग अपने जीवन में यह अनुभव करते हैं कि हमारी अज्ञात उदासीनता अथवा प्रसन्नता का सम्बन्ध किसी अज्ञात घटना से होता है। प्रवासी मित्र के मरण के दिन हमें प्रभात-प्रकाश में फूलने वाले फूल के मुख पर एक प्रकार की विषाद-छाया सी दिखाई पड़ती है; किसी आनन्दमयी घटना के घटित होने से पहिले ही हमें सांध्य-गगन की सप्तराग-रञ्जित रंगभूमि में किसी अस्पष्ट मनोहर रागिनी का श्रुति-मधुर स्वर उठता सा सुनाई देने लगता है। बापूजी की कुटी के पास पहुँचते ही बसन्त का हृदय किसी अस्पष्ट आनन्द की अत्यन्त सूक्ष्म अनुभूति से उत्फुल्ल हो उठा। उन्हें अपने अन्तर की तीव्र अग्नि में किसी ओर से सूक्ष्म शीतल-धारा पतित होती हुई

प्रतीत हुई। उन्हें ऐसा आभास हुआ मानो प्रेमतीर्थ का प्रबल मोहन-बन्धन कुछ ढीला सा पड़ गया; प्रत्येक पल्लव की मर्मर-ध्वनि में उन्होंने एक प्रकार का मंगल-राग सुनाई देने लगा। गुलाब के सुन्दर मुख पर उन्हें मृदुल हास्य की रेखा दिखाई दी; प्रकृति के हरित अञ्चल के ललित हिल्लोल में किसी आनन्दमय आह्वान का अस्पष्ट संकेत उन्हें दिखाई दिया। समीर के शीतल झोंके के स्पर्श से उन्हें शरीर से मधुर गुदगुदी सी उत्पन्न होती हुई सी प्रतीत हुई। ऊपर से पतित होती हुई सूर्य्य की कोमल किरणों में उन्हें देवता के आशीर्वाद और मंगलमयी वासना का सूक्ष्म अनुभव हुआ। जैसे कोई पुण्य की पवित्र शोभा का अवलोकन करके परम शान्ति लाभ करता है, जैसे कोई सच्चिदानन्द-मयी आत्मा का मधुर-दर्शन प्राप्त करके सरस सन्तोष की उपलब्धि करता है, जैसे कोई प्रसन्न शोभामयी परम-प्रेममयी माता को अपने सामने देखकर आनन्द से उत्फुल्ल हो जाता है, प्रभात-प्रकाश में बापूजी के परम-रम्य दर्शन करके वसन्त को भी वैसी ही आनन्दानुभूति हुई। उन्होंने भक्ति-पूर्वक उनके चरणों में प्रणाम किया। बापूजी ने वात्सल्यमयी वाणी में आशीर्वाद दिया—"मङ्गल हो।"

वसन्त ने देखा कि बापूजी के मुखमण्डल पर वही सन्तोष-श्री, वही चिर-शान्ति, वही आनन्द-आभा विलसित हो रही है। थोड़ी देर पहिले जो एक आशंका वसन्त के हृदय में उत्पन्न हो गई थी, वह सहसा अन्तर्हित हो गई। वसन्त ने बड़े मधुर स्वर में बापूजी से पूछा—"बापूजी! क्या आज्ञा है?"

बापूजी—"जल्दी क्या है कहूँगा। तुझे तो आजकल अवसर ही नहीं मिलता; अपने आप तो अब तू आता नहीं; अब तो बुलाने से आता है। यह क्या बात है बसन्त ?"

बसन्त कुछ लज्जित और संकुचित हुये। उन्होंने आँखें नीची करके कहा—"बात कुछ नहीं है बापूजी। आजकल तो काम भी अधिक नहीं है। बात यह है कि अन्नपूर्णा के हाथ में आपकी सेवा का भार देकर मैं निश्चिन्त सा हो गया हूँ।"

बापूजी—"अन्नपूर्णा तो अन्नपूर्णा ही है। इस छोटी सी बालिका ने अपनी सरल सेवा से, सुन्दर शील से और पवित्र स्वभाव से मुझ जैसे विरागी को भी स्नेह-बन्धन में कस-कर बाँध दिया है। पर तो भी तुझे कभी कभी तो आना ही चाहिये। कभी तू आता भी है तो रात को, जब मैं उपनिषदों की व्याख्या करता होता हूँ। न कुछ तेरी सुन सकता हूँ न अपनी कह सकता हूँ।"

बसन्त—"बापूजी! मुझसे भूल हुई। अब ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा।"

बापूजी (हँसकर) "भाई बहिन दोनों ही का एक स्वभाव है। इतनी जल्दी भूल स्वीकार कर लेते हैं कि कुछ दण्ड देते ही नहीं बनता है।"

बसन्त—"पिता का दण्ड पुत्र का मंगल-मन्त्र है।"

बापूजी—"अच्छी बात है। आज तुझे दण्ड ही दूँगा। मैं तुझे कुछ दिनों के लिये देश निकाला देना चाहता हूँ।"

बसन्त—"आपकी आज्ञा शिर-माथे पर।"

बापूजी—"अच्छा! सुनो बसन्त; राजेन्द्र और सुभद्रा को

गये २ महीने हो गये। अब उन्हें लौट आना चाहिये। अन्नपूर्णा भी इधर सुभद्रा के लिये रात दिन स्मरण करती है। इधर उन्हें देखने के लिये मेरा हृदय भी अत्यन्त आकुल हो रहा है। अभी कल उनका समाचार मिल ही चुका है कि उन्होंने अपनी सारी ज़िमींदारी का निरीक्षण कर लिया है। अब वे दूसरों की ज़मींदारी में जाना चाहते हैं। न, अब और कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। तुम स्वयँ जाओ; उन्हें जल्दी से जल्दी अपने साथ लौटा लाओ। सुभद्रा के बिना संसार सूना सा लगता है। बात तो यह है कि यदि अन्नपूर्णा न होती तो मैं उन दोनों के वियोग में अब तक परमधाम को पधार गया होता।"

वसन्त—"जगदीश्वर आपकी मङ्गलमयी छाया हमारे ऊपर सदा बनाये रखे। आज वे बिलासपुर से चलकर ठाकुर रघुराज-सिंह के करैली गाँव में पहुँचे होंगे।

बापूजी—"ठाकुर रघुराजसिंह तो मर गये; सुना है उनका लड़का बड़ा दुर्व्यसनी है। बुरे सत्संग से उसका चरित्र-भ्रष्ट हो गया है।"

वसन्त—"हाँ, सुना तो मैंने भी ऐसा ही है।"

बापूजी—"कौन जाने, वह अपने गाँव में कुछ बखेड़ा खड़ा कर दे। तुम उन्हें जल्दी बुला लाओ। मेरा मन उन्हें देखने को बड़ा व्याकुल हो रहा है। अब और इधर उधर घूमने की आवश्यकता नहीं।"

वसन्त—"जैसी आज्ञा; मैं कल प्रातःकाल चल कर साय-

काल होते होते वहाँ पहुँच जाऊँगा। यहाँ से करैली ४० मील है। घोड़े पर चला जाऊँगा। साथ में आदमी लेने की भी आवश्यकता नहीं है।"

बापूजी—"अच्छी बात है। पर जाने से पहिले मेरे पास होकर जाना।"

बसन्त—"बिना आपकी पाद-वन्दना किये रंगपुर छोड़ना क्या मेरे लिये सम्भव है? यह तो मेरा अनिवार्य्य पुण्य कर्त्तव्य है।"

ठीक इसी समय अन्नपूर्णा ने कुटी में प्रवेश किया। उसे देखते ही वृद्ध बापूजी उत्फुल्ल हो उठे। प्रसन्न गम्भीर स्वर में बोले—"बेटी! बसन्त को मैं कल राजेन्द्र और सुभद्रा को बुला लाने के लिये भेज रहा हूँ। आशा है दो तीन दिन में वे दोनों लौट आवेंगे। ऐसे वैसे आदमी को न भेज बसन्त को कष्ट देकर मैंने अन्याय तो नहीं किया बेटी?"

अन्नपूर्णा ने सरल भाव से कहा—"बापू जी! आपने ठीक ही किया। आदमी की बात को अमान्य करके वे कुछ दिन और भी प्रवास में लगा दे सकते थे पर दादा उन्हें शीघ्र ही लौटा लावेंगे। दीदी सुभद्रा को देखने के लिये मेरी आँखें प्यासी सी हो रही हैं।"

बापूजी—"और राजेन्द्र को देखने के लिये तेरा कण भर भी आग्रह नहीं है बेटी?"

इसका उत्तर अन्नपूर्णा के सलज्ज नयनों ने, अरुण-राग रञ्जित कपोलों ने तथा मस्तक कमल पर, श्री के चन्द्रहार के दो विमल मोतियों के समान, झलकने वाले दो प्रस्वेद-बिन्दुओं

ने दिया। राजेन्द्र के प्रति उसका यह अनन्य अनुराग देखकर वृद्ध बापूजी तथा उसके सहोदर बसन्त दोनों अत्यन्त प्रसन्न हुये। वृद्ध बापूजी के व्यंग्य ने तथा अन्नपूर्णा के उस मूक सलज्ज उत्तर ने वसन्त को बता दिया कि वृद्ध बापूजी अन्नपूर्णा को अपनी पुत्रवधू बनाना चाहते हैं और अन्नपूर्णा की भी उससे पूर्ण सम्मति है। अन्नपूर्णा के इस सुन्दर सौभाग्य की बात जान कर बसन्त अत्यन्त प्रसन्न हुये, अन्नपूर्णा की ओर से वे एक प्रकार से निश्चिन्त हो गये। यद्यपि उस समय फिर किसी ने कुछ और नहीं कहा और बात वहीं की वहीं रह गई पर अन्नपूर्णा जान गई कि उसके प्रेम का रहस्य प्रकट हो गया है। स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा के कारण वह बापूजी के भोजन की व्यवस्था करने के बहाने से वहाँ से चली गई। परन्तु इस रहस्य-भेद ने उसके मन की शान्ति को भङ्ग नहीं किया!

उसके जाते ही बापूजी ने बसन्त की ओर देख कर स्नेह-सरस स्वर में कहा—"देखते हो। कैसी सुन्दर, कैसी भोली, कैसी पवित्र छोकरी है। सच मानना बसन्त, ऐसी सहोदरा का पाना बड़े सौभाग्य का विषय है। इसी प्रकार इस घर में उसका रहना मेरा परम-पुण्य-फल है। दर्भ-किशोरी के समान वह पुण्य-प्रतिमा है; जनक तनया के समान वह पवित्रता की मूर्ति है, सावित्री के समान वह तेजोमयी विभूति है। बसन्त सच कहता हूँ इसे पाकर मैंने सब कुछ पा लिया है। मैं इसका पिता हूँ, यह मेरी पुत्री है। पर इच्छा होती है कि जिस पथ से

वह आती जाती है वहाँ की धूलि उठाकर अपने मस्तक पर लगा लूँ। अन्नपूर्णा सचमुच अन्नपूर्णा है।"

ऋषिवर बापूजी की आँखों में आनन्द के आँसू छलक उठे। बसन्त के हृदय को भी सहोदरा की इस प्रशंसा से अत्यन्त प्रसन्नता हुई। यद्यपि स्पष्ट शब्दों में वृद्ध बापूजी ने उसे अपनी पुत्र-वधू बनाने की बात नहीं कही थी, पर उसकी स्पष्ट झलक उनके वाक्यों में थी। बसन्त भी प्रणाम करके वहाँ से विदा हुआ।

जो सरल है, सुन्दर है, सत्य है, वही सच्चिदानन्दमयी मातेश्वरी की साकार मूर्ति है। उसी के श्री-चरण तल की ओर कवि की कविता कल्याणमयी भावना से उद्वेलित होकर प्रधावित होती है; योगीश्वर की शान्तमयी अनुभूति, आनन्द से विभोर होकर उसका दर्शन करती है, और विश्वप्रेमी की त्यागमयी सेवा, विश्वहित की निस्वार्थ कामना से हिल्लोलित होकर, पुण्य विजय की भावना से स्फूर्तिमयी होकर, स्वराज्य के मंगल सङ्गीत को गाती हुई, उसी की सेवा में अपने आपको उत्सर्ग कर देती है।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

प्रच्छन्न पिशाच

ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ के वाह्यिक स्वरूप की हम चर्चा कर चुके हैं। उसके सुन्दर मुख-मण्डल पर विलास की कैसी शोभा थी, उसके विशाल लोचन अरुण-वारुणी के कैसे पूर्णपात्र थे तथाच उसका वलिष्ठ कान्तिमय कलेवर कैसा तेजोमय था—यह सब हमारे पाठक-पाठिकाओं ने जान लिया है। पर इस विश्व में कपट के आडम्बर के नीचे क्या छिपा हुआ है, गेरुये वस्त्रों के नीचे किस प्रकार भरा हुआ पिस्तौल और खद्दर के नीचे निर्मम निठुर विश्वासघात प्रच्छन्न रहता है—इन सब वातों का पता किसी विशिष्ट अवसर ही पर चलता है। विश्व में ऐसी भीषण सौन्दर्य्य की भी छटा दिखाई देती है जो अपने गुलाब-सुन्दर अधर को हालाहल से सिक्त करके सरल प्रेमी का मदमत्त चुम्बन करता है और उसके प्राण विसर्जन पर, हीरक-खण्ड की आभा की भाँति, खड़ा खड़ा हँसता रहता है; ऐसे लावण्य भी इस संसार में अलभ्य नहीं है जो

अपने कोमल कर-कमल से अपने एकान्त अनुरक्त को वारुणी पिला कर मूर्छित कर देता है और फिर देदीप्यमान विलास-मन्दिर के प्रोज्ज्वल प्रकाश में उसके कलेज के तप्त शोणित से अपनी तीव्र छुरिका का अभिषेक करता है। जब वैराग्य का परम पवित्र चिन्ह गैरिक रंग और भगवद्विभूति का साकार स्वरूप सौन्दर्य—यह दोनों भी कपट और हत्या की सहायता करते हैं, तब उसका मर्म जानना कितना कठिन है? इसी लिये हम चाहते हैं कि यदि हो सके तो हम ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ का प्रकृत-परिचय प्राप्त कर लें। इसके लिये हमें उसी की कुटी की ओर चलना होगा जहाँ बसन्त ने उसे ठहराया है।

सूर्य्यदेव मध्याह्न गगन में स्थित हैं। हेमन्त ऋतु होते हुये भी उनका ताप इस समय असत्य सा हो रहा है। हमारे कहने का तात्पर्य्य यह है कि घड़ी दो घड़ी धूप में बैठने पर छाँह की गोद में पहुँचने को हृदय व्याकुल हो उठता है। उसका कारण यह है कि इस समय हवा नहीं चल रही है। सूर्य्य की उज्ज्वल कान्ति में प्रकृति का पत्ता स्तब्ध खड़ा है। सूर्य्यदेव को विशेष कुपित देख कर ही कदाचित बनस्पति-जगत भय से विह्वल होकर निस्तब्ध हो गया है। उस निस्तब्ध शान्ति को बीच बीच विहङ्ग-मण्डली भङ्ग कर देती है। यमुना की कलकल तो अनादि है, कब उसका दिव्य सङ्गीत प्रारम्भ हुआ था और कब समाप्त होगा—यह कौन कह सकता है? रंगपुर में २००० सजीव जन समुदाय होते हुये भी इस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो वह निर्जन हो; कहीं से एक भी जन के कण्ठ का स्वर नहीं

सुनाई पड़ता था। इस निस्तब्ध प्रकृति की इस शान्ति के बीच में से हम आपको लिये चलते हैं।

अभी हम ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ की कुटी में पहुँच भी नहीं पाये थे कि एक तीव्र ध्वनि ने उस शान्ति को भङ्ग कर दिया। जैसे कोई ई ई ई…ई कह कर बड़े ज़ोर से सीटी बजाता है, वह ध्वनि उसी प्रकार की थी। कवि की भाषा में हम इस ध्वनि को प्रसुप्त शान्ति के कोमल वक्षस्थल को विदीर्ण करने वाली छुरी कह सकते हैं। इस तीव्र ध्वनि को सुनते ही ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ अपनी कुटी से निकल कर उस ओर को चले जिधर से वह तीव्र ध्वनि आई थी। अभी वह ४०-५० ही पग गये होंगे कि उन्हें वृक्षों के झुरमुट से बाहर निकलता हुआ एक युवक दिखाई दिया। यह युवक भी गेरुवा वस्त्र पहिने हुए था आयु उसकी लगभग २२ वर्ष की होगी। यद्यपि वह ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ के समान सुन्दर और तेजस्वी नहीं था किन्तु उसके शरीर में बल की भी कमी नहीं थी। उसका वर्ण साँवला था, आँखें बड़ी थीं जो अंगार के समान जल रही थीं। ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ के मुख पर एक अद्भुत लावण्य था परन्तु इस युवक के वदन-मण्डल पर रौद्र भाव का ही विशेष विलास था। ज्यों ही उस युवक ने ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ को देखा, त्यों ही उसने उसे हाथ जोड़ कर प्रणाम किया। ब्रह्मचारी ने अपना मस्तक कुछ नत करके तथा कुछ मुस्करा कर उसके अभिवादन का अभिनन्दन किया। ब्रह्मचारी उसे अपनी कुटी में ले गये। दोनों के आसीन होने के उपरान्त ब्रह्मचारी ने पूछा—

"कहो! स्थान को ढूढ़ने में तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ?"

युवक—"नहीं सरदार......।"

ब्रह्मचारी—"चुप, सरदार नहीं गुरुदेव कहो।"

युवक हँसा, बोला—"भूल गया गुरुदेव! क्षमा कीजिये! स्थान ढूढ़ने में कोई कष्ट नहीं हुआ महाराज! आपने इतनी अच्छी तरह इस स्थान का पता बता दिया था कि यहाँ आकर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों मैं इससे परिचित हूँ। इधर एक ही बार संकेत ध्वनि करते आपके दर्शन हो गये।"

ब्रह्मचारी—"यह बड़ा सुन्दर स्थान है। पहिले भी दो तीन बार मैं इधर आया था पर अधिक नहीं ठहरा था। पहिले मैं और जगह ठहरता था। सामने जो तुम वृक्षों का झुरमुट देखते हो, उसके पीछे एक निभृत कुञ्ज है। उसी में मैं ने पहिले दो तीन बार विश्राम किया था।"

युवक—"पर अबकी बार तो आप परम रम्य पर्णकुटी में ठहरे हैं। कल रात को ही आपने मुझे उस गाँव में छोड़ा था। आप यहाँ रात को दस बजे पहुँचे होंगे, रात ही रात यह कुटी कैसे तैयार हो गई।"

ब्रह्मचारी—"जगन्माता की कृपा से सौभाग्य हमारे आगे आगे चलता है। यहाँ आते ही......।"

ब्रह्मचारी सहसा रुक गये। युवक आश्चर्य्य-चकित होकर उनकी ओर देखने लगा। युवक को चुप रहने का सङ्केत कर के ब्रह्मचारी बाहर गये; ३-४ मिनिट के उपरान्त वे भीतर आकर

बोले—"मुझे ऐसा सन्देह हो गया था जैसे कोई बाहर है। चलो खुले मैदान में चलें।"

युवक—"क्यों?"

ब्रह्मचारी—"इतने दिनों से हमारे दल में रह कर भी तुम यह नहीं जान पाये कि रहस्य की बातें यथा सम्भव खुले मैदान ही में करना चाहिये। जानते हो निकुञ्ज के पत्तों में, कुटी के प्रत्येक तृण में, कोई कान हमारी बातें सुनने को बैठा रह सकता है पर बाहर उन्मुक्त आकाश के नीचे उन्मुक्त मैदान में इसकी सम्भावना नहीं। संशय हमारा चिर सहचर है, सन्देह हमारा सहोदर है।"

युवक—"ठीक है। पर मैं तो बहुत भूखा हूँ। कल प्रातः-काल से दो बार जल पीने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं खाया है।"

ब्रह्मचारी हँसे, बोले—"मेरे पास तुम्हारी भूख शान्त करने के लिये यथेष्ठ सामान है। दूध है और फल हैं—पेट भर कर भोजन करो।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि वसन्तकुमार ने इसकी व्यवस्था कर दी थी।

युवक हँसा—बोला—"गुरुदेव! सिद्धि आप के पीछे पीछे चलती है! आप जहाँ जाते हैं वहीं सब साधन अपने आप आकर जुट जाते हैं"

इतना कहकर उसने भर पेट भोजन किया—फिर वे दोनों बाहर आये। कुटी से थोड़ी दूर पर उन्मुक्त मैदान में वे दोनों

बैठे। ब्रह्मचारी ने कहा—"संग्रामसिंह! दल के सब लोगों का बहुत दिनों से कोई समाचार नहीं मिला। मुझे इसकी चिन्ता है।"

संग्राम—"हाँ सरदार! पर मैं तो आपके साथ हूँ। मैं भी कुछ नहीं जानता। पर मुझे विश्वास है कि सरदार सुन्दरसिंह आप के बताये हुए कामों को ठीक कर रखेगें। आप की आज्ञा भङ्ग करने की शक्ति किसमें है?

सरदार—"ऐसा नहीं करने से काम भी तो नहीं चलता। जो दल सरदार की आज्ञा को नहीं मानता है, उसे कदापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसीलिये मैं आज्ञा उल्लंघन करने वालों को कदापि क्षमा नहीं करता हूँ। विद्रोही सदा अक्षम्य है।"

कहते कहते ब्रह्मचारी की आखों से चिंगारी निकलने लगीं। युवक ने विनम्र भाव में कहा—"यदि आज्ञा हो तो मैं दल के लोगों का समाचार लेने के लिये जाऊँ। अवश्य ही उनके पास पहुँचने में मुझे १० दिन लगेंगे।"

ब्रह्मचारी प्रेमतीर्थ अर्थात् सरदार कुछ देर तक चुप रहे फिर उन्होंने कहा—"हाँ जाना ही होगा पर आज नहीं। आज तुम्हें मेरे पास रहना होगा। कौन जाने किस समय तुम्हारी आवश्यकता पड़ जाय।"

संग्राम—"जैसी आज्ञा सरदार की।"

सरदार—"पर तुम मेरे साथ कुटी में नहीं रह सकोगे। एक युवक ने मुझे इस कुटी में आश्रय दिया है और वह आज रात्रि को मुझ से साक्षात् करने आवेगा। उसपर पूरा पूरा

अधिकार प्राप्त कर लेने पर मेरा बहुत कुछ काम निकलेगा। मेरा विश्वास है कि मेरा यहाँ का आना निरर्थक नहीं जायगा। पर यह सब होगा धीरे धीरे। इसमें दो सप्ताह भी लग जा सकते हैं। मैं यहाँ रहूँगा; १५ दिन तक रह सकता हूँ। पर तुम्हें कल विदा कर दूँगा। सम्भव है आज और कल प्रातःकाल तक कुछ ऐसी घटना घटित हो जाय जिसमें तुम्हारी सहायता की आवश्यकता हो। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि तुम मेरी कुटी के पास ही में कहीं पर रहो।"

संग्राम—"सरदार की प्रसन्नता के लिये मैं अपने प्राण तक दे सकता हूँ। सरदार की आज्ञा का पालन करना ही मेरा एक मात्र कर्तव्य है।"

सरदार—"सो मैं जानता हूँ संग्रामसिंह, इसीलिये तुम्हारे ऊपर मेरा अगाध स्नेह है—तुम्हें मैं अपने सहोदर के समान स्नेह करता हूँ। संग्राम, स्मरण रखना यदि तुमने इसी प्रकार वीरता और सच्चाई से काम किया, तो एक दिन इस वीर-दल के प्रधान के पद पर तुम्हीं आसीन होगे।

आन्तरिक उल्लास से युवक का मुख-मण्डल प्रदीप्त हो उठा उसने कहा—"सरदार की कृपा बनी रहे। मेरे ठहरने का स्थान आप कहाँ नियुक्त करते हैं ?"

सरदार—"वह सामने वाली झाड़ी में। रात्रि का शीत सहन तो कर सकोगे ?"

युवक—"शीत रात्रि का तो कहना ही क्या। मैं बिना आह

किये आपकी आज्ञा से अग्नि में तिल तिल करके भस्म हो सकता हूँ।"

सरदार—"अच्छी बात है। पिस्तौल है?"

संग्राम—"नहीं। एक मात्र छुरा है।"

सरदार ने गेरुये वस्त्र के नीचे से एक भरा हुआ पिस्तौल निकाल कर उसे दिया—कहा—"यह लो।"

युवक—"और आप?"

सरदार—"मेरे पास दूसरा है। सरदार सदा अपने पास जोड़ी रखता है।"

युवक—"रहना ही चाहिये।"

सरदार—"संग्राम! मैं कुटी से लौट जाना चाहता हूँ। तुम्हें आज का शेष दिन और सारी रात जागते ही रहना होगा। सँग्राम! यह पथ फूलों की सेज नहीं है। प्राणों को हथेली पर रखकर ही इस कटीले पथ पर आगे बढ़ना होता है। शत्रु की शक्ति को जानकर सामने खुले मैदान में लड़कर प्राण देना सरल है, पर बिना जाने पहिचाने, केवल मात्र पिस्तौल और छुरी पर भरोसा रखकर रात के घोर अन्धकार में दूसरे के मकान में घुस कर डाका डालना बड़े जीवट का काम है। जितना ही यह भयंकर है उतना ही यह दुष्कर है।"

युवक—"ठीक है सरदार।"

सरदार—"जाओ।"

युवक अभिवादन करके चला गया। ब्रह्मचारी अर्थात् डाकू सरदार उसी कुटी में लौट गये जहाँ एक दिन शान्ति मूर्ति

आनन्द स्वामी अपनी गुरु गम्भीर वाणी से उपनिषदों की सुन्दर सरस व्याख्या किया करते थे।

"मुख हृदय का दर्पण है"—यह सिद्धान्त आंशिक रूप से सत्य हो सकता है; पूर्ण रूप से तो यह कदापि सच्चा नहीं है। यदि ऐसा होता, यदि वास्तव में हृदय की रंग-भूमि पर नृत्य करती हुई प्रवृत्ति माला का प्रतिविम्ब मुख पर पड़ता होता, तो विष-कन्या की अधर शोभा पर इसी माधुरी का आभास कहाँ से आता? वेश्या की लोचन-श्री में सम्मोहन का निवास क्यों होता? और एकान्त निर्मम हत्याकारी के मुखमण्डल पर सौम्य सौन्दर्य्य की प्रभा कहाँ से जगमग जगमग करती?

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

वहिष्कार

धा की प्रकृति में तेजस्विता का विपुल अंश था—इस बात का परिचय हमारे पाठकों ने पा ही लिया होगा, किन्तु उसकी वह तेजस्विता ही उसके लिये इस समय बहुत बड़ी वेदना का कारण होगई। घर के सब लोगों ने उसका अन्त्यज के समान बहिष्कार कर दिया। न तो अब कोई उससे किसी काम के लिये कहता; न उसे रसोई घर में जाने देता। अब वह २४ घंटे अपने कमरे में पड़ी रहती। घर में एक दासी रख ली गई थी—वही खाना लेकर उसके कमरे में पहुँचा आती। लालचन्द को भी उसके पिता माता ने सख़्त ताकीद कर दी थी कि वह उसके पास न जाये! सास ससुर ने तो एक प्रकार से उसका मुख देखना ही छोड़ दिया! उन दोनों ने जान लिया था कि लड़ने झगड़ने से तो वे राधा को परास्त नहीं कर सकते—उस दिन उसकी तेजस्विनी मूर्ति और उसके रोषमयी व्यवहार लीला को देखकर उन दोनों ने उससे दूर ही रहना उचित समझा। इसीलिये उसका वहिष्कार कर दिया गया—न किसी काम में उसकी

सहायता ली जाती, न उसकी कोई बात पूछता! राधा अपने समय का अधिक भाग अपने कमरे ही में व्यतीत करती। परन्तु इस वहिष्कार ने राधा की तेजस्वी प्रकृति को और भी विक्षुब्ध कर दिया। पति के ही घर में वहिष्कृत एवं अनादृत अवस्था में जीवन व्यतीत करना उसके लिये असह्य हो उठा।

कुछ मनुष्यों की प्रकृति ही ऐसी होती है कि वह प्रतिपक्षी के प्रहार को तो सह सकते हैं परन्तु उसके वहिष्कार को सहना उनके लिये असम्भव हो उठता है। वहिष्कार के साथ में एक प्रकार से घृणा का भाव रहता है—उस घृणा की मात्रा को ज़हर की घूँट के समान पी जाना इस प्रकार के जीवों के लिये सम्भव-तर नहीं है। राधा की भी यही दशा थी; वह रात दिन अपने कमरे में पड़ी रहती—पति, सास, ससुर, सब एक ही मकान में होते हुये भी उससे कोसों दूर रहते—उसके उमड़ते हुये आँसुओं को रोकने वाला कोई नहीं था और न उससे लड़ने ही को कोई अग्रसर होता था। अकेले-मौन धारण किये हुये वह रात दिन पड़ी रहती; खाना वह खा तो लेती थी पर वह खाना उसे ऐसा मालूम होता था मानों उसमें राशि राशि घृणा का भाव भरा हुआ था, मानों वह कुत्ते के सामने फेंका हुआ रोटी का टुकड़ा था—मनुष्य जितने दिन भूखा रह सकता था उतने दिन राधा ने भी अनाहार व्रत धारण किया, पर क्षुधा और तृषा के प्रावल्य को पूर्ण रूप से परास्तं करना सम्भव नहीं है इसीलिये जब भूख और प्यास का रोकना उसके लिये असम्भव हो गया तब उसने हालाहल के समान पानी पिया; और विष के समान

भोजन खाया। परन्तु उसने खाया या नहीं, यह एक बार भी किसी ने नहीं पूछा—वह मरती है या जीती, इस बात के ऊपर भी किसी का ध्यान नहीं था। अन्त में इस अनादर और अपमान से भरे हुये वहिष्कार ने राधा के हृदय की प्रदीप्त अग्नि को और भी भयंकर बना दिया उस अग्नि की तीव्र मात्रा से उसका मन, मस्तिष्क और प्राण, तीनों धाँय धाँय करके जलने लगे। ऐसे समय इस भयंकर अग्नि-काण्ड के हाहाकार के समय शैतान ने धीरे धीरे उसके ऊपर अपना जाल फैलाना स्वीकार किया। धीरे धीरे उसके मन पर पाप की छाया पड़ने लगी; प्रतिहिंसा और प्रतिशोध के भावों का धीरे धीरे उसको मस्तिष्क रंग-भूमि पर ताण्डव नृत्य प्रारम्भ होने लगा। धीरे धीरे वह पतन की अन्धकारमयी कन्दरा की ओर अग्रसर होने लगी !!

पर इसमें आश्चर्य्य क्या है ? राधा इस मत्सरमय विश्व के ऊपर अकेली खड़ी थी; दूर तक उसका कोई अवलम्ब एवँ आश्रय देने वाला नहीं था। इस समय देवी सुभद्रा भी नहीं थी—जो उसे इस दारुण पतन से बचाती। इसमें क्षण भर भी सन्देह नहीं कि सुभद्रा की शीतल मधुर उपदेशावली ने राधा को अब तक शैतान के आक्रमण से, व्यूह के समान सुरक्षित रक्खा था—जब जब राधा के हृदय में प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की अग्नि तीव्र हो उठती, जब जब वह अपने सास-ससुर के भयंकर अत्याचार से व्याकुल होकर पाप के प्रलोभन पूर्ण प्रश्रय की ओर दृष्टि डालती, जब जब वह अपने व्यर्थ यौवन और निस्सार सौन्दर्य्य की रंग-भूमि पर कामदेव के ताण्डव नृत्य को देखकर उद्वेग

और उद्दाम वासना से विह्वल हो उठती। तब तब देवी सुभद्रा उसके मन, प्राण और विवेक को अपनी अमृतमयी आदेश धारा में स्नान कराकर, उसकी व्याकुलता, और वेदना को दूर करके, उसे सत्पथ पर ले जाकर खड़ी कर देती ? पर इस समय तो उन देवी की उसके ऊपर मधुर छाया नहीं थी—इस समय तो बेचारी राधा अकेले निरावलम्बिनी निराश्रया, होकर शैतान की रंगभूमि पर खड़ी हुई थी। पाप उसे एक ओर से प्रलोभन दे रहा था, और शैतान उसे भुलावा देकर दूसरी ओर पतन की कन्दरा की ओर ले जा रहा था। तब उसकी रक्षा कौन करेगा ? कौन उसे इस करुण-पतन से बचावेगा !!

तीन प्रहर दिन बीत चुका था—सूर्य्यदेव इस समय अपने वृद्धत्व की प्रथम सीमा पर पहुँच चुके थे—इसीलिये उनकी किरण राशि की वह प्रखरता शीत के हृदय को भेदने में अब शिथिल होती जाती थी। राधा के कमरे में एक खिड़की थी—जहाँ से दूर तक हरे हरे खेतों की हरियाली और उसके पार बहती हुई यमुना की नील धारा दिखाई पड़ती थी इस समय यमुना सूर्य्य-किरणों का सुवर्ण उज्ज्वल परिधान पहिन कर मन्द मन्द गति से चली जारही थी और शीतल समीर का मृदुल हिल्लोल उनकी आनन्दमयी तरङ्गराशि से खेल रहा था। राधा अपनी खिड़की पर खड़ी होकर यही सुन्दर दृश्य देख रही थी। पर जब हृदय व्यथा की अग्नि में जलता होता है, मस्तिष्क वेदनापूर्ण भावों का केन्द्र हो जाता है और विवेक दारुण उद्भ्रान्ति का अग्नि-कुण्ड बन जाता है तब प्रकृति का वह निरुपम सौन्दर्य्य

भी उन तीनों को आनन्द धारा से अभिषिक्त करके परिशान्त करने में समर्थ नहीं होता है। राधा की भी यही गति थी वह यद्यपि अपने स्थूल लोचनों से प्रकृति का वह सुवर्णोज्ज्वल लावण्य देख रही थी पर उसके हृदय का प्रत्येक परिमाणु भयंकर अग्नि की ज्वाला में जल रहा था—कमरे में एक ओर थाली में खाना रखा हुआ था, उसे देखने से यही मालूम होता था कि राधा ने आज उसमें से एक कौर भी नहीं खाया है। यद्यपि दुःखी जन सदा ही वेदना और व्यथा की ज्वाला में जलता रहता है पर जब कभी हृदय में भावों और विचारों की भयंकर आँधी उठ बैठती है, उस समय वह अग्नि और भी तीव्र हो जाती है और उस समय आकुल प्राणी की व्याकुलता की सीमा नहीं रहती है। उस समय उसके हृदय-देश में प्रलय का दृश्य समुपस्थित हो जाता है। दुःख की घनघोर घटायें घिर आती हैं; उद्भ्रान्त विचारों की भयंकर आँधी चलने लगती है, व्याकुलता की हाहाकारमयी अग्नि ज्वाला बड़ा भीषण स्वरूप धारण कर लेती है, हृदय-सागर बड़े भयंकर रूप से उद्वेलित होने लगता है—विवेक और आत्मा के आलोक अस्त हो जाते हैं। राधा की भी इस समय यही दशा थी—जो कोई भी उस समय उसके मुख की ओर देखता—वह स्पष्ट रूप से यह देख पाता कि उसके आकार में बड़ा भीषण अग्निकाण्ड हो रहा है। राधा का वह सहज सुन्दर मुख इस समय वेदना और व्यथा से ऐसा विवर्ण हो रहा था कि उसे देखते ही उसके हृदय की दारुण व्यथा का पता लग जाता था। उसकी बड़ी बड़ी आँखों

से बड़े बड़े आँसू गिर रहे थे। अपने दाँतों की पंक्ति से अपने कोमल ओठों को दाब कर वह अपनी उठने वाली हाहाकार को रोकने का भागीरथ प्रयत्न कर रही थी। थोड़ी देर तक उसकी यह दशा रही। फिर उसने सहसा अपने आँसू पोंछ डाले। उसके मुख पर एक भीषण संकल्प का भयंकर भाव उदय हुआ। फाँसी के तख़्ते पर चढ़ते समय वह धीरे धीरे कहने लगी :—

नहीं! अब नहीं सहूँगी! इतना घोर अपमान! इतना भीषण निरादर! क्या मैं इस घर की कोई नहीं हूँ? क्या इस घर पर मेरा कोई अधिकार नहीं है? आज मैं मरती हूँ या जीती—यह भी पूछने वाला कोई नहीं है? सास-ससुर, जो माता पिता के समान होते हैं, जो अपनी पुत्र-वधू के आचार्य्य एवँ मार्ग-दर्शक हैं, वे ही आज मुझे ऐसी घृणित उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे हैं? आज वे मेरी चिता को होली की अग्नि के समान देखने के लिये व्याकुल हो रहे हैं!! जिनकी गोद मेरे लिये संसार के प्रहारों के सामने अखण्ड-दुर्ग के समान होनी चाहिये थी, जिनका आश्रय मेरे लिये समस्त पापों से रक्षा करने वाला होना चाहिये था, वे आज स्वयँ भीषण चाण्डाल के समान मुझ पर अत्याचार कर रहे हैं, वे निर्मम वधिक की भाँति मेरे प्राणों के प्यासे बन रहे हैं, वे निष्ठुर हत्याकारी की भाँति मेरे ख़ून से फाग खेलने के लिये लालायित हो रहे हैं। ओफ़! पराकाष्ठा है अत्याचार की! अब तो यह वेदना असह्य हो उठी है। न! अब नहीं सही जाती।"

इतना कहकर राधा ठहर गई—उसकी वेदना और भी बढ़ गई! उसके मस्तिष्क में धाँय धाँय करके जलने वाले अग्नि-कुण्ड की प्रबल-ज्वाला इन भावों की आहुति पाकर और भी प्रज्वलित हो उठी। इसी लिये कुछ शान्त होने के लिये राधा ठहर गई। २-३ मिनिट बाद वह फिर आप ही आप कहने लगी—

"किस कुलग्न में मेरा विवाह हुआ था! सच है जब भाग्य का विधान ही अशुभ और अमंगल होता है, तब सभी कुछ वैसा ही घटित होने लगता है। ऐसा न होता तो क्यों मेरे माता-पिता एक मात्र धन को देख कर मुझे इस निर्बल रोगी बालक-पति के गले बाँध देते, जो आज मेरी रक्षा तक करने में असमर्थ है। समाज और शास्त्र! कहाँ है तुम्हारी व्यवस्था! तुम दोनों तो बड़े बज्र-गम्भीर शब्दों में कहा करते हो कि स्त्री का एक मात्र रक्षक उसका पति ही है, पति ही उसका इष्टदेव है, पति ही उसका परमेश्वर है? तब क्या यह रोगी जर्जर बाल-पति ही मेरा ईश्वर है? यह—यह तो अत्याचार से अपनी पत्नी की रक्षा नहीं कर सकता—यह जो रोगी, निर्बल एवँ जर्जर है, इसे ईश्वर मानूँ! नहीं यह ईश्वर नहीं है—ईश्वर होने के योग्य इसमें कौन सा गुण है? वह तो स्वयँ उन अत्याचारियों के अत्याचार में योग दे रहा है! वह अपनी रक्षा तो कर ही नहीं पाता मेरी रक्षा क्या करेगा? तब आओ समाज! आओ शास्त्र! न हो तुम्हारे ही शिर पर दो लात मार कर मैं अपने मन के विक्षोभ और रोष को कुछ कुछ शान्त कर लूँ! समाज! शास्त्र! तुम दोनों स्वार्थ के महासागर हो! स्त्री

जाति को कुचल डालना ही तुम्हारा इष्ट है पर तुम्हारा यह इष्ट पूर्ण रूप से कभी सफल नहीं होगा। नहीं! तुम्हारी व्यवस्था का मेरी दृष्टि में कुछ भी मूल्य नहीं है। यह कैसे होगा कि मैं इस बालक को परमेश्वर मानूँ और यह मेरा निर्बल, शीर्ण परमेश्वर मेरे ऊपर होने वाले अत्याचार का शाब्दिक विरोध भी न करे!!

यह कैसे हो सकता है कि मैं इस भीरु, स्त्री-सेवी ससुर, इस प्रतिहिंसामयी सास को आचार्य्य और गुरू मान कर उनकी पाद-वन्दना करूँ और यह दोनों मेरी आँखें निकालने के लिये मुझे अपने अत्याचार-यन्त्र में पीस डालने के लिये प्रयत्न करते रहें। यह असम्भव है! मेरे भी हृदय है, मेरे भी शरीर है, वेदना और व्यथा का मेरे ऊपर भी वैसा ही भीषण प्रभाव पड़ता है, जैसा पुरुष-जाति पर! तब क्या तुम्हारा विधान मान कर मैं अपनी आँखें बिना बोले निकलवा दूँ, बिना कुछ प्रतिवाद किये नत-शिर होकर शिर पर प्रहार सहती रहूँ, और चुपचाप उन दोनों के अत्याचार को सह्य करके उनकी पाद-वन्दना और अपने इस भीरु और निर्बल बाल-पति की परिचर्य्या करती रहूँ! असम्भव! शास्त्र का विधान तो चीज़ ही क्या है, समाज की व्यवस्था तो एक नगण्य-पदार्थ है—यदि साक्षात् सृष्टि-नियन्ता भी आकर ऐसी बुरी और अन्याय-सङ्गत व्यवस्था दें तो उनकी व्यवस्था के विरोध करने के लिये भी एक नहीं, अनेक हृदय अग्रसर होंगे।"

फिर दो-तीन मिनट के लिये राधा ठहर कर सोचने लगी। वह फिर इस प्रकार कहने लगी—"बस हो चुका! अब इस

घर में रहने की अपेक्षा इसे सदा के लिये छोड़ ही देना अच्छा है। इस अपमान, कलह एवँ अन्याय ही परित्याग करके कहीं कहीं भी चला जाना अच्छा है। उस दिन एक पुस्तक में पढ़ा था—"पति का घर ही स्त्री का स्वर्ग है।" पर मेरे पति का घर तो स्वर्ग नहीं, नरक से भी अधिक भयंकर है। जहाँ पर दम्पत्ति के हृदयों की विमल प्रेमधारा निरन्तर कल-कल करती हुई बहती है, जहाँ गुरुजन के वात्सल्य और आशीर्वाद मूर्तिमान उत्सव और आनन्द के समान सदा विलसित होता रहता है, जहाँ धर्म और शान्ति का अखण्ड साम्राज्य है—वहाँ उस पति के प्रासाद को स्वर्ग की संज्ञा मिल सकती है, पर जहाँ गुरुजन बधिक और हिंसक के समान विचरण करते हों, जहाँ बालक-शीर्ण जीर्ण बालक-पति की युवती-पत्नी का सौन्दर्य्य और यौवन असह्य अत्याचार की अग्नि में तिल तिल करके जलता हो, जहाँ अधर्म और शैतान का अखण्ड राज्य हो—वह पति का घर होकर भी नरक के समान है। उस नरक को छोड़ देना ही अच्छा है!

अच्छी बात है! छोड़ दूँगी! जहाँ तक होगा जल्दी ही इस अग्निकुण्ड को परित्याग करदूँगी—विशाल विश्व मेरे सामने विस्तृत है, यौवन और सौन्दर्य की धन-सम्पत्ति से मैं धनी हूँ—देखूंगी कि मैं अपने लिये इस मत्सरमय जगत में भी स्थान बना सकती हूँ कि नहीं! शिव का साथ छोड़ दूँगी, शैतान का हाथ पकड़ लूँगी! धर्म पर लात मार दूँगी! अधर्म को हृदय का हार बना लूँगी। तभी ठीक होगा! तभी शास्त्र जानेंगे कि

उनकी कोरी शाब्दिक व्यवस्था से जगत के कठोर स्थूल व्यापारों का कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं है। समाज के इन अन्याय-सङ्कुल नियमों को जब तक निर्भय बनकर तोड़ा नहीं जायगा, तब तक वह यह कैसे जानेगा कि दुःखी और आकुल हृदय एक मात्र व्यवस्था की रज्जु से बाँधकर नहीं रखे जा सकते। कितना सहा! कभी मुँह से उफ, नहीं किया! आँखों का आँसू आँखों ही में पी गई। पर क्या परिणाम हुआ! अत्याचार की मात्रा बढ़ती ही गई। ठीक है! अत्याचारी का अहङ्कार जब तक लात मार कर भङ्ग नहीं किया जाता, प्रमादी का प्रमाद जब तक प्रहार के द्वार दूर नहीं किया जाता, तब तक वे स्वच्छन्द गति से अपने अधर्म और अन्याय के अस्त्रों का प्रयोग करते रहते हैं।

चलो राधा! छोड़ दो इस नरक को, त्याग दो इन हिंसक गुरुजनों को लात मारदो इन झूँठे निर्बल बालक-पति को। विश्वेश्वर! नहीं जानती तुम कहीं हो या नहीं, पर यह निर्विवाद है कि तुम्हें अनेक बार गुहारा पर तुम्हारी करुणा की एक शीतल बूँद भी नहीं मिली! इसी लिये अब मैं शैतान की तीव्र मदिरा में ही अपनी यातना की अग्नि को निमग्न करने के लिये जाऊँगी! बहुत जल्दी ही इसकी व्यवस्था करूँगी। इस अग्नि को मैं नहीं सह सकती। धर्म के सुशीतल जल से इसे बुझाने में तो समर्थ नहीं हुई—एक बार अधर्म के तीव्र मद की भी परीक्षा कर देखूँ! हानि ही क्या है?, नरक की यातना इससे अधिक नहीं हो सकती।"

राधा का हृदय इस दृढ़ निश्चय से कुछ कुछ शान्त सा हो गया। परन्तु यह स्थायी शान्ति नहीं थी। इसमें संदेह नहीं कि शैतान के इस भीम-गर्जन में तथाच आन्तरिक अग्नि के दारुण हाहाकार में धर्म का मधुर स्वर विलीन होगया था, किन्तु फिर भी वह कभी कभी गूँज अवश्य उठता था इसी लिये इतना भीषण संकल्प धारण कर लेने पर भी राधा का हृदय एक बार ही शान्त और वेदना-रहित नहीं हो गया। हो भी नहीं सकता था! जैसे जैसे ही मृग की भयंकर तृष्णा बढ़ती जाती है, वैसे वैसे ही मरीचिका का स्वरूप और भी प्रलोभनमय होता जाता है। हम सब जानते हैं कि इस विश्व में होने वाले अत्याचार और उत्पीड़न की औषधि अधर्म और शैतान के कोष में नहीं है पर निरन्तर उत्पीड़न और दारुण मर्म-व्यथा के बीच में विवेक को शुद्ध और शान्त रखना भी तो सरल नहीं है। आज हमारी आँखों के सामने जो अनेक विधवाओं के करुण-पतन के अभिनय अभिनीत होते हैं, अनेक बाल-वृद्धों की पत्नियों की शोचनीय पतन-लीला का जो दारुण दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं, उन्हें देख कर हमारी इस भावना की परिपुष्टि ही होती है। तब राधा का इस प्रकार शैतान की ओर प्रलुब्ध होना दुःखमय भले ही था, पर वह अस्वाभविक नहीं था! निर्बल उत्पीड़ित आत्मा के सामने जब दूर पर शैतान मनोमोहन रूप में आवि-र्भूत होता है, जब उद्भ्रान्त वासना के ओठों पर पाप हँसते हुये मदमयी वारुणी का प्याला बरबश लगा देता है, तब उस समय उनका पतन एक मात्र जगदीश्वरी की करुणा के रोके ही रुक

सकता है; भ्रष्ट विवेक, दलित प्राण, व्यथित हृदय, व्याकुल आत्मा यह सब उसे नहीं रोक सकते हैं। हाय! आज सुभद्रा होती, तो क्या यह विचार धीरे धीरे राधा के हृदय में परिपक्व हो सकते थे? पर भावी प्रबल है। शैतान जिस प्रकार अपने शिकार की खोज में सदा सजग और सचेत रहता है, शिव यदि उसकी रक्षा में उसके आधे भी सावधान रहते—यदि वे अपने नशे की मात्रा कुछ कम कर देते—तो आज विश्व की रंग-मञ्च पर धर्म की जो भीषण हिंसा हो रही है; समाज और शास्त्र के नाम पर निरीह निर्बल आत्माओं की जो निर्मम हत्या हो रही है तथा पुण्य पाप के परिपीड़न से जो मरणप्राय हो रहा है—वह सब कुछ नहीं होता। यह विश्व स्वर्ग से भी अधिक वैभवमय और सौरभमय हो जाता!

इस भीषण संकल्प ने राधा के हृदय को क्षण भर के लिये शान्त कर दिया था—यह हम पहिले ही कह चुके हैं। पर दूसरे ही क्षण उसके हृदय में सुभद्रा के मधुर सुन्दर उपदेश जागृत हो उठे। सुभद्रा ने एक दिन कहा था—"बहिन! पाप का विनाश पाप से सम्भव नहीं है—देखना! विश्व की मरीचिका में उद्भ्रान्त होकर कहीं शैतान के वश में न हो जाना।" तब तो राधा के हृदय में एक तुमुल संग्राम छिड़ गया—एक ओर था अपने समस्त प्रलोभनों के साथ शैतान और उसकी सहायता पर थी राधा के हृदय की असह्य वेदना—और दूसरी ओर थे सुभद्रा के वे मधुर सुन्दर दिव्य उपदेश! उन दोनों में भीषण संग्राम छिड़ गया। राधा का हृदय युद्ध-भूमि बन गया। जब इन विभिन्न

विचारों के तुमुल युद्ध की मात्रा बहुत बढ़ गई, तब राधा धीरे धीरे यमुना तट पर प्रकृति के उस परम रम्य निर्जन निकुञ्ज की ओर चल दी। जिस दिन राधा और उसके सास-ससुर में लड़ाई हुई थी, उस दिन से आज यह पहिला अवसर था कि वह घर के बाहर गई थी। उसने अपने मन में सोचा होगा कि थोड़ी देर तक यमुना तट की उस निर्जन शोभा को देखने से मन में शान्ति होगी तथाच उन विरोधी भावों का भयंकर युद्ध भी कुछ कुछ शान्त हो जायगा। इसी आशा से वह धीरे धीरे मन्द-मन्थर-गति से उस चिर-संगीतमयी यमुना के शीतल तट की ओर चल दी।

उस समय सूर्यदेव पश्चिम प्रान्त पर पहुँच ही चुके थे। ऊँचे ऊँचे वृक्षों के पल्लवों पर उनकी कोमल किरणें नृत्य कर रही थीं। कोई कोई पक्षी जल्दी ही अपने अपने बच्चों से मिलने के लिये अपने निविड़ की ओर उड़ा जा रहा था; कोई कोई शान्त भाव से उस समय की शान्त शोभा की प्रशंसा में राग अलाप रहा था। परन्तु राधा का उधर ध्यान नहीं था; वह शिव और शैतान के उस तुमुल संग्राम को देखती हुई चली जा रही थी। लगभग २ मिनिट के उपरान्त वह उसी जगह पहुँच गई, जहाँ एक दिन हमने बसन्तकुमार को व्यथित दशा में बैठे हुये देखा था। उसी शिला-खण्ड पर वह अपने कोमल कपोल को अपने कुरुञ्ज पर स्थापित करके बैठ गई। थोड़ी ही देर में वह निश्चल पाषाण प्रतिमा की भाँति अपने भावों में निमग्न होगई। और ठीक उसी समय हमारे परिचित प्रेमतीर्थ जी ने वहाँ पर

प्रवेश किया। उनके उस प्रवेश को राधा ने नहीं जान पाया—इसी लिये वह अपने भावों में वैसे ही निमग्न बैठी रही। उसे उस समय विश्व में किसी के भी अस्तित्व का ज्ञान नहीं था।

शैतान जब सूत्रधार के स्वरूप में हृदय की रंग-भूमि पर विकृत भावों का मङ्गलाचरण उच्चारण कर जाता है, तब समुद्दीप्त वासना, उद्दीपन विभाव के समान, पाप-रस को परिपुष्ट करने के लिये, मधुर मधुर नृत्य करती हुई प्रवेश करती है!!

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

प्रस्थान

गीश्वर भर्तृहरि ने अपने निज के अनुभव से यह बात कही थी—"कन्दर्प दर्प दलने विरला समर्थाः।" अर्थात् काम की प्रखर ज्वाला को प्रशमित करने में कोई विरल ही समर्थ होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस विश्व में ऐसे अनेक प्राणी हैं, जो अपनी उर्द्धगामिनी वासना की अग्नि में तिल तिल करके जल जाने पर भी धर्म के मार्ग से च्युत नहीं होते हैं; परन्तु वासना उनके हृदय रूपी प्रमोद्-वन को भस्म कर डालने में क्षण भर भी कुण्ठित नहीं होती है। बसन्तकुमार की भी यही दशा थी। वे जानते थे कि उनकी वासना की अग्निमयी गति के निम्नतल में पाप की प्रच्छन्न प्रेरणा है, वे उस वासना को दमन करने में समर्थ नहीं हुये थे। किन्तु फिर भी उन्होंने यह पक्का संकल्प कर लिया था कि वह प्राण रहते अपनी उस वासना की बात अपने अन्तर्लोक से बाहर नहीं आने देंगे। कई बार उनके मन में यह धारणा उत्पन्न होती थी कि वे अपनी उस प्रेम की रंग-भूमि रंग-पुर को सदा के लिये परित्याग करके, कहीं चले जाँय। पर उस

अन्नपूर्णा की ममता, अन्नपूर्णा के भविष्य की चिन्ता, उन्हें बरबश बाँध कर वहाँ रहने के लिये वाध्य करती थी। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि जिस कुटुम्ब ने उन्हें और उनकी बहिन को आश्रय दिया था, वह उनकी अनुपस्थिति में भी उनकी बहिन की रक्षा और परिपालन में कोई त्रुटि नहीं करेगा। वह जानते थे कि दैव के मधुर विधान से उन्हें देवताओं के बीच में आश्रय मिला था पर तो भी न मालूम क्यों उनके हृदय में बार बार यही भावना उत्पन्न होती थी कि अन्नपूर्णा को विवाह-बन्धन में बाँध कर, उसे उपयुक्त हाथों में सौंप कर ही कहीं जाना उचित होगा। जब जब उनके मन में रंगपुर के छोड़ देने की बात उठती, तब तब उन्हें उस समय का स्मरण हो आता, जब उनके पूज्य पिता ने सजल नयन होकर उनके हाथों में ८ वर्ष की अन्नपूर्णा का छोटा सा कोमल कर-पल्लव देकर कहा था—"बसन्त! मैं तो जाता हूँ पर देखना अपनी इस बहिन के आदर में रत्ती भर भी त्रुटि मत करना। उपयुक्त अवस्था को प्राप्त होने पर इसे उपयुक्त वर के हाथों में सौंप देना। स्मरण रखना, यह मेरा अन्तिम आदेश है। यदि तुमने प्रमाद, आलस्य अथवा और किसी कारण से मेरे इस कथन की अवज्ञा की यदि तुमने अन्नपूर्णा के उज्ज्वल भविष्य की व्यवस्था नहीं की, तो तुम्हें एक दिन वहाँ, भगवान के सामने, खड़े होकर इसका उत्तर देना होगा।" बसन्त ने पिता की इस आज्ञा को सुन कर कहा था—"बापूजी! मैं आपका पुत्र हूँ, आप का मुझ पर इतना अविश्वास क्यों है! बापूजी! अन्न-पूर्णा मेरी छोटी बहिन है, उसकी सुख-सिद्धि के लिये मैं अपने

प्राणों तक की आहुति देने में संकोच नहीं करूँगा।" यह सुन कर पिता के मुख पर आनन्दमय संतोष की आभा झलक उठी थी, उन्होंने कहा था—"बसन्त! तुम्हारे ऊपर मैं अविश्वास नहीं करता हूँ; मैंने तुम्हें तुम्हारे कर्तव्य का ही स्मरण कराया था। बेटा! मैं जाता हूँ भगवान तुम्हारा मंगल करे।" पिता के इस अन्तिम आदेश को बसन्त कैसे अमान्य कर सकते थे? इसी लिये आज बसन्त के हृदय में बड़ा आनन्द हुआ, जब उन्होंने बापूजी की बातों से यह जान लिया कि वे अन्नपूर्णा को अपनी पुत्र-वधू बनाना चाहते हैं। अन्नपूर्णा की ओर से आज वे निश्चिन्त हो गये। वास्तव में राजेन्द्र से अधिक उपयुक्त पात्र उन्हें कहाँ मिल सकता था और उस देव-कुटुम्ब से अधिक पवित्र और उन्हें कौन सा परिवार उपलब्ध हो सकता था। अन्नपूर्णा के इस सुख-सौभाग्य की बात जान कर उन्हें परम प्रसन्नता हुई। आज ३ महीने के उपरान्त पहिली बार उनके विवर्ण मुख पर आनन्द की एक रेखा उदय हुई।

अभी तक उनके मन और मस्तिष्क को एक ही अग्निमयी भावना भस्म करती रहती थी और उसके ऊपर उनकी पराधीन परिस्थिति उन्हें और भी व्याकुल बनाये रखती थी। आज उन्होंने देखा कि वे स्वतन्त्र हैं। अन्नपूर्णा के विषय में उन्हें चिन्ता थी, वह अब दूर हो गई। भगवती ने स्वतः ही उनकी वह दुश-चिन्ता दूर कर दी। इसी लिये आज उन्होंने अनुभव किया जैसे उनके उत्तप्त हृदय पर आनन्द मेघमाला की शीतल वर्षा हुई हो। आज पहिली बार उनकी वह विकराल ज्वाला कुछ अंश में शान्त

हो गई। वे विवर्ण मुख-मण्डल लेकर बापूजी की कुटी में गये थे; वे आनन्द-उज्ज्वल शोभा लेकर वहाँ से लौटे।

यद्यपि स्पष्ट रूप से वसन्तकुमार ने अनुभव नहीं किया था किन्तु उनके हृदय के निभृत कोण में एक और आनन्द की रेखा धीरे धीरे उनके उस विषाद के घोर अन्धकारमय-गगन से प्रादुर्भूत हुई थी। आज ३ महीने से जिस पुण्य चन्द्र के दर्शन के बिना उनके नयन-चकोर दुःख की ज्वाला में भस्म हो रहे थे, कल साध्य-श्री की शोभा के बीच में उसी आनन्दमय सुधाकर का दर्शन होगा, यह कल्पना यद्यपि तीव्र स्पष्ट रूप से उनके मन-मन्दिर में उदय नहीं हुई थी, पर हृदय के निभृत कोण में इस आशा की कोमल अस्पष्ट ध्वनि एक वार सुनाई अवश्य पड़ी थी। इसमें रत्ती भर सन्देह नहीं कि वसन्त अपने इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन को उतने स्पष्ट रूप से अनुभव नहीं कर पाये थे, जितनी स्पष्ट रीति से वह उनके मुख-मण्डल पर प्रतिफलित हो रहा था, पर फिर भी आज वसन्त के हृदय में जहाँ एक ओर तीव्र अग्नि जल रही थी, वहाँ दूसरी ओर शीतल सूक्ष्म सुधा-धारा भी प्रवाहित हो रही थी। वह अग्नि एक वार ही कैसे शान्त हो सकती थी; उस तीव्र विष की ज्वाला सहसा कैसे प्रशमित हो सकती थी? जब तक उनका वह प्रेम पाप का प्रश्रय छोड़ कर पुण्य की पवित्र छाया में नहीं आवेगा, जब तक उनकी वह ज्वालामयी वासना निस्वार्थ त्याग की शीतल मन्दाकिनी में स्नान करके शान्त नहीं होगी, तब तक उनकी वह दारुण आकुलता प्रशमित कैसे हो सकती थी? पर तो भी आज

उनकी भावना का प्रवाह ही और था—एक तो अग्निमयी वासना की ओर, और दूसरी आनन्दमय उल्लास की ओर, जो अन्नपूर्णा के सुख-सौभाग्य की बात सुन कर सहसा उमड़ पड़ा था। इसी लिये आज उनकी आँखों में अग्नि भी थी, आँसू भी थे, तथापि उनके मुख-मण्डल की विषाद-छाया के भीतर से सन्तोषमय प्रमोद की आभा भी फूटी पड़ती थी। उस समय उनकी दशा ठीक उस विधवा के समान थी जो पति के ज्वालामय वियोग से व्यथित होकर भी अपने एक मात्र पुत्र के दीर्घ प्रवास से लौटने पर सन्तोषमय आनन्द को प्रकट करती है।

पश्चिम पयोधि के नील सलिल में भगवान् सूर्य्यदेव की किरणें क्रीड़ा कर रही थीं। उस समय आकाश-मण्डल विभिन्न वर्णों से चित्रित चित्र-पट के समान रमणीय प्रतीत हो रहा था। कोई कोई चञ्चल किरण सलज्ज गुलाब के कपोल को बरबश चूम रही थी और उनकी इस प्रणय लीला को देखकर पक्षिकुल व्यंग्य राग गा गा कर अपना आमोद प्रकट कर रहे थे। समीर कभी इस मालती लता को गुदगुदा जाता था, कभी माधवी के पल्लवाञ्चल को हटा देता था। पकड़ने से हाथ नहीं आता था—बड़ा सोहावना मनोरम संध्याकाल था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो साँध्य-श्री की अपूर्व शोभा को देखते देखते प्रकृति-देवी विमुग्ध हो रही थीं बसन्तकुमार भी संध्या की उस शोभा और प्रकृति की उस परम प्रमोदमयी प्रफुल्ल-श्री को देख रहे थे। जैसा हम पहिले कह चुके हैं, इस समय बसन्तकुमार के मुख पर उदासी का वैसा आधिपत्य नहीं था। इस समय उनके मुख की शोभा

यद्यपि फूले हुये गुलाब की सी नहीं थी, पर तो भी उसकी वह विवर्णता उनकी आंतरिक आनन्द-धारा में स्नान करके इस समय बहुत कुछ प्रफुल्ल हो रही थी। वह कुछ समय तक अस्त होते हुए सूर्य्य की शोभा देखते देखते इधर-उधर विहार करते रहे। उस समय यदि कोई ध्यान पूर्वक उनके मुख पर दृष्टि लगा कर देखता, तो उसे अवश्य ही आभासित हो जाता कि उनके अन्तर में बहुत से कोमल और कठोर भावों की आवृत्ति हो रही थी। क्षण भर में उनके मुख की आभा असंगत सूर्य्य के समान देदीप्यमती हो उठती थी और दूसरे ही क्षण उनकी आँखों की ज्योति एक बार ही विषाद की छाया से आवृत हो जाती थी। जब मनुष्य एकान्त में एक मात्र अपने भावों को लेकर विहार करता है, तब सच पूछिये तो वह यह भूल जाता है कि मैं अकेला हूँ, उसके अन्तर के भाव उसके सहचर का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इसी लिये प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भाव-मग्न प्राणी अपने आप ही अपने भावों को भाषा का अम्बर पहिना कर परिव्यक्त करने लगता है। इस प्रकार अनेक प्राणियों ने अपने अन्तर-तम प्रदेश के रहस्य को बिना जाने बूझे उद्घाटित कर दिया है, जिसके कारण उन्हें अनेक कष्ट और दुःख उठाने पड़े हैं। पर मानव अपनी प्रकृति से विवश है। बसन्तकुमार तो प्रायः एकान्त में अपने रहस्यमय भावों को वाङ्मय स्वरूप देखकर विवृत करने लगते थे। अभी कल ही प्रेमतीर्थ ने उनके भावों को सुन कर उनके रहस्य का एक सूत्र प्राप्त कर लिया था। हम देखते हैं कि वे इस समय भी कुछ कह रहे हैं। चलिये,

देखें, उनके हृदय देश पर कौन से भावों का नृत्य हो रहा है।

बसन्त अपने आप कहने लगे—"रंगपुर को छोड़ देने में अब मैं बहुत शीघ्र ही स्वतन्त्र हो जाऊँगा। यहाँ रह कर यह अग्नि शान्त नहीं होगी और कौन जाने, किस दिन मेरी निर्बलता से मेरे हृदय का भाव प्रकट हो जाय। उसका परिणाम बहुत भयंकर होगा। सुभद्रा—सुभद्रा—जिसे मैं इतना स्नेह करता हूँ, जो मेरी इस वासना की प्रधान इष्ट देवी है, वह जब यह जान पावेगी, तो उसका कोमल हृदय टूक टूक हो जायगा। बापूजी को भी घोर दुःख होगा—तब क्यों यहाँ रह कर व्यर्थ में इतनी जोखिम सही जाय।"

"यह विशाल विश्व मेरे सामने विस्तृत है। मैं घूमूँगा, निरन्तर घूमूँगा। यदि हो सका तो अपनी इस वासना को भी उसी की अग्नि में जला दूँगा। यदि ऐसा न कर सका तो रोता हुआ, व्याकुल होता हुआ, घूमूँगा! यह तो निश्चय है कि देवी सुभद्रा को मैं पा नहीं सकता; वह मेरी हो नहीं सकती—धर्म-मार्ग में बाधक है; परलोक इस विचार मात्र से क्रुद्ध हो उठता है; शील और नीति दोनों इस पापमयी वासना की बात जानते ही घृणा से मुँह फेर लेते हैं, तब कैसे मैं सुभद्रा को पा सकता हूँ! वह देवी है, धर्म की साक्षात् प्रतिमा है, वह क्या अपने ऊँचे आसन से नीचे आकर मुझे अपना प्रेमपात्र नहीं बना सकती है? न यह असम्भव है! वह पूर्ण पतिव्रता है; वह वेद-मंता सावित्री के समान, पवित्र, सती के समान तेजोमयी, सीता के समान निष्कलंक

है। सच पूछिये! तो उसके सम्बन्ध में ऐसी धारणा करना स्वयँ नरक का निमन्त्रण स्वीकार करना है। इसलिये मेरे लिये यही उचित होगा कि मैं तीर्थ-यात्रा के बहाने यहाँ से चल दूँ। अन्न-पूर्णा को राजेन्द्र के हाथों में देकर मैं रंगपुर से सदा के लिये विदा हो जाऊँ।

"आह! यदि आनन्दस्वामी मुझे अपना सहचर बना लेते तो बहुत सम्भव था कि उनके उपदेशों की अमृतधारा से मेरी वासना शान्त हो जाती! पर नहीं! मैं कैसे ऐसी भयंकर पाप की बात उनसे कह सकता हूँ? न! न! जो कुछ होगा मैं सहूँगा! नरक की ज्वाला, वज्र का प्रहार, तप्त तैल का अभि-षेक, उत्तप्त शलाका का लोचन-प्रवेश, सहस्र सहस्र बिच्छुओं का दंशन—सब कुछ मैं सहूँगा—इतने पर भी यदि वासना को नहीं परास्त कर सका, तो गम्भीर महासागर के जल में समाधि बनाऊँगा...........।"

अभी उनकी विचार-धारा की गति इतनी ही पहुँचने पाई थी, कि पीछे से अन्नपूर्णा ने आवाज़ दी—"दादा!"

वसन्त ने पीछे फिर कर देखा—उस समय सान्ध्य-श्री के स्निग्ध-प्रकाश में अन्नपूर्णा साक्षात् देव-कन्या के समान प्रतीत हो रही थी। वसन्त ने कहा—"हाँ! अन्नपूर्णा।"

अन्नपूर्णा—"दादा! जाने का सब प्रबन्ध ठीक तो हो गया न!"

वसन्त—"प्रबन्ध ही क्या होना है अन्नपूर्णा? मैं प्रातःकाल

ही घोड़े पर जाऊँगा और सायंकाल होते न होते तो राजेन्द्र के पास पहुँच जाऊँगा।"

अन्नपूर्णा—"पर तो भी दिन में भोजन इत्यादि की क्या व्यवस्था होगी?"

बसन्त—"अरी! तू तो सदा भोजन ही को लेकर व्यस्त रहती है। अन्नपूर्णा ठहरी न! कुछ थोड़े से फल एक कपड़े में रख दीजिओ! काठी में डाल लूँगा। सायंकाल को तो भोजन मिल ही जायगा।"

अन्नपूर्णा—"प्रातःकाल क्या कुछ नहीं खायेंगे?"

बसन्त—"इतनी सुबह क्या खाऊँगा?"

अन्नपूर्णा—"मैं इतनी सुबह रसोई की व्यवस्था कर दूँगी। दिन भर भूखे रहने से क्या लाभ है?"

बसन्त—"पर प्रातःकाल के समय तुझे बापूजी की सेवा में भी तो रहना चाहिये?"

अन्नपूर्णा—"मैं सब कर लूँगी? आपको इससे क्या?"

बसन्त बालिका के इस सरल आग्रह को देख कर आनन्द-मग्न हो गये; हँस कर बोले—"अच्छी बात है। तेरी जैसी इच्छा है वैसा करना। तू तो सदा से हठी है।"

अन्नपूर्णा—"दादा! आप ही ने मुझे इतना मुँह लगा रक्खा है।"

बसन्त—"मैंने ही क्या सब ही ने तुझे इतना ढीठ बना दिया है।"

अन्नपूर्णा—"दादा! दीदी सुभद्रा से मेरा बहुत बहुत

प्रणाम कह दीजियेगा। मैं एक छोटी सी पोटली में कुछ मिठाई इत्यादि बना कर रख दूँगी—सो भी उन्हें दे दीजियेगा। उनसे कहना तुम्हारे विना मुझे विलकुल अच्छा नहीं लगता है।"

वसन्त के मुख पर एक प्रकार की उज्ज्वल लालिमा दौड़ गई, उस भावावेश को अन्नपूर्णा ने नहीं लक्ष्य कर पाया—वसन्त ने कहा—"अच्छी वात है।"

अन्नपूर्णा—"तो मैं जाती हूँ?"

वसन्त—"जा मैं आज रात को देर में भोजन करूँगा।"

अन्नपूर्णा—(हँस कर) आप जल्दी कब करते हैं?"

सरल अन्नपूर्णा चली गई। वसन्त के हृदय की पहिले वाली भाव-धारा का प्रवाह भी अवरुद्ध हो गया था। अब तो यह सोचने लगे थे कि वे किस प्रकार सुभद्रा को अन्नपूर्णा का संदेशा सुनावेंगे, किस प्रकार उसका दिया हुआ उपहार उसको भेंट करेंगे। यद्यपि यह कोई बड़ा कठिन कार्य्य नहीं था, पर वसन्त को ऐसा प्रतीत हुआ मानों वह कोई वड़ा दुसह, किन्तु प्रिय कार्य्य करने जा रहा है। जिस प्रकार किसी वड़े राजा के सामने किस प्रकार प्रवेश करना होता है, कैसे नज़र गुज़ारी जाती है। कैसे लौटना पड़ता है, इत्यादि बातों का पहिले ही से ज्ञान करके, तव उसके दर्बार में जाना होता है। उसी प्रकार वसन्तकुमार भी मन ही मन सुभद्रा से भी करने की विधि सोचने लगे। वार वार उनके हृदय में यह भाव उठने लगा कि वह अपने हृदय में उस पापमय प्रेम की प्रवृत्ति को धारण कर के किस प्रकार उसके सरल मुख की ओर देख सकेंगे—किस

प्रकार वह शान्त-स्थिर भाव में, उससे बातचीत कर सकेंगे। इत्यादि बातों को लेकर अब वसन्तकुमार अपनी कल्पना के सामने सहायता की याचना के लिये हाथ जोड़ कर खड़े हुये। सरल अन्नपूर्णा ने जितने सरल भाव से अपना सन्देशा कहने की और अपने उपहार देने का भार वसन्तकुमार के हाथों में नियस्त कर दिया था, उतनी सरलता से अपने आपको, अपने उस भार के उत्तरदायित्व को परिपूर्ण करने में वसन्तकुमार ने असमर्थ पाया।

सरलता सौन्दर्य्य की प्राण है। जहाँ कुटिल उच्छ्वास, उद्दाम विलास और तीव्र मद के साथ सौन्दर्य्य विहार करता हो, वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि उस प्रफुल्ल शोभा के नीचे कोई भयंकर विषधर किसी के प्राण-विनाश के लिये छिप कर बैठा है। इसी लिये, कुटिल लावण्य विष-मिश्रित अमृत के समान है।

उन्तीसवाँ परिच्छेद

सर्वनाश

प्रेमतीर्थ का परिचय हम पहिले ही दे चुके हैं। हम उनके स्वरूप और चरित्र की भी कुछ थोड़ी सी मीमांसा कर चुके हैं। हमने पहिले ही कहा है कि प्रेमतीर्थ की विशाल आँखों में एक ऐसा अद्भुत तेज था, जिसके द्वारा वे दूसरे को अभिभूत कर सकते थे। इतना ही नहीं, प्रेमतीर्थ की उन आँखों में कभी भीषण हिंसा की अरुणिमा प्रादुर्भूत होती थी, कभी ऐसा प्रतीत होता था मानों उनमें से अमृतमयी करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित हो रहा हो, कभी उनमें विलासी के विलास के समान अद्भुत लालिमा का सञ्चार हो जाता था, कभी वे अरुण रागमयी वारुणी के पूर्ण पात्र से प्रतीत होते थे। सच पूछिये तो प्रेमतीर्थ के उस सुन्दर मुख-मण्डल पर उनके विशाल लोचन इन्द्रजाल के दो गुटके के समान थे। प्रेमतीर्थ की यह बड़ी अद्भुत विभूति थी।

राधा को शिलाखण्ड पर इस प्रकार बैठे हुये देख कर प्रेमतीर्थ की अन्तर्भेदिनी दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रह सकी

कि उसका हृदय किसी अनन्त विषाद का आगार है, जिसकी छाया उसके वदन-मण्डल पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही थी। प्रेमतीर्थ बड़ी स्थिर दृष्टि से राधा की ओर देखते रहे। सच पूछिये तो वे स्वयँ भी राधा के उस देव-दुर्लभ लावण्य पर मुग्ध हो रहे थे। सूर्य्य की अन्तिम किरण उसके कमल-कपोल पर नृत्य कर रही थी, संग-मर्मर की धवल सुन्दर प्रतिमा की भाँति वह शिलाखण्ड पर बैठी थी। उसकी वह विषादमयी मूर्ति देख कर ठीक यह मालूम होता था कि मानों स्वर्ग-भ्रष्ट होकर उर्वशी अपने प्राणेश्वर देवराज के विरह में एकान्त विकल और विषण्ण हो रही हो। उस सांध्य शोभा के बीच में, यमुना के उस प्रकृति चित्रित निर्मल तट पर, किसी विपुल शिल्पी की मधुर कृति के समान बैठी हुई राधा ने प्रेमतीर्थ के हृदय में उन कोमल भावों को जागृत कर दिया, जिनके वशीभूत होकर मृगराज भी अपनी प्राणेश्वरी के प्रणयालिङ्गन के लिये उसके पाद-तल में विलम्बमान हो जाता है। प्रेमतीर्थ विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से उस अतुलनीया सुन्दरी को देखने लगे। उस समय उनके मुख पर प्रखर वासना की जागृति के सम्पूर्ण लक्षण परिलक्षित होते थे।

लगभग ४-५ मिनट तक प्रेमतीर्थ वहाँ पर खड़े खड़े उस दिव्य सौन्दर्य्य को देखते रहे पर तो भी राधा का वह ध्यान भङ्ग नहीं हुआ। वह उसी भाँति निश्चल-पाषाण प्रतिमा की भाँति बैठी रही। सूर्य्यदेव की वह अन्तिम किरण भी अब अन्तर्हित हो गई थी और नील-सलिला यमुना का जल अन्धकार के रंग में और

रंगा जा रहा है। निकुञ्जों की लताओं में और वृक्षों के पल्लवों के अन्तराल में बने हुए घोसलों में पक्षिगण धीरे धीरे मधुर राग गाते गाते प्रवेश कर रहे थे। ठीक उसी समय सहसा राधा का ध्यान भङ्ग हो गया। उसने अपने दक्षिण पार्श्व की ओर आँख उठा कर देखा; उसने देखा कि एक प्रफुल्ल सुन्दर युवक गैरिक वसन परिधान किये उसकी ओर एक दृष्टि से देख रहा है। राधा ने भी दो-तीन क्षण तक प्रेमतीर्थ की आँखों में आँखें गड़ा दीं। अवश्य ही राधा को उस युवक की उपस्थिति देख कर कण-मात्र भी भय नहीं हुआ। भय का कोई कारण भी नहीं था। उस युवक की मुख मुद्रा में कोई भयंकरता की झलक नहीं थी। सच पूछिये, तो उस संध्या-काल के क्षीण प्रकाश में खड़ा हुआ वह सुन्दर युवक राधा की दृष्टि में बड़ा ही सुन्दर प्रतीत हुआ। एक बार फिर राधा ने आँख उठा कर उसकी ओर देखा। युवक ने भी आनन्द से उल्लसित होकर उसकी दृष्टि से अपनी दृष्टि मिला दी उस समय राधा को ऐसा मालूम हुआ मानों उस युवक ने अपनी विशाल लोचनों में रखी हुई वारुणी को उसकी आँखों में ढाल दिया। सुन्दरी राधा ने फिर सलज्ज भाव से शिर नीचा कर लिया, किन्तु उसने वहाँ से जाने का कोई विचार प्रकट नहीं किया।

प्रेमतीर्थ राधा की इस सलज्ज शोभामयी मुद्रा को देख कर और भी उल्लसित हो उठा। वह धीरे धीरे आगे बढ़ने लगा सुन्दरी राधा वहीं खड़ी रही। वह मानों अपनी मूक भाषा में उस युवक को अपने समीप आने के लिये निमन्त्रण दे रही थी।

प्रेमतीर्थ बिलकुल उसके पास आकर खड़ा हो गया। सुन्दरी राधा के मुख पर लज्जा और मद की अरुण आभा विलसित हो उठी। प्रेमतीर्थ की मदमयी तीव्र दृष्टि ने राधा की उस विषाद मूर्ति का यह सहसा परिवर्तन बड़ी आनन्दमयी दृष्टि से देखा। धीरे धीरे बड़े विनम्र मधुर स्वर में प्रेमतीर्थ ने कहा—"सुन्दरी! मेरी धृष्टता क्षमा करना। क्या तुम अपना परिचय देने की कृपा करोगी?"

राधा का मुख लज्जा से लाल हो उठा। सूर्य्य की किरण के प्रथम स्पर्श के समय कमलिनी का वदन-मण्डल जैसा अरुण हो उठता है, राधा का आनन्द भी वैसा ही हो गया। उस सलज्ज सुन्दर श्री ने प्रेमतीर्थ को और भी विकल कर दिया। एक बार फिर उसने बड़े सरस स्नेह स्वर में कहा—"देवि! तुम्हारे हृदय का परिचय मैं पा चुका हूँ। मैं जानता हूँ कि इस विश्व की यन्त्रणा ने तुम्हें अत्यन्त दुःखी बना रखा है। मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ कि तुम्हारा पारवारिक जीवन बड़ा वेदनामय है तुम्हारी उस वेदना को दूर करने के लिये ही मैं तुम्हारा परिचय पाने के लिये तुम से इतना आग्रह कर रहा हूँ। मुझे क्या निराश करोगी सुन्दरी!"

राधा का हृदय उसके कलेजे के अन्दर बहुत ही वेग से धड़कने लगा। प्रेमतीर्थ की उस वाणी में कितना रस, कितना स्नेह, कितनी समवेदना थी, साथ ही साथ प्रेमतीर्थ उस के हृदय की गति को भी जान गये थे। राधा ने अपने जीवन में इतने मधुर सान्त्वनापूर्ण वाक्य नहीं सुने थे। उसकी आँखों में आँसू आगये, पर उसके

मुख से फिर भी लज्जा और संकोच के कारण शब्द नहीं निकल सके। अपनी आँसुओं से भरी हुई बड़ी बड़ी आँखों को उठा कर उसने प्रेमतीर्थ के प्रेमप्लावित मधुर मुख की ओर देखा—बिना कुछ कहे, बिना कुछ बोले, उसने फिर नयन विनम्र कर लिये। परन्तु उन नयनों का मूक-भाषा का प्रकृत गम्भीर अर्थ प्रेमतीर्थ की अन्तर-भेदिनी दृष्टि से छिपा नहीं रहा। उसने विजय-गर्व के साथ अपने मन में यह अनुभव किया कि उसका लक्ष्य ठीक बैठा है—उसने ठीक ही स्थान पर हाथ रखा है। उसने स्वयँ भी गद्‌गद् कण्ठ होकर प्रेम और सहानुभूति से भरे हुये स्वर में कहा—"आह! तुम्हारे दुःख का पारावार नहीं है। अवश्य ही तुम लज्जा और संकोच के कारण अपने हृदय के भावों को परिव्यक्त नहीं कर रही हो—पर तौ भी, सुन्दरी, मैंने जान लिया है। कि इस मत्सरमय विश्व ने तुम्हें बड़ी वेदना दे रक्खी है, उसने तुम्हारे कोमल फूल से हृदय में तीव्र अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी है, पर देवि! विश्वास करो, मैं अपना प्राण देकर, अपने योग की समस्त सिद्धि देकर, तुम्हारी इस व्यथा को दूर कर दूँगा। एक बार मैं फिर तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम मुझे अपना परिचय दो!"

प्रेमतीर्थ के इन शब्दों ने राधा के हृदय को और भी उद्वेलित कर दिया। युवक कितने विनम्र मधुर शब्दों में, कितने सरल कोमल वाक्यों में बातें कर रहा था। युवक के मुख पर तेज, आँखों में करुणा, अधर पर विषाद-रेखा और ललाट पर पवित्र संकल्प विलसित हो रहा था—राधा एकबार ही उस पर विमुग्ध

हो गई; वह तन्मयी सी हो गई। उसका हृदय प्रेम का प्यासा था; उसने देखा कि उसके सामने प्रेम का सरोवर लहरा रहा है उसका मन सहानुभूति का भूखा था, उसने देखा कि उसके सामने करुणा का कल्प-वृक्ष स्थित है। राधा ने उस युवक को योग-भ्रष्ठ महापुरुष समझा। राधा ने अब की बार बड़ी संयत भाषा में धीरे धीरे सलज्ज भाव से कहा—"मैं वैश्य कुल की वधू हूँ; आपने ठीक ही अनुमान किया है कि मैं वेदना की अग्नि में जल रही हूँ।"

प्रेमतीर्थ—"अनुमान! नहीं देवि! मैं स्पष्ट रूप से तुम्हारे हृदय में जलने वाली अग्नि को देख रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि यदि तुम अपनी समस्त कथा मुझ से सविस्तार बता दोगी; यदि तुम अपने दुःख का समस्त परिचय देकर मुझ पर अपना विश्वास स्थापन करोगी, तो मैं विश्वास दिलाता हूँ, सुन्दरी मैं तुम्हें आज से तीसरे दिन उस स्वर्गीय दिव्य शान्त का परिचय करा दूँगा, जिसे पाकर तुम अपनी वेदना की बात तक भूल जाओगी।"

राधा का भी सँकोच कुछ दूर हुआ उसने कहा—"महाराज! यह ठीक है। आपकी दया होने से सब कुछ हो सकता है।"

प्रेमतीर्थ—"दया! नहीं देवि! दुखी मात्र की सेवा करना मेरा परम धर्म है। और तिस पर रमणी! रमणी जाति की आज जो दुर्दशा है, उन पर जो असह्य अत्याचार हो रहे हैं, उसे दूर करना तो मेरी इष्ट-साधना है। इसी लिये देवि! मैं चाहता हूँ कि तुम मेरा विश्वास करके मेरी सेवा स्वीकार करो।"

राधा जितनी ही प्रेमतीर्थ की बातें सुनती थी, जितनी ही वह उसकी मधुर मूर्ति का दर्शन करती थी, उतना ही उसका हृदय अस्पष्ट आनन्द और अव्यक्त आशा से परिपूर्ण होता जाता था। राधा उसकी मदमयी दृष्टि को देखते देखते विमुग्ध सी होती जाती थी—राधा ने कहा—"महाराज! अब आज्ञा दीजिये! सायंकाल हो गया है।"

प्रेमतीर्थ—"पर तुमने मेरी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। मैं सच कहता हूँ सुन्दरी! तुम्हारी सेवा करके यदि मैं तुम्हारे हृदय की वेदना को शान्त कर सका, यदि तुम्हारे दुःख को सुख में; आपत्ति को आनन्द में और व्यथा को रस-रंग में परिणत कर सका, तो यह मेरे लिये बड़ा सौभाग्य का विषय होगा! सुन्दरी! क्या तुम मेरे इस सौभाग्य की व्यवस्था करने में सहायता नहीं दोगी? क्या तुम मुझे एक दुःखी रमणी की सेवा का पुण्य-अवसर नहीं दोगी?"

राधा ने सलज्ज, किन्तु कातर स्वर में कहा—"पर यह सम्भव नहीं है।"

प्रेमतीर्थ ने आवेश पूर्वक कहा—"संसार में सब कुछ सम्भव है। परन्तु विश्वास और श्रद्धा चाहिये। आज न सही—तुम जाओ—तुम्हें देर हो रही है। पर यदि तुम कल इस से कुछ पहिले मुझे यहाँ मिलो। और मुझे अपनी व्यथा की बात बताओ, तो मैं अवश्य ही तुम्हारे उद्धार की कुछ न कुछ आयोजना कर सकता हूँ। सुन्दरी? मेरे लिये सब कुछ सम्भव है।"

राधा—"पर मैं यह कैसे कह सकती हूँ कि मैं आप से कल मिल

सकूँगी। मैं कुलाङ्गना हूँ—इस प्रकार एकान्त में मिलने आना मेरे लिये बहुत बड़े आपत्ति का कारण हो सकता है।"

प्रेमतीर्थ—"सो ठीक है देवि! पर यदि तुम चाहो, यदि वास्तव में तुम्हारे हृदय का यह दृढ़ निश्चय हो जाय, कि तुम अब किसी भी तरह अपनी इस दुःख-जीवन को सुख में बदल दोगी—तो मेरी यह निर्भ्रान्त धारणा है कि तुम अवश्य ही सफल होगी—तुम्हारे संकल्प की विजय में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता है—सुनती हो देवि!"

राधा—"पर मेरे पास—मुझ अबला के पास—इतना आत्म-बल और साहस कहाँ?

प्रेमतीर्थ—"मैं दूँगा! तुम कल एक बार मुझ से मिलो—मैं तुम्हारे हृदय में एक अद्भुत शक्ति का सञ्चार कर दूँगा। स्मरण रखो, तुम शक्ति का स्वरूप हो—तुम्हारे हृदय में एक बहुत बड़ी शक्ति निहित है। केवल मात्र उसे एक बार जगा देने की आवश्यकता है। मैं कल उसे जगा दूँगा।"

राधा—"अच्छी बात है। मैं आने की चेष्टा करूँगी।"

प्रेमतीर्थ—"स्मरण रखना देवि! जो चेष्टा अविचल विश्वास और निश्चल संकल्प के साथ की जाती है, वह विफल नहीं होती।"

राधा—"अच्छा महाराज! आज्ञा!"

प्रेमतीर्थ—"जाओ देवि! मैं कल तुम्हारी यहाँ पर प्रतीक्षा करूँगा। एक बात कहे देता हूँ—मैं ठहरा परिव्राजक! मैं केवल तुम्हारे ही लिये यहाँ आज निवास करूँगा। और साथ ही

साथ मेरा यह प्रण है कि जब तक कल मैं तुम्हारी आत्म-कथा नहीं सुन लूँगा, तब तक मैं निराहार ही रहूँगा। यह नहीं हो सकता कि तुम्हारा हृदय अग्नि-कुण्ड के समान प्रज्वलित रहे और मैं भोजन करूँ। जाओ देवि! भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें।"

राधा के उत्तर की प्रतीक्षा न करके प्रेमतीर्थ शीघ्रता से जङ्गल के भीतर घुस गये—राधा उसी ओर को देखती रही—दो तीन क्षण तक वह उधर ही देखती रही—फिर एक ठण्डी साँस लेकर धीरे धीरे वह अपने मकान की ओर चल दी।

शैतान का अस्त्र है प्रतारणा; पर वह धर्म को भी यथा समय प्रतारणा की सहायता के लिये आवाहन करने में क्षण भर भी कुण्ठित नहीं होता है!
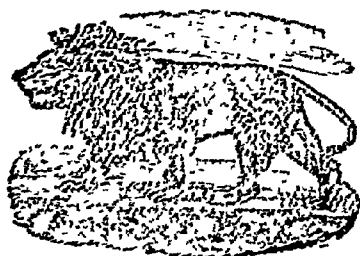
तीसवाँ परिच्छेद

पाप की अभिसन्धि

पनी समस्त जिमींदारी का निरीक्षण करके राजेन्द्र और सुभद्रा एक दूसरे ठाकुर की ज़िमींदारी देखने के लिये गये थे—इस बात की सूचना हम किसी पिछले परिच्छेद में दे चुके हैं। इस गाँव का नाम था विलासपुर, इसके वर्तमान अधीश्वर थे ठाकुर यदुनन्दन सिंह। अभी पिछले साल ही उनके पिता का देहान्त हो गया था। वे योग्य पिता की अयोग्य सन्तान थे। पढ़े लिखे भी बहुत ही साधारण थे; परन्तु अपनी प्रजा के रक्त चूसने में वे परम कुशल थे। इतना ही नहीं, संसार के सारे बुरे कर्मों के आप भण्डार थे। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वे मनुष्य-रूप में शैतान थे; उन्होंने बहुत से हिंसक डाकुओं और बदमाशों को पाल रखा था। उनके द्वारा वे आस पास के गावों पर डाका डलवा लेते थे; उन्हीं के द्वारा वे प्रजा के शेष रक्त विन्दु को भी निकाल लेते थे; उन्हीं के द्वारा वे प्रजा गण की बहू बेटियों को पकड़वा मँगाते थे। ऐसे शैतान की प्रजा की दशा देखने के लिये राजेन्द्र और सुभद्रा उनके गाँव में आये थे। यद्यपि पहिले ही से

वे इन ठाकुर साहिब के विषय में बहुत कुछ सुन चुके थे, किन्तु फिर भी ये उनके गाँव का निरीक्षण करके अपने अनुभव को परिपूर्ण करने की इच्छा से उनके अतिथि बन गये। ठाकुर साहिब ने भी बड़ी सज्जनता और सौहार्द से राजेन्द्र और सुभद्रा का स्वागत किया। एक परिष्कृत सुन्दर घर में उनके रहने की व्यवस्था कर दी। सुभद्रा की सेवा के लिये दो दासियाँ नियुक्त कर दीं; राजेन्द्र की परिचर्य्या के लिये उन्होंने ५,४ आदमी अपने नियोजित कर दिये। इस प्रकार उन्होंने अपने इन नूतन अतिथियों की सेवा करने में कोई बात उठा नहीं रखी। परन्तु इन सब प्रकार की व्यवस्थाओं के अन्तराल में भी उनकी कुटिल आयोजना छिपी हुई थी; यद्यपि वे ऊपर से बहुत ही सज्जनता और सौहार्द का व्यवहार कर रहे थे, पर भीतर ही भीतर वे अपनी किसी दुष्ट अभिसन्धि की आयोजना रच रहे थे। राजेन्द्र और सुभद्रा सरल प्रकृति के प्राणी थे; उनके उस सौहार्दमय व्यवहार को देखकर वे परम प्रसन्न हुये थे और उनके हृदय में यह धारणा हो गई थी कि संसार ठाकुर यदुनन्दन सिंह को जितना नाच और पापी मानता है, उतने वह नीच हैं नहीं। हो सकता है कि वे विलासी हों, हो सकता है प्रजा के प्रति उनका व्यवहार कुछ रूखा और कठोर हो; पर उनकी सज्जनता में रत्ती भर भी सन्देह नहीं है। वे विचारे यह क्या जानते थे कि ठाकुर यदुनन्दन सिंह शैतान के स्वरूप में पिशाच हैं; कपट और नीति के वे कुशल-आचार्य्य हैं। उन्होंने राजेन्द्र और सुभद्रा के आने ही से पहिले यह घोषणा कर दी थी कि गाँव का जो कोई

असामी उनके विरुद्ध कुछ भी जाकर कहेगा, वह उसे सकुटुम्ब यमराज के घर भिजवा देंगे। निरन्तर उत्पीड़न ने उन गाँव वालों को इतना भयभीत बना दिया था कि कोई भी उस शैतान के प्रकृत स्वरूप की बात राजेन्द्र और सुभद्रा के सामने कहने का साहस नहीं कर सका। राजेन्द्र और सुभद्रा की सौम्य सरल मूर्तियों को देखकर गाँव के सारे निवासी और निवासिनी वात्सल्य और स्नेह से आनन्द-मग्न हो रहे थे। उनके प्रेम और आदर से भरे हुये व्यवहार को देख कर वे अन्तःकरण से उनकी मंगल-कामना करते थे। उन्होंने इस गाँव के बालक बालिकाओं को भी भोजन और दक्षिणा दी थी। इससे गाँव के सारे बालक उन्हें एक ही दिन में प्यार करने लग गये थे। गाँव के सारे निवासी अपने मन ही मन यह चाहते थे कि वे उनकी प्रजा होते तो उनका जीवन अत्यन्त आनन्दमय हो जाता पर ठाकुर के भय से कोई भी यह बात मुँह से निकाल नहीं सकता था। इसीलिये किसी स्त्री अथवा पुरुष ने ठाकुर यदुनन्दन सिंह के विरुद्ध कोई बात नहीं की। वरन् कुछ आदमियों ने, जो ठाकुर यदुनन्दन सिंह के प्रिय पात्र थे, जो ठाकुर साहिब की प्रसन्नता के लिये तथाच अपनी स्वार्थ की सिद्धि के लिये सब कुछ बुरे से बुरे पाप कर्म, कर सकते थे, राजेन्द्र और सुभद्रा के सामने ठाकुर यदुनन्दन सिंह के गुणों की प्रशंसा की और उन्हें यह अच्छी तरह समझा दिया कि व्यर्थ में कुछ पापी-जन, द्वेष और प्रमाद के कारण, ठाकुर साहिब के विरुद्ध भयंकर अपवाद फैला रहे हैं। उन्होंने मार्मिक शब्दों में कहा कि ठाकुर साहब सौजन्य की मूर्ति, सेवा

के आगार, दया के अवतार, और करुणा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। राजेन्द्र और सुभद्रा ने उनके कहने पर विश्वास कर लिया—वे बिचारे यह क्या जानते थे कि ठाकुर यदुनन्दनसिंह उन्हीं के विरुद्ध षड़यन्त्र रच रहा है। वे क्या जानते थे कि ठाकुर यदुनन्दन इतना बड़ा शैतान है कि वह हँसते हँसते अतिथि के भोजन में विष मिला दे सकता है; विश्वास-स्थापन करके वह सोते हुये मित्र के वक्षस्थल में छुरी घुसेड़ सकता है: अपने स्वार्थ के लिये निष्पाप, निरीह शिशु की हँसती हुई आँखों में गर्म लोहा प्रवेश कर सकता है; अपनी काम-वासना की शान्ति के लिये वह रमणी को बहिन कहके भी उसका सतीत्व नष्ट कर सकता है। राजेन्द्र की सेवा के लिये जो चार आदमी नियुक्त किये गये थे, वे पक्के शैतान थे, और समय पर अपने निशाचर-प्रभु के लिये सब कुछ कर सकते थे। जो स्त्रियाँ सुभद्रा की परिचर्य्या के लिये नियोजित की गई थीं, पक्की निशाचरी थीं और वे अपने राक्षस-स्वामी के लिये संसार के सब से बड़े बीभत्स कर्म को कर सकती थीं। पर राजेन्द्र और सुभद्रा निश्चिन्त भाव से वहाँ निवास कर रहे थे; उनके हृदय में रत्ती भर भी सन्देह नहीं था कि उनके विरुद्ध किसी प्रकार का भयंकर षड़यन्त्र रचा जा रहा है। चलिये; यदि हो सके तो हम उस दुष्ट के उस दुष्ट षड़यन्त्र का पता लगा लावें।

मध्याह्न काल का समय है, अवश्य ही शीत ऋतु के कारण भगवान सूर्य्यदेव की किरणों में वैसी प्रखरता नहीं है, पर फिर भी बहुत समय तक धूप में बैठने से गण्डस्थल से प्रस्वेद-धारा

बहने लगती है। इस समय शीतल समीर नहीं चल रही है। कभी कभी दूर बन-प्रान्त पर कोई पक्षी बोल उठता है, वैसे तो इस समय सारे गाँव में अपूर्व शान्ति विराज रही है। इस शाँति का एक कारण और भी था। वह यह था कि शैतान-स्वरूप ठाकुर यदुनन्दनसिंह जी कई मनुष्यों का एक स्थान पर एकत्रित होना पसन्द नहीं करते थे, जब कभी उन्हें यह समाचार मिलता था कि अमुक आसामी की चौपाल में अथवा अमुक मुखिया के घर के बाहर मैदान में कुछ आदमी एकत्रित होकर आल्हा सुन रहे हैं या रामायण की पवित्र कथा में निमग्न हो रहे हैं, तो वे अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते। उनके क्रोध का भीषण परिणाम उस विचारे को भोगना पड़ता था, जिसके घर पर वह समूह एकत्रित होता था। ठाकुर साहब के जासूस सब जगह लगे रहते थे। इस विश्व में अनेक ऐसे प्राणी हैं जो अपने अत्याचारी-प्रभु की प्रसन्नता के लिये अपने भाइयों की हत्या तक कर सकते हैं। यद्यपि इस मध्याह्न-काल में गाँव के सब लोग किसी काम में व्यस्त नहीं थे, पर तो भी, अत्याचारी ज़िमींदार के भय से, वे एक स्थान पर एकत्रित होकर आनन्द और उल्लास के साथ अपना समय व्यतीत नहीं कर सकते थे। अपने अपने घरों में, भय-विह्वल होकर, सब लोग बैठे हुये थे—इसी लिये इस समय घोर शान्ति का साम्राज्य था।

ठाकुर यदुनन्दनसिंह अपनी चौपाल में बैठे हुये हैं। उनके पास ही ४ आदमी और भी बैठे हैं। ठाकुर यदुनन्दनसिंह २८ वर्ष के युवक हैं सु-श्रीवान हैं, सबल हैं, पर उनके मुख पर

अत्याधिक मद्-सेवन और उच्छृङ्खल विषय भोग की कालिमा, स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उनकी आँखें कुञ्चित थीं और उनमें कुटिलता नृत्य कर रही थी। एकबार देखने से अवश्य ही कोई उनके नैसर्गिक स्वभाव का रहस्य नहीं जान सकता था, पर सूक्ष्म दृष्टि से उनके मुख की बनावट, ओठों के सञ्चालन और नयनों के कौटिल्य को देख कर यह भलीभाँति जाना जा सकता था कि वे शैतान के अवतार हैं; दया और करुणा का उनके हृदय में एकान्त अभाव था। उनके पास ही में जो और चारों आदमी बैठे थे, उनके मुखों पर तो भयंकरता और क्रूरता के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ रहे थे। वे उस श्रेणी के पुरुष थे जो हत्या को और हिंसा को अपने हृदय मन्दिर में अपनी परम-प्रिया के समान धारण करते हैं और विश्व को रक्त-रञ्जित करना ही जिनका इष्ट-व्यापार है। उनकी लाल लाल आँखों में प्रति हिंसा का ताण्डव-नृत्य हो रहा था। उनके श्मश्रु मण्डित मुख मण्डलों पर कठोर भावों का रौद्र-विलास परिलक्षित होता था; उनके कृष्ण वर्ण अधरों पर पाप की छाया पड़ रही थी और उनके धर्म-सिक्त मस्तकों पर क्रोध का सहज त्रिपुंड्र अङ्कित था। वे सक्षात् यमदूतों की भाँति, शैतान के सहचरों की भाँति, तथाच निशाचरों के नायकों की भाँति प्रतीत होते थे। उन्हीं के साथ इस समय शैतान-राज यदुनन्दनसिंह बातें कर रहे हैं।

यदुनन्दनसिंह—"दुर्जनसिंह ! शिकार तो बड़ा सुन्दर है। कुछ भी हो इसे हाथ से नहीं जाने देना चाहिये।"

दुर्जन सिंह—"नहीं सरकार, यह कैसे हो सकता है ? हमारे

इन हाथों में जब तक यह लट्ठदेव विराजमान हैं तब तक वह बिना आपके पलंग पर सोये इस गाँव के बाहर नहीं जाने पावेगी।"

यदु०—"पर ज़ालिमसिंह, वह इतने सहज हाथ नहीं आवेगी। रुपये पैसे की तो वह भूखी नहीं है क्योंकि वह स्वयँ बहुत बड़े ज़िमींदार की लड़की है। उसके पास जो स्त्रियाँ मैंने रख छोड़ी हैं, वे मुझ से कहती थीं कि वह बड़ी भोली और पवित्र है, इस ओर उसका रत्ती भर ध्यान नहीं है। तब उसका हाथ में लाना इतना सहज नहीं है। दूसरे वह यहाँ अधिक से अधिक तीन दिन और ठहरेगी। इतने ही समय में उसे उड़ा लेना होगा।"

ज़ालिमसिंह—"सरकार, ऐसे बस में नहीं आवेगी तो ज़बर-दस्ती पकड़ लावेंगे। देखें हमें कौन रोकता है। आपकी आज्ञा भर चाहिये। फिर देखिये हम सब क्या नहीं कर सकते हैं। क्यों ठीक है न बाँकेसिंह?

बाँके सिंह—"बिल्कुल ठीक है। पर यार उसके साथ वह पुरबिया बड़ा ज़बर्दस्त है। मेरा तो विश्वास है कि लट्ठ चलाये बिना काम नहीं चलने का।"

ज़ालिमसिंह—"तो क्या हम सब कमज़ोर हाथों से थोड़े ही लाठी पकड़ते हैं। जो कुछ होगा सब देख लेंगे। तुम क्या कहते हो जी पं० छेदीलाल?"

छेदीलाल—"मैं क्या कहूँ? मैं तो इन सब बातों को जानता नहीं। मैं तो यही समझता हूँ कि समय आने पर जो कुछ हो जाय, वही ठीक है। अवसर पड़ने पर देखा जायगा।

सरकार का नमक खाया है; उस नमक को अदा करने के लिये प्राण दे देंगे पर पीछे नहीं हटेंगे।"

यदु०—"अजी! यह बातें तो पीछे होंगी। पर मैंने जो सोचा है, वह भी तो तुम्हें बता दूँ। उसके पास मैंने जो दो औरतें रखी हैं, उनमें से एक बड़ी चतुर और कुटिल है। उसका नाम है चम्पा। मैंने चम्पा से कहा है कि वह ऐसी कोशिश करे जिस से वह सायंकाल के समय उसके साथ कहीं गाँव के बाहर घूमने को चली जाय। वहाँ पर हम पाँचो आदमी उस पर सहसा टूट पड़ेंगे और उसे उठा लावेंगे। अगर साथ में वह पुरबिया भी होगा, तो उसे भी यमराज के घर पहुँचा देंगे; यह तो मानी हुई बात है कि वह अकेला हम पाँचों का मुक़ाबिला नहीं कर सकता है। मैं यह नहीं चाहता हूँ कि गाँव के लोग यह सब बातें जान जाँय; जहाँ तक मैंने जाना है गाँव के लोग दो ही दिनों में उन दोनों भाई-बहिनों पर प्राण देने लगे हैं। यदि उन्हें पता चल गया तो वे अवश्य प्राण देने को उद्यत हो जाँयगे। दूसरे यदि इस बात की चर्चा फैल गई, यदि यह बात प्रकट हो गई कि हम लोगों ने ऐसा भयंकर कर्म किया है, तो इस मामले में अवश्य हम सबों को बड़े घर की हवा खानी पड़ेगी।"

छेदीलाल—"सरकार बड़े बुद्धिमान हैं। आपने वह उपाय सोचा है जिससे साँप मरे न लाठी टूटे। रहा वह पुरबिया, उसे हम सब समझ लेंगे। उसे मार कर यह उड़ा देंगे कि डाकू लोग सुभद्रा को तो उड़ा ले गये, और पुरबिया को मारकर डाल गये ठीक है न?"

बाँके सिंह—"ठीक है। पर सरकार यदि वह चम्पा के साथ बाहर जाने को तैयार नहीं हुई तो ?"

यदु०—"तो कुछ और सोचेंगे। चम्पा ने मुझ से कहा था कि वह आज दोपहर को मुझे समाचार देगी। कि उसका क्या विचार है। अभी तक वह आई नहीं; आती ही होगी।"

ज़ालि०—"हाँ सरकार, यह तरकीब अगर चल गई, तो अच्छा ही है, नहीं तो फिर देखा जायगा। एकबार ज़ालिमसिंह भी दिखला देगा कि वह सरकार के लिये प्राणों को कुछ नहीं समझता।"

यदु०—"सो तो मुझे विश्वास है। तुम्हारे ही सबों के ऊपर तो मेरा भरोसा है तुम्हीं सब तो मेरे दहिने हाथ हो। लो, वह चम्पा आ गई।"

ठीक उसी समय एक प्रौढ़ा ने चौपाल में प्रवेश किया। उसे देखते ही यदुनन्दनसिंह ने कहा—"तेरी बड़ी उम्र है चम्पा! अभी हम सब तेरे ही विषय में बातें कर रहे थे।"

चम्पा ने कुछ हँस कर कहा—"सरकार की दया है। सरकार ही के ऊपर हमारा सब कुछ आसरा-भरोसा है।"

यदु०—"कहो क्या समाचार है ?"

चम्पा—"सब ठीक है सरकार, आपका प्रताप है, क्या कोई काम बिगड़ सकता है ?"

यदु०—"मेरा प्रताप है सो तो है ही। पर उसमें सारी बहादुरी तो तुम्हारी है। ज़रा विस्तार पूर्वक सब हाल सुनाओ तो किस तरह तुमने पत्थर को मोम बना दिया।"

चम्पा—"सरकार, मैंने आरम्भ ही से उनकी खूब सेवा करना आरम्भ कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि वे बड़ी पवित्र आत्मा हैं; वे बड़ी भोली हैं; संसार की पाप-वासना तो उन्हें छू भी नहीं गई है। सरकार, यदि आपका का काम न होता, तो मैं लाख रुपये पर भी ऐसी भोली, पवित्र, विधवा का सर्वनाश करने के लिये तैयार न होती। पर आपका नमक खाया है, मेरी नस नस में उसका असर भिद गया है। इसी लिये मैं इस पाप-कर्म को कर रही हूँ। सरकार, सच बात तो यह है कि मुझे इस समय ऐसा मालूम हो रहा है जैसे मैं कोई बड़ा भारी पाप-कर रही हूँ, जैसे मैं छोटे बालक का गला दबाये दे रही हूँ, जैसे मैं रंभाती हुई गाय की गर्दन काटे दे रही हूँ। पर.........।"

कहते कहते चम्पा की जैसी पापिनी की आँखों में भी आँसू आ गये, पर ठाकुर यदुनन्दनसिंह ने बड़े रूखे स्वर में उसे बीच ही में रोक दिया और कहा—"चम्पा! इन पाप-पुण्य की बातें सुनने के लिये मेरे पास समय नहीं है। मैं जो पूछता हूँ सो बताओ।"

चम्पा ठंडी सांस लेकर कहने लगी—"अच्छा सरकार, आज प्रातःकाल मैंने उनसे कहा कि हमारे इस गाँव के बाहर एक सती की समाधि है। जो कोई स्त्री हमारे गाँव में आती है, वह उनका प्रसाद चढ़ाये बिना नहीं जाती है। मेरी बात सुनकर उन्होंने कहा कि वे भी वहाँ पर, उस सती की समाधि पर, अपनी भेंट चढ़ावेंगी मैंने कहा कि कल सोमवार है, कल शाम के समय मेरे साथ चलना, मैं आपको वहाँ पर ले चलकर समाधि के दर्शन करा लाऊँगी। वे मेरी बात पर राज़ी हो गईं।"

यदुनन्दनसिंह ने उल्लसित भाव से कहा—"शाबाश चम्पा! ख़ूब किया! पर क्या यह बता सकती हो कि उनके साथ वह पुरबिया जायगा या नहीं?"

चम्पा—अवश्य जायगा। मेरे सामने ही उन्होंने उसे बुला कर आज्ञा दी थी कि कल शाम को उसे मेरे साथ चलना होगा। सरकार, मैं मना नहीं कर सकी कि जिससे उन्हें सन्देह न हो जाय।"

ज़ालिम०—"कुछ पर्वाह नहीं सरकार! कल ज़ालिम की लाठी का भी जौहर देखना। एक क्या चार पुरबियों के लिये अकेला ज़ालिम काफ़ी है।"

यदु०—"अच्छी बात है। जाओ चम्पा! तुमने आज बहुत बड़ा काम किया है। (हाथ से अँगूठी उतार कर) लेओ! यह अँगूठी तुम्हारी इस सेवा का पुरस्कार है। काम पूरा हो जाने पर मैं तुम्हें इतना मालामाल कर दूँगा कि फिर तुम जन्म भर आनन्द से सुख भोग सकोगी।"

चम्पा ने अँगूठी ले ली। पर अँगूठी पाकर भी उसके मन को परितोष नहीं हुआ। उसके मन में ग्लानि और पश्चात्ताप की अग्नि जलने लगी। पर वह यदुनन्दन सिंह को जानती थी। अपने भावों को यथा-शक्ति दमन करके उसने कहा—"सरकार की कृपा बनी रहे। आप नहीं देंगे तो फिर कौन देगा?"

अपनी इस प्रशंसा को सुनकर यदुनन्दनसिंह के मुख पर उल्लास की आभा चमक उठी। चम्पा की स्तुति में उन चारों ने भी हाँ में हाँ मिलाई और ठाकुर यदुनन्दनसिंह अपनी इस स्तुति के सागर में आनन्द-विमुग्ध होकर तैरने लगे। उन्हें इस

बात के समझने की शक्ति ही नहीं थी कि वे सब चाटुकार लोग उसकी प्रशंसा नहीं कर रहे थे, वे उसकी प्रभुता और सम्पत्ति की स्तुति कर रहे थे। उन शैतानों के प्रशंसावाद को सुनते सुनते ठाकुर यदुनन्दनसिंह अपने को संसार ही का नहीं, त्रिभुवन का एक असाधारण पुरुष समझने लगे थे। वे अपने को अनन्त शक्ति का भण्डार मानने लगे थे और उनके हृदय में यह धारणा बद्धमूल हो गई थी कि उन चार शैतानों की सहायता से वे विश्व को विजय कर सकते हैं। यह उद्दण्ड किन्तु असार अहंकार ही मानव-पतन की भविष्य-वाणी है।

एक दार्शनिक का कथन है कि There is no other Satan but man अर्थात् मनुष्य को छोड़कर शैतान कोई दूसरा जीव नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता, यदि शैतानी प्रमाद और प्रति-हिंसा के भावों और विचारों से यदुनन्दनसिंह के मन और मस्तिष्क ओत-प्रोत न हो गये होते, तो वे कदापि उस आदि-शक्ति के विरुद्ध, जो प्रत्येक परिमाणु में महिमामयी शक्ति को प्रतिष्ठित करती है और जो धर्म, विश्वास एवँ पवित्रता को, पाप, प्रमाद और प्रतिहिंसा के विरुद्ध खड़े होने के लिये हिमाचल के समान अटल, अँचल बल प्रदान करती है, कदापि युद्ध घोषणा न करते और न अपने असार तुच्छ व्यक्तित्व को अहँकार-अरुण लोचनों से अत्यन्त विशाल एवँ महिमामय देखकर, निश्चित गति से नरक की कन्दरा की ओर प्रधावमान होते। शैतान के विनाश-काण्ड की यह कैसी दारुण लीला है?

इकतीसवाँ परिच्छेद

पाप की पराजय

श्व के रंगमञ्च पर संध्या-सुन्दरी के प्रवेश के साथ साथ बसन्त के स्मृति-मन्दिर में प्रेमतीर्थ की वह तेजोमयी मूर्ति, उज्ज्वल नक्षत्र की भाँति, उदय हो गई थी। गत काल की घटना पर बसन्त-कुमार जितना ही विचार करते थे, उतनी ही प्रेमतीर्थ के विषय में उनकी धारणा विकृत होती जाती थी। बार बार उनकी अन्तर-कुटीर में कोई यह कह उठता था कि प्रेम-तीर्थ वास्तव में राग-रोषरहित ब्रह्मचारी नहीं है; ऊपर से जो वे दिखाई पड़ते हैं, वास्तव में उनका वह स्वरूप नहीं है। गेरुये वस्त्रों के भीतर कोई अमंगल-मय स्वरूप छिपा हुवा है। यदि ऐसा नहीं है तो क्यों प्रेमतीर्थ बसन्त के साथ गाँव में न आकर वहीं बन की गुप्त निकुञ्जस्थली में निवास करने के लिये इतने व्यग्र हैं ? क्यों वे अपनी उपस्थिति को जनता से छिपा कर रखना चाहते हैं ? इसमें सन्देह नहीं कि उनका स्वरूप अत्यन्त सुन्दर और उनका कलेवर अत्यन्त बलवान है, पर उनकी आँखों में विमल आनन्द और शीतल-शान्ति की आभा के स्थान पर

तीव्र मद और तीक्ष्ण कटाक्ष का ही विलास परिलक्षित होता है; उनके मुख-मण्डल की कान्ति पर आसुरीभावों के ही विशेष-तया दर्शन होते हैं। कल उन्होंने अपनी तीव्र दृष्टि से बसन्त को अभिभूत करके उनसे आज रात्रि को वहाँ आने का वचन ले लिया था। उनकी वाणी में भी अमृतमयी शान्ति की जगह रागरोषमयी तीव्रता की ही विशेष झलक दिखलाई पड़ती है। इन्हीं सब बातों पर विचार करके बसन्तकुमार अत्यन्त आकुल हो उठे। कई बार उनकी यह इच्छा हुई कि वे आज वहाँ न जाने का निश्चय कर लें पर कोई अदृष्ट आकर्षण उन्हें बार बार वहाँ जाने के लिये प्रेरित कर रहा था। इसके साथ ही साथ वे वहाँ जाने का वचन भी दे चुके थे। कुछ भी हो, पर प्रेमतीर्थ बसन्त के ही आग्रह से वहाँ निवास करने को राज़ी हुये थे। इसी लिये एक प्रकार से वे उनके अतिथि थे। तब वचन भंग-करके अतिथि के पास न जाना भी तो ठीक नहीं है। बसन्त ने सोचा—"मैं तो कल चला ही जाऊँगा। इस बात की सूचना भी उसे दे देना आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि मेरे जाने की बात सुनकर वह भी चला जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि उसके सामने जाने ही से मन और विवेक शिथिल हो जाते हैं; ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी आसुरी-शक्ति ने उन पर प्रभाव जमा लिया हो। पर आज ही आज की तो बात है। आज मैं सावधान रहूँगा और जहाँ तक होगा बड़ी सावधानी से उसके साथ आलाप करूँगा। और कल तो मैं उसके अमंगलजनक प्रभाव की सीमा से बहुत दूर चला जाऊँगा।" इस प्रकार अपने

मन को प्रबोध देकर बसन्त ने प्रेमतीर्थ के पास जाना ही निश्चय किया। वे एक प्रहर रात्रि बीतने की प्रतीक्षा करने लगे। समय निश्चित-गति से चला जा रहा था; शृगाल-संघ ने घोर कोलाहल करके एक प्रहर रात्रि बीतने की सूचना दी।

आज अष्टमी की रात्रि है। उन्मुक्त गगन, मण्डल में आर्ध-चन्द्र, वक्र छुरिका की भाँति, विलसित हो रहे हैं। शान्ति-सहोदरा निद्रा का कोमल प्रभाव धीरे धीरे समस्त गाँव के ऊपर विस्तृत होने लगा था। केवल कभी कभी दूर पर किसी मनचले युवक की प्रेममयी रागिनी का मधुर स्वर उस शान्ति को भंग करता हुआ स्वर्ग की ओर उठ जाता था। आज वायु भी धीमी गति से बह रही थी। अपने कन्धे पर एक ऊनी शाल डाल कर बसन्त धीरे धीरे यमुना-तट की ओर अग्रसर हुये। यद्यपि उस समय बाह्य जगत निस्तब्ध था पर बसन्त के अन्तर्जगत में अभी विश्राम का कोई चिन्ह नहीं था। कभी यात्रा-सम्बन्धी विचार आकर मन-मन्दिर को मुखरित करने लगते थे; कभी वह पुराना अग्नि-मण्डल धाँय धाँय करने लगता था, कभी अन्नपूर्णा के उज्ज्वल भविष्य की बात सोच कर उनका हृदय आनन्द का अनुभव करने लगता था और कभी प्रेमतीर्थ के उस प्रच्छन्न वेश की, उसके रहस्यमय व्यक्तित्व की एवँ उसकी तीक्ष्ण दृष्टि की स्मृति उनकी चेतना रूपी सरिता के ऊपर तैरने लगती थी। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ कल तक बसन्तकुमार के हृदय में अग्निमय भावों के अतिरिक्त और किसी भाव के लिये स्थान ही नहीं था, वहाँ आज अन्नपूर्णा के भविष्य का विचार करके उनके

हृदय में आनन्द-सरिता की एक सूक्ष्म-धारा भी प्रवाहित हो रही थी। इस प्रकार विभिन्न भावों का विलास देखते हुये वसन्त-कुमार यमुना के शीतल सुन्दर दुकूल पर जा पहुँचे। थोड़ी देर तक वे खड़े होकर चाँदनी और यमुना का प्रेमालिङ्गन देखते रहे। यमुना की नील तरङ्गमाला पर चन्द्रमा की किरण-राशि सहस्रों प्रकार का नृत्य कर रही थी। उनके नृत्य की ताल पर यमुना का मधुर कलकल उत्थित हो रहा था। कुछ देर तक इस मनोरम दृश्य के आनन्द का उपभोग करके वसन्त ने वन-स्थली में प्रवेश किया। चन्द्रमा की शीतल सुधा-धारा में उस समय वन-श्री स्नान कर रही थी। योगमाया की मधुर हास्य-धारा के समान दूर दूर तक आनन्दमयी शान्ति की शीतल-धारा हिल्लोलित हो रही थी। वसन्त ने देखा कि कुटी के सामने ही चन्द्रिका-चर्चित दूर्वादल पर प्रेमतीर्थ समाधि-मग्न होकर बैठे हुये हैं। निश्चल-पाषाण प्रतिमा की भाँति, वे पद्मासन लगाये बैठे थे। उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो ऊपर आकाश से कोई देव-युवक उतर कर अखण्ड समाधि में निमग्न हो गया हो, इस दृश्यमान संसार से अपना सारा सम्बन्ध विच्छेद करके मानो वह अन्तर के आध्यात्मिक जगत में आत्मा के साथ बैठ कर आनन्द से वार्तालाप कर रहा हो। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय प्रेमतीर्थ का वदन-मण्डल निरुद्वेग, निर्विकार मानसरोवर के समान विलसित हो रहा था। उस पर चन्द्रमा की किरण-राशि नृत्य कर रही थी। उनके लोचन युगल बन्द थे, उनके तेजोमय ललाट पर दिव्य शोभा का विलास था। वसन्त विमुग्ध

दृष्टि से उस प्रफुल्ल लावण्य की दैदीप्यमती शोभा को देखने लगे। प्रेमतीर्थ के सम्बन्ध में विकृत भावना से उनका हृदय परिपूर्ण हो रहा था, वह एक बार ही अन्तर्हित हो गई। उस शान्तिमयी मूर्ति की निष्पन्द आभा उस समय आत्मा के स्थिर प्रकाश के समान चमक रही थी। प्रकृति माना अपने परम-साधक पर प्रसन्न होकर उस समय विमुग्ध हो रही थी।

बसन्त को इस प्रकार खड़े खड़े जब १५ मिनिट से अधिक व्यतीत हो गये, तब कहीं धीरे धीरे, एकान्त निरुद्वेग के साथ, प्रेमतीर्थ ने अपने विशाल लोचन उन्मुक्त किये। उनके खुलते ही चन्द्रमा की अनेक किरणें उन्हें चुम्बन करने के लिये व्यग्र हो उठीं। नीरव-खण्ड पर जिस प्रकार प्रकाश की किरणें पड़ कर एक अद्भुत मनोरम दृश्य को उत्पन्न कर देती हैं, प्रेम-तीर्थ की उन अरुण-रागमयी आँखों को सुधाकर की राशि राशि किरणों ने चूम कर एक वैसी ही मनोरम शोभा का दैदीप्यमान दृश्य समुपस्थित कर दिया। बसन्तकुमार शोभा के इस मनोरम विलास को देखकर विमुग्ध हो गये। अब प्रेमतीर्थ ने उनकी ओर देखा। प्रेमतीर्थ के मधुर अधर पर कोमल हास्य रेखा, द्वितीया की प्रथम चन्द्रकला की भाँति, प्रकट हुई। उन्होंने मधुर मृदुल स्वर में कहा—"आओ बसन्त! तुम्हें क्या आये हुये अधिक देर हुई। यदि ऐसा है, तो तुम्हें बहुत कष्ट हुआ होगा।"

बसन्त—"महाराज! मुझे आये हुये तो अवश्य १५ मिनिट हो गये होंगे पर कष्ट की कौन कहे, आपकी प्रफुल्ल समाधि-मग्न मूर्ति के उज्ज्वल लावण्य को देख कर मैं तो विमुग्ध हो गया और

समय जाते हुये मालूम ही नहीं हुआ। सचमुच आपकी सौन्दर्य्य-श्री कवि-कल्पना के समान मधुर, आत्मा के आनन्द के समान तेजोमयी एवँ मन्दाकिनी की धारा के समान पवित्र है। अपने जीवन में मैंने ऐसा उज्ज्वल लावण्य कभी नहीं देखा। इसे मैं अपने हृदय में जीवन की आनन्दमयी स्मृति के समान धारण करूँगा।"

प्रेमतीर्थ हँसे। अब की बार उनकी हँसी में एक कुटिल व्यंग्य था; पर उसे वसन्त ने नहीं देख पाया। बड़े मधुर स्वर से उन्होंने कहा—"वसन्त तुम बुरा नहीं मानो तो मैं एक बात पूछूँ।"

वसन्त—"पूछिये। मैं आपकी बात का क्या बुरा मान सकता हूँ?"

प्रेमतीर्थ—"अच्छी बात है। अभी तुमने मेरे जिस समाधि-मग्न सौन्दर्य्य की इतनी प्रशंसा की थी, वह सौन्दर्य क्या देवी सुभद्रा के सरल लावण्य से भी अधिक उज्ज्वल और मधुर है?"

यह सुनते ही वसन्त स्तम्भित हो गये। इस उक्ति के व्यंग्य से नहीं, इस वाक्य के श्लेष से नहीं; पर देवी सुभद्रा के पवित्र नाम ने वसन्त को आश्चर्य्य के महासागर में फेंक दिया। केवल आश्चर्य्य ही से वे अभिभूत नहीं हुये, उनके हृदय में वज्रपात के समान एक भयंकर आघात भी लगा। जिस रहस्य को वे अपने प्राणों के समान रखते थे, जिस देवी की सुन्दरता पर विमुग्ध होकर भी जिसके पवित्र नाम को वे स्वर्ग और अपवर्ग के बदले में भी नहीं प्रकट कर सकते थे, उसकी बात प्रेमतीर्थ

कैसे जान गये ! क्या वास्तव ही में प्रेमतीर्थ त्रिकालदर्शी महात्मा हैं ? मैंने तो यह समझा था कि मेरे मुख की विकृत आकृति से ही उसने मेरे हृदय के भावों को जान लिया है; पर मैं तो देखता हूँ कि वह मेरे रहस्य से पूर्णतया परिचित है ? तब बात क्या है ? क्या प्रेमतीर्थ अन्तर की बात जान लेने वाले योगी है ? अथवा क्या वह कपट नीति का फैलाने वाला शैतान है ? बसन्त कुछ निर्णय नहीं कर सके । बसन्त का मुख विवर्ण हो गया । दुःख, वेदना, ग्लानि और विक्षोभ से उनका समस्त भाव मण्डल हाहा-कार कर उठा । उनके हृदय की अग्नि-ज्वाला में उनके भावों की आहुति पड़ने लगी । वे अवाक् होकर प्रेमतीर्थ की ओर देखने लगे । उस समय ऐसा प्रतीत होता था मानो वे असह्य यातना के कारण वाणी को भी विस्मृत कर बैठे हैं ।

प्रेमतीर्थ ने उनकी यह दशा देखी । उसके नयनों के प्रान्त देश में कुटिल हिंसा की तीक्ष्ण आभा उत्पन्न हुई और उसी समय विलीन हो गई । उन्होंने फिर बड़े शान्त, मधुर सरस शब्दों में कहा—"बसन्त शान्त होकर मेरी बात सुनो । तुम इस बात से क्षण भर भी उद्विग्न मत होओ कि मैं तुम्हारा रहस्य जान गया हूँ । हम लोगों के लिये यह कोई कठिन बात नहीं है । मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारा यह रहस्य मेरे पास वैसे ही सुरक्षित है जैसे तुम्हारे पास । दूसरी बात यह है कि तुम्हारे रहस्य को प्रकट करने की हमें, हम संसार-त्यागी जन को, क्षण मात्र भी आवश्यकता नहीं है । हमने कल इसी लिये यह बात कही थी जिससे तुम्हें यह विदित हो जाय कि यदि तुम हम से

अपनी बात निस्संकोच भाव से नहीं कहोगे, यदि तुम अपने इस गुप्त प्रणय की स्पष्ट व्याख्या मेरे सामने नहीं करोगे, तो वह तुम्हारी भूल होगी; वह तुम्हारा एक व्यर्थ असार प्रयत्न होगा।"

वसन्त रो रहे थे; अमंगल के वज्र-निनाद के समान उन्हें प्रेमतीर्थ के वचन असह्य हो रहे थे। उन्होंने कहा—"महाराज! आपने उस पवित्र देवी का नाम कैसे जान लिया?"

प्रेम०—"अपनी परम सिद्धि से। वसन्त! तुम उद्विग्न मत होओ। मैं जानता हूँ—सब बातें जानता हूँ। इसी लिये मैंने तुम्हें आज आग्रह पूर्वक बुलाया है। मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे इस प्रेम का पथ परिष्कृत कर दूँ। तुम्हारे मार्ग में जो कण्टक है, उन्हें हटा दूँ।"

वसन्त०—"परिष्कृत कर दूँ? महाराज! आप कह क्या रहे हैं? मेरे इस प्रेम का पथ परिष्कृत हो ही नहीं सकता। मैं जानता हूँ, आपकी सिद्धि वाली बात ठीक है तो आप भी जानते होंगे कि मेरा यह प्रेम मेरी चिता में मेरे साथ ही भस्म होगा। आप क्या स्वयँ जगन्नियन्ता जगदीश्वर भी मेरे प्रेम के पथ को परिष्कृत नहीं कर सकते हैं।"

वसन्त की बातें सुन कर प्रेमतीर्थ के मुख-मण्डल पर रोष की लालिमा प्रकट हुई। पर उन्होंने संयम पूर्वक कहा—"वसन्त! अहङ्कार की बात करना हम संसार-त्यागियों को उचित नहीं है। पर मैं तुम्हें एक बात बताता हूँ—ध्यान पूर्वक सुनना। मैं जानता हूँ कि समाज के द्वारा तुम्हारा यह प्रेम अनुमोदित नहीं है; धर्म भी तुम्हारे प्रेम का समर्थन नहीं करता है, पर स्मरण

प्रेम, समाज और धर्म, दोनों से ऊँचा है, वह चिर पवित्र है, चिर सुन्दर है, चिर सत्य है। इसी लिये यदि तुम चाहो, यदि तुम्हें अपनी इस अग्निमयी वेदना को शान्त करना हो, तो मैं उसका उचित उपाय कर सकता हूँ। मैं योग-सिद्धि के द्वारा तुम दोनों का मिलन करा सकता हूँ। तुम इस समाज को परित्याग करके इस विश्व धर्म को तिलाञ्जलि देकर, आनन्द से प्रकृति के प्रासाद में अपना सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते हो। बसन्त इसमें रत्ती भर अतिशयोक्ति नहीं है।"

बसन्त काँप उठे। उनकी विशुद्ध आत्मा ने, उनके धर्म-भीरु विवेक ने, उन्हें सावधान कर दिया। उन्होंने देखा कि उनके सामने पाप का प्रलोभन-पाश धीरे धीरे विस्तृत हो रहा है, धीरे धीरे शैतान उन्हें उद्भ्रान्त करने का प्रयत्न कर रहा है; उन्होंने स्थिर-गम्भीर स्वर में कहा—"नहीं महाराज, मैं यह नहीं चाहता। कदाचित् आपने यह नहीं सोचा कि यद्यपि मेरी अग्निमयी वासना उस परम पवित्र देवी की ओर प्रधावित तो अवश्य हो रही है, पर वह उसे [illegible]श नहीं कर सकती है। वह देवी आत्मा के समान उज्ज्वल है, पाप उसे उद्भ्रान्त नहीं बना सकता है। वह भगवान् शंकर के मौलि-मण्डल से पतित होने वाली गंगा की शीतल वेगवती धारा के समान है, विकार उसे रोक नहीं सकता है। महाराज! अपनी इस तुच्छ वासना की पापमयी परितृप्ति के लिये क्या मैं उस पवित्र देवी को बलिदान कर देने की चेष्टा करूँगा?"

बसन्त के इन प्रज्वलि[illegible] को सुनकर प्रेमतीर्थ दलित

सर्प के समान प्रदीप्त हो उठे। पर उनका वह भाव दूसरे ही क्षण कपट-शान्ति में विलीन हो गया। उन्होंने कहा—"वसन्त ! तुम्हारी यह उद्भ्रान्त धारणा है। प्रेम के पथ को परिष्कृत करने के लिये पाप-पुण्य का विचार व्यर्थ है। प्रेम की उद्दाम प्रवृत्ति की विलास लीला ही जीवन की सब से मधुर साधना है।"

वसन्त ने उपेक्षा की दृष्टि से प्रेमतीर्थ की ओर देख कर तीव्र स्वर में कहा—"महाराज ! आप जैसे संसार-त्यागी, ब्रह्मचारी के मुख से ऐसी बातें सुन कर मुझे आश्चर्य भी हो रहा है, दुःख भी हो रहा है। वास्तव में क्या ऐसी ही बात है? तब क्या त्याग कुछ भी नहीं है? तब क्या पवित्रता असार एवँ हेय है? नहीं महाराज ! आपकी बात मुझे अमान्य है।"

अब की बार प्रेमतीर्थ ने वसन्त की ओर तीव्र दृष्टि से देखा। वसन्त उस दृष्टि की तीक्ष्णता को न सह सके। उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी ने उसके हृदय को मसोस डाला है। प्रेमतीर्थ ने तीव्र स्वर में कहा—"वसन्त ! मेरी बातें क्या तुम्हें अमान्य है।"

वसन्त काँप उठे। वसन्त वीर पुरुष थे; पर उस समय, न मालूम क्यों, वे पीपल के पल्लव को समान काँप रहे थे! पर फिर भी उसने अपूर्व संयम के साथ कहा—"अवश्य! महाराज! कुछ भी हो, मैं कदापि इस प्रस्ताव को अङ्गीकार नहीं कर सकता। मैं यह नहीं देख सकूँगा कि मेरी वासना की अग्नि में वह देवी जल कर भस्म हो जाय। यह नहीं हो सकता कि मैं उसे अपवित्र, लाँछित, [illegible] एवँ अपमानित करके,

निर्मम हत्यारे की भाँति, उसके शव पर ताण्डव नृत्य करूँ। आप मुझे क्यों व्यर्थ में दुःख दे रहे हैं? आपने क्या मुझे ऐसे ही उपदेश देने के लिये बुलाया था?"

प्रेमतीर्थ ने जान लिया कि वे बसन्त की उस अटल अचल प्रतिज्ञा को किसी प्रकार भी भंग नहीं कर सकेंगे। तब वे कुछ हताश एवँ हत-प्रभ से हो गये। दूसरे ही क्षण उनके मुख पर फिर वही शान्ति-शोभा आविर्भूत हुई। वे अट्टहास कर उठे। उन्होंने कहा—"बसन्त! तुम अपनी अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये। वास्तव में तुम सच्चे प्रेमी हो। तुम्हारी ऐसी अटल अचल निष्ठा को देख कर मैं परम प्रसन्न हुआ हूँ। बोलो, तुमने क्या निश्चय किया है?"

बसन्त ने आँखें उठा कर प्रेमतीर्थ की ओर देखा। बसन्त को प्रेमतीर्थ के इन शब्दों पर भी विश्वास नहीं हुआ। उसके हृदय में कोई कह उठा कि प्रेमतीर्थ के वे वचन भी कपट के आडम्बर से शून्य नहीं हैं। अब की बार बसन्त ने भी नीति का आश्रय लिया। उसने विनम्र स्वर में कहा—"महाराज! हम निर्बल आत्माओं की ऐसी तीव्र-परीक्षा लेने से क्या लाभ है? देव! यह आपके ही चरणों का प्रताप है, जो मैं स्थित रह सका; नहीं तो ऐसे तीव्र प्रलोभन को अमान्य करना सहज नहीं था।"

प्रेमतीर्थ—"पर तुमने कठिन को सरल करके दिखा दिया। बसन्त! तुम अपने इस उज्ज्वल प्रेम को आदि-माता के श्री चरणों में समर्पित कर दो। तुम्हारी यह प्रखर वेदना दिव्य शान्ति में परिणत हो जायगी। इस से बढ़ कर दूसरा उपाय नहीं है।"

बसन्त०—"पर यह क्या सहज व्यापार है? मैं तुच्छ निर्बल व्यक्ति हूँ। यद्यपि मेरी यह वासना मुझे तिल तिल करके जला रही है, पर तो भी इस अग्नि के मोह को छोड़ देना मेरे लिये बड़ा कठिन हो गया है। तब प्रभो, यह कैसे सम्भव है? किस प्रकार मैं इस कठिन साधना में सिद्धि प्राप्त कर सकूँगा?"

प्रेम—"कर सकोगे। मैं तुम्हें गुरु-मन्त्र दूँगा। संयम और अभ्यास के द्वारा उस कठोर साधना में तुम्हें प्रवृत्त करा कर मैं तुम्हारे पार्थिव प्रेम को दिव्य ज्योति में परिणत कर दूँगा।"

वसन्त—"पर मेरा इतना सौभाग्य कहाँ? मेरा और आपका आज अन्तिम साक्षात् है।"

प्रेम०—"अन्तिम साक्षात्? क्यों?"

वसन्त०—"मैं कल किसी विशिष्ट कार्य्य-वश इस गाँव से बाहर जा रहा हूँ। मैं कह नहीं सकता कि कब तक मेरा लौटना हो सके।

प्रेम—"वह विशिष्ट कार्य्य क्या है?"

वसन्त (हँस कर)—"आप अन्तर्यामी हैं, त्रिकालदर्शी हैं, सिद्ध योगेश्वर हैं। आपके सामने उस विशिष्ट कार्य्य के निवेदन न करने पर भी क्या उसका रहस्य आप से छिपाया जा सकता है?"

वसन्त के इस तीव्र व्यंग्य ने प्रेमतीर्थ के हृदय को विक्षुब्ध कर दिया। वे जान गये कि वसन्तकुमार उनके स्वरूप के कुछ अंश को पहिचान गया है। उसी समय उनके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना उदय हुई, वे चाहते ही थे कि अपनी रोषाग्नि को शान्त करें पर उसी समय उनके मानसिक लोचनों के सामने

राधा की मनोमोहिनी मूर्ति आकर खड़ी हो गई। उन्होंने सोचा कि यदि वे कुछ अनर्थ कर डालेंगे तो उस अनिन्द्य सुन्दरी की आशा भी उन्हें छोड़ देनी पड़ेगी। इसी लिये उस विष के समान व्यंग्य को उस समय सहन करना ही उन्होंने उचित समझा; वे अपना रोष दबा कर बोले—बसन्तकुमार! महामाया की महा-व्यवस्था के रहस्य को वही जान सकता है जिस पर उनकी अपार दया होती है। वह जो कुछ करती है, अच्छा ही करती है। मैं भी तब कल यहाँ से प्रस्थान कर दूँगा। बसन्त तुम्हारे ही लिये मैं ठहरा था। तुम्हारी अग्नि को मैं शान्त नहीं कर सका, इसका मुझे दुःख है। पर तौ भी सदा इस बात का प्रयत्न करना जिससे तुम्हारी यह प्रखर वासना प्रचण्ड तप में परिणत हो जाय। यदि तुम ऐसा कर सके, तो यह निर्विवाद है कि तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा और तुम दिव्य शान्ति के अमृत को पान करके अपनी इस वेदना को विस्मृत कर सकोगे। यह उपाय कठिन अवश्य है; पर उसके अतिरिक्त दूसरा उपाय है ही नहीं।"

बसन्त०—"महाराज! आपके इन दिव्य उपदेशों को मैं सादर ग्रहण करता हूँ।"

प्रेम०—"जाओ! पर एक बात मैं तुम से और कह देना चाहता हूँ कि हम दोनों एक बार फिर कभी मिलेंगे। अब की बार किस प्रकार, किस स्थल पर, हम दोनों की भेट होगी सो तो जगन्माता जाने; पर आज रात के सम्भाषण को मैं उस समय तक भूलूँगा नहीं।"

वसन्त०—"मैं उस दिन की प्रतीक्षा करूँगा। वह मेरे सौभाग्य का दिन होगा।"

प्रेम०—"हम संसार को लात मारने वाले, सौभाग्य-दुर्भाग्य की कल्पना को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं।"

वसन्त०—"आप समर्थ हैं। अब आज्ञा हो, महाराज!"

प्रेम०—"जाओ! जगन्माता तुम्हारा मंगल करें।"

वसन्तकुमार ने देखा कि प्रेमतीर्थ के लोचन युगल प्रज्वलित अंगार के समान धधक रहे थे।

शिव के मंगल वेश में भी अपने आपको आच्छन्न करके भी, शैतान अपनी प्रतिहिंसा मयी व्यापार-लीला के रहस्य को सदा के लिये, विश्व की दृष्टि से छिपा नहीं सकता है। थोड़े समय के लिये धर्म और पुण्य के सिद्धान्तों का उच्च उद्घोष करके, वह निर्बल आत्माओं को, पीड़ित प्राणियों को तथा व्यथित व्यक्तियों को भले ही अपने पाप-पाश में प्रलुब्ध कर ले। पर जो जगदीश्वरी के पुण्य विधान पर अविचल विश्वास रखते हैं, जो प्रवृत्ति को धर्म की सीमा अतिक्रान्त नहीं करने देते हैं, उनकी अन्त-र्भेदिनी दृष्टि को और प्रतारणा के आवरण को भेद करने वाली अन्तरात्मा को, सहज में भुलावा देना सन्यास-वेषधारी कपट-गुरु शैतान के लिये भी सम्भव नहीं है। महामाया की पुण्य-विमल ज्योति, आवश्यकता होने पर, उनके हृदय-मञ्च पर आविर्भूत होकर उन्हें सावधान कर देती है।

अखण्ड विश्वास अन्तरात्मा का अक्षय पुण्य-प्रदीप है।

बत्तीसवाँ परिच्छेद

वासना की विजय

क दिन सुरम्य तपोवन में देवराज इन्द्र के मनोरम दर्शन से त्रिभुवन सुन्दरी गौतम-जाया अहल्या के मनो-मन्दिर में जो काम-वासना प्रदीप्त हो उठी थी; राधा के हृदय-निकेतन में वैसी ही अनङ्ग प्रवृत्ति प्रेमतीर्थ को देखते ही जागृत हो उठी। राधा के चरित्र-चित्रण के समय हम कह चुके हैं कि राधा की प्रवृत्ति का झुकाव रस विलास की ओर था; इधर उसकी अतृप्त आकाँक्षा ने, असफल मनोरथ ने एवँ असन्तुष्ट अभिलाषा ने उस वासना को और भी उद्दीप्त कर दिया था। यह हमारे नित्य के अनुभव की बात है कि यदि किसी वस्तु की हमें उत्कट अभिलाषा हो और उसकी उपलब्धि के लिये हमारे पास पर्य्याप्त साधन हो नहीं, तो हमारी अभिलाषा शान्त हो जाने की अपेक्षा और भी उद्दण्ड एवँ उच्छृङ्खल हो जाती है। जिनका विवेक विश्वास की विभूति से विलसित रहता है, जिनकी श्रद्धा धर्म के साहचर्य्य से सदा प्रमुदित हो कर प्रवृत्ति-कुञ्ज में विहार करती रहती है, जिनकी मधुर सुन्दर कल्पना, आनन्द काद-

स्विनी की भाँति, उनके भाव-वन को सदा सुधा-रस से सींचती रहती है, वे तो उस उच्छृङ्खल अभिलाषा को, संयम और नियम से बाँध कर, हृदय के एक निभृत कोण में, शान्ति और सन्तोष के पहरे में, डाल देते हैं। पर जिनकी वासना अभाव के उद्दीपन से और भी अग्निमयी हो उठती है, जिनकी बुद्धि का निर्बल उद्घोष, उत्कट लालसा के दारुण कोलाहल में विलीन हो जाता है, और जिनकी आत्म-ज्योति प्रदीप्त काम-लिप्सा से आक्रान्त हो जाती है, वे उस उद्दण्ड अभिलाषा के प्रबल प्रवाह में प्रवाहित होकर धर्म, पुण्य और परलोक की समस्त चिन्ताओं, समस्त धारणाओं एवँ समस्त भावनाओं को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। राधा की भी यही दशा हुई। सांध्य-श्री की स्निग्ध शोभा में, निर्मल, निर्जन यमुना तट पर, प्रेमतीर्थ का चारु-दर्शन करके, राधा का हृदय, अन्तर की क्षीण बाधा को अमान्य करके, रस की प्राप्ति के लिये, बिना सोचे, बिना विचारे, उन्मत्त की भाँति प्रधावित हुआ। उसका विवेक, उसकी परलोक चिन्ता, उसकी धर्म-हानि—इन तीनों की भावनायें भी उसे पाप-पथ पर अग्रसर होने से नहीं रोक सकीं। सुन्दर शैतान के प्रलोभन को, उन्मत्त लालसा की तीव्र प्रेरणा को, और प्रदीप्त वासना की मदमयी प्रवृत्ति को पैरों से ठुकरा कर, अटल अचल हिमाँचल के समान, धर्म के मार्ग पर खड़ा रहना राधा जैसी रस-विलास-प्रिया रमणी के लिये उसी प्रकार असम्भव था, जैसे अन्धकारमयी यामिनी में सूर्य्य-रश्मि का कमल-मुख चूमना।

परन्तु राधा को पतन की ओर प्रधावित होने में तीन बातों

ने विशेष सहायता दी थी। एक तो थी परम साधवी सुभद्रा की अनुपस्थिति, दूसरी पति-परिवार की निरन्तर अत्याचार-यातना और तीसरी पति की निर्बल बाल्यावस्था। साधु-साहचर्य्य का अद्भुत पवित्र प्रभाव होता है, ऋषियों के आश्रमों में सिंह-शावक और मृग-छौने साथ साथ केलि-क्रीड़ा करते हैं। इसी लिये संसार के समस्त धर्मों ने साधु-सत्संग की भूरि भूरि प्रशंसा की है। हमारी यह दृढ़ धारणा है कि उस समय यदि देवी सुभद्रा रंगपुर में होती, तो राधा सम्भवतः इतनी जल्दी पतन की ओर कदापि प्रधावित नहीं होती। देवी सुभद्रा सदा उसके उत्तप्त प्राणों को अपने मधुर सुन्दर अमृतमय उपदेशों से शान्त करती रहती थी। परन्तु उनकी अनुपस्थिति में वह अग्नि धाँय धाँय करके जल उठी और उपदेश-धारा के अभाव से वह नित्य प्रति बढ़ती ही गई। धर्म और पुण्य की भी उसमें आहुति पड़ गई। इधर उस पर जैसे घोर अत्याचार होते थे, उसकी सौतेली सास, और उसकी युवती-पत्नी एकान्त अनुगत, उसके वृद्ध श्वसुर जिस प्रकार उसे असह्य यन्त्रणा के यन्त्र में पीसे डालते थे, उसके कारण भी राधा का उन्मत्त हृदय प्रबल विरोध की भावना से प्रदीप्त हो उठा था। वह जिस श्रेणी की रमणी थी, उस श्रेणी की स्त्रियाँ, शान्ति और सन्तोष के साथ, हास्यमुखी होकर अत्याचार और आपत्ति के आघात को सहने में समर्थ नहीं होती हैं। उनके हृदय में जब एक वार विद्वेष-ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है, तब फिर धर्म और अधर्म तथा पाप और पुण्य के विभेद को दृष्टि के सन्मुख रखने की क्षमता भी उन में

नहीं रह जाती है। उस पर राधा का रस-विलास का आकाँक्षी हृदय पति की निर्बल बाल्यावस्था के कारण और भी विक्षुब्ध हो रहा था। जब वह गाँव में अपने बराबर की युवतियों को, एकान्त में बैठ कर, पति-प्रेम एवँ पति के साथ की हुई रस-लीला के सम्बन्ध में परस्पर वार्तालाप करती हुई सुनती, तब उसका हृदय क्षोभ और ग्लानि से भभक उठता। गाँव की युवतियाँ भी समय समय पर उसके बाल-पति को लक्ष्य करके उसके साथ व्यंग्य करतीं। उस समय उसे ऐसा क्रोध आता कि वह यदि इतनी शक्तिमयी होती तो अवश्य संसार की समस्त युवतियों को, संसार के समस्त युवक-पतियों को गम्भीर सागर के गर्भ में डुबा देती। जब शरश्चन्द्र की चन्द्रिका में स्नान करती हुई पृथ्वी के अञ्चल से शीतल समीर क्रीड़ा करता था, जब वसन्त-लक्ष्मी अपने प्रफुल्ल यौवन-वन के सुन्दर सुरभित सुमनों की माला गूँथ कर उषादेवी को प्रणयोपहार में देती थी, जब ग्रीष्म-संध्या के समय मृदुल हिल्लोल के साथ बेले का सौरभ चुरा कर शीतल पवन लताओं से लुका-चोरी खेलता था, जब नील-मेघ माला उत्तप्त धरित्री-मण्डल पर रस की वर्षा करती थी, जब हेमन्त का मधुर मध्याह्न पृथ्वी के नील अञ्चल पर सुवर्ण-धारा के समान विस्तृत होता था, उस समय राधा अपने क्षीण दुर्बल बाल-पति की ओर देख कर ठंडी साँस लेती थी, उस समय उसके हृदय में ऐसी आकुल हूक उठती थी कि उसे रोकने के लिये उसे अपनी समस्त शक्ति व्यय कर देनी पड़ती थी। कभी कभी राधा की यह इच्छा होती थी कि वह आत्म-हत्या कर ले

पर इसके लिये क्या हम राधा को एकान्त दोषा ठहरावेंगे ? इसमें सन्देह नहीं कि निष्ठुर जन राधा के इस पतन पर व्यंग्य पूर्वक हँसेंगे, पर जो सदय जन इस पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करेंगे, उन्हें इसमें राधा का वैसा अपराध दिखाई नहीं पड़ेगा। राधा का पतन एक अस्वाभाविक आश्चर्यमयी घटना नहीं है। सहस्र सहस्र नारियाँ, प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ कर, असह्य अत्याचार से निष्पीड़ित होकर, प्रखर वासना से उन्मत्त होकर एवँ प्रबल पाप-प्रलोभन से उद्भ्रान्त होकर, पतन की अन्धकारमयी कन्दरा में गिर पड़ती हैं। आज नहीं—इस कलियुग में नहीं—उन युगों में भी, जब धर्म का एक छत्र साम्राज्य था ; जब पुण्य और पातिव्रत शान्ति कुञ्ज में आनन्द पूर्वक विहार करते थे; जब महाराज रामचन्द्र से निर्मल चरित्र, लक्ष्मण से जितेन्द्रिय, सीता सी सती, सती सी साध्वी भारतेश्वरी की पवित्र कोमल गोद को अलंकृत करती थीं; जब वैदिक युग के प्रभात काल में, निर्मल आत्मा के आलोक में, तपोवन की छाया में, मूर्तिमान् पुण्य और मूर्तिमती पवित्रता आनन्द पूर्वक घूमा करते थे; जब गान्धारी जैसी गौरवमयी पतिव्रतायें, उत्तरा जैसी कुल-वधुयें, विदुर जैसे त्यागी, भीष्म जैसे बाल-ब्रह्मचारी, इस रत्नगर्भा जननी के स्तन से दुग्ध-पान करते थे; तब भी, उन युगों में भी, सब के लिये पाप के प्रलोभन को अमान्य करना सम्भव नहीं था। उस समय भी नर-नारी पतित, स्खलित और पथ-भ्रष्ट होते थे। परन्तु उस समय समाज के नियन्ताओं की, समाज के पवित्र पथ-प्रदर्शकों की, समाज के चरित्रवान् नेताओं की

दृष्टि सदा इस ओर रहती थी कि कोई भी नर-नारी प्रतिकूल परिस्थिति में पड़ कर पथ-भ्रष्ट न हो जाय। मानव-प्रयत्न जहाँ तक सफल हो सकता है, वहाँ तक वे सफल भी हुये थे। उस समय कभी कभी कोई निर्बल व्यक्ति, वासना के तीव्र मद में प्रमत्त होकर, पाप के पाश में जा फँसता था; पर उस समय ऐसा नहीं था कि उस अभागे पथ-भ्रष्ट को अवलम्ब और आश्रय न देकर, उसे पाप-पाश से उबारने का प्रयत्न न करके, उसका निर्मम वहिष्कार कर दिया जाय। उसे प्रायश्चित्त के द्वारा पवित्र करके समाज में मिला लिया जाता था और पवित्र जीवन व्यतीत करने का अवसर दिया जाता था। अहल्या दुराचारिणी होकर भी, प्रायश्चित के द्वारा पवित्र होने के उपरान्त महर्षि गौतम के वाम भाग में आसीन हुई थीं; मत्स्यगन्धा कौमार्य्य काल में ऋषि द्वारा अपवित्र की जाने पर भी एक दिन भारत की राज्य-लक्ष्मी के महिमामय आसन पर उपविष्ट हुई थी; पाण्डु-पत्नी कुन्ती, कुमारी जीवन में सूर्य्य के साथ रमण करने की अपराधिनी होकर भी भ्रूण-हत्या जैसे घोर पाप का अनुष्ठान कर चुकने पर भी, एक दिन सम्राट् के अन्तःपुर की शोभा बनने में समर्थ हुई थी। द्रौपदी पाँच पतियों की पर्य्यंक-शायिनी होकर भी भारतेश्वरी थी, परन्तु आज क्या दशा है? आज हमारा समाज पहिले तो प्रतिकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देता है और फिर जब पाप के प्रबल प्रलोभन के सम्मुख खड़े होने की शक्ति के अभाव में, वासना की प्रखर ज्वाला से उद्भ्रान्त होकर यदि कोई रमणी एक बार भी पद-

भ्रष्ट हो जाती है, तो फिर उसका निस्तार नहीं है; उसके हाथ का गंगा-जल तक अपवित्र हो जाता है; उसे छूने से गो-हत्या का पाप लगता है; उसे देखने से अपशकुन होता है; उसकी वाणी कान में पड़ते ही प्रायश्चित करने की आवश्यकता अनिवार्य्य हो जाती है। और जब अभागिनी नारी, आश्रय और अवलम्ब के अभाव से, अनाथिनी और अनाश्रिता होकर वाराङ्गना बनने को वाध्य होती है, और जब वह अपने परिभ्रष्ट सौन्दर्य्य को, बाज़ार में पराय-पदार्थ बना कर रखती है, तब बड़े बड़े दिग्गज तिलकधारी, बड़े बड़े अस्प्रश्यास्पृश्य का विचार करने वाले और बड़े बड़े धर्म-ध्वजी उपाध्याय, उसकी उस सौन्दर्य्य ज्वाला में पतङ्ग के समान जाकर पतित होते हैं। हिन्दू-समाज की यह दशा, ऋषियों के द्वारा स्थापित की हुई समाज का यह दारुण पतन देख कर किस सहृदय की अन्तरात्मा को विक्षोभ नहीं होगा? राधा भी इसी सामाजिक अव्यवस्था की शिकार बन गई थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस सामाजिक अव्यवस्था के होते हुये भी, इन घोर दुराचार और अत्याचार के बीच में भी, इस भयंकर प्रतिकूल परिस्थिति में भी, बहुत सी सती रमणियाँ, निष्कलङ्क-नक्षत्र की भाँति, आलोकमयी आत्मा की भाँति, अपने सतीत्व की रक्षा करती रहती हैं पर इसमें समाज की बहादुरी नहीं है; यह तो उनकी दिव्य शक्ति का मधुर चमत्कार है, यह तो उनकी विमल विशुद्ध बुद्धि का सुन्दर व्यापार है, यह तो उनकी गम्भीर पवित्रता का प्रोज्ज्वल विलास है। परन्तु यह सब के लिये सम्भव नहीं, सब इस

प्रकार अपनी रक्षा नहीं कर सकती हैं, सब पाप के प्रलोभनों को उपेक्षा की दृष्टि से देख कर, उन्हें पैरों से ठुकराने में समर्थ नहीं हो सकती हैं। इसी लिये जब हम राधा के ऊपर किये गये अत्याचारों पर, उसकी प्रतिकूल परिस्थिति पर एवँ उसकी वासनामयी प्रवृत्ति पर ध्यान-पूर्वक विचार करते हैं, तब राधा के प्रति हमारी गम्भीर सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है, उसकी ओर घृणा से देखने का हमें साहस ही नहीं होता है। जो शैतान-राज्य के द्वार पर खड़े होकर, अपने सुरक्षित स्थान से, उसके शिकार की आलोचना करते हैं अथवा जो स्वयँ आनन्द भोग से परितृप्त होकर अपनी कामवासना को रस-विलास से सन्तुष्ट करके तथाच अपनी रंगमयी आकाँक्षा की परिपूर्ति के यथेष्ठ साधनों की उपलब्धि करके, लालसा से आकुल, दरिद्रता से दलित एवँ अभाव से पीड़ित अभागी आत्माओं की पतन-लीला को रोष, घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं—उनकी बात दूसरी है; पर जिनका हृदय सहानुभूति से उद्वेलित है, समवेदना से द्रवित है, एवँ करुणा से आर्द्र है, वे पतित की पतन-लीला को देख कर रोने लगते हैं, और उनकी उस अमृतमयी अश्रु धारा में बहुत से अभागे प्राणियों के लिये शान्ति मिलती है। राधा की दारुण स्थिति पर ज़रा ध्यान तो दीजिये! युवावस्था के उद्दाम वेग से और सौन्दर्य्य की समुज्वल शोभा से उसका हृदय और शरीर दोनों विलसित हो रहे हैं, पर उसके उस यौवन-वन का विहारी और उसके उस सौन्दर्य्य के सुवर्ण-राज्य का अधीश्वर है एक निर्बल, रोगी

बालक ! और इतना ही नहीं, उसके सामने ही उसको दिखा दिखा कर, उसके वृद्ध ससुर एक रस-रंग-मयी युवती का आलिङ्गन और चुम्बन करते हैं और उस पर भी, वे दोनों मिल कर—यहाँ तक कि राधा के निर्बल पति को भी अपनी ओर मिला कर—उस एकाकिनी रमणी पर दारुण अत्याचार करते हैं। क्या राधा के हृदय नहीं है ? और क्या उस हृदय में प्रेम की तीव्र प्रवृत्ति नहीं है, जो प्राणेश्वर के आलिङ्गन के लिये व्याकुल, हृदयेश के मदमत्त चुम्बन की आकाँक्षिणी एवँ जीवन-धन के रस-विलासमय सहगमन की प्यासी रहती है। जब उसके श्वशुर—जो उससे अवस्था में तिगुने हैं—अपनी उस आकुल प्रवृत्ति के प्रबल वेग को प्रशमित करने के लिये १८ वर्ष की युवती के पाद-पद्म पर प्रणाम करते हैं, तब परिपूर्ण यौवना राधा कैसे अपनी इन्द्रियों का दमन, वासना का शमन, एवँ लालसा का वर्जन कर सकती है ? जब वह रात-दिन अपनी अरुण आँखों से उस उच्छृङ्खल विलास को देखती है, जब वह रात-दिन अपने कानों से उच्च हास्य एवँ व्यंग्य को सुनती है, और जब वह वासना के उस अगाध प्रवाह को पास ही की कोठरी में प्रवाहित होते हुये रात-दिन देखती है; तब वह स्वयँ अपनी प्रवृत्ति को नियम सयंम के बन्धन में बाँध कर कैसे रख सकती है ? उस पर भी जब वह देखती है कि उस पर निरर्थक निष्ठुर अत्याचार हो रहा है, और उसका निर्बल-रोगी पति उस अत्याचार से उसकी रक्षा नहीं कर सकता है, तब क्यों न उसका पीड़ित हृदय, दलित सर्प की भाँति, फुफकार उठे ? क्यों न वह

प्रदीप्त नागिन की भाँति उस निर्मम परिवार को दंशन करने के लिये लपलपा उठे ? क्यों न वह धर्म और समाज के शिर पर पाद-प्रहार करके, पाप और शैतान की सहायता से अपनी अनङ्ग वासना को शान्त करने की प्रचेष्टा करे ? हाय रे हिन्दू समाज ! तू देख कर भी जब अन्धा बना हुआ है, जान-बूझ कर भी जब तू मूर्ख बना हुआ है, तब तेरा निस्तार नहीं है। दुखी की आह, व्यथित की दुर्भावना एवँ भगवान् का अभिशाप—तीनों विकराल रूप धारण करके तेरी ओर प्रधावित हो रहे हैं ! सावधान !!

अर्ध रात्रि से अधिक व्यतीत हो चुकी है। परिश्रम से परि-श्रान्त होकर, विश्व विश्राम-दायिनी निद्रा की कोमल गोद में निस्तब्ध पड़ा सो रहा है। परन्तु इस विश्व में ऐसे भी अनेक प्राणी हैं जिनके भाग्य में यह परम सुख नहीं लिखा गया है। विलास और वारुणी ने जिनके हृदय को आकुल और मस्तिष्क को उत्तप्त कर रखा है, उन्हें दूध के फेनों के समान कोमल शय्या पर भी निद्रा की शीतल साहचर्य्य प्राप्त नहीं होता है; अशेष अत्याचार और दारुण अभाव ने जिनके मन को अग्नि-कुण्ड बना रखा है, वे अभागे प्राणी भी आकुल निद्रा विहीन दृष्टि से यामिनी के शान्त सौन्दर्य्य को देखा करते हैं। राधा की भी आँखों में आज नींद नहीं है; आज क्या कई वर्षों से उसने विकार-रहित विश्राममयी निद्रा के शान्ति सुख का आनन्द उपभोग नहीं किया है। परन्तु आज जिस कारण से उसके विशाल लोचनों में नींद का आविर्भाव असम्भव

हो उठा है, वह कुछ और ही है। अत्याचार की यन्त्रणा, अतृप्त पिपासा की आकुलता तथा दुर्भाग्य की दुर्भावना-इन्हीं तीनों के कारण आज तक उसने निद्रा विहीन रह कर रात्रिओं को व्यतीत किया है। कभी कभी, किसी किसी दिन, वह अवश्य सो जाती थी, पर उस निद्रा में विश्राम की जगह विकार, शान्ति की जगह भयंकर स्वप्न और आनन्द की जगह अग्नि का हाहाकार ही होता था। परन्तु आज उसके विक्षुब्ध हृदय में सुन्दर शैतान आकर आसीन हो गया है; आज उसे दूर पर माया-मरीचिका के दर्शन हुये हैं; आज उसके हृदय में रस-सिन्धु के शीतल अमृत को प्राप्त करने की आशा जाग उठी है। इसी लिये आज उसका हृदय शैतान की रंगभूमि बन गया है। अपने हृदय की भयंकर अग्नि के बीच में उस सुन्दर शैतान को मुस्कराते हुये देख कर उसे वैसी ही शान्ति मिल रही है, जैसी आकुल प्राणी को तीव्र वारुणी के मद में प्राप्त होती है। आइये! हम उसके हृदय-देश पर विहार करने वाले भावों का परिचय प्राप्त करें। देखिये, वह आप ही आप क्या कह रही है?

"आज क्यों धर्म की बाधा मानूँ? जिस दिन मेरे माता-पिता ने मुझे इस बालक पति के साथ बाँध दिया था, उस दिन यह धर्म और पुण्य कहाँ चला गया था? उस दिन क्यों इन दोनों ने मेरे निठुर माता-पिता को ऐसे कुकर्म करने से नहीं रोका? संसार स्वार्थ की रंगभूमि है; धर्म और पुण्य, जब तक इस स्वार्थ सिद्धि में सहायता देते हैं, तब तक तो समाज और व्यक्ति सभी उसका आदर सहित अभिनन्दन करते हैं। परन्तु जब वह

धर्म और पुण्य उनके उस स्वार्थ में बाधा डालते हैं, तब उन्हें पाद-प्रहार रूपी पुरस्कार ही प्रदान किया जाता है। मैं क्या नित्य ही देखती नहीं हूँ। बाप-माँ ने बड़े घर के साथ सम्बन्ध करके अपनी प्रतिष्ठा रखने के लिये अपनी गर्भ-जात कन्या का बलिदान कर दिया। मेरी सास जानती हैं कि आज न सही कल, कल न सही परसों, जब मेरे पति बड़े होंगे, तब मैं इसी घर की अधीश्वरी होऊँगी, इसी लिये वे मेरे पीछे पड़ी हैं; इसी लिये वे मुझे आँखों के सामने से हटा देने की चेष्टा करती रहती हैं, इसी लिये इतना सब कलह-काण्ड होता है। जिधर देखती हूँ सब अपने अपने स्वार्थ के रंग में रंगे हुये हैं; तब राधा ही क्यों परमार्थ की बात चिन्तन करने लगी? धर्म और पुण्य! जब तुम दोनों ने मेरे हृदय को कभी शीतल धारा से अभिषिक्त नहीं किया, तब आज आपत्ति में अपनी यह रोनी सूरत लेकर मेरे सामने क्यों आये हो? आज क्यों मेरी दया के लिये तुम दोनों हाथ फैला रहे हो? हटो! नहीं तो पाद-प्रहार द्वारा तुम्हें अपने पथ से मैं हटा दूँगी। राधा ने विश्व का वास्तविक स्वरूप जान लिया है।

"मानती हूँ, धर्म और पुण्य के लिये भी लोग प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं; पर धर्म और पुण्य भी उनकी सहायता करते हैं। देवी सुभद्रा को ही देखो। वे अपनी वेदना को धर्म की सुशीतल सलिल धारा से शान्त रखती हैं। उसका कारण है, वे देवताओं के बीच में रहती हैं; पिता ने उनके लिये सन्यास-व्रत धारण किया है, भाई उनकी सम्मति का अशेष आदर करते हैं। पर मैं तो

निशाचरों के बीच में रहती हूँ; तब मैं कैसे वह कर सकती हूँ, जो वे करती हैं? वे स्वर्ग की कल्पना करती हैं, मैं नरक के दृश्य देखती हूँ। वे शान्ति की गोद में खेलती हैं, मैं अग्नि-कुण्ड में पड़ी पड़ी जलती हूँ। वे आत्मानन्द में मग्न रहती हैं, मैं व्यथा की वैतरणी में शिखा पर्य्यन्त निमग्न रहती हूँ। तब मेरी उनकी क्या समता? मैं उनके समान अपने भावों को, अपने विचारों को, अपनी कल्पना को, अपनी भावना को, अपनी चिन्ता को, पुण्य के पाद-पद्म की ओर कैसे परिचालित कर सकती हूँ? शिव ने मेरा बहिष्कार कर दिया है; अब चलूँ शैतान ही का आश्रय लूँ। स्वर्ग न सही, नरक का निवास ही सही।

"कौन सा ऐसा प्रेममय बन्धन है, जो मुझे इस परिवार से विमुक्त नहीं होने देगा? मेरे पति-परमेश्वर! छिः, इस निर्बल दुर्बल बालक को परमेश्वर की पवित्र पदवी से विभूषित करना, उस पावन नाम का अपमान करना है। उसे कैसे पूजूँ? कैसे उस पर श्रद्धा स्थापित करूँ? न, यह नहीं हो सकता। सास और श्वसुर! ये दोनों तो मूर्तिमान् पाप और प्रतिहिंसा के अवतार हैं। तब इस निशाचर-निकेतन में रह कर क्या करना है? नहीं! मैं तो पहिले ही से यह निश्चय कर चुकी थी कि अब मैं इस परिवार के साथ नहीं रहूँगी। इस विशाल-विश्व में भीख माँग कर भले ही जीवन व्यतीत करना पड़े, पर इस नरक के समान बन्दी-गृह में नहीं रहूँगी। देखती हूँ, यदि यह ब्रह्मचारी जी ही का आश्रय प्राप्त कर सकूँ।

"अहा! कैसा सुन्दर उनका मुख-मण्डल है? मानो रस-

सरोवर का प्रस्फुटित पद्म हो। उनके विशाल अरुण नयन मानो लावण्य-लक्ष्मी के मद-पात्र हैं। उनका समस्त शरीर श्री और शक्ति से देदीप्यमान हो रहा है। उन्हें देखना, उन्हें प्यार करना है। कुछ भी हो, उनकी एक ही दृष्टि ने, उनके एक ही कटाक्ष ने, मेरे इस पिपासाकुल हृदय को अपने वशीभूत कर लिया है। यदि वे मुझे स्वीकार करेंगे, तो मैं अवश्य उनके साथ चल दूँगी। स्वीकार ? स्वीकार क्यों नहीं करेंगे ? उनकी आँखों में प्रेम की लाली नृत्य कर रही थी, उनके आकुल आग्रह में एवँ उनके विकल विनय में, आन्तरिक अनुराग के रस का स्रोत उमड़ रहा था। यद्यपि यह मेरा पहिला अनुभव है, यद्यपि आज पहिले पहिल मैंने प्रेम को अपनी समुज्ज्वल शोभा में हँसते हुये देखा है। पर मैं निश्चय रूप से कह सकती हूँ कि वे ब्रह्मचारी होकर भी, गैरिक-वसनधारी होकर भी, मेरे इस अपरूप लावण्य पर विमुग्ध हो गये हैं। उनके अस्फुट वाक्यों का अर्धस्फुट विकम्पन, उनके कमलदल के समान सुन्दर नेत्रों का वह चारु विकास, उनके गैरिक वसन के नीचे उनके हृदय का वह तीव्र उत्थान-पतन, उनके निश्वास का उष्ण सौरभ, यह सब क्या बता रहे थे ? नहीं, जिस प्रकार मैं उनके श्री चरणों में अपने हृदय का अर्घ्यदान दे चुकी हूँ, वे भी उसी भाँति मेरी सौन्दर्य्य-श्री पर बलिहार हो गये हैं। मुझे विश्वास है—मेरे अन्तर का यह आश्वासन है—कि वे मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे। अवश्य ही वे मेरे अरुण-राग-रञ्जित पादतल पर अपनी साधना की सुमनाञ्जलि समर्पित करेंगे। अहा! इस

वजय और पराजय की मधुर कल्पना में, इस अदान और विसर्ग की सुन्दर भावना में, इन हृदयों के स्वेच्छापूर्वक विनिमय में कितना आनन्द है? कितना माधुर्य्य है? कितना उल्लास है? अहा! जिस मानसरोवर की शीतल तरङ्गमाला के लिये मेरा हृदय-हंस व्याकुल हो रहा था, जिस पूर्ण-चन्द्र के दर्शन के लिये मेरा चित्त विकल भाव से बाट देख रहा था, जिस घनश्याम मेघ-मण्डल के आगमन की प्रतीक्षा में मेरा मन-मयूर आँखों में आँसू भर कर ऊपर की ओर देख रहा था, वह आज मेरा हृदयेश सहसा मेरे सामने प्रादुर्भूत हो गया है। अब की चूकी तो पीछे पछताऊँगी। धर्म हो या अधर्म, पाप हो या पुण्य, पर अब मैं अपनी इस पिपासा को अवश्य शान्त करूँगी। लोक और परलोक! तुम दोनों हँसो या रोओ; समाज और धर्म! विद्वेष में जल जाओ या उपेक्षा से मुस्काते रहो; पर राधा—तृषित व्याकुल राधा—अब इस नरक को छोड़ कर एक बार विराट् विश्व की सैर करेगी। उत्थान और पतन की असार कल्पना को लेकर मैं अपने मन को दुविधा में नहीं डालूँगी, क्योंकि प्यासे मरने की अपेक्षा जल की खोज करते करते मर जाना कहीं अच्छा है।"

मानव-पतन का दृश्य अत्यन्त करुण है। पर उससे भी करुण-तर यह दृश्य है कि धर्म, पुण्य एवं समाज-पतित का सहानुभूति और स्नेह से आलिङ्गन न करके, उसके कठोर वहिष्कार, निर्मम तिरस्कार एवं निष्ठुर अनादर की कुत्सित आयोजना करते हैं—इस पावन त्रिमूर्ति का यह पतन कैसा मर्म-भेदी है?

तैंतीसवाँ परिच्छेद

जीवन का मोह

णों की भी अद्भुत ममता है। अपने प्राणों की रक्षा के लिये मनुष्य परलोक की चिन्ता को विसर्जन कर देता है और चिर-काल तक नरक की ज्वाला में जलना स्वीकार कर लेता है। अपने असार जीवन को किसी न किसी प्रकार बचाने के लिये कभी कभी मनुष्य ऐसे ऐसे भीषण पापों में प्रवृत्त होता है, जिनके कारण उसे आजन्म व्यापी ग्लानि और पश्चात्ताप का दुःख भोगना पड़ता है। इसी लिये हम देखते हैं कि संसार के सारे धर्म एक स्वर से यही उपदेश देते हैं कि "मा भैषी!" अर्थात् भय का विसर्जन करो। धर्म और पुण्य के पथ पर चलने में जो असंख्य मानव अक्षम होते हैं, उसका एक मात्र कारण यही है कि वे प्राणों के मोह में कायर बन जाते हैं। शैतान पग पग पर उनके पथ पर बाधा देता है और उसके भीषण वेश से तथा भयंकर मुद्रा से भयभीत होकर निर्बल प्राणी धर्म का पथ छोड़ कर उसका अनुगमन करने लगते हैं। उनकी अन्तरात्मा उन्हें स्पष्ट रूप से उनके कुकृत्यों के

लिये भर्त्सना करती है, धर्म उन्हें पाप का साथ देने के लिये बार बार कुवाच्य कहता है। पर अपने इन तुच्छ प्राणों की ममता से वे आत्मा और धर्म के उपदेश और आज्ञा को अमान्य करके शैतान का साथ देने को विवश होते हैं। यद्यपि बार बार उनका विवेक उन्हें फटकारता है पर वे उस ओर ध्यान नहीं देते हैं। चम्पा की भी यही दशा थी। यद्यपि बार बार उसकी अन्तरात्मा उसे बुरा-भला कहती थी और बार बार धर्म उसके इस कपट कृत्य की ओर तिरस्कार और क्रोध की दृष्टि से देखता था, पर चम्पा अपने प्राणों के भय से उस पाप-पथ से विरत नहीं हो सकती थी। उसके हृदय में यह दृढ़ विश्वास था कि यदि उसने ठाकुर यदुनन्दनसिंह का वह पाप-मय षड़यन्त्र देवी सुभद्रा के सामने खोल दिया, अथवा उसने देवी सुभद्रा के सर्वनाश करने में ठाकुर यदुनन्दनसिंह को भरसक सहायता नहीं दी, तो वह शैतान उसे जीता नहीं छोड़ेगा। चम्पा इसी भय से—अपने असार प्राणों की रक्षा के लिये—इस घोर पाप-कर्म में प्रवृत्त हो रही थी।

चम्पा ने अत्यन्त अनिच्छा से इस काम को करना स्वीकार किया था। इसमें सन्देह नहीं कि चम्पा का आचरण अच्छा नहीं था; व्यभिचार के बाज़ार में उसने अपने यौवन को पण्य-पदार्थ के समान बेच दिया था; उसकी अन्तरात्मा की विशुद्धता नष्ट हो चुकी थी, पर फिर भी देवी सुभद्रा जैसी सरल पवित्र रमणी के सर्वनाश करने के लिये उसका हृदय किसी भाँति राज़ी नहीं होता था। चम्पा ब्राह्मण-कन्या थी। उसके पिता उसे

बचपन ही में अपनी बहिन (चम्पा की बुआ) की गोद में छोड़ कर चल बसे थे। उसकी माता तो पति से भी पहिले परमधाम को पधार गई थी। बुआ भी दरिद्रता और अभाव के हाथों से अत्यन्त दुखी थी और ऐसे वायु-मण्डल में लालित पालित होने के कारण तथाच धर्म और पुण्य के विषय में जानकारी न होने के कारण, चम्पा का आचरण कौमार्य्य-काल ही में परिभ्रष्ट हो हो चुका था! धन के अभाव में, बुआ को कोई अच्छा वर नहीं मिला और बुआ ने एक मरणासन्न वृद्ध के साथ उसकी भाँवरें डाल कर कन्या-दान का पुण्य सञ्चय कर लिया! वृद्ध देवता विवाह के ८वें महीने में चल बसे, बुआ भी साल के भीतर ही परलोक की ओर प्रस्थान कर गई। चम्पा रह गई अकेली। रूप था, यौवन था और उस पर अधर्म का आश्रय। चम्पा ने एक प्रकार से वेश्यावृत्ति स्वीकार कर ली। दो-चार रोटियों के लिये, एकाध धोती के लिये, उसने अपने अमूल्य सतीत्व को खुले हाथों लुटाना आरम्भ कर दिया। चम्पा के इस संक्षिप्त परिचय को यहाँ पर हमने इसलिये विवृत किया है जिससे हमारे उपन्यास के पाठक-पाठिकाओं को यह भली भाँति विदित हो जाय कि चम्पा धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य की विवेचना करने वाली रमणी नहीं थी। उसने एक नहीं, अनेक बार अपने दरिद्र-गृह में अनेक कुल-कामनियों और कामुकों को परस्पर केलि-लीला करने का अवसर दिया था स्त्री का सतीत्व और पुरुष की सच्चरित्रता उसकी दृष्टि-विशेष महत्व नहीं रखती थी। ऐसी दुराचारिणी रमणी

ठाकुर यदुनन्दनसिंह ने देवी सुभद्रा की सेवा में नियुक्त किया था और उसी के द्वारा वे अपनी पापमयी अभिसन्धि की परिपूर्ति करना चाहते थे। किसी ने ठीक कहा है कि इस विश्व में अनेक समय शिव के वेश में शैतान विहार करता है।

परन्तु धर्म के एकान्त विशुद्ध सौन्दर्य्य का प्रभाव पापी से पापी के हृदय पर भी पड़ता है। निर्बोध शिशु की मधुर सरल मुस्कान को देख कर एक बार निठुर घातक का हृदय भी विचल हो जाता है, डकराती हुई गाय की आँखों के आँसू देख कर एक बार क़साई के हाथ की तलवार काँप उठती है, कठोर से कठोर अत्याचार भी एक बार सरल सुन्दर धर्म की प्रतिमा को देख कर ठिठक जाता है। चम्पा की भी यही दशा हुई। जब ठाकुर यदुनन्दनसिंह ने चम्पा से यह पापमय प्रस्ताव किया था, उस समय देवी सुभद्रा के पुण्य संसर्ग का उस पर प्रभाव पड़ना तो दूर, उसने कभी देवी सुभद्रा को देखा तक नहीं था। इसी लिये उस समय उसने उस पर कोई आपत्ति नहीं की थी। ठाकुर यदुनन्दनसिंह एक तो स्वयँ उसके प्रेमी थे, दूसरे गाँव के ज़िमींदार थे, तीसरे उन्होंने उसे बहुत धन देने का प्रलोभन दिया था, इसी लिये चम्पा ने उनके प्रस्ताव को बिना संकोच स्वीकार कर लिया था। सच पूछिये, तो चम्पा का तो यह पापमय व्यवसाय ही था, इसी के द्वारा वह अपनी आजीविका उपार्ज़न करती थी। ऐसी रमणी के हृदय में दया, ममता, पुण्य, धर्म, इत्यादि के लिये स्थान कहाँ? पाप के निरन्तर संस्रव ने, शैतान के निरन्तर संसर्ग ने, उसके हृदय की धार्मिक ज्योति

को बुझा दिया था और इसी लिये उसमें पाप का घोर अन्धकार विस्तृत हो गया था। तब वह ठाकुर के इस कुत्सित प्रस्ताव को क्यों न अंगीकार करती? डाकू को हिंसा करने में जो आनन्द आता है; वधिक को हत्या करने में जो उल्लास होता है; पड़ोसी के घर में आग लग जाने से प्रतिहिंसामय विद्वेषी को जो मत्सर-मयी परितृप्ति होती है, चम्पा को अपने इस कुत्सित कर्मों में उसी प्रकार का एक शैतानी-सन्तोष होता था। परन्तु जब उसने देवी सुभद्रा का पवित्र स्वरूप देखा, जब उसने देवी सुभद्रा का समस्त शरीर दैवी आभा से जगमगाता हुआ देखा; तब तो वह पापिनी भी विस्मय से विमुग्ध हो गई। उसने आज तक ऐसा मधुर पावन सौन्दर्य्य नहीं देखा था; उसने कभी ऐसा ललाट नहीं देखा था, जिस पर वैराग्य की विमल विभूति का ऐसा शोभामय विलास हो; ऐसे स्निग्ध करुणामय लोचन नहीं देखे थे, जिनमें अनन्त करुणा की लालिमा का, गम्भीर सहृवेदना की श्यामलता का और विराट् विश्व प्रेम की धवलता का ऐसा दिव्य सम्मिलन हो; उसने ऐसे अधर कभी नहीं देखे थे, जिस पर बालकों सी सरल-सुन्दर मुस्कान क्रीड़ा करती हो और उसने कभी ऐसा कलेवर नहीं देखा था, जो तपोमयी कान्ति से ऐसा शोभायमान हो। उस स्वरूप को देखते ही, उस दिव्य भगवती की प्रतिमा का दर्शन करते ही, चम्पा चकित हो उठी। उसने सुभद्रा के सम्बन्ध में अपने मन में जो कल्पना की थी, उसने उसे ठीक उसके विपरीत पाया। उसने सोचा था कि वह एक बड़े घर की विलासमयी विधवा को देखेगी; जिसके ताम्बूल

राग रञ्जित अधर पर विलास की हँसी का फ़व्वारा छूटता होगा; जिसकी महीन सुन्दर साड़ी के भीतर से उसका पुरिपुष्ट विलास-मय कलेवर जगमगाता होगा; जिसकी आँखों से मद की धार निकलती होगी; जिसके केश कलाप से केश-रञ्जन की लपटें निकल रही होंगी; जिसके गुलाब-सदृश कपोलों पर काम-वासना का उल्लास झलकता होगा; विधवा होकर भी जिसका शरीर शृङ्गार से विभूषित होगा। पर उसने ठीक इसके विरुद्ध पाया। उसने देखा कि देवी सुभद्रा के केश कलाप हैं ही नहीं; उसके शिर-प्रदेश पर केवल छोटे छोटे बाल हैं जिनमें सुगन्धि का नाम मात्र भी नहीं है। उसने देखा कि देवी सुभद्रा का ललाट भस्म के त्रिपुण्ड से विभूषित है; उसने देखा कि सुभद्रा के तप-कृश तथा ब्रह्मचर्य्य शोभित शरीर पर खद्दर की साड़ी है। चम्पा शैतान-सुन्दरी की कल्पना करके आई थी, पर उसने दर्शन पाये पवित्र सजीव वैराग्य-श्री के। उसने सोचा था कि उसे देखने को मिलेगी हास्यमयी विलास-रस प्रिया उच्छ्वासमयी युवती; पर उसने वास्तव में देखा तपत्यागमयी, वैराग्य विभूषिता बाल ब्रह्मचारिणी!! चम्पा के हृदय के अन्दर जो पाप का दारुण अन्धकार था, वह इस दिव्य ज्योति के दर्शन से अन्तर्हित हो गया। चम्पा चकित भाव से उस वैराग्य-शोभा को देखने लगी। जब उसका वह विमुग्ध भाव कुछ समय के उपरान्त तिरोहित हुआ, तब उसने श्रद्धा पूर्वक देवी सुभद्रा के चरणों की रज उठा कर अपने शिर पर धारण की। उस समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसके बहुत से पाप दूर हो गये हों, जैसे उसे पर्व के अवसर पर गङ्गा-

स्नान का पुण्य प्राप्त हुआ हो, जैसे उसे व्रत के दिवस में देवता के दिव्य दर्शन मिले हों।

परन्तु उस पवित्र दर्शन से उसके हृदय में एक तुमुल संग्राम खड़ा हो गया। पुण्य उसे अपनी ओर खींचने लगा, पाप अपनी ओर आकर्षित करने लगा। उसका हृदय तो यह कहता था कि देवी सुभद्रा के साथ ऐसा दारुण विश्वास-घात करना अत्यन्त अनुचित है, परन्तु साथ ही साथ उसकी भय-प्रवृत्ति उसे बताती थी कि यदि उसने षड़यन्त्र प्रकट कर दिया तो उसका परिणाम होगा प्राण-विसर्जन! चम्पा में इतना आत्म-बल नहीं था कि वह अपने प्राणों की रत्ती भर भी चिन्ता न करके अपने कर्तव्य का परिपालन करे। निरन्तर पाप के अनुष्ठान ने, एवँ शैतान के साहचर्य्य ने उसकी धर्म-बुद्धि को अत्यन्त निर्बल बना दिया था और उसका हृदय अन्तर की ज्योति का अनुगमन करने में एकान्त अक्षम हो गया था। परन्तु फिर भी उसके हृदय में इस बात को सोच सोच कर बड़ी ग्लानि उत्पन्न होती थी कि वह देवी सुभद्रा जैसी पवित्र आत्मा के साथ ऐसा कपट व्यवहार कर रही है। इस ग्लानि का परिणाम यह हुआ कि उसके मुख पर विषाद-छाया आविर्भूत हो गई; उसके मन में विच्छू-दंशन के समान यातना होने लगी। उसके इस परिवर्तन को करुणामयी देवी सुभद्रा ने देखा और उससे उसका कारण भी पूछा, परन्तु उसने शिर-शूल का बहाना कर दिया। सच्ची बात कहने का उसे साहस नहीं हुआ। शैतान की विजय हुई। उसने देवी सुभद्रा को गाँव के बाहर चलने के लिये राज़ी कर लिया। देवी सुभद्रा

धार्मिक प्रवृत्ति की सरल रमणी थी, वे क्या जानती थीं कि चम्पा उनके साथ विश्वास-घात करेगी। वे सहज ही में उसके साथ जाने को तैयार हो गईं। चम्पा ने उसकी सूचना ठाकुर यदुनन्दन सिंह को दे दी थी—यह बात पाठक-पाठिकाओं को विदित ही है।

पर इस समाचार को देकर लौटते समय चम्पा के हृदय में एक तुमुल आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। उसने जान लिया कि अब किसी प्रकार भी निस्तार नहीं है। अब तो देवी सुभद्रा का सर्वनाश अवश्यम्भावी है। उस पाप की प्रधान सहायिका होने के कारण उसके हृदय में ग्लानि की भयंकर ज्वाला जागृत हो गई थी। वह देवी सुभद्रा के निवास स्थान की ओर चलते चलते स्वतः ही कहने लगी:—

"आह! मैं कैसी भयंकर राक्षसिनी हूँ? जिसने एक ही दिन के परिचय से मुझे अपने पवित्र प्रेम की शीतल धारा से शीतल किया, जिसने एक ही दिन के संग से मेरे साथ सहोदरा के समान व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया, हाय, मैं उसी के विरुद्ध, उसी के सर्वनाश के लिये, षड़यन्त्र में सहायता दे रही हूँ। और वह भी कुछ थोड़े से रुपयों के लिये! वास्तव में मुझे नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा। भगवती जाने परलोक में मुझे क्या क्या यातनायें सहनी पड़ें। नहीं मालूम यमदूत मेरे साथ कैसा बुरा व्यवहार करेंगे? हाय जगदीश! मेरी—मुझ पिशाचिनी की क्या दशा होगी?

"पापी के संग का यही फल होता है। मैं ऐसा जानती तो

कभी इस काम में हाथ न देती। पर मैं अब क्या करूँ ? अगर मैं पीछे हटती हूँ तो वह शैतान, न जाने, मेरे साथ कैसा बुरा बर्ताव करे। वह भयंकर पिशाच है। वह मेरी हत्या किये बिना मानेगा थोड़े ही। हाय! न मालूम क्यों मुझे प्राणों की इतनी ममता है। इन असार प्राणों का मोह मुझे और भी पाप में घसीट रहा है। होता भी है—पापी को प्राणों का मोह अधिक होता है। मैं पापिन हूँ! मैं क्या सहज मरने की हूँ ? न मालूम, अभी इन पापी हाथों से कितने और पाप होने को हैं ?

"पर जगदीश्वरी! तुम सब के हृदय की बात जानती हो। प्राणों के भय से मैं ऐसा कर रही हूँ। पर तुम से मेरी एक प्रार्थना है। सुना है, पापी की आकुल प्रार्थना पर भी तुम ध्यान देती हो। दया करके देवी सुभद्रा की रक्षा करना। मैं जानती हूँ, तुम स्वयँ उनकी रक्षा करोगी। मेरे कहने की, मेरे विनय करने की, तुम राह थोड़े ही देखोगी। पर तो भी मेरी माता! तुम्हारी यह अधम पुत्री तुम से प्रार्थना करती है कि तुम उनकी रक्षा करना। अपने आप तो मैं मर नहीं सकूँगी, पर मातेश्वरी! यदि मेरे प्राणों से इसका प्रायश्चित हो सके, तो उन्हें तुम ले लेना। तुम सब कुछ कर सकती हो; तुम सब की विधात्री हो; मैया! मेरी गुहार सुनना! उनकी रक्षा करना!"

इस प्रकार मन ही मन भगवती से देवी सुभद्रा की रक्षा की प्रार्थना करते करते चम्पा फिर वहीं पहुँच गई जहाँ से वह आई थी। पर चम्पा क्या जानती थी कि जो पातिव्रत की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग करने को सदा उद्यत रहती है, जो अपनी

पवित्रता की रक्षा के लिये त्रिभुवन की शक्ति के विरुद्ध भी अटल अचल भाव से खड़ी हो सकती है, उनका कोई कुछ नहीं कर सकता है। शैतान! शैतान उनके सामने एक अपदार्थ की भाँति है। वह उनके शरीर को स्पर्श तक नहीं कर सकता।

वैराग्य की दिव्य शक्ति के अक्षय कवच से जिनका सतीत्व-सुरक्षित है, उन्हें शैतान के विषाक्त शर-समूह का क्या भय है? वे तो विमुक्त आत्मा की भाँति कालुष्य के आक्रमण से अतीत हैं।

चौंतीसवाँ परिच्छेद

लालसा की लीला

सार को माया की रंगभूमि मान कर, उसके सुख-दुखों को समान अथवा स्वप्न के समान कह कर हृदय को प्रबोध दे लेना सब के लिये सम्भव नहीं है। बिच्छुओं का दंशन हो; असाध्य रोग की दारुण परिपीड़न हो; अग्नि की तीव्र जलन हो— उस समय अपनी अन्तरात्मा की विशुद्ध ज्योति को देख कर मन्द मन्द मुस्काते रहना एकमात्र उन्हीं के लिये सम्भव हो सकता है, जो वीतराग सन्यासी हैं; जो माया मोह से अतीत होकर ब्रह्मानन्द के महासागर में विलीन हैं; जो संसार के सुख-दुखों में अनुद्विग्न रह कर प्रत्येक परिमाणु में उसी आदि-ज्योति का दर्शन करते हैं। पर हम संसारी लोग ऐसा नहीं कर सकते, सुख में हम एक प्रकार की शान्ति का दर्शन करते हैं, वह शान्ति चाहे भले ही असार एवँ अल्पजीवी क्यों न हो। दुःख में हम एक प्रकार की तीव्र वेदना का अनुभव करते हैं, वह वेदना चाहे भले ही निस्सार एवँ निमेष-व्यापी क्यों न हो। सुख-दुःख, व्यथा-शान्ति, इत्यादि के प्रभाव को एक बार ही अमान्य करना

हम संसारी जीवों के लिये सम्भव नहीं है। यदि ऐसा न होता, यदि विश्व के समस्त निवासी निर्विकार और निरुद्विग्न होते, तो इस संसार में शैतान का साम्राज्य क्यों होता? क्यों पाप का प्रबल प्रभाव होता? अभाव और दरिद्रता के बीच में यदि मनुष्य की बुद्धि व्याकुल न होती, तो हिंसा और जिघांसा को अपनी पापमयी लीला का अवसर कैसे मिलता? यदि वासना और प्रवृत्ति का मानव-विवेक पर ऐसा दुर्जय प्रभाव न होता, तो यह जगत पवित्रता और पुण्य की वध-भूमि क्यों बन जाता? साम्राज्यों के उत्थान और पतन, युद्ध की दुन्दुभि और चीत्कार, निर्बल की हत्या और सरल का बहिष्कार, पवित्रता का परि-पीड़न और पुण्य का मरण, सबल का अत्याचार और शैतान का बलात्कार यह सब इतिहास के पृष्ठों को क्यों कलुषित करते? नहीं, जब तक प्रलय के महा-समारोह में यह सृष्टि विलीन नहीं होगी और जब तक इस सृष्टि पर से मानव जाति की वासना और प्रतिहिंसा विलुप्त नहीं होगी, तब तक संसार की रंगभूमि को माया और मिथ्या की रंगभूमि सिद्ध करने का श्रेय केवल वेदान्त के सिद्धान्त को और कभी कभी किसी किसी वीत-राग सन्यासी के विशुद्ध जीवन ही को प्राप्त होता रहेगा। अस्तु,

प्रेमतीर्थ के प्रेम का परिचय पाकर राधा को एक प्रकार की शान्ति प्राप्त हुई थी और उसके मन में यह आशा उत्पन्न हो गई थी कि अब शीघ्र ही उस निर्मम परिवार के अत्याचार से उसका निस्तार होगा। साथ ही साथ उसके रसरंगमय

हृदय-मन्दिर में भी प्रेमतीर्थ की विशाल मधुर प्रतिमा प्रतिष्ठित होकर उसके भाव-वन के फूलों की अञ्जलि ग्रहण कर रही थी। आज तीन वर्ष से उसके ऊपर जो भीषण अत्याचार हो रहे थे, उन्होंने उसके विवेक-मन्दिर में ऐसी विरोध-ज्वाला प्रज्वलित कर दी थी जिसमें उसकी धर्म-बुद्धि भस्म-प्राय हो चुकी थी। उसके हृदय में जो एक अतृप्त भोग-पिपासा विद्यमान थी प्रेमतीर्थ के चारुदर्शन से वह और भी बलवती हो उठी। उसके मधुर अधर उन्मत्त चुम्बन के लिये आकुल हो उठे, उसका कोमल कर मृदुल परिपीड़न के लिये विकल हो उठा, उसका प्रफुल्ल वक्षस्थल दृढ़ आलिङ्गन के लिये व्याकुल हो उठा। प्रेमतीर्थ में उसने अपने प्रणय के साफल्य का सजीव स्वरूप देखा, अभी तक जो उसकी अनङ्ग-वासना देवी सुभद्रा के दिव्य उपदेशों से दबी हुई थी, वह अब सारे बन्धनों को तोड़ कर, सारी विघ्न-बाधाओं को अमान्य करके, सारे विधि-निषेधों की अवज्ञा करके, उच्छृङ्खल गति से प्रधावित हुई। उस वासना ने अपना लक्ष्य देख पाया था, तब वह कैसे रुक सकती थी? महासागर ने पूर्णचन्द्र को देख पाया था, तब वह अपने आपको उद्वेलित होने से कैसे रोक सकता था? आज राधा की अनङ्ग-प्रवृत्ति, सहस्र धाराओं में, बड़े वेग पूर्वक प्रेमतीर्थ की ओर प्रधावित हुई।

राधा का विषाद मुख-मण्डल उल्लास से खिल उठा। उसका संतप्त शरीर प्रफुल्ल कान्ति से जगमगाने लगा; उसका दग्ध-हृदय आनन्द-वारुणी के मद से झूमने लगा; उसकी विशाल

आँखों में वासना का अरुण-राग विकसित हो उठा। राधा वैसे ही अद्वितीय सुन्दरी थी; आज तो वह और भी उत्फुल्ल हो गई। जैसे जैसे सायङ्काल का समय सन्निकट आता जाता था, जैसे जैसे सूर्य्यदेव पश्चिम प्रान्त के समीप पहुँचते जाते थे, वैसे वैसे राधा की लावण्य-लक्ष्मी और भी प्रफुल्ल होती जाती थी। अन्त में वह समय आ पहुँचा जब सूर्य्यदेव पश्चिम-पयोधि के सुवर्ण रेणुमय दुकूल पर खड़े होकर धरिणी देवी को अतृप्त नयनों से देखने लगे। पक्षि-कुल अपने अपने घोंसलों के कुसुम-भूषित द्वार पर बैठ कर अपनी अपनी प्रियतमा के साथ सान्ध्य-रागिनी अलापने लगे; धीरे धीरे शान्ति का सुखमय साम्राज्य विस्तृत होने लगा। राधा का आनन्द-अवसर सन्नि-कट आने लगा; राधा भी अपने नूतन प्रेमी के पास जाने के लिये उद्यत हुई।

आज कई महीनों के उपरान्त उसने अपनी कुन्तल-केश-राशि को सुरभित तैल से सिक्त करके उसका शृङ्गार किया। अन्धकार में प्रफुल्ल चन्द्र के समान, उसने अपने आज़ानुलम्बित लटों के ऊपर शीशफूल धारण किया। रेशमी नीली कञ्चुकी के ऊपर उसने रेशमी गुलाबी साड़ी पहिनी; मोतियों का हार उसने अपने पीन पयोधारों पर धारण किया; एक रेशमी रूमाल उसने अपनी कञ्चुकी में रखा। हाथ में हीरे की अँगूठी पहिनी, सुगन्धित ताम्बूल से उसने अपने सहज-गुलाबी अधरों को रञ्जित किया। इस प्रकार अपना सरल-शृङ्गार करके राधा अपने प्रणय की रंगभूमि की ओर चली। उस समय ऐसा प्रतीत होता था

मानो स्वयँ सन्ध्या-सुन्दरी अपने प्राणेश्वर से मिलने जा रही है। उस समय राधा की सास अपने कमरे में थी; उसका पति अपने पिता के साथ कहीं बाहर गया हुआ था; दासी भोजनालय में थी। ऐसे अवसर पर राधा को बाधा देने वाला कोई नहीं था। राधा जानती थी कि उसके चले जाने के उपरान्त भी कोई उसकी अनुपस्थिति की ओर बहुत समय तक ध्यान नहीं देगा। उसका जब से बहिष्कार हुआ था, तब से वह कहाँ जाती है, क्या करती है—इस बात पर कोई ध्यान नहीं देता था। दूसरे उसके घर वालों का विश्वास था कि वह ज़िमींदार के घर के अतिरिक्त और कहीं नहीं जाती है। इसी लिये राधा निश्चिन्त होकर यमुना के निर्जन निर्मल दुकूल की ओर अग्रसर हुई। आज राधा का बहिष्कार उसके लिये मङ्गलमय-व्यापार में परिणत हो गया। आज राधा ने अपने उस बहिष्कार को देवता का परम मधुर विधान माना। बहिष्कार ने उसके पथ की समस्त बाधाओं का बहिष्कार कर दिया। वह गजेन्द्र-गति से अपने नूतन हृदयेश्वर से मिलने के लिये अभिसारिका बन कर चली!

* * *

प्रेमतीर्थ भी वैसी ही उत्कण्ठा से राधा के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। यद्यपि राधा के आने का समय अभी व्यतीत नहीं हुआ था; यद्यपि अभी सूर्य्य, पृथ्वी और आकाश की मिलन-रेखा पर खड़े थे और उनके पश्चिम-प्रासाद में प्रवेश करने में अभी १० मिनट की देर थी, फिर भी प्रेमतीर्थ के मन में कभी

कभी निराशा का उदय हो जाता था। राधा के अपरूप सौन्दर्य्य ने उनके हृदय में भी लालसा को प्रदीप्त कर दिया था। इसी लिये, वे यह चाहते थे कि किसी भी भाँति हो, राधा को रङ्गपुर से ले जाना ही ठीक होगा। राधा की दुखी दशा ने, उसके कल के व्यवहार ने तथा उसकी सलज्ज संकोचमयी स्वीकृति ने उनके हृदय में सफलता की आशा उत्पन्न कर दी थी और वे बड़ी उत्कण्ठा के साथ तीसरे पहर से ही उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, यद्यपि उन दोनों का मिलन समय संध्या का धूसर काल निश्चित हुआ था। प्रेमतीर्थ वास्तव में क्या थे?—इस बात का संक्षिप्त परिचय हम दे ही चुके हैं। आज उस दया-शून्य निर्मल हृदय में भी रमणी के सौन्दर्य्य ने अपने लिये स्थान कर लिया था। वास्तव में स्त्री का सौन्दर्य्य एक अद्भुत इन्द्र-जाल है, जिससे बच कर निकलना एकान्त दुस्तर है। रमणी की लावण्य-ज्वाला में आज से नहीं, सृष्टि के आदि प्रभात ही से, बड़े बड़े पुरुष पुङ्गव पतङ्ग की भाँति पतित होते रहे हैं। तब बिचारे प्रेमतीर्थ का तो कहना ही क्या है? एक दिन वह परम अहङ्कारी ऋषि विश्वामित्र सब कुछ भूल कर मैनका के विमल सौन्दर्य्य में निमग्न हो गया था; एक दिन वह शान्त-सन्यासी पाराशर मत्स्यगन्धा के यौवन को देखते ही सच्चिदानन्द की उपासना को विस्मृत करके अनङ्ग की उपासना करने लग गया था और एक दिन स्वयँ भक्त-श्रेष्ठ नारद राज-कन्या के ललित लावण्य पर विमुग्ध होकर बन्दर बन गये थे! इसी लिये हम कहते हैं कि बलिहारी है स्त्री के सौन्दर्य्य की! इसमें अपूर्व शक्ति है। परन्तु शक्ति का जिस ओर

प्रयोग किया जाता है, परिणाम भी उसका वैसा ही होता है। जहाँ एकान्त निर्जन वन में, विमल कल्लोलिनी के विहङ्ग कूजित दुकूल पर, उषा की शान्ति-श्री में हँसता गुलाब योगी के हृदय में आनन्द की धारा प्रवाहित कर देता है, वहाँ वही प्रस्फुटित गुलाब, रङ्गमयी रङ्गभूमि पर मदमत्त गति से नृत्य करती हुई लावण्यमयी वाराङ्गना के केश कलाप की शोभा बन कर, कामुक हृदय में तीव्र वासना को जागृत कर देता है। माता का सौन्दर्य्य पुत्र की शान्ति का निकेतन है; उर्वशी का लावण्य काम-लीला की रङ्गभूमि है। इसी लिये हमने कहा है कि सौन्दर्य्य की शक्ति का संसर्ग ही उसके स्वरूप को निर्माण करता है। राधा के सुन्दर मुख की शोभा प्रेमतीर्थ के हृदय में दुखी बहिन की स्मृति उत्पन्न कर देने की शक्ति नहीं रखती थी, क्योंकि राधा के हृदय में रस-रङ्ग की आकाँक्षा प्रखर रूप से प्रदीप्त हो रही थी। उधर प्रेमतीर्थ की आँखों में भी रमणी के सौन्दर्य्य में आदि-माता की शोभा की झलक देखने योग्य तपोमयी शक्ति नहीं थी, जिससे राधा के उस देव-दुर्लभ लावण्य को देख कर वे भगवती की प्रतिमा के समान भक्ति और श्रद्धा से उसकी मानसिक आराधना करते। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उधर राधा के हृदय में थी रसरङ्ग की प्रदीप्त आकाँक्षा और इधर प्रेमतीर्थ के मन में थी आनन्द-भोग की उद्दाम अभिलाषा। दोनों ही के हृदयों की गति को अनङ्गदेव परिचालित कर रहे थे; दोनों ही एक दूसरे को अपनी प्रदीप्त प्रवृत्ति की परितुष्टि का साधन मान रहे थे; इस प्रकार प्रच्छन्न रूप से उन दोनों के परस्पर आकर्षण में स्वार्थ और

आत्म-सन्तुष्टि की अभिलाषा छिपी बैठी थी। यद्यपि हृदयों की इस मद-मूर्छित अवस्थाओं में वे दोनों उसका अस्तित्व नहीं देख रहे थे; यद्यपि वे दोनों परस्पर के खिंचाव को विशुद्ध प्रेम का प्रथम लक्षण मान रहे थे, परन्तु बात वैसी नहीं थी। प्रेम के वेष में लालसा ने उनके हृदयों पर आधिपत्य जमा लिया था। आत्म-त्याग के स्थान पर वासना ने छिपे छिपे अपना स्थान बना लिया था और विलास-वासना एवँ आनन्द भोग, आनन्द और शान्ति के कपट-वेश में दूर पर खड़े होकर उन दोनों की ओर संकेत कर रहे थे। इसी संकेत की ओर प्रेमतीर्थ और राधा, लोक और परलोक की चिन्ता को विसार कर, धर्म और अधर्म के विभेदों को विस्मृत करके, पाप-पुण्य की भावनाओं को भुला कर एवँ विधि-निषेद नियमों को अमान्य करके चलने को उद्यत हो रहे थे। एक दूसरे के लिये उन दोनों ने यमुना-तट पर मिलने का निश्चय किया था। प्रेमतीर्थ राधा के आगमन की उत्कण्ठा-पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे।

* * * * * * * * *

सूर्य्यदेव स्वयँ तो पश्चिम-प्रासाद में प्रविष्ठ हो चुके थे किन्तु अभी तक उनकी प्रभा तोरण-द्वार पर खड़ी होकर अतृप्त नयनों से देवी धरित्री की ओर देख रही थी और उनसे विदा माँग रही थी। देवी धरित्री भी, अपना हरित अञ्चल हिला कर उसका अन्तिम अभिनन्दन कर रही थीं। प्रकृति के गायक पक्षि-कुल इस करुण-मिलन का राग गा रहे थे। इधर तो दो

सखियों के परस्पर विदा होने का दुःख-दृश्य अभिनीत हो रहा था और उधर प्राची दिशा के प्राङ्गण में चन्द्रदेव सुन्दरी संध्या के साथ आनन्द-विहार के लिये पदार्पण कर रहे थे। उस समय एक ओर था करुण-वियोग का मर्म-भेदी दृश्य और दूसरी ओर था सुख-सम्मिलन का सुन्दर समारोह। इसी लिये कहते हैं कि संसार विचित्र रँगभूमि है, जहाँ सुख-दुःख, करुणा-दया, हिंसा-हत्या, सब एक ही समय में अपना अपना अभिनय करते हैं। एक ओर एक जननी के गर्भ से पुत्र की उत्पत्ति होती है और दूसरी ओर दूसरी माता की गोद सूनी हो जाती है। एक प्रेमी एक ओर आनन्द से उन्मत्त होकर प्रिया का आलिङ्गन करता है, दूसरी ओर प्रेमिका के मरने पर प्रेमी विष-पान करता है। इस सान्ध्य दृश्य ने प्रेमतीर्थ के हृदय में इसी प्रकार के विचार उत्पन्न कर दिये थे। वे संसार की विचित्र लीला पर विचार कर रहे थे। उसी समय सान्ध्य-श्री शोभित यमुना-दुकूल पर, स्वर्ग वाराङ्गना उर्वशी की भाँति, गजेन्द्र-गति से, सुन्दरी राधा ने प्रवेश किया। जैसे प्रफुल्ल शोभामयी नटी के प्रवेश करने से आलोकमयी रँगभूमि की शोभा और भी दैदीप्य-मती हो उठती है, उसी प्रकार अनिन्द्य सुन्दरी राधा के प्रवेश से प्रकृति-चित्रित दुकूल की सुन्दरता सहसा बढ़ गई। प्रेमतीर्थ ने विमुग्ध-विस्मित दृष्टि से राधा के उस विलासमय प्रवेश को देखा।

राधा का सौन्दर्य्य आज अपूर्व शोभा से विलसित हो रहा था। सन्ध्या की प्रफुल्ल-श्री ने यमुना के दुकूल को मधुर रँग-

भूमि बना दिया था; इसी लिये उस समय राधा का प्रवेश एक देखने योग्य दृश्य था। धीरे धीरे आकाश मण्डल के प्राची-प्राङ्गण में चन्द्रमा का उदय हो रहा था; शीतल समीर बह रही थी। यमुना का मधुर कल कल पक्षिकुल के कोमल राग में मिल कर उस रँगभूमि को मुखरित कर रहा था; मद प्रवाहित हो रहा था, रस बरस रहा था, आनन्द थिरक रहा था, शान्ति ताल दे रही थी और उस मधुर दृश्य के बीच में सजीव सुन्दरता की भाँति राधा प्रेमतीर्थ को देख कर मुस्करा रही थी। वह उन्मत्त करने वाला अभिनय था। इस अभिनय में अनङ्ग लीला का उद्दाम-उच्छ्वास हिल्लोलित हो रहा था। प्रेमतीर्थ के अधर पर भी हास्य की एक अस्फुट रेखा प्रकट हुई, किन्तु इस समय वे विमुग्ध थे; एक दृष्टि से वे राधा के उस उद्दाम लावण्य को देख रहे थे। उस समय प्रेमतीर्थ ऐसे प्रतीत हो रहे थे, मानो सन्यास वेष-धारी देवेन्द्र, सान्ध्य-श्री के विलास में, कलकल वाहिनी नदी के तट पर, प्रकृति के सजाये हुये तपोवन में, खड़े होकर त्रिभुवन-सुन्दरी अहल्या को विमुग्ध दृष्टि से देख रहे हों और राधा भी उस समय ऐसी आभासित होती थी मानों अनिन्द्य सुन्दरी गौतम अहिल्या, सुरेश्वर के उस दिव्य सौन्दर्य्य को देख कर, आन्तरिक अनुराग से विभोर हो रही हो। दोनों उस समय आनन्द के सागर में निमग्न थे; दोनों के मन-मन्दिर एक मदमयी स्फूर्ति के विलास से आलोकित हो रहे थे, दोनों के भाव-भवन में काम प्रवृत्ति उन्मत्त नृत्य-लीला में प्रवृत्त हो रही थी। संसार का अस्तित्व वे भूल गये थे, उन्होंने जगत् की

सारी चिन्ताओं को तिलाञ्जलि दे दी थी। उस समय केवल वे दोनों थे, वे दोनों, जो एक के चुम्बन के लिये आकुल, दृढ़ आलिङ्गन के लिये व्याकुल एवँ एक दूसरे के चरणों पर अपने सर्वस्व का बलिदान करने के लिये उत्कण्ठित हो रहे थे। प्रेमतीर्थ ने देखा, राधा धीरे धीरे मुस्कराती हुई उनकी ओर आ रही है, वे भी मन्द मन्द हँसी के साथ उसकी ओर अग्रसर हुये।

सच पूछिये तो इस समय न तो राधा को यह स्मरण था कि वह प्रेमतीर्थ के पास क्यों आई है और न प्रेमतीर्थ ही को यह याद था कि उन्होंने उसे क्यों बुलाया है? कहने का तात्पर्य यह है कि कल प्रेमतीर्थ और राधा में जो बातें हुई थीं; प्रेमतीर्थ ने साधना, तप, अनुष्ठान की जो ऊँची डींगें हाँकी थीं; वे सब इस समय उन दोनों के लिये गत जीवन की विस्मृत घटनावली के समान हो रही थी। इस समय तो वे दोनों दूसरे ही भावों को लेकर एक दूसरे के प्रति अग्रसर हो रहे थे।

प्रेमतीर्थ ने आगे बढ़ कर राधा का कर-पल्लव अपने हाथ में लिया। राधा ने कोई बाधा नहीं की। दोनों के शरीरों में बिजली की धारा सी दौड़ गई। प्रेमतीर्थ के विषय में तो हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते, पर राधा ने आज तक ऐसे उल्लास का अनुभव नहीं किया था। कितना मदमय, कितना उच्छ्वासमय कितना आनन्दमय वह स्पर्श था? राधा को उस समय ऐसा प्रतीत हुआ मानों वह उस समय स्वर्ग-भूमि पर विहार कर रही है।

प्रेमतीर्थ ने कहा—"सुन्दरी! चलो! वन के भीतर चलें। यहाँ पर हम दोनों की बातें किसी के कानों में नहीं पड़ सकती हैं।"

राधा ने कहा—"चलो।"

दोनों वन की ओर अग्रसर हुये। बड़े बड़े वृक्षों के पीछे जाकर वे अन्तर्हित हो गये।

शैतान की विजय हो गई। धर्म, पुण्य और समाज सब देखते रहे; विधि, विश्व और विबुध गण सब मूक होकर खड़े रहे; शैतान अपने हृदय पर विजय-माल्य धारण करके विहार करने लगा। रोकना तो दूर, सौन्दर्य्य ने उसे सहायता दी, विलास ने उसके पथ को परिष्कृत किया, शृङ्गार उसका कवच हो गया, और अनङ्ग उसका परम सहायक बन गया। शैतान सुन्दर पिशाच बन कर विहार करने लगा।

वास्तव में यह जानना कठिन है कि कौन से कुसुम के नीचे कृष्ण-सर्प छिपा बैठा है। विष-कन्या के अधर पर विलसित होता हुआ हास्य हलाहल अमृत-धारा के समान प्रतीत होता है। माया की यह कैसी मरीचिकामयी लीला है?

पैंतीसवाँ परिच्छेद

ब्राह्मण की प्रतिज्ञा

लगभग सारा दिन बसन्तकुमार को काठी ही पर बीता। अवश्य ही कई बार काठी पर से उतर कर उन्होंने स्वयँ भी पानी पिया था और घोड़े को भी पिलाया था। जब सूर्य्य-देव मध्यान्ह-गगन में स्थिति थे, उस समय उन्होंने यमुना की एक काछ के तट पर बैठ कर फल खाये थे जो चलते समय अन्नपूर्णा ने भाई के लिये रख दिये थे तथाच शीतल जल पीकर, तृषा को शान्त किया। पर वे राजेन्द्र और सुभद्रा के पास पहुँचने के लिये इतने व्यग्र हो रहे थे कि कहीं पर, किसी सघन-वृक्ष की सुशीतल छाया में भी, उन्होंने आध घंटे के लिये विश्राम नहीं किया। जिस समय की बात हम कह रहे हैं उस समय धीरे धीरे प्राची-दिशा के प्राङ्गण में सन्ध्या सुन्दरी के शुभ आगमन का मुहूर्त सन्निकट आ रहा था। उन महिमामयी देवी का स्वागत करने के लिये उस समय सारा विश्व उद्विग्न हो रहा था। वायु विकसित पुण्य-राशि से मधुर शीतल मकरन्द एकत्रित कर रहा था; जो सुमन-समूह, दिन भर के सूर्य्य-संताप से परिम्लान हो गया था, वह भी इस समय

अपनी समस्त शोभा के साथ हँसने लगा था। विहङ्ग-कुल अपने अपने पल्लव और पुष्पों की बन्दरवार से सजे हुये घोसलों के तोरण द्वार पर स्थिति होकर संध्या-देवी का स्वागत-राग अलाप रहे थे। यद्यपि इस समय सूर्य्यदेव पश्चिम-प्रासाद में प्रविष्ठ हो गये थे, पर अभी उनकी विमल तेजोराशि वहाँ पर दैदीप्य-मान हो रही थी और उसके मनोरम प्रताप से प्रतीची का प्राङ्गण प्रकृति-चित्रशाला का एक अभिनव आनन्दमय दृश्य हो रहा था। दिन का कठोर परिश्रम विश्राम की कुटी में पहुँच चुका था और उस पवित्र कुटीर के अभ्यन्तर से शान्ति की सुमधुर रागिनी उत्थित होने लगी थी। अपने भावों में निमग्न होकर वसन्तकुमार घोड़े पर सवार होकर चले जा रहे थे। प्रकृति का उस समय ऐसा शान्त-मनोरम स्वरूप था कि इतनी भाव-तल्लीनता होते हुये भी वे बार बार पश्चिम दिशा की ओर उत्सुक नयनों से देखने लगते थे। थोड़ी दूर पर हरा-भरा आम्र-वन था; इधर उधर दूर तक स्वर्ग और पृथ्वी की मधुर मिलन-रेखा तक हरे हरे खेतों की श्रेणी चली गई थी और धीरे धीरे उन पर स्निग्ध छाया का मनोरम साम्राज्य विस्तृत होता जाता था। ऐसा प्रतीत होता था मानो प्राची-दिशा एक मनोहर चित्र-पट है; आम्र-कानन उसी चित्र-पट पर अङ्कित है; और उसी के ऊँचे ऊँचे वृक्षों के पीछे सूर्य्यास्त का महासमारोह हो रहा था। अब भी सूर्य्यदेव की तेजोराशि ऊँचे ऊँचे वृक्षों की सब से ऊँची पल्लव-राशि का चुम्बन कर रही थी। इसी लिये भावों के प्रबल प्रवाह में मग्न होकर भी वसन्त-

कुमार इस मधुर प्रकृति-शोभा को देखने से अपने उत्सुक नयनों को विरत नहीं कर सके। उस मधुर साँध्य-श्री ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर ही लिया। परन्तु इसमें सन्देह है कि जो किन्हीं विशिष्ठ विचारों के प्रवाह में शिखा पर्य्यन्त निमग्न रहता है, उसके हृदय में प्रकृति-माधुरी उन आनन्दमय उल्लास-मय भावों को उतने विपुल अंश में उत्पन्न नहीं करती है, जितने उस कवि के रसमय मन-मन्दिर में, जो प्रकृति की नित्य-नूतन सौष्ठव-लक्ष्मी पर बलि बलि जाता है। उस आम्र-वन के उस पार ही विलासपुर की सीमा प्रारम्भ होती है, और वहीं इस समय राजेन्द्र और सुभद्रा ठहरे हुये हैं। परन्तु जैसे जैसे विलास-पुर निकट आता जाता था, वैसे वैसे उनकी उद्विग्न उत्कण्ठा का ताण्डव नृत्य भी विशेष उच्छृङ्खल और उद्दण्ड होता जाता था। उनके मुख-मण्डल पर क्षण क्षण में भावों का पट परि-वर्तित होता था। कभी उनके मधुर अधर पर विकल हास्य-रेखा उत्पन्न हो जाती थी; तो कभी उनके विशाल लोचनों में आँसुओं के दो बूँद झलक उठते थे। इस प्रकार विचारों और विकारों की तीव्र-गामिनी सरिता के प्रवाह में वे बहे जा रहे थे। धीरे धीरे विलासपुर की वह मधुर सीमा सन्निकट आती जाती थी। धीरे धीरे सान्ध्य-श्री की शोभा यामिनी की स्निग्ध छाया में विलीन होती जाती थी। महिमा का समारोह धीरे धीरे पूर्ण शान्ति में विलुप्त होता जाता था।

परन्तु उनका सर्वोपरि भाव यही था—"सुभद्रा तो मुझे अपना छोटा भाई मानती है और मैं उसके प्रति ऐसी कुत्सित

वासना को हृदय में परिपुष्ट कर रहा हूँ। उसका विचार मात्र मेरे हृदय में ग्लानि की अग्नि उद्दीप्त कर देता है। जब वह सरल सरस स्नेहमयी वाणी में मुझे सम्बोधन करके कहेगी 'भाई' और फिर उसी विशुद्ध प्रेममयी भाषा में बापूजी और अन्नपूर्णा के कुशल समाचार पूछेगी, तब मैं किस प्रकार उसकी ओर देख सकूँगा। यह माना कि वह यह नहीं जानती है कि मेरा हृदय, दारुण वासना ने स्मशान के समान बना रखा है परन्तु फिर भी मैं कैसे, किस निर्लज्ज रीति से, उससे आँखें मिला सकूँगा?"—इसी दारुण समस्या से उनका विवेक व्याकुल हो रहा था और उनका हृदय उस मर्मभेदी परिस्थिति की कल्पना मात्र से काँप उठता था। जैसे जैसे वह आम्र-कानन सन्निकट आता जाता था, तैसे तैसे वह समस्या और भी भीषण और जटिल होती जाती। उनकी सुदूर यात्रा की तो समाप्ति सन्नि-कट थी किन्तु उस जटिल समस्या की ग्रन्थि सुलझती नहीं दिखाई देती थी। कल्पना-लोक में उद्भ्रान्त विचारों का समूह, उन्मत्त की भाँति, इधर उधर प्रधावित हो रहा था; बसन्तकुमार उन्हें एक सूत्र में गुम्फित नहीं कर पाते थे; उनका बुद्धि-केन्द्र प्रज्वलित ज्वाला की यज्ञ-वेदी बन रहा था जिससे तर्क और विश्लेषण की आहुति दी जा रही थी; उनकी स्वतन्त्र आत्मा, उनकी उस पापमयी वासना की स्पष्ट रूप से तीव्र स्वर में भर्त्सना कर रही थी। कैसा चमत्कार-पूर्ण अभिनय था? एक ही पुरुष की हृदय-भूमि पर एक ही समय में दो प्रकार की प्रबल प्रवृत्तियों का उद्दण्ड ताण्डव-नृत्य हो रहा था, एक ही रंगभूमि

पर एक ही काल में दो प्रकार के भावों का विवाद अथवा विलास अभिनीत हो रहा था। यद्यपि अनुभव-शून्य प्रेम प्रवृत्ति लालसा के प्रबल प्रलोभन में देवी सुभद्रा के प्रति अनङ्ग वासना के स्वरूप में प्रधावित हुई थी पर वसन्तकुमार का शुद्ध विवेक बार बार उसे उस ओर जाने से वर्जन करता था और स्पष्ट शब्दों में उसकी नीचता का विरोध कर रहा था। प्रेम की उद्दाम प्रवृत्ति पर यद्यपि पिशाच ने अपना पूर्ण प्रभाव डाल रखा था पर आत्मा वैसी ही उज्ज्वल थी; विवेक वैसा ही निर्मल था। यह इसी अटल धार्मिक आस्था का मंगल-परिणाम था कि वसन्तकुमार उस हाहाकारमयी वासना के हृदय-दुर्ग पर अधिकार कर लेने पर भी धर्म-पथ से एकान्त विचलित नहीं हुये थे; अपने मन की प्रचण्ड ज्वाला को वे अपने मन ही में दबा कर रखने में अब तक समर्थ हुये थे। उन्होंने उस आग के नाम पर लालसा-लुब्ध युवकों के समान, कुमारी का कौमार्य्य और विधवा का सतीत्व परिभ्रष्ट करके उनका समस्त जीवन अग्निमय बनाने की कुत्सित चेष्टा नहीं की थी; इसे उन्होंने धर्म, विश्वास और त्याग के प्रतिकूल माना था। वह नहीं चाहते थे कि देवी सुभद्रा की अमूल्य पवित्रता, उनका पावन सतीत्व, उनका उज्ज्वल गौरव, उनकी शीतल शान्ति एवँ उनकी चिर साधना को वे अपनी पापमयी वासना की बलि-वेदी पर बलिदान करने का पाप-प्रयत्न करें। सुभद्रा को न पाकर वे जितने दुखी थे, उससे कई हज़ार गुना दुखी वे उस समय होते जब देवी सुभद्रा सी बाल-ब्रह्मचारिणी विधवा उनके उस वासनामय अनुराग का सादर अभि-

नन्दन करके परमात्मा के शुभ नाम से भी पवित्र अपने उज्ज्वल सतीत्व को तिलाञ्जलि दे देती। बसन्तकुमार ने सदा अपने हृदय को यह कह कर प्रबोध दिया कि स्वयँ जल जाना अच्छा है, पर अपनी आकुल ज्वाला को शान्त करने के लिये अपने आश्रयदाता ऋषि-तुल्य बापूजी की पवित्र ब्रह्मचारिणी विधवा कन्या को परिभ्रष्ठ करना जघन्य महापाप है। उनका वासनामय हृदय उनके इस विमल तर्क से भले ही परितुष्ठ न हुआ हो, पर उनकी सहजा महत्ता ने, उनकी अचल धार्मिक आस्था तथाच भगवती की महा महिमा के प्रति उनके अखण्ड उज्ज्वल विश्वास ने, उनके इस मधुर पवित्र तर्क को सादर स्वीकार कर लिया। उनकी अन्तरात्मा ने अपना अन्तिम निर्णय इन शब्दों में उद्घोषित किया कि बसन्तकुमार को अपनी प्रदीप्त पाप-वासना की परिशान्ति के लिये बाल-ब्रह्मचारिणी सती सुभद्रा की चिर शान्ति और अखण्ड सतीत्व को परिभ्रष्ठ करने का रत्ती भर भी नैतिक अधिकार नहीं है। हज़ार बिच्छुओं के दंशन की जैसी वेदना सह कर भी बसन्तकुमार पुण्य-पथ से विचलित नहीं होगा; ब्राह्मण-कुमार बसन्त ने उस पवित्र संध्या की स्निग्ध छाया में, महामाया प्रकृति परमेश्वरी को साक्षी बना कर, यह अटल-अचल प्रतिज्ञा की। देवताओं ने इस ब्राह्मण-कुमार के इस विमल, किन्तु कठोर असि-व्रत धारण करने पर उसे मंगलमय आशीर्वाद दिया और भगवती राजराजेश्वरी कल्याण सुन्दरी ने मातृ-ममता से उस कुमार का अभिनन्दन किया।

बसन्त ब्राह्मण कुमार था; राजेन्द्र के उदार विचारों से उसके

विचार का वैसा साम्य नहीं था। उसके विचारों में ब्राह्मणत्व का अहंकार और गौरव गुम्फित थे। इसी लिये वह कुछ कट्टर था। उसे सदा इस बात का ध्यान रहता था कि वह एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण वंश का कुमार है; उसे प्राण-विसर्जन कर के भी धर्म का परिपालन करना चाहिये और दारुण विपत्ति-राशि के मध्य में स्थित होकर भी उसे पाप के प्रलोभन और शैतान की विभूति को लात मार देना चाहिये। उसे इस बात का अहङ्कार था कि वह ब्राह्मण का बालक है; इसी लिये ब्राह्मण के अयोग्य कर्म करने में उसे भारी संकोच और ग्लानि होती थी। यद्यपि देवी सुभद्रा के प्रदीप्त सौन्दर्य्य ने उसके प्रवृत्ति-मन्दिर में वासना को जागृत कर दिया था; पर फिर भी वह अपनी उस दारुण काम-वासना को दमन करने का भगीरथ प्रयत्न करता था। वह यह नहीं चाहता था कि वह धर्म और लोक की दृष्टि में नीच बन कर अपने नैतिक पतन के साथ साथ ब्राह्मण-कुमारी बाल-विधवा को भी विश्व की आँखों में हेय और धर्म की दृष्टि में पतित बना दे।

बसन्तकुमार के मानसिक लोचनों के सामने देवी सुभद्रा की वैराग्य विभूषिता मूर्ति खड़ी थी। वह कल्पना कर रहे थे कि देवी सुभद्रा बड़े प्यार से उन्हें सरल पवित्र 'भाई' शब्द के द्वारा सम्बोधन करके बापूजी और अन्नपूर्णा तथा अन्य प्रिय परिजन और परिचारिकाओं के कुशल समाचार पूछ रही हैं। बसन्तकुमार बड़ी कठिनता से वाणी और शरीर के विकम्पन को रोक कर विनम्र बदन होकर, उनको उत्तर दे रहे हैं। इस प्रकार का

मानसिक चित्र उनके सामने था। वह उस दृश्य की माधुरी तथा विचित्रता में तल्लीन था। घोड़ा धीरे धीरे चला जा रहा था। सन्ध्या का सौन्दर्य्य धीरे धीरे यामिनी की अन्धकार में विलीन होता जा रहा था; समस्त विश्व पर छायामयी शान्ति का प्रभाव विस्तृत होने लगा था। जब वह आम्र-कानन की प्रथम सीमा पर पहुँचे ही थे, उसी समय उनके कानों में एक करुण चीत्कार पड़ा—"रक्षा करो! रक्षा करो!! बचाओ!!!"

शान्ति का छायामय वायुमण्डल विकम्पित हो उठा; उस मर्मभेदी गुहार के संस्पर्श से नैश-वीणा झङ्कृत हो उठी।
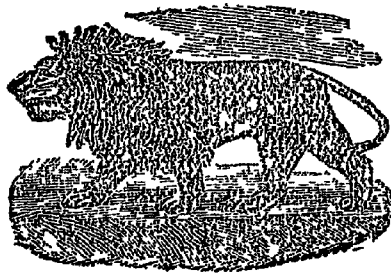
छत्तीसवाँ परिच्छेद

भागवती सहायता

म्पा जानती थी कि वह पाप कर रही है। उसका हृदय, उसकी बुद्धि, उसकी अन्तरात्मा सब उसे इस पाप-कर्म के लिये भर्त्सना कर रहे थे, पर उस पाप-कर्म से विरत होने का उसे साहस नहीं होता था। पापी को प्राण अत्यन्त प्यारे होते हैं। चम्पा को इस विषय में पूर्ण विश्वास था कि यदि वह इस पाप-पथ पर अग्रसर नहीं हुई तो ठाकुर यदुनन्दनसिंह उसका प्राण लेकर ही छोड़ेगा और प्राण भी लेगा बड़ी यातना के साथ! कौन जाने वह जीते जी उसे कुत्तों से नुचवावे, तिल तिल करके उसके शरीर को जलावे अथवा रत्ती-रत्ती उसका माँस काट कर कुत्तों को खिला दे। चम्पा जानती थी कि ठाकुर यदुनन्दनसिंह पूर्ण शैतान है; उसने कई बार देखा था कि उस नृशंस ठाकुर ने साधारण से अपराधों पर, कितने ही नर-नारियों की हत्या कर डाली थी। एक विधवा स्त्री ने अपनी युवती कन्या को उसके पास भेजने से इन्कार कर दिया; उसने उस स्त्री के नाक-कान कटवा लिये; कन्या का सतीत्व तो नष्ट कर ही डाला!

एक दिन एक ब्राह्मण युवक ने उसे क्रोध में आकर एक अपशब्द कह दिया था; उसने उसकी जीभ कटवाली; बेचारा तड़फ़ तड़फ़ कर मर गया। सारा गाँव उस ममता-शून्य शैतान के त्रास से काँपता था। गाँव में क्या, दस दस कोस चारों ओर ऐसा कोई साहसी नहीं था, जो उसके विरुद्ध छाती फुला कर खड़ा हो। तब पतिता चम्पा का इतना साहस कहाँ कि वह उसके साथ विश्वासघात करके धर्म का पक्ष ग्रहण करे! इसमें सन्देह नहीं कि चम्पा की अन्तरात्मा उसे इस पाप-कर्म के अनुष्ठान से विरत कर रही थी और उसका विवेक उसे बता रहा था कि उस पाप-कर्म के कारण उसे शत-कोटि वर्षों तक रौरव नरक की यातना भोगनी पड़ेगी। पर चम्पा प्राणों की रक्षा के लिये परलोक के भावी दण्ड को भोगने के लिये उद्यत हुई!

उस दिन, दिन भर, चम्पा उदास रही उसके मन-मन्दिर में धर्म और अधर्म, शिव और शैतान, पाप और पुण्य का भयंकर संग्राम हो रहा था। कई बार उसकी यह इच्छा हुई कि वह देवी सुभद्रा के श्रीचरणों पर गिर कर उस कुटिल षड्यन्त्र की सब बातें प्रकट कर दे और उनसे प्रार्थना करे कि वे उसकी रक्षा करें पर उसका उतना साहस नहीं हुआ। उस समय उसकी वही दशा थी जो एक दिन त्रेतायुग में मारीचि की हुई थी। लंकेश्वर रावण सीता-हरण में उसकी सहायता माँगता था; मारीचि जानता था कि सहायता देने से पराङ्मुख होना जीवन की जलाञ्जलि देना है। निशाचर-राज ने मारीचि से स्पष्ट शब्दों

में कह दिया था—"या तो मृत्यु को स्वीकार करो या मेरी सहायता करना अङ्गीकार करो।" अन्त में मारीचि ने यह निश्चय किया कि लङ्केश्वर के हाथ से मरने की अपेक्षा भगवदावतार श्रीरामचन्द्र जी के बाण से मरना अच्छा है। चम्पा ने भी यही निश्चय किया कि यदि हो सका तो मैं देवी सुभद्रा को घटना-स्थल पर प्राण देकर बचाने की चेष्टा करूँगी। वह चेष्टा चाहे सफल हो या विफल, पर चम्पा ने यह संकल्प कर लिया कि वह अपने प्राणों से इस पाप-कर्म का प्रायश्चित करेगी। उसने घटना-स्थल पर लाठी अथवा पिस्तौल से मरना अङ्गीकार किया, पर षड्यन्त्र को प्रकट करके नृशंस ठाकुर की क्रोधाग्नि में तिल तिल करके जलना उसने स्वीकार नहीं किया। अनेक पुरुष समराङ्गण में हँसते हँसते प्राण दे सकते हैं, पर टिकटिकी से बाँधे जाकर बेंतो के तीव्र प्रहार से वे हाहाकार करने लगते हैं। विष खा कर प्राण-विसर्जन करना सरल है, पर अग्नि में भस्म होना कठिन है। रेल के नीचे कट कर मर जाना सहज है पर शर-शय्या पर ६ महीने तक विश्राम करके प्राण-त्याग करना किसी विरले योगी का ही काम है। दधिचि की महिमा इसलिये नहीं है कि उन्होंने प्राण-दान कर दिया; उनकी महिमा का मूल कारण है, उनका तिल तिल करके गायों को अपने शरीर के माँस खिला देने में और इस प्रकार अपने अस्थि-पिञ्जर के समर्पण करने में। उज्ज्वल आत्म-विश्वास, अखण्ड वैराग्य एवं शान्तिमय आत्मानन्द—इन तीनों की मधुर शीतल त्रिवेणी जिसके जीवन-तीर्थ में प्रवाहित होती हैं, वह शारीरिक व्यथाओं को अमान्य करके,

शोक, रोग, व्याधि, वेदना, दुःख इन सब की ओर से उदासीन भाव धारण करके, हँसते हँसते प्राण दे सकता है। अनेक जन प्राण दे देते हैं, अनेक कायर आत्म-घात कर लेते हैं, पर अपने शरीर की खाल खिंचवा कर, अपनी आँखों में लाल लोहा प्रवेश करा कर, अपने कलेवर पर तप्त तैल-बिन्दु की वर्षा करा कर, वही मन्द मन्द मुस्कराता हुआ प्राण दे सकता है, जो मुक्तात्मा है, जो विदेह है, जो जीवन्मुक्त है। चम्पा प्राण देने को तो प्रस्तुत हुई, पर दारुण-यातना को सह कर मरने का उसे साहस नहीं हुआ। इसी लिये अपनी अन्तरात्मा की आज्ञा को अमान्य करके, अपने विवेक की वाणी को बेसुनी करके, अपने मन की उपदेशावली को अनसुनी करके, चम्पा ने उस षड़यन्त्र को प्रकट नहीं किया। स्वयँ दारुण-यातना से बचने के लिये उसने सती के सतीत्व को भय-सँकुल बना दिया।

सुभद्रा के साथ जो पुरबिया सिपाही आया था, उसका नाम था बलभद्रसिंह। बलभद्रसिंह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे, लाठी के अत्यन्त प्रेमी होने के कारण और साथ ही साथ युद्ध व्यापार के लिये सदा समुद्यत रहने के कारण उन्हें जनता ने 'सिंह' की उपाधि से विभूषित किया था और बलभद्रप्रसाद से वे बल-भद्रसिंह बन गये थे। इस समय उनकी अवस्था लगभग ५५ वर्ष की थी, पर वृद्धावस्था की इस संध्या में भी उनके शरीर में मस्त हाथी के समान बल था। यद्यपि उनकी दाढ़ी सफ़ेद हो गई थी, पर उनके मुख पर वृद्धत्व की धूसर छाया की एक रेखा तक नहीं थी। उन्हें बापूजी के पास नौकरी करते ३५ वर्ष

हो गये; सुभद्रा उन्हीं के सामने पैदा हुई; उन्हीं के सामने उसका विवाह हुआ; और उन्हीं के सामने वह विधवा हुई। सुभद्रा और राजेन्द्र दोनों बलभद्रसिंह का वैसा ही आदर करते थे, जैसा भगवती शान्ता का श्रीकृष्ण और भगवान् रामचन्द्र मन्त्रिराज सुमन्त का सम्मान करते थे। बलभद्रसिंह यद्यपि उनके यहाँ साधारण सिपाही थे, पर वे परिवार ही के एक जन हो गये थे और उन पर ज़िमींदार का पूर्ण विश्वास था। सच पूछिये तो ज़िमींदार उन्हें सहोदर के समान स्नेह करते थे और वे भी राजेन्द्र और सुभद्रा को अपनी दोनों आँखों के समान मानते थे। बलभद्रसिंह के कोई नहीं है; यौवन के प्रथम प्रभात में वे एक सुन्दरी पर आसक्त हो गये थे; उस सुन्दरी का दुर्भाग्य से देहान्त हो गया; बलभद्र ने भी अपनी समस्त यौवन-श्री को, अपनी प्रेम की पवित्र प्रवृत्ति उसी स्वर्गीय सुन्दरी की स्मृति के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया; उन्होंने फिर विवाह नहीं किया। वे बाल ब्रह्मचारी हैं; आज तक किसी ने उनके आचरण में सन्देह नहीं किया। वे प्रकाण्ड वीर थे; प्रचण्ड योद्धा थे; भयंकर लठैत थे। उन्हें सदा इसी बात का दुःख रहा कि वे यह न जान पाये कि भय किसे कहते हैं। एक नहीं अनेक बार उन्हें पचास पचास लठैतों से अकेले सामना करना पड़ा परन्तु उस वीर ने, उन्मत्त केसरी की भाँति, कभी पीछे पैर नहीं हटाया। उनके वैरी भी उनकी वीरता पर विमुग्ध थे; उनकी लाठी के जौहर पर आशिक़ थे।

इन्हीं वीर बलभद्रसिंह को साथ लेकर देवी सुभद्रा सती-

समाधि की समर्चना करने के लिये जाने वाली हैं। किसी न किसी प्रकार अपनी उदासी को दबा कर चम्पा ने व्यंग्य भरी वाणी में हँसते हँसते कहा—"महाराज! आज ज़रा भयंकर लट्ठ लेकर चलना। जङ्गल में सिंह इत्यादि का भय रहता है। सम्भव है, उनसे मुठ-भेड़ हो जाय।"

बलभद्रसिंह ने वीर दर्प के साथ हँस कर उत्तर दिया—"मेरे लट्ठ का नाम भैरव है। उसका एक आघात खा कर आज तक किसी ने पानी नहीं माँगा। अपने जीवन में ५ सिंहों का मैंने इसी भैरव से शिकार किया है। एकाध सिंह से तो बलभद्र बिना लट्ठ के भी युद्ध कर सकता है।"

सूर्य्यदेव बड़े वेग से पश्चिम प्रान्त की ओर जाने लगे। धीरे धीरे विश्व के विशाल भवन में छाया का आधिपत्य होने लगा। बीहड़ वन-स्थली में अभी से आकर रात्रि का अन्धकार आसीन हो गया। अवसर पाते ही वह विश्व पर आक्रमण करेगा। ऐसे समय चम्पा और बलभद्र को साथ लेकर देवी सुभद्रा ने वन प्रदेश के उत्तर-प्रान्त की ओर प्रस्थान किया। चम्पा के हाथ में दीपक, चन्दन, नैवेद्य इत्यादि की थाली थी। सुभद्रा के हाथों में सुमन पुष्प-माला थी। आगे आगे थी चम्पा, बीच में थी सुभद्रा और सब से पीछे थे बलभद्रसिंह। जैसे जैसे वन की सीमा सन्निकट आती जाती थी, वैसे वैसे चम्पा का मुख-मण्डल आन्तरिक आकुलता के कारण विवर्ण होता जाता था। और वैसे वैसे उसके हृदय की ज्वाला और भी प्रदीप्त होती जाती थी। पर उसकी व्याकुल विवर्णता को सुभद्रा नहीं देख सकती

थी क्योंकि वह उसके पीछे थी। इधर प्रकृति की छायामयी सुन्दरता ने देवी सुभद्रा का ध्यान वरवश अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। अन्त में वह स्थल आ पहुँचा, जहाँ से वन-सीमा प्रारम्भ होती थी और जहाँ से वन-भवन में प्रवेश किया जाता था। चम्पा इस स्थल पर पहुँच कर क्षण भर के लिये ठहर गई। सच बात तो यह है कि उस समय चम्पा ने अपनी विक्षुब्ध मनोवृत्ति का बहुत कुछ दमन किया नहीं तो वह अवश्य मूर्छित होकर वहाँ गिर पड़ती; पर जैसे अभ्यस्त मद्-सेवी मद् की अधिकता को भी किसी न किसी भाँति रोक ही लेता है, उसी भाँति कपट-कुशल चम्पा ने अपने आकुल हृदय की अग्नि-ज्वाला की लपट बाहर नहीं आने दी। बड़ी कठिनता से उसने अपने मुख पर परिलक्षित होने वाले विक्षुब्ध भावों को मिथ्या शान्ति के आवरण से आवृत किया। वह इस कार्य्य में परम चतुर थी।

वे तीनों आगे बढ़े। चम्पा अब तक चुप थी; उसने अब तक एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया था। यह हम नहीं कह सकते कि आन्तरिक आकुलता ने चम्पा का कण्ठ रोध कर दिया था अथवा इस भय से कि कहीं विकम्पित स्वर के द्वारा उसकी व्याकुलता प्रकट न हो जाय, वह मौन धारण किये हुये थी। सुभद्रा ने पूछा—"चम्पा! समाधि अब और कितनी दूर है? चम्पा ने मुख से कुछ नहीं कहा; केवल उँगली उठा कर सामने की ओर संकेत किया। वहाँ से एकान्त निर्जन स्थल में बनी हुई लता-वेष्ठित समाधि का कुछ अंश दिखाई देने

था। समाधि पर दो चार वन्य-पुष्प इधर उधर बिखरे हुये थे और कोमल लतायें अपने पल्लव रूपी पंखों से उस पर हवा कर रही थीं। समीर उसकी धूलि साफ़ कर रहा था; और छाया अपने दिव्य पट से उसे आवृत किये हुये थी। सुभद्रा ने वहीं से अवनत-मस्तक होकर उसे प्रणाम किया। इस समय वे तीनों समाधि से लगभग २० गज़ की दूरी पर थे। चम्पा आगे थी और उसके पीछे पीछे शान्त भाव से सुभद्रा चली जा रही थी। बलभद्र सिंह पीछे पीछे कन्धे पर लट्ठ रक्खे झूमते हुए हाथी की भाँति आ रहे थे। पर चम्पा आकुल दृष्टि से इधर उधर देख रही थी; क्षण क्षण में वह दारुण विपत्ति की प्रतीक्षा कर रही थी। समाधि अब केवल १५ गज़ की दूरी पर रह गई। अब उसका बहुत सा अंश दिखाई देने लगा; उस पर पड़े हुए पुष्प समीर के गुदगुदाने से हँस रहे थे। संध्या सुन्दरी का सौन्दर्य्य छाया की साड़ी में आवृत हो रहा था। ठीक उसी समय लता वृक्षों के पीछे से ५ भयंकर लठैतों ने उस स्थल पर वेग से प्रवेश किया। पाँचों के मुखों पर आवरण था, पाँचों काले कपड़े पहिने हुए थे पाँचों कान से ऊँची लाठी बाँधे थे। उसमें जो सब का सर्दार प्रतीत होता था और जो सब के आगे था, गर्ज कर बोला—"ठहरो।"

चम्पा के हाथ से थाली छूट पड़ी। सुभद्रा के सौम्य वदन-मण्डल पर भी भय के चिन्ह प्रकट हुए; पर वीर ब्राह्मण बिजली की भाँति पीछे से आगे आगया। उसने वज्र-गम्भीर स्वर में कहा—"कौन हो तुम? और हमें इस प्रकार रोकने का तुम क्या अधिकार रखते हो?" बलभद्र सिंह का यह प्रश्न सुन कर पाँचों

के पाँचों अट्टहास कर उठे। उनके सरदार ने कहा—"अधिकार ? अधिकार की बात हमारे हाथ का यह लट्ठ बतावेगा। हट जाओ तुम; तुम्हारे साथ यह जो सुन्दरी है, उसे ही हम चाहते हैं। यदि तुम्हें अपने प्राण प्यारे हों, तो भागो; तुमसे हमारा कुछ वैर नहीं है। हम तुम्हारी हत्या नहीं करेंगे पर इस सुन्दरी को ले जाने में यदि तुम बाधा दोगे, तो विवश होकर मुझे आज ब्रह्म-हत्या करनी होगी।

इतना सुनते ही बलभद्रसिंह की आँखों से अग्नि-स्फुलिङ्ग विकीर्ण होने लगे। क्रोध से उनका तेजोमय मुख-मण्डल प्रदीप्त हो उठा। उन्होंने प्रचण्ड भैरव को संभाला। कुलिश-कठोर शब्दों में कहा— "सावधान, अब की बार यदि ऐसे शब्द तेरे मुख से निकले, तो यहीं तेरी यह लोथ तड़फती दिखाई देगी। मेरे जीते जी कौन ऐसा है जो मेरी पुत्री पर हाथ डालने का साहस करे। (सुभद्रा से) घबड़ाना मत बेटी! बलभद्रसिंह ऐसे ऐसे ५० कुत्तों को भी कुछ नहीं समझता है।"

इतना सुनते ही वह सरदार तो एक ओर को हट गया, पर उन चारों आदमियों ने एक बार ही बलभद्रसिंह पर आक्रमण किया। बलभद्रसिंह लाठी के कुशल खिलाड़ी थे; अपने भैरव पर उन्होंने चारों की लाठियाँ रोक लीं। इसके उपरान्त जब तक वे चारों संभले, तब तक उन्होंने हुँकार कर एक ऐसा हाथ मारा कि उनमें से एक निशाचर सदा के लिए धराशायी हो गया। अपने एक साथी का ऐसा परिणाम देख कर वे तीनों संभल कर आक्रमण करने लगे। तीनों ने तीन ओर से उन पर

छोड़ीं, पर धन्य बलभद्रसिंह उन्होंने तीनों ही की लाठियों को रोक लिया। वे भी उन्मत्त केसरी की भाँति आक्रमण करने लगे; पर उनके वे तीनों प्रतिद्वन्द्वी लाठी के अच्छे खिलाड़ी थे। वे भी सँभल कर अपनी रक्षा करने लगे और बलभद्रसिंह पर तीनों ओर से आक्रमण करने लगे।

इधर वह सर्दार सुभद्रा की ओर अग्रसर हुआ। उन तीनों ने इस प्रकार से आक्रमण किया जिसे वाध्य होकर बलभद्रसिंह को आगे बढ़ना पड़ा। एक आदमी उनके बाँये से उन पर लाठी छोड़ता था, एक दाहिने से और एक सामने से। कभी कभी बाँये वाला आदमी उनके ऊपर पीछे से भी आक्रमण कर बैठता था। इसी लिये बलभद्रसिंह को आगे बढ़ना पड़ता था। उधर रणोल्लास में भी वे दो-चार पग आगे बढ़ गये थे। इसी लिये सुभद्रा उनसे कुछ दूर पड़ गई। अब जो उन्होंने देखा कि वह पामर सर्दार सुभद्रा की ओर अग्रसर हो रहा है, तब तो वे बहुत उद्विग्न हुये। इधर वे तीनों इस समय ऐसा भयंकर युद्ध कर रहे थे कि बलभद्र को सुभद्रा के पास तक पहुँचना बड़ा दुष्कर हो रहा था। पर तो भी वे प्राण-पण से यही चेष्टा करने लगे कि वे किसी भाँति सुभद्रा के पास तक पहुँच जायँ। इस समय उनका वह उन्मत्त समर देखने योग्य था; उन्मत्त सिंह की भाँति वे युद्ध कर रहे थे; तीव्र सौदामिनी की भाँति उनका भैरव तड़प रहा था; बड़े तीव्र वेग से वे लाठी चला रहे थे। यद्यपि वह दो-चार पग पीछे हट आये थे, पर अब भी सुभद्रा उनसे दूर थी। उन्होंने चिल्ला-कर कहा—"घबड़ाना मत बेटी! मैं आता हूँ।" पर वहाँ तक

पहुँचना भी तो वैसा सरल नहीं था। वे तीनों पिशाच भी इस समय भयङ्कर वेग से युद्ध कर रहे थे। तब तो बलभद्रसिंह बड़े चिन्तित हुये। अन्त में उन्होंने फिर गुरु गम्भीर स्वर में कहा—"बेटी सुभद्रा! कुल की लाज रखना। युद्ध करो! पर इस पामर को जीते जी आत्म-समर्पण मत करना।" काकाजी (बलभद्रसिंह को राजेन्द्र और सुभद्रा काकाजी कहते थे) की वाणी सुन कर सुभद्रा का वह मुख-मण्डल प्रदीप्त आभा से उद्भासित हो उठा। उसने चिल्ला कर कहा—"निश्चिन्त भाव से युद्ध कीजिये; काकाजी! मैं प्राण देकर भी अपनी पवित्रता की रक्षा करूँगी।" उस समय बलभद्रसिंह अद्भुत साहस और तेज से युद्ध कर रहे थे, पर फिर भी अभी सुभद्रा दूर थी। वे तीनों उसी उद्देश्य को लेकर आक्रमण कर रहे थे कि बलभद्रसिंह सुभद्रा के पास तक न पहुँच पावे। पर बलभद्रसिंह का रोकना अब उन्हें भी एकान्त कठिन हो रहा था। मत्त गजेन्द्र की भाँति वह ब्राह्मण रोष से प्रदीप्त होकर आक्रमण कर रहा था। यद्यपि वे तीनों पग पग पर बाधा दे रहे थे, पर अब वह उन्मत्त केसरी रोके नहीं रुकता था। पर फिर भी सुभद्रा वहाँ से ९-१० क़दम पर थी। वह पामर सर्दार उन तक पहुँच गया था। यह देख कर बलभद्र और भी उन्मत्त हो गये। अब वे और भी भीषण युद्ध करने लगे और उस व्यूह को भंग करके बाहर निकलने का प्राण-पण से प्रयत्न करने लगे।

पर ज्योंही उस पामर सर्दार ने सुभद्रा को पकड़ने के लिये हाथ बढ़ाया, त्योंही वह सौदामिनी की भाँति पीछे हट

गई। उसने एक बार इधर उधर देखा; वहीं पर एक पत्थर पड़ा था। सुभद्रा ने उसे उठा लिया; पर सर्दार निर्भीक भाव से आगे बढ़ा। उसी समय सुभद्रा और सर्दार के बीच में विद्युत वेग से आकर चम्पा खड़ी हो गई। उसने रोष विकम्पित स्वर में कहा—"सावधान! मेरे जीते जी तुम देवी सुभद्रा के पवित्र शरीर पर हाथ नहीं लगा सकोगे।"

सर्दार हँसा; हँस कर बोला—"हट जाओ! इस अभिनय की आवश्यकता नहीं है, चम्पा।"

चम्पा—"ठाकुर साहिब! जब तुमने मेरा नाम लेकर यह प्रकट कर दिया है कि मैं भी इस षड्यन्त्र में हूँ, तब मैं भी आपको यह बताये देती हूँ कि मैंने प्रतिज्ञा कर ली है कि मैं अपने पाप के प्रायश्चित-स्वरूप, इन देवी की रक्षा में, जिन्हें इस विपत्ति में डालने का मैंने महापाप किया है, अपने प्राणों को विसर्जन कर दूँगी।"

पाठक समझ गये होंगे कि यह और कोई नहीं, वही ठाकुर यदुनन्दनसिंह थे। उन्होंने कुटिल व्यंग्य के साथ कहा—"आह! आज तो तुम बड़ी धर्मात्मा और पतिव्रता बन गई हो। हट जा सामने से, वेश्या! महापाप करके प्रायश्चित्त करने चली है।"

अपना यह दारुण अपमान सह कर भी चम्पा हँसी। उस हँसी में स्थिर-संकल्प की झलक थी। उसने कहा—"हाँ ठाकुर, वेश्या भी तुम जैसे शैतानों से पवित्र है। वार करो, नीच नृशंस! मैं नहीं हटूँगी।" ठाकुर ने रोष विकम्पित स्वर में कहा—"देखो

चम्पा ! मेरे पास इतना समय नहीं है। वह देखो, वह पुरबिया बढ़ता चला आता है। मैं तुम्हारी हत्या नहीं करना चाहता हूँ। इसके लिये मुझे विवश मत करो।" चम्पा ने भय-शून्य स्वर में कहा—"कुछ भी हो। मैं नहीं हटूँगी। मेरा तो उद्देश्य ही है कि वह वृद्ध वीर यहाँ तक पहुँच जाय। मैं जानती हूँ, मैं शैतान के हाथ से इन देवी की रक्षा नहीं कर सकती हूँ पर कम से कम मैं शैतान को उतनी देर के लिये रोक तो सकती हूँ, जब तक वह ब्राह्मण यहाँ तक आ जाय। आज मैंने प्राणों का मोह छोड़ दिया है।"

इतना सुन कर ठाकुर यदुनन्दनसिंह ने चम्पा पर लाठी चलाई। चम्पा पीछे हट गई। लाठी का वार ख़ाली गया। पर सुभद्रा ने इसी बीच में पीछे से ऐसी ज़ोर से पत्थर मारा कि ठाकुर के शिर से वेगवती रक्त-धारा वह चली। ठाकुर का सिर चकरा गया; पर शीघ्र ही संभल कर उसने दूसरा वार किया। चम्पा ने इसे अपने कोमल हाथों पर रोका और उसी समय वह चिल्ला उठी—"रक्षा करो ! रक्षा करो ! बचाओ !" उसके हाथों की उँगलियाँ टूट गइ। ठाकुर ने फिर संभल कर दूसरा वार किया; अब की बार लाठी चम्पा के शिर पर पड़ी और वह फट गया। चम्पा मृतक होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। चाहे आप इसे आकस्मिक घटना समझें, चाहे चम्पा का स्वेच्छाकृत कर्म; चम्पा का रक्त-रञ्जित शिर प्रदेश सुभद्रा के ठीक चरणों को स्पर्श करने लगा। ठाकुर सुभद्रा को पकड़ने के लिये आगे बढ़ा; पर उसी समय घोड़ा दौड़ाते हुये वसन्त वहाँ पर पहुँच गये।

उन्होंने आते ही घोड़ा ठाकुर पर रेल दिया; ठाकुर सँभल नहीं सका, वह गिर पड़ा। घोड़े की टाप उसके मर्म-स्थल पर पड़ गई और विश्व का एक भयंकर पिशाच नरक-धाम को चला गया। ठीक उसी समय बलभद्रसिंह का प्रचण्ड भैरव भी एक दूसरे पुरुष के सिर पर पड़ा। वह भी धराशायी हो गया। शेष दो प्राणी अपने अपने प्राणों को लेकर पलायन कर गये। बलभद्र के भी कई आघात लगे थे; पर उनकी ओर दृष्टिपात न करके वे जल्दी से सुभद्रा की ओर आये। उस समय तक बसन्त भी घोड़े पर से उतर चुके थे। उस विनाश काण्ड में तीन पिशाच और एक पिशाचिनी का बलिदान हुआ।

सुभद्रा ने फिर सरस स्वर में कहा—"भाई बसन्त! आज भगवती ने तुम्हें ठीक अवसर पर भेजा। जय हो उस मंगलमयी जननी की। आज तुमने मेरे प्राण बचाये हैं; मेरे सर्वस्व की रक्षा की है। इस ऋण से क्या मैं कभी उऋण हो सकती हूँ?"

बसन्त के हृदय में अब तुमुल संग्राम हो रहा था। उन्होंने विकम्पित स्वर में कहा—"देवि! मैंने कुछ नहीं किया है। यह सब आदि-माता की शुभ व्यवस्था ही का सुन्दर परिणाम है। मैं तो आपके चरणों में अपने सर्वस्व की बलि दे सकता हूँ।"

यद्यपि बसन्त के उन शब्दों के अन्तराल में एक विषादमयी निराशा की झलक थी; पर वह ऐसा समय नहीं था कि सुभद्रा का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होता। उसी समय

बलभद्रसिंह भी पास पहुँच गये थे। सुभद्रा ने भोले स्वर में कहा—"काकाजी! आज आपने मुझे बचा लिया। आपका प्रचण्ड रण-कौशल देखने ही योग्य था।"

बलभद्रसिंह—"बेटी! मैंने नहीं उस मङ्गलमय जगदीश ही ने सब कुछ किया है। यही उसी की प्रेरणा है कि ठीक अवसर पर बसन्त भैया आ गये; नहीं तो मैं सब कुछ करके भी तुम्हें बचा पाता या नहीं—इसमें सन्देह है। बेटी! तेरी रक्षा में भी यदि मैं युद्ध न करता, तो इस भैरव को धारण करना व्यर्थ था।"

बसन्त०—"पर यह सब काण्ड क्या था?"

बलभद्रसिंह—"मैं स्वयँ नहीं जानता। यह जो स्त्री मरी पड़ी है, यही सामने वाली सती-समाधि की पूजा करने के लिये सुभद्रा को लाई थी। यहाँ आते ही ५ आदमियों ने हमें घेर लिया और सुभद्रा को ले जाना चाहा। इसी पर लाठी चल गई। ३ की हत्या हुई, दो भाग गये।"

बसन्त०—"पर हैं यह कौन? ज़रा इनके मुख का कपड़ा हटा कर उनकी सूरत तो देखिये, काकाजी।"

बलभद्रसिंह ने उस सरदार के मुख से कपड़ा हटा दिया—पर उस मुख को देख कर वे चौंक पड़े। उन्होंने कहा—"आह! यह तो इसी गाँव के ज़िमींदार ठाकुर यदुनन्दनसिंह हैं।"

बसन्त०—"ओफ़! इतना विश्वासघात! ठीक दण्ड मिला।"

औरों के मुख के कपड़े हटा कर भी देख गये पर बलभद्रसिंह

उन्हें नहीं पहिचानते थे। पर पाठकों और पठिकाओं की जान-कारी के लिये हम बता देना चाहते हैं कि वे दोनों और कोई नहीं, छेदालाल और ज़ालिमसिंह थे। यद्यपि सुभद्रा को विदित हो गया था कि चम्पा इस षड़यन्त्र में थी पर उसने उसका रहस्य प्रकट नहीं किया। देवी सुभद्रा के उदार हृदय ने यह नहीं चाहा कि मरने के उपरान्त भी चम्पा की निन्दा हो। साथ ही साथ उन्होंने मन ही मन चम्पा को धन्यवाद दिया क्योंकि एक प्रकार से उनकी रक्षा ही में उसने प्राणोत्सर्ग किया था और यह बात उन्होंने अत्यन्त मर्म-वेदना के साथ प्रकट भी कर दी।

सूर्यास्त हो गया था। सती की समाधि पर गम्भीर छाया छा गई थी। जो भूमि थोड़ी देर पहिले प्रकृति की लीला-स्थली है, वह अब घटना चक्र से रक्त-रञ्जित युद्ध-भूमि में परिणत हो गई। सुभद्रा ने धीरे धीरे जाकर सती-समाधि के पार्श्व देश में घुटने टेक दिये। धीरे धीरे भक्ति-भरित कोमल स्वर से उन्होंने कहा—"धन्य हो सती! वास्तव में तुम्हारी महिमा अपार है। आज तुमने मेरी लाज बचाई है; मेरी पवित्रता की, मेरे प्राणों की, मेरे सतीत्व की रक्षा की है। देवि! यह तुम्हारे ही चरणों का प्रताप था कि ठीक अवसर पर बसन्त भैया आगये और काकाजी ने उन निशाचरों पर विजय पाई। यह तुम्हारी अकि-ञ्चन दासी तुम्हारे पवित्र पाद-पद्म के सादर प्रणिपात करती है। जय देवि! जय सती माता!"

कैसी मधुर विनय है? कैसा पवित्र उद्गार है? सजीव-

सती स्वर्गीया सती की समाधि पर श्रद्धापूर्वक प्रणिपात करके पातिव्रत की महामहिमा का कैसा पवित्र उद्घोष कर रही है ?

तीनों घर की ओर लौटे। उस समय रात्रि का अन्धकार अगाढ़ हो चला था और प्राची दिशा में चन्द्रदेव की प्रसन्न शोभामयी मूर्ति प्रकट हो रही थी।

सती के गौरव की रक्षा के लिये सदा ही जगन्नियन्ता सचेष्ट रहते हैं। एक दिन भरे दर्बार में उन्होंने रमणी के गौरव की रक्षा की था। उस समय शैतान को सारी शक्ति एक ओर थी; धर्म भी उस समय भयभीत हो रहा था पर तौ भी उन्होंने अन्तराल में बैठ कर द्रौपदी को नग्न होने से बचाया था।

आदि-सती ही इस विश्व की प्रवर्तिका हैं; चाहे चाप द्वारा है, चाहे शाप द्वारा—पर वह सती के सतीत्व-रत्न की रक्षा के लिये सदा समुद्यत रहती है।

सैंतीसवाँ परिच्छेद

लालसा की वारुणी

राधा और प्रेमतीर्थ, दोनों मदमय उल्लास की कलकलमयी सरिता में शिखा पर्यन्त निमग्न हो रहे थे। जप, तप, साधना, योग, अनुष्ठान इत्यादि की जो बहुत सी बातें प्रेमतीर्थ ने प्रथम-मिलन के अवसर पर राधा के सामने कहीं थीं, उन्हें वे इस समय बिसार बैठे थे और राधा भी अपने उद्दाम उल्लास में उन विरस बातों को एक बार ही विस्मृत कर बैठी थी। इस समय दोनों सम्मोहन और आकर्षण के द्वारा प्रभावान्वित हो रहे थे और विश्व की समस्त चिन्ताओं को भूल कर वे दोनों उस समय, किसी सुन्दर सुवर्ण राज्य में आनन्द पूर्वक विहार कर रहे थे। उन्मुक्त नील आकाश में चन्द्रमा हँस रहा था; शीतल-वायु वन्य-पुष्पों का पराग लेकर झूम रहा था; वन-श्री शान्त स्थिर होकर सुधाकर की सुधा-धारा में स्नान कर रही थी। प्रेमतीर्थ और राधा एक दूसरे की ओर उल्लासमयी, अनुरागमयी दृष्टि से देख रहे थे। दोनों के मुख-मण्डलों पर आन्तरिक उल्लास की अरुणिमा

नृत्य कर रही थी और दोनों के विशाल लोचनों में मदमयी लालिमा लीला कर रही थी। उस उन्मुक्त आकाश के नीचे, चन्द्रिका चर्चित वन-स्थली के उन्मुक्त मैदान में बैठे हुये वे दोनों ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो स्वर्गधाम से प्रेमियों का एक सुन्दर जोड़ा उतर कर आनन्द में निमग्न होकर बैठा हुआ है। प्रेमतीर्थ भी परम सुन्दर युवक थे; राधा भी अनिंद्य सुन्दरी थी। और उनके उस अपरूप लावण्य की रंगभूमि में उद्दाम वासना की कलकलमयी सरिता प्रवाहित हो रही थी। विश्व की चिन्तायें उनसे बहुत दूर थीं; परलोक की भावना के लिये उस समय उनके विचार-मन्दिर में स्थान नहीं था। दोनों यौवन के उद्दाम वेग में तन्मय हो रहे थे, दोनों दोनों का आनन्दमय साहचर्य पाकर आनन्द और अनुराग से विभोर हो रहे थे। राधा प्रेमतीर्थ को आँखों आँखों में वारुणी पिला रही थी; प्रेमतीर्थ राधा की उच्छ्वासित प्रवृत्ति को और भी गुदगुदा रहे थे। उस समय वे दोनों इतने तन्मय हो रहे थे कि यदि कोई उनके पास भी जाकर खड़ा हो जाता तो कदाचित् उन्हें पता नहीं चलता।

लगभग २० मिनिट तक इसी प्रकार दोनों एक दूसरे को देखते रहे। यद्यपि वे मूक थे; परन्तु उनकी मदमयी दृष्टि, उनकी अनुरागमयी भावभङ्गी, उनकी उल्लासमयी मुख-श्री, उनकी प्रसन्न हास्य-शोभा, उनके आन्तरिक भावों को उसी प्रकार प्रकट कर रही थी, जिस प्रकार महाकाव्य की कविता कवि के भावों को परिव्यक्त करती है। उनके उन भावों को वाणी के द्वारा प्रकट करना एकान्त असम्भव है; वह तो हृदय की मूक भाषा ही में

प्रस्फुट हो सकते हैं। सच पूछिये तो उस समय प्रवृत्ति का सजीव महाकाव्य प्रकृति के उस चन्द्रिका-चर्चित पट पर अङ्कित था। प्रेमतीर्थ थे नायक और राधा थी नायिका; उन दोनों के हृदयों में उल्लसित शृङ्गार की रस-धारा प्रवाहित हो रही थी। उन्मुक्त आकाश में हँसता हुआ चन्द्रमा, मकरन्द पीकर झूमता हुआ शीतल वायु, शान्त भाव में सोती हुई बन की कोमल शोभा, ये तीनों उद्दीपन विभाव की साकार मूर्ति के समान राधा और प्रेमतीर्थ के हृदयों में हिल्लोलित होती हुई रस-धारा को और भी स्फूर्ति प्रदान कर रही थी। वह एक सुन्दर दृश्य था; कवि जिस दृश्य की कल्पना करके विमुग्ध हो जाता है, वह वही चारु मनोरम दृश्य था। आदि कवि के अमर-काव्य में भी मदमय विलास का एक ऐसा ही मनोरम दृश्य त्रेताकाल की एक सुधामयी यामिनी के चित्र पट पर अङ्कित हुआ है जिसमें गैरिक वसनधारी देवराज इन्द्र और त्रिभुवन-सुन्दरी अहल्या इसी प्रकार आनन्द से विभोर होकर एक दूसरे के श्री-चरणों में अपने हृदय की सुमनाञ्जलि समर्पित करते हुये दृष्टिगोचर होते हैं। पतन का दृश्य होते हुये भी इसमें एक ऐसी अभिनव माधुरी है, जो कवि और रसिक के हृदयों को विमुग्ध किये बिना रह नहीं सकती और यही कारण है कि विश्व के महाकवियों की कविता में इस अपूर्व शोभा को प्रमुख स्थान दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि लालसा के इस रसरंगमय अभिनय में वह शान्ति और आनन्द-धारा नहीं है, जो यौगिक साधना की अन्तरकुटी में विलसित होती है। परन्तु फिर भी उसमें मानव-प्रवृत्ति का वह

सहज एवँ नैसर्गिक व्यापार है जिसे धर्म और समाज, शास्त्र और स्मृति भले ही उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखें परन्तु प्रवृत्ति और प्रकृति की लावण्य-लक्ष्मी का उपासक कवि, उसके आन्तरिक माधुर्य्य को कदापि विस्मृत एवँ बहिष्कृत नहीं कर सकता है। अस्तु;

राधा और प्रेमतीर्थ दोनों आत्म-विस्मृत होकर एक दूसरे की सौन्दर्य्य-श्री को देख रहे थे। राधा ने आज मानो जीवन का परम सार पा लिया था और वह उस सार के अन्तस्सौन्दर्य्य पर बलिहार हो गई थी। कठोर प्रतीक्षा के उपरान्त आकाश-मण्डल में शरच्चन्द्र का उदय हुआ था और चकोरी मानो तन्मयी होकर प्रणय-पात्र की पूर्ण शोभा को देख रही थी; कठोर साधना के उपरान्त मानो आज वह पुण्य अवसर चातकी को प्राप्त हुआ था, जब धीरे धीरे आकाश के अन्तिम छोर पर आषाढ़ के प्रथम मेघ की नीलिम-मयी शोभा उसे दृष्टिगोचर हुई थी। राधा ने आज वही रत्न पा लिया था, जिसके लिये वह इतने दिनों से विकल थी। राधा के मन-मन्दिर में आज तक जो एक अतृप्त आकाँक्षा, आकुल अभिलाषा एवँ विकल लालसा हाहाकार करती थी, आज मानो वे हृदयेश्वर की शोभामयी मूर्ति का दर्शन करके तथाच उसके आनन्दमय संग-सुख की शीतल धारा से अभिषिक्त होकर शान्त हो गई। प्रेमतीर्थ को पाकर राधा ने जीवन का सार-रत्न, प्राणों का शीतल आधार, अनुराग का मनोरम पात्र एवँ रस रँगमयी प्रवृत्ति का इष्टदेव पा लिया। आज विश्व उसकी दृष्टि में नरक से स्वर्ग में परिणत हो गया; प्रकृति

का सौन्दर्य्य अग्नि ज्वाला से शीतल सुधाधारा में परिवर्तित हो गया और अन्तर की संतप्त वासना उल्लासमयी रस-धारा में बदल गई। यह एक ऐन्द्रिजालिक पट-परिवर्तन था; राधा इस परिवर्तन के मध्य में उल्लासमयी शोभा को धारण करके स्थित हुई।

प्रेमतीर्थ के हृदय में भी उद्दाम वासना का संगीत पञ्चम स्वर में निनादित हो रहा था। राधा की आज जैसी प्रफुल्ल शोभा थी, उसे देख कर वे उस पर अपने हृदय की सारी सम्पत्ति न्योछावर कर चुके थे। राधा की उस रस रँगमयी दृष्टि ने उनकी आन्तरिक वासना को और भी प्रदीप्त कर दिया था। पहिले ही से उनके हाथ में राधा का कोमल कर-पल्लव था; वे धीरे धीरे उसे दबाने लगे। राधा ने भी मृदुलता के साथ प्रेमतीर्थ का हाथ दबाना प्रारम्भ कर दिया। वह मानों प्रेम की स्वीकृति की प्रथम सूचना थी। राधा की इस स्वीकृति को पाकर प्रेमतीर्थ की उच्छ्वसित लालसा और भी प्रदीप्त हो उठी। उनके हृदय में रंगमयी काम-प्रवृत्ति उन्मत्त बसन्त-कोकिल की भाँति कूक उठी; रस की धारा और भी उद्दाम वेग से प्रधावित हुई; और शृङ्गारमयी हृदय-कविता की छन्दमाला, सहसा उल्लसित होकर नृत्य करने लगी। वे अधीर हो उठे; उन्होंने एक बार बड़ी मदमयी दृष्टि से राधा के प्रफुल्ल वदन-मण्डल की ओर देखा। चन्द्रमा की सरस किरण-माला उस पर नृत्य कर रही थी; सौन्दर्य्य के मुकुट-मणि की भाँति उसकी रत्न-जटित चूणामणि उस समय झलमल झलमल कर रही थी; शीतल

वायु का विमल हिल्लोल उसकी लटों से क्रीड़ा कर रहा था; स्फटिक पात्र में चमकती हुई प्रेममयी वारुणी की भाँति, उसकी आँखों में लालिमा विलसित हो रही थी; उसके राग-रञ्जित अधर-मण्डल पर सलज्ज हास्य-शोभा का निर्मल विलास था और उसके कपोलों की कलित कान्ति आन्तरिक अनुराग-छवि से गले मिल रही थी। वह एक अपूर्व सौन्दर्य्य था; मानों शृङ्गारमयी सजीव सोहनी थी; मानों मूर्तिमती विलास-श्री थी, मानों प्राणमयी प्रणय-कविता थी; मानों शरीर-धारिणी अनंग-प्रवृत्ति थी। प्रेमतीर्थ विकल हो उठे, उनका धीरज टूट गया। उन्होंने सहसा राधा को अपनी ओर खींच लिया। उसे अपने हृदय पर धारण करके उन्होंने अपने अधरों को उसके कोमल अधरों पर प्रस्थापित कर दिया। राधा ने इसमें बाधा नहीं दी। दोनों दृढ़ आलिङ्गन में आबद्ध हो गये; दोनों मदमय चुम्बन में निबद्ध हो गये। अपने आन्तरिक उल्लास के तीव्र आवेश में वे दोनों एक हो गये। भूल गये वे दोनों विश्व की स्थिति को, परलोक की भावना को, धर्म की व्यवस्था को, शास्त्र की आज्ञा को और जगन्नियन्ता की उपस्थिति को। रसमयी विलास-लीला का वह एक ऐसा अभिनव अभिनय था जिसे देख कर समस्त प्रकृति विमुग्ध हो गई थी। प्रकृति के नाट्य-भवन में प्रवृत्ति की मानों वह रसमयी नाट्य लीला थी।

* * * * * * * * *

प्रेमतीर्थ ने उल्लसित भाव में कहा—"प्राणेश्वरी! मैंने अपने इतने जीवन में अनेक सौन्दर्य्य देखे; चन्द्रमा के समान

शीतल, सूर्य्य के समान प्रखर, फूल के समान कोमल, बसन्त के समान रसमय, जलधारा के समान उच्छ्वासमय—पर देवि! तुम्हारी इस ललित लावण्य-लक्ष्मी में मानों वे सभी प्रकार के सौन्दर्य्य उसी प्रकार प्रतिबिम्बित हो रहे हैं जैसे रत्नाकर में रत्न राशि। स्वर्ग और पाताल के बीच में तुम्हारा यह सौन्दर्य्य त्रिभुवन के विस्मय की वस्तु बन कर एक अपूर्व माधुरी का विस्तार कर रहा है।"

राधा ने अनुराग भरी दृष्टि से प्रेमतीर्थ की ओर देख कर कहा—"पर मेरा यह सौन्दर्य्य आज तुम्हारे श्री-चरणों में एक तुच्छ पदार्थ के समान समर्पित हुआ है, प्यारे!"

प्रमतीर्थ—"तुच्छ वस्तु के समान? नहीं! यह मेरे सौभाग्य-गगन का तेजोमय सूर्य्य है; मेरे जीवन-पथ का अक्षय प्रदीप है। इस सौन्दर्य्य की उपासना का अवसर पाकर मैं आज कृत-कृत्य हो गया हूँ। आज मैंने अपनी जीवन-व्यापी साधना का मधुर फल पाया है।"

राधा ने कुछ व्यथित स्वर में कहा—"पर मेरे इष्टदेव, इस सौन्दर्य्य की समस्त शोभा तभी तक है जब तक तुम मेरे सामने हो। जब तुम इस अभागिनी को छोड़ कर चले जाओगे, तब यही मेरा सौन्दर्य्य मुझे अग्नि-ज्वाला के समान जलाने लगेगा।"

प्रेमतीर्थ ने उन्मत्त भाव में कहा—"छोड़ कर चला जाऊँगा? कदापि नहीं। जन्म भर मैं इसकी पूजा करूँगा; प्राणों के समान मैं इसको साथ लिये लिये फिरूँगा। यह मेरी आँखों की अक्षय

ज्योति बन कर मुझे प्रकृति की ललित शोभा दिखावेगा, मेरी अन्तरात्मा की दिव्य आभा बन कर मुझे परम आनन्द की प्राप्ति करावेगा। इसे क्या मैं छोड़ जाऊँगा। देवि! तुम्हें मैं अपने साथ ले चलूँगा। तुम्हारे बिना यह जीवन अन्धकारमय हो जायगा।"

राधा ने आश्चर्य्य-चकित दृष्टि से प्रेमतीर्थ की ओर देखा; उसने कहा—"पर विश्व क्या कहेगा?"

प्रेमतीर्थ ने आवेश पूर्वक कहा—"विश्व की चिन्ता किसे है? विश्व के लिये क्या इस अपने सुवर्ण राज्य को नष्ट कर दोगी, देवि! न, विश्व को कहने दो। उससे हमारी कुछ हानि नहीं है। विश्व की सीमा से परे, बहुत दूर, प्रेम के आनन्द-राज्य में हम दोनों विहार करेंगे।"

राधा का मुख-मण्डल प्रदीप्त हो उठा पर उसने दूसरे ही क्षण निराशा के स्वर में कहा—"समाज हमारे इस आनन्द को नहीं सह सकेगा। वह हमारे मार्ग में अनन्त बाधायें डालेगा।"

प्रेमतीर्थ ने फिर उल्लसित स्वर में कहा—"समाज! समाज में जो रहना चाहेंगे उन्हीं के लिये समाज सुविधा और बाधा दे सकता है; पर हम तो समाज को छोड़ देंगे। समाज से हमें अभिप्राय नहीं है, हम तो दोनों उस राज्य में रहेंगे जहाँ समाज और विश्व की कोई बाधा, कोई निषेध, माना नहीं जाता है।"

राधा ने प्रेमतीर्थ के मुख-मण्डल की ओर देखा। उस पर

उल्लास, अनुराग और आनन्द की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही थी। उसने एक बार फिर प्रश्न किया—"पर हृदयेश्वर! मेरे इस प्रकार सहसा अन्तर्हित हो जाने से मेरे पितृ-कुल और पति-कुल दोनों के नामों पर घोर कलङ्क की कालिमा लग जायगी।"

प्रेमतीर्थ ने आवेश भरे स्वर में कहा—"पितृ-कुल और पति-कुल की चिन्ता छोड़ दो, देवि! विचार तो करो, यही पति-कुल तुम्हें किस प्रकार अत्याचार के यन्त्र में दिन-रात पीसा करता है; और तुम्हारे पितृ-कुल ही ने तुम्हारे भविष्य के सुख और आनन्द की रत्ती भर चिन्ता न करके तुम्हें ऐसे निर्बल रोगी पति के पल्ले बाँध दिया और इस अत्याचार के यन्त्र में निष्पीड़ित होने के लिये तुम्हें इस प्रकार निर्मम भाव से ढकेल दिया। यही पितृ-कुल, यही पति-कुल, क्या तुम्हारी चिन्ता के विषय हैं? इन्हीं की कलङ्क-कालिमा के लिये क्या तुम जीवन के आनन्द को तिलाञ्जलि देना चाहती हो? इन्हीं के लिये तुम प्रेम के इस सुवर्ण राज्य को मरुभूमि में परिणत करना चाहती हो? न देवि! इस विश्व में कोई अपना नहीं है,—अपना केवल वही है, जिसे हृदय ने अपना लिया हो। विश्व स्वार्थ की रंगभूमि है, परमार्थ का इसमें निवास नहीं है। प्राणेश्वरि! जीवन के इस मधुर आनन्द को इस असार दुर्भावना के कारण विनष्ट मत करना।"

राधा चुप हो रही। यद्यपि वह अपना सर्वस्व, अपना हृदय, अपना अमूल्य सतीत्व, प्रेमतीर्थ के चरणों में समर्पित कर

चुकी थी पर फिर भी उसके हृदय के निभृत कोण में से कोई इसे पलायन-कर्म से विरत रहने के लिये बार बार आग्रह कर रहा था। तीव्र आकर्षण के होते हुये भी राधा ने विकम्पित कण्ठ से कहा—"न, प्यारे! मैं इस रँगपुर को छोड़ कर नहीं जाऊँगी। जब तक जिऊँगी, तब तक तुम्हारी इस सुन्दर मूर्ति की हृदय में प्रतिष्ठा करके पूजा किया करूँगी। जब कभी, साल में, दो साल में, तुम दर्शन दिया करोगे, तभी मैं अपनी इन प्यासी आँखों को शान्त कर लिया करूँगी। इस जीवन में मैंने पहिले पहिल तुम्हें प्यार किया है, और जब तक जिऊँगी, तब तक तुम्हारे ही शुभनाम की माला फेरा करूँगी। तुम मेरे इष्टदेव हो, तुम मेरे प्रेम के प्रथम प्रभात के प्रभाकर हो।"

प्रेमतीर्थ ने राधा के इन वाक्यों को सुन कर बड़ी व्यथित व्याकुल, दृष्टि से उसकी ओर देखा। उनकी उस दृष्टि में कितनी निराशा, कितनी यातना, कितनी व्यथा भरी हुई थी, इसको वाणी के द्वारा अथवा शब्द-जाल के द्वारा प्रकट करना एकान्त असम्भव है। दो-तीन क्षण तक वे इसी आकुल भाव में राधा की ओर देखते रहे; राधा ने भी एक बार उनकी ओर देखा पर उस दृष्टि की असीम आकुलता को सहन करने में असमर्थ होकर, उसने अपने लोचन विनम्र कर लिये। पर सहसा प्रेमतीर्थ ने घुटने टेक दिये, उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उन्होंने बड़ी व्यथा भरी भाषा में कहा—"देवि! दया करो। तुम्हारे विना मेरा यह जीवन एक असार पदार्थ के समान हो

जायगा; तुम्हारे बिना मेरे इस हृदय-मन्दिर में एक भयंकर अन्धकार परिव्याप्त हो जायगा। सुन्दरी! प्राणेश्वरी! देखो, वह आकाश में चन्द्रमा हँस रहा है, यमुना दिव्य संगीत गाते गाते चली जा रही है, प्रकृति आनन्द में प्रफुल्ल हो रही है। सभी अपने अपने आनन्द से निमग्न हैं; सभी अपने अपने रस-रँग में तन्मय हैं। तब क्या तुम मुझे ही नैराश्य और निरानन्द के अथाह अन्धकारमय गह्वर में डाल दोगी? क्या तुम्हीं, जिन्होंने क्षण भर पहिले मेरे इस उत्तप्त हृदय को अपने शीतल आलिङ्गन से शान्त किया था, मेरे इन प्यासे अधरों को अपने सुधा-रस से परितृप्त किया था और मेरी इस रसरँगमयी वासना को अपनी विलासधारा से अभिषिक्त किया था, मुझे वियोग की असह्य ज्वाला में भस्म करने की आयोजना करोगी? देखो, मेरे हृदय की अधीश्वरि! वह—वह हमारा प्रेम का सुवर्ण राज्य है। उसमें आनन्द का पारिजात-वन यौवन-बसन्त की शोभा से प्रफुल्ल हो रहा है, उसमें रस की शीतल सरिता बह रही है; रँग का फव्वारा छूट रहा है; सँगीत उत्थित हो रहा है; अप्सराओं का ललित लीलामय नृत्य हो रहा है। उसी में चलो हम दोनों चल कर रहें। लात मार दो विश्व को, पाद प्रहार कर दो, समाज को, तिलाञ्जलि दे दो पितृकुल और पतिकुल की समस्त भावनाओं को! न प्यारी—तुम्हारे बिना मैं नहीं जी सकूँगा। मैंने अपनी समस्त साधना, अपनी समस्त विभूति तुम्हारे इन शोभामय चरणों में समर्पित कर दी है।

(सहसा चमचमाता हुआ कटार निकाल कर उसे हृदय पर धारण करके

फिर उसने कहा) इतने पर भी तुम अपने इस उपासक पर कृपा-दृष्टि न करोगी, तो मैं अपने हृदय की तप्त रुधिर-धारा से इन कोमल चरणों को प्रक्षालन करूँगा। यही मेरा अन्तिम निश्चय है। मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकता।"

राधा के लिये यह कठोर अग्नि-परीक्षा थी। सामने उसके हृदय का अधीश्वर उसके चरणों पर अपने प्राणों को विसर्जन कर रहा था; वह क्या उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर सकती थी। उसी समय पारिवारिक उत्पीड़न का समस्त दृश्य उसके सामने अङ्कित हो गया। एक बार प्रेमतीर्थ के आकुल आग्रह ने फिर उसकी उद्दीप्त वासना को जागृत कर दिया। राधा ने प्रेम से प्रेमतीर्थ का छुरी वाला हाथ पकड़ लिया। धीरे धीरे असीम अनुराग के साथ उसके हाथ से छुरी छीनते छीनते उसने कोमल शान्त स्वर में कहा—"चलूँगी।"

प्रेमतीर्थ के मुख पर उल्लास की आभा आविर्भूत हुई; उसके विशाल कमल-लोचन असीम आनन्द की लालिमा से विकसित हो उठे। जिस प्रकार फाँसी के तख्ते पर चढ़ा हुआ मनुष्य अपनी रिहाई के समाचार पाकर प्रसन्न होता है; जिस प्रकार मणिधर अपनी खोई हुई मणि पाकर आनन्द से विभोर हो जाता है; जिस प्रकार मरीचिका-मयी मरुभूमि में प्यास से व्याकुल प्राणी शीतल स्रोत पाकर परम प्रफुल्ल हो जाता है, प्रेमतीर्थ भी उसी प्रकार उत्फुल्ल हो उठे। वे उठ बैठे। उन्होंने आवेशामयी वाणी में कहा—"तब विलम्ब क्यों? कौन जाने पीछे कौन बाधा उठ खड़ी हो। न, अब देर करने की

आवश्यकता नहीं है। चलो, प्राणेश्वरी! चलें! प्रेम के आनन्द-राज्य की परम शान्ति हमें आह्वान कर रही है। चलो, विश्व के विस्तार से दूर, समाज की सीमा से परे, धर्म-साम्राज्य के उस पार, चलो, हम दोनों आनन्द से पर्णकुटी बना कर रहेंगे। वहाँ विधि-निषेध का बन्धन नहीं होगा, शास्त्र-स्मृति का कठोर शासन नहीं होगा; समाज और धर्म का प्रबल परिपीड़न नहीं होगा। चलो प्यारी! तुमने विश्व के हाथों से बहुत कुछ व्यथा पाई है, अब चलो, प्रेम के पारिजाति वन में, आनन्द पूर्वक विहार करें। व्यर्थ में समय गँवाना निरर्थक है।"

इतना कह कर प्रेमतीर्थ ने फिर राधा को हृदय से लगा लिया। फिर दोनों के पिपासे अधर मदमय चुम्बन में परस्पर मिल गये; फिर उन दोनों की अनुरागमयी दृष्टि उल्लास से हिल्लोलित हो उठी। राधा ने मूक-भाषा में प्रेमतीर्थ के प्रस्ताव का अनुमोदन किया। वे दोनों वनस्थली के भीतर घुस गये। उसी रात को प्रेमतीर्थ के साथ राधा ने सदा के लिये रँगपुर छोड़ दिया!

बुद्धि और विवेक ही अन्तरात्मा के विलोचन हैं। रसरँगमयी विलास-वारुणी के तीव्र मद से जब यह दोनों उन्मत्त और उद्भ्रान्त हो जाते हैं, तब अन्तरात्मा की विशुद्ध विमल ज्योति लालसा और प्रेम के वास्तिक रहस्य को उद्घाटन करने में असमर्थ हो जाती है। विश्व की आदि-प्रभात से लेकर आज तक इस नियम में एक बार भी व्यतिक्रम नहीं हुआ है।

अड़तीसवाँ परिच्छेद

प्रलय की ज्वाला

स भयंकर घटना ने केवल राजेन्द्र, सुभद्रा, बसन्त और बलभद्रसिंह ही को नहीं, वरन् बिलासपुर के समस्त अधिवासियों को भी विक्षुब्ध कर दिया। अपने ज़िमींदार की नीचता और पाप-कृति को जान कर वे सब बड़े दुखी हुये; परन्तु साथ ही साथ ठाकुर यदुनन्दनसिंह की मृत्यु से उन्हें उतना ही सन्तोष भी हुआ। यद्यपि बसन्तकुमार ने बहुत कुछ आग्रह किया कि वे सब दूसरे ही दिन बिलासपुर को छोड़ कर रंगपुर को प्रस्थान करें; परन्तु बिलासपुर के अधिवासियों के अनुरागमय अनुरोध से उन्हें दूसरे दिन ठहरना ही पड़ा और तीसरे दिन उन सब ने वहाँ से प्रस्थान किया। गाँव के सरल पुरुषों और शीलवती कुलाङ्गनाओं ने उन्हें आँखों में आँसू भर कर विदा किया। राजेन्द्र ने तथा सुभद्रा ने भी सब को प्रेम-पूर्वक प्रबोध दिया और अवसर मिलने पर रंगपुर आने के लिये उन्हें निमन्त्रण भी दिया। भाई-बहिन के उस सरल सौजन्य की स्मृति लेकर बिलासपुर के निवासी गाँव की सीमा तक उन सब को पहुँचा कर

लौट आये। रास्ते में कोई विशेष बात नहीं हुई और एक प्रहर रात बीते वे सब रंगपुर पहुँच गये। अन्नपूर्णा ने और बापूजी ने जिस स्नेह से उनका स्वागत किया उसका यहाँ पर लिखना व्यर्थ है। सुहृदय पाठक और स्नेहमयी पाठिकायें उसकी मधुर कल्पना करने में स्वयँ समर्थ हैं। हाँ, उस भयंकर घटना को सुन कर बापूजी और अन्नपूर्णा दोनों ही अत्यन्त दुखी हुये; किन्तु भागवती सहायता की बात जान कर दोनों ने महामाया के श्रीचरणों में बार बार प्रणाम किया और पुण्य और पातिव्रत की विजय पर उन्हें अपार आन्तरिक सन्तोष हुआ।

दो-तीन दिन उस दीर्घ प्रवास का इतिहास सुनने में व्यतीत हुये। यद्यपि तीसरे दिन बसन्त ने बापूजी के श्रीचरणों में निवेदन किया कि वे उसे फिर अपनी कुटी में अन्नपूर्णा सहित लौट जाने की आज्ञा दें; पर बापूजी ने कहा—"नहीं; अब यह नहीं हो सकता। बसन्त, तुम सच मानना अन्नपूर्णा ने मुझे अपने स्नेह-पाश में इस प्रकार आवद्ध कर लिया है कि अब उसके बिना मेरा जीवन शान्तिमय नहीं हो सकेगा। वह अब इसी घर में रहेगी और सदा के लिये रहेगी। यदि तुम्हें अस्वीकार न हो तो मैं अन्नपूर्णा को अपनी पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करना चाहता हूँ; फिर जब अन्नपूर्णा यहाँ रहेगी तब तुम अकेले कुटी में रह कर क्या करोगे!"

बसन्त—"बापूजी! वह मेरा परम सौभाग्य है कि आप अन्नपूर्णा को अपने चरणों की दासी बनाना चाहते हैं। अन्नपूर्णा का इससे अधिक उज्ज्वल सौभाग्य क्या हो सकता है?

इससे अधिक सुन्दर सम्बन्ध की तो मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी !"

कहने का तात्पर्य्य नहीं कि इस समाचार को सुन कर राजेन्द्र और अन्नपूर्णा को अपार हर्ष हुआ। सुभद्रा तो पहिले ही से इस मधुर सम्बन्ध की पक्षपातिनी थी; इसलिये उसका आनन्द-मग्न हो जाना भी एकान्त स्वाभाविक था। यह निश्चय हुआ कि शीघ्र ही मंगल-मुहूर्त में उन दोनों का पाणिग्रहण सम्पन्न कर दिया जाय।

इधर राजेन्द्र ने भी अपनी प्रजा की आवश्यकता को दूर करने की आयोजना प्रारम्भ की। गाँव गाँव में पाठशालायें; चिकित्सालय, पुस्तकालय, सहयोग समितियाँ इत्यादि खोलने की व्यवस्था में वह लग गया। सुभद्रा ने भी उसमें सहायता दी। वसन्त भी यथाशक्ति सहयोग देने लगे। परन्तु फिर भी उनका अधिक समय ज़िमींदारी के काम देखने में लगता था और बाक़ी का समय पहिले की भाँति निर्जन एकान्त स्थल में व्यतीत होता था। वे केवल रात ही में घर पर रहते थे; शेष समय वे इधर उधर ही व्यतीत करते थे।

कथा-माल्य का सूत्र जिससे विछिन्न न हो जाय, इसी लिये हमने यह बातें यहाँ पर विवृत की हैं। अब हम अपनी कथा की प्रमुख घटनाओं की चित्रावली अङ्कित करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। रस भारती हमारी सहाय हो।

* * *

राधा के सहसा अन्तर्हित हो जाने से सारा रंगपुर एक

प्रकार से उद्वेलित हो गया था। राधा कहाँ गई; राधा का क्या हो गया? यह यद्यपि कोई नहीं जानता था परन्तु अपनी अपनी कल्पना करने में सभी संलग्न थे। स्त्रियों में तो इस चर्चा ने एक प्रकार का विशेष महत्व प्राप्त कर लिया था। कोई कहती थी, राधा घर छोड़ कर भाग गई; कोई कहती थी, नदी में डूब मरी; कोई कहती थी, सास ससुर ने मार डाला और मार कर नदी में बहा दिया—पर सच्ची बात कोई नहीं जानता था। अन्नपूर्णा और बापूजी से भी यह समाचार छिपा नहीं रहा था। बापूजी भी राधा को जानते थे; अन्नपूर्णा तो कुछ कुछ उससे स्नेह भी करने लगी थी; परन्तु उसके इस प्रकार सहसा अन्तर्हित हो जाने का समाचार जब देवी सुभद्रा ने सुना तब उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। वे राधा से अत्यन्त स्नेह करती थीं; वह उनके आदर की पात्री थी। हमें इस विषय में रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि राधा के इस प्रकार सहसा अन्तर्हित हो जाने से सब से अधिक मानसिक कष्ट देवी सुभद्रा को ही हुआ था। राधा के सास और ससुर भी यद्यपि उसके अन्तर्हित हो जाने से विक्षुब्ध अवश्य हुये थे, किन्तु उनके विक्षोभ का कारण दूसरा ही था। राधा के इस प्रकार अन्तर्हित हो जाने से उनके कुल में कलङ्क लगता था और उनकी अप्रतिष्ठा भी होती थी। गाँव के समस्त स्त्री पुरुषों से यह बात गुप्त नहीं थी कि राधा के प्रति उसके सास ससुर का व्यवहार अत्यन्त ममता-शून्य और नीचता पूर्ण है; इसी लिये ये दोनों विक्षुब्ध हुये थे; पर फिर भी एक प्रकार से उन दोनों को सन्तोष हुआ था। राधा की सास

चम्पा को तो एक प्रकार से आन्तरिक उल्लास भी हुआ था तथापि लोक-लाज के कारण उसने उसे आँसुओं के आवरण में छिपा लिया था। वृद्ध सेठ भी यह सोच कर कि अब नित्य प्रति का कलह समाप्त हो गया, कुछ कुछ सन्तुष्ट हुये थे। रह गया वह विचारा बालक लालचन्द; सो वह यद्यपि मन ही मन अत्यन्त विक्षुब्ध हुआ था और उसने एकान्त में आँसुओं की वर्षा भी की थी पर उसने अपना भाव प्रकट नहीं होने दिया। सच पूछिये तो अब उसके हृदय में भी एक प्रकार का भय छा गया था कि, बहुत सम्भव है, अब की बार उसकी पारी आवे। परन्तु हमें इस विवेचना की ओर अब विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि अब हमें इस परिवार के भावी दुर्भाग्य सौभाग्य की बातें अङ्कित करना नहीं है। राधा के साथ ही साथ हम भी इस घर को भविष्य की करुणा पर छोड़ते हैं। वैसे ही इस उपन्यास का कलेवर भीमकाय हो गया है और यदि हमने इस ओर ध्यान दिया तो बहुत सम्भव है कि हमारे इस उपन्यास के सम्बन्ध में भी कोई आधुनिक कवि आर्ष कवि तुलसीदास की 'योजन चार मूँछ रहि ठाढ़ी' जैसी उक्तिके समान कोई हास्यरसमयी चौपाई रच डालें।

पर अप्रासङ्गिकता के घोर अपराध के अपराधी बन कर भी हम यहाँ पर एक बात बिना कहे नहीं मानेगें। राधा के इस अन्तर्हित हो जाने से एक और जन भी विक्षुब्ध हुआ था और वह था वसन्तकुमार। पाठक-पाठिकाओं को स्मरण होगा कि जिस दिन वसन्त राजेन्द्र और सुभद्रा को

लौटा लाने के लिये गये थे, उसी दिन, रात को राधा प्रेमतीर्थ के साथ रंगपुर छोड़ कर चली गई थी। ज्यों ज्यों बसन्त इस बात पर विचार करता था, त्यों त्यों उसके मन में यह भावना बद्ध-मूल होती जाती थी कि हो न हो प्रेमतीर्थ ही का यह कुकृत्य है। प्रेमतीर्थ के सम्बन्ध में वैसे ही उसकी धारणा विकृत थी; इसी लिये बार बार उसके मन में यही विचार उत्पन्न होता था कि वह मायावी प्रेमतीर्थ ही राधा को प्रलुब्ध करके ले गया है। पर वह अपने मन की बात किसी से नहीं कह सकता था, क्योंकि प्रेमतीर्थ के आने और उस कुटी में रहने की बात उसने किसी से नहीं कही थी। इस घटना ने बसन्तकुमार के हृदय को और भी उद्विग्न कर दिया। यद्यपि उनकी अपेक्षा उसमें भावी का ही विशेष अपराध था; पर जब वे इस बात पर विचार करते थे कि उन्होंने ही प्रेमतीर्थ को अनुरोध पूर्वक ठहराया था और साथ ही साथ उसके निवास को गुप्त रखा था, तब वे इसी परिणाम पर पहुँचते थे कि एक ऊँचे कुल की कुलाङ्गना के विनाश में उन्होंने भी अपरोक्ष रूप से सहायता पहुँचाई है। इस परिणाम की बात सोचने से उनके मन में भयंकर ग्लानि उत्पन्न हो गई थी और उन्हें यह विश्वास हो गया था कि उनके उस पाप-मय अनुराग ही के कारण वह भयंकर काण्ड अनुष्ठित हुआ था। अब उन्हें यह भी कुछ कुछ आभास होने लगा था कि हो न हो प्रेमतीर्थ ने छिप कर उनकी वे बातें, जो यमुना-तट की शान्ति में उनके मुख से अपने आप निकल पड़ी थीं, सुन ली हों; और इस प्रकार उसने उनका रहस्य

जान लिया हो। वे जान गये कि उनके उस रहस्य से अनुचित लाभ उठा कर उसने उन्हें भी धोका दिया और एक कुलाङ्गना को भी परिभ्रष्ट किया। इन्हीं बातों पर विचार करते करते उनके हृदय की अग्नि और भी बढ़ गई थी। अपनी पापमयी वासना का भयंकर स्वरूप इस समय वे जितने स्पष्ट रूप में देख रहे थे, उतने उज्ज्वल रूप में उन्होंने कभी नहीं देखा था। अब तक उनका यह विचार था कि उनकी दुर्दान्त वासना केवल उन्हें ही विनष्ट कर सकती है, पर अब उन्होंने देखा कि वह दारुण प्रवृत्ति अपना विषमय प्रभाव समाज के और सभ्यों पर भी फैलाती है। अब उन्होंने जाना कि पाप का प्रभाव केवल पापी ही को नहीं भोगना पड़ता है, वरन् और भी अनेक जन उस पाप की विषमयी वासना के प्रभाव से परिभ्रष्ट होते हैं। अब तक वे अपने को जितना पापी समझते थे, उससे कई हज़ार गुना अधिक अब वे अपने को समझने लगे। उनकी उस वासना का स्वरूप उनकी दृष्टि में अब और भी वीभत्स, और भी भयंकर और भी कुत्सित, एवँ और भी घृणित प्रतीत होने लगा। उसे देख कर वे काँप उठे; उनके हृदय की ज्वाला और भी भयंकर वेग से प्रज्वलित हुई और अशान्ति और आकुलता के सम्मिलित प्रहार से वे छटपटाने लगे।

अब उनके हृदय में प्रलय का भयंकर काण्ड प्रारम्भ हो गया!

* * *

इस प्रकार एक सप्ताह व्यतीत हो गया। बसन्तकुमार के

हृदय की प्रलय-ज्वाला का हाहाकार उसी प्रकार चलता रहा। अब उस अग्नि का स्वरूप इतना भयंकर हो गया था कि उसके कुछ घटने अथवा कुछ बढ़ने का विभेद जाना ही नहीं जा सकता था। अन्नपूर्णा के मधुर सौभाग्य की व्यवस्था को जान कर बसन्तकुमार के हृदय में जो आनन्द और उल्लास हुआ था, वह भी इस प्रलय-ज्वाला में उसी भाँति विलीन हो गया जिस प्रकार मूर्छा में मधुर-स्मृति भी विलुप्त हो जाती है। इस भीषण ज्वाला ने उनके अन्तस्तल ही को नहीं, वरन् कल्पना-लोक को, चिन्ता-मन्दिर को, भाव-भवन को, प्रवृत्ति-सदन को, स्मृति-शाला को तथा विवेक-वन को भी भस्म करना प्रारम्भ कर दिया। कहना नहीं होगा कि वह धीरे धीरे उस स्थिति को प्राप्त होने लगे जहाँ से उन्माद का प्रारम्भ होता है। और इसी में एक तीसरी घटना ने उसी प्रकार योग दिया जिस प्रकार वेगवती वायु प्रलयङ्करी ज्वाला के विनाश-काण्ड में सहायता देती है।

यद्यपि बसन्तकुमार का हृदय-वन उस दारुण ज्वाला में धाँय धाँय करके जल रहा था, पर फिर भी किसी न किसी भाँति वे उसे सह कर अपने नित्य कर्तव्य को पूरा करते ही थे। इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने कर्तव्य कर्मों को एकान्त अध्य-वसाय और मनोयोग पूर्वक सम्पन्न नहीं कर पाते थे; परन्तु फिर भी वे उनकी ओर से एक बार ही तटस्थ नहीं हो गये थे। दूसरी बात यह थी कि बसन्तकुमार के ऊपर ही बापूजी ने ज़िमींदारी का सारा काम छोड़ दिया था और इसी लिये उनके विश्वास-घात के महापाप से बचने के लिये उस ओर ध्यान देना अनि-

वार्य्य था। कुछ भी हो; बसन्तकुमार यथासाध्य जिमींदारी का समस्त काम किये जाते थे और उसमें त्रुटि नहीं होने देते थे। जिमींदारी सम्बन्धी सभी विषयों में यद्यपि बापूजी ने उन्हें सम्पूर्ण स्वतन्त्रता दे रखी थी पर फिर भी बसन्तकुमार जटिल समस्याओं के समुपस्थित होने पर बापूजी की सम्मति अवश्य ले लेते थे। आज भी एक ऐसी ही जटिल समस्या उपस्थित हो गई थी। और इसी लिये बसन्तकुमार उस सम्बन्ध में बापूजी से परामर्श करने के लिये उनकी कुटी की ओर चले। इस समय लगभग दिन के तीन बजे थे; सूर्य्यदेव अपनी तीन-चौथाई यात्रा समाप्त कर चुके थे और ऐसा प्रतीत होता था मानो वह अपने पश्चिम प्रसाद में पहुँचने के लिये अत्यन्त व्याकुल हो रहे थे और बार बार अपने सारथी से उन दिव्य अश्वों को जल्दी जल्दी हाँकने का आदेश दे रहे थे। उनके दिव्य मुकुट की मणि-माला उज्ज्वल किरणों को विकीर्ण कर रही थी और वे आम्र-कानन की कोमल पल्लव-राशि को बड़े अनुराग पूर्वक चुम्बन कर रही थी। शीत ऋतु होने के कारण उनमें वैसी असह्य प्रखरता नहीं थी और इसी लिये कोमल कुसुम भी सादर उनका अभिवन्दन कर रहे थे और उनको आलिङ्गन-दान दे रहे थे। बसन्तकुमार बापूजी की पवित्र कुटी के सामने पहुँच गये। कुटी के सामने ही हरी हरी दूब का फ़र्श बिछा हुआ था और उस पर फैली हुई धूप उस दूब के सौन्दर्य्य को और भी प्रोज्ज्वल बना रही थी। उस दूब पर बैठी बैठी सुभद्रा किसी शास्त्रीय ग्रन्थ का अध्ययन कर रही थी। बसन्तकुमार ने देखा कि

बापूजी कुटी में नहीं हैं; सुभद्रा ही अकेली स्वाध्याय में तल्लीन है—कौन जाने वह किस दिव्य माधुरी के रस का आस्वादन कर रही थी। यद्यपि बसन्तकुमार नहीं जानते थे कि बापूजी कहाँ गये हैं; पर पाठक-पाठिकाओं की जानकारी के लिये हम उन्हें बताते हैं कि बापूजी टहलते टहलते यमुना-तट की ओर उस समय चले गये थे। वे प्रायः इस प्रकार किसी आध्यात्मिक विषय की चिन्ता करते करते यमुना के निर्जन, निर्मल दुकूल पर समय-कुसमय विहार करने चले जाते थे।

सुभद्रा का वह तन्मय लावण्य देख कर बसन्त आत्म-विस्मृत हो गये। यद्यपि बसन्तकुमार लगभग सुभद्रा के पास तक पहुँच गये थे, पर सुभद्रा स्वाध्याय में ऐसी तल्लीन थी कि उसे बसन्त के आने की ख़बर ही नहीं हुई। अवश्य ही बसन्त उसके सामने से नहीं आये थे; वे आये थे उसके दक्षिण पार्श्व की ओर से। सामने से आने पर अवश्य ही उनकी छाया पुस्तक पर पड़ती और उस समय सुभद्रा का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुये बिना रह नहीं सकता था। पर दक्षिण पार्श्व की ओर से आने के कारण सुभद्रा को उनके आने का पता नहीं चला। इसमें सन्देह नहीं कि बसन्त सदा यही चेष्टा करते थे कि उनसे और सुभद्रा से साक्षात्कार न हो। उन दोनों में यदि कभी साक्षात्कार होता भी था, तो सब के सामने; इसी लिये बसन्त उस समय सावधान हो जाते थे। पर आज की स्थिति दूसरी ही थी। प्रकृति के निर्जन सुन्दर भवन में उनकी हृदयेश्वरी एकाकिनी बैठी है और वह अपने स्वाध्याय में इतनी

तल्लीन है कि उसे उनके आने की सूचना तक नहीं। ऐसी स्थिति में वसन्तकुमार को अपने हृदय पर अधिकार रखना असम्भव हो गया। वसन्त फिर भी मनुष्य ही थे; यद्यपि साधारण मनुष्य की अपेक्षा उन्होंने मानवी निर्बलताओं को बहुत कुछ दमन कर रक्खा था फिर भी मन के चाञ्चल्य पर वे पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सके थे। वे ही क्या; बड़े बड़े ऋषि-मुनि भी इस चंचल मन की वेग को सब समय रोकने में समर्थ नहीं होते हैं; देवताओं की तो बात ही जाने दीजिये ; उनके उच्छृङ्खल व्यापार और दुराचार की गाथाओं से तो पुराणों के पृष्ठ पर पृष्ठ भरे पड़े हैं। तब वसन्त को हम क्या दोष दें। वे अपने मन को नहीं रोक सके; उनके लोचन तन्मयी सुभद्रा के शान्त सौन्दर्य्य सरोवर का शीतल जल-पान करने लगे। वे भी तन्मय होकर उस समय लावण्य को देखने लगे। अपने आपको वे भूल गये: वे भूल गये कि वे उस समय कितना बड़ा पाप कर रहे हैं। उनका विवेक उद्भ्रान्त हो गया; उनकी बुद्धि परिभ्रष्ट हो गई। वे विमुग्ध दृष्टि से अपने सामने, हरी हरी दूब के पवित्र आसन पर आसीन हृदयेश्वरी को देखने लगे। वह कैसा पवित्र सुन्दर मधुर सौन्दर्य्य था। इसमें सन्देह नहीं कि वह दर्शनीय लावण्य था; कोई भी कवि, कोई भी चित्रकार, कोई भी दार्शनिक उस पवित्र चारु लावण्य को देख कर विश्व की साहित्य-भारती को अपनी अनुपम कृति समर्पण कर सकता था। पर वे जिस भाव में उन्हें देखते, वसन्त उन्हें उस भाव में नहीं देख रहे थे। वसन्त की दृष्टि में वह सरल श्रद्धा नहीं थी, जो भाई के लोचनों में उस

समय प्रकट होती है जब वह अपनी साध्वी बहिन के पवित्र लावण्य को देखता है; उनकी आँखों में वह मधुर विशुद्ध आनन्द-आभा नहीं थी, जो बालक के नयनों में उस समय आविर्भूत होती है जब वह अपनी स्नेहमयी जननी के वात्सल्य-रस से परिप्लावित मुख-मण्डल की ओर देखता है और न उनकी उस विमुग्ध दृष्टि में वह शान्त विमल स्नेह-धारा थी, जो पिता की अनुराग भरी आँखों में उस समय प्रादुर्भूत होती है जब वह अपनी तपोमयी, तेजोमयी, दुहिता की प्रशान्त लावण्य-लक्ष्मी को देखता है। इसी लिये बसन्तकुमार के देखने में पाप था। उनकी दृष्टि में पुण्य की प्रबल प्रेरणा नहीं थी, उसमें थी वासना की प्रदीप्त आकाँक्षा। सुभद्रा का सारा शरीर वैराग्य विभूति से दैदीप्यमान था; उसका समस्त लावण्य, दिव्य नक्षत्र की पवित्र कान्ति के समान, विलसित हो रहा था; परन्तु बसन्तकुमार उसे देख कर वासना के प्रबल प्रवाह में बहे जा रहे थे। आत्यान्तिक वेदना के कारण जो मूर्छा होती है, उसमें और सुषुप्ति में विस्तर विभेद है; ठीक उसी प्रकार उस समय बसन्तकुमार जिस तन्मयी दशा को पहुँच गये थे, उसमें और देवी सुभद्रा की तल्लीन अवस्था में प्रचुर प्रभेद था। बसन्त की आँखों से वासना की मदमयी धारा विनिर्गत हो रही थी, उनके नासिका-पुटों से उष्ण निश्वास बाहर निकल रही थी; उनका वक्ष-स्थल तीव्र वेग से उत्थित और पतित हो रहा था। कहने का तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति के उस प्रमोद-बन में उस समय दो विरोधी तत्वों की दो सजीव मूर्तियाँ समुपस्थित थीं। मधुर शान्ति की सजीव

शोभा की भाँति विलसित हो रही थी। बाल ब्रह्मचारिणी देवी सुभद्रा और वासना-मद के साकार स्वरूप की भाँति प्रतीत होते थे विकार-व्यथित बसन्तकुमार! इसी विश्व के दो प्राणियों में कैसा विस्तर विभेद था? एक की तन्मयता थी शिव की शान्तिमयी समाधि और दूसरे की तल्लीनता थी शैतान की प्रखर मद-मूर्छा!

लगभग १० मिनिट तक बसन्त एक दृष्टि से देवी सुभद्रा के वैराग्य-विभूषित विमुग्ध लावण्य को देखते रहे। अभी वह अपनी इसी तल्लीन अवस्था ही में थे कि बापूजी वहाँ पर आ गये। वे भी उसी ओर से आये थे जिधर से बसन्तकुमार। देवी सुभद्रा अपने स्वाध्याय में तल्लीन थी; बसन्तकुमार अपने मद में मूर्छित थे। बापूजी के आगमन को भी न तो बसन्तकुमार ही जान पाये और न जान पाई देवी सुभद्रा ही। बापूजी चुप-चाप अनिमेष दृष्टि से उस पुण्य और पाप के अभिनय को देखने लगे। एक बार ही उनके हृदय में यह विचार विलसित हो उठा कि उन्होंने जो कल्पना की थी, वह एकान्त सत्य है। बसन्तकुमार सुभद्रा पर प्रलुब्ध है, पर सुभद्रा इस विषय से एकान्त अनभिज्ञ है। उन्होंने जान लिया कि बसन्तकुमार के हृदय पर पाप का पूर्ण प्रभाव हो गया है, पर सुभद्रा का मन-मानस उसी प्रकार विमल और विशुद्ध है। यद्यपि बापूजी ने अपने हृदय के विकारों को संयम और निग्रह के बन्धन से बाँध दिया था, परन्तु फिर भी उनके हृदय में इस समय बड़ा तीव्र आघात लगा। बसन्त पर उन्हें क्रोध नहीं आया; एक बार भी उनके

मन में यह भावना उत्पन्न नहीं हुई कि बसन्त ने वही किया है जो दूध पिलाने पर साँप का बच्चा करता है; और न उनका प्रेम किसी प्रकार से भी बसन्त के प्रति अल्पांश में भी कम हुआ; पर फिर भी मानव-हृदय की प्रदीप्त वासना का वैसा कुत्सित स्वरूप देख कर उनका हृदय तिलमिला उठा। उन्होंने जान लिया कि प्रखर वासना के सामने प्रेम का प्रभाव, सम्बन्ध का बन्धन, धर्म की आज्ञा, पुण्य की प्रेरणा, वेद की व्यवस्था, इनमें से किसी का भी कभी कभी कुछ वश नहीं चलता है। शैतान का ऐसा प्रबल बल देख कर बापूजी को उसीप्रकार दुःख हुआ जिस प्रकार क्रौञ्च-मिथुन की हत्या पर आदि-कवि को हुआ था। यह तो पवित्र चरित्र विश्व प्रेममय उन्मुक्त महात्माओं का नैसर्गिक धर्म है। बापूजी पाप की इस भयंकर मूर्ति को देख कर अत्यन्त मर्माहत हुये। पर शीघ्र ही अपने मन के विक्षोभ को उन्होंने उसी चिर-शान्ति के द्वारा परास्त कर दिया जो विशुद्ध-हृदय महापुरुषों की एक मात्र महाशक्ति है। फिर उनके मुख पर वही चिर-सन्तोष की आभा खेलने लगी, फिर उनके अधरों पर वही चिर-परिचित सरल सरस हास्य लीला करने लगा। उन्होंने मधुर स्नेह सरस स्वर में पुकारा—"बसन्त!"

बसन्त चौंक पड़े। बापूजी को अपने सामने इस प्रकार खड़े देख कर वे भय, ग्लानि और आकुलता से मूर्छित-प्राय हो गये; परन्तु किसी न किसी प्रकार अपने आपको उन्होंने शान्त किया! उन्होंने उनके चरणों की रज लेकर शिर पर लगाई। बापूजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया!

बसन्त उस जटिल समस्या की बात बिल्कुल ही भूल गये जिसके विषय में परामर्श करने के लिये वे बापूजी के पास आये थे। इस घटना ने उनके ऊपर वज्र-प्रहार किया। वे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। उस समय उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा मानों सारी प्रकृति उन्हें धिक्कार रही है, मानों आकाश के देवता उन्हें शाप दे रहे हैं, मानों पितृ-लोक के द्वार पर खड़े होकर उनके पितृ-गण उनकी ओर घृणा एवँ तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से देखा कि इन अखिल ब्रह्माण्डों की घृणा और तिरस्कार के बीच में उनकी ओर यदि कोई अनुराग और आदर की दृष्टि से देख रहा है, तो वह है क्षमा-मूर्ति दयावतार ब्रह्मर्षि बापू जी! पर बापूजी की इस आदर और अनुराग से भरी हुई दृष्टि बसन्तकुमार को जितनी असह्य हो उठी, उतनी समस्त ब्रह्माण्डों की घृणा और क्रोध से परिपूर्ण दृष्टि भी उन्हें असह्य नहीं हुई। अहा! उनकी प्रेममयी ब्रह्मचारिणी विधवा कन्या के प्रति जो इतने कुत्सित भाव से देख रहा था, उनके विमल कुल में जो कलङ्क लगाने का प्रयत्न कर रहा था, उन्हीं का नमक खा कर जो उन्हीं की परम पवित्र कन्या के प्रति विश्वास-घात करने को उद्यत हुआ था—वह क्या उनकी क्षमा के योग्य है? वह क्या उनका आदर-पात्र बनने के योग्य है? तब उस नीच, निकृष्ट, नृशंस, पापात्मा के प्रति वे इस उदार भाव से क्यों व्यवहार कर रहे हैं? क्यों नहीं 'शापेन चापेन वा'—वे उसको भस्म कर देते? बापू जी की वह उदार क्षमा, वह अनुरागमयी करुणा, वह आदरमयी दृष्टि विष-शल्य के समान हृदय को

बेधने लगी। उन्हें उस समय परम सन्तोष होता यदि बापू जी उनकी तीव्र भर्त्सना करते, उनको गोली मार देते अथवा उनका अङ्ग-भङ्ग करके उन्हें निर्जन बीहड़ वन में हिंसक पशुओं की दया पर छुड़वा देते। पर ऐसा न करके बापूजी ने उन्हें हँसते हँसते क्षमा कर दिया; इस क्षमा के असह्य भार को वहन करने में बसन्तकुमार असमर्थ हुये। बिना कुछ कहे-सुने, बिना बिदा माँगे, केवल एक बार फिर बापूजी की चरण-रज शिर पर धारण करके वे शीघ्रता पूर्वक वहाँ से चल दिये। न जाने क्या सोच कर बापूजी ने भी उन्हें नहीं रोका।

प्रलय का महा भयंकर काण्ड अनुष्ठित होने लगा। अग्नि तो पहिले ही से थी; अब उसमें प्रचण्ड वायु ने भी सहयोग दिया। तब अब विनाश में क्या विलम्ब है? वासना के विनाश-काण्ड में प्रलय की प्रखर प्रदीप्त ज्वाला के बीच, शैतान का प्रचण्ड ताण्डव-नृत्य विकट आडम्बर के साथ प्रारम्भ हुआ!

उनतालीसवाँ परिच्छेद

कुपित ईर्ष्या

न्ध्याचल की पर्वतमाला भारतेश्वरी की काञ्चन-कँधनी के समान सुशोभित है। इसी पर्वत की गोद में नील सलिला नर्मदा तथाच गद्गद्-नादिनी गोदावरी लीला करती हैं। इसी पवित्र पर्वत के दो शिखरों के बीच में एक खुला हुआ मैदान है जिसमें किशोरी नर्मदा कलकल करती हुई प्रवाहित होती है। चारों ओर गम्भीर वन-मेखला से यह उन्मुक्त मैदान परिवेष्ठित है और बीच में महामाया प्रकृति देवी के विहार-कुञ्ज के समान, वह विलसित होता है। वन्य पुष्पों की मीठी मीठी सुगन्ध से वह सदा परिपूर्ण रहता है। इसी मैदान के दक्षिण की ओर एक विशाल कन्दरा है और इसी कन्दरा में प्रेमतीर्थ और राधा निवास करते हैं।

यह स्थल एकान्त गुप्त है और यहाँ पर वे ही पहुँच सकते हैं जो उसके गुप्त मार्ग से परिचित थे। प्रेमतीर्थ अवश्य ही उस गुप्त मार्ग से परिचित थे। उस कन्दरा में वे बहुत समय से रहते थे; इसी लिये उस कन्दरा में सभी सामान मौजूद थे। वह कन्दरा सुन्दर रीति से सजाई गई थी और वहाँ

का सामान किसी भी महाराजा के प्रासाद को अलङ्कृत कर सकता था। सोने के पात्र थे, रेशम के पर्दे थे, दुग्ध-फेन के समान कोमल शय्या थी; और उसके भीतर प्रेमतीर्थ ने अपार धन-राशि एकत्रित कर रक्खी थी। यदि वहाँ किसी वस्तु का अभाव था तो केवल दास-दासी का। परन्तु वह अभाव उन दोनों को अधिक नहीं खटकता था क्योंकि प्रकृति के उस परम-रम्य-भवन में निश्चिन्त निर्विघ्न होकर वे रसरंग में प्रवृत्त हुये थे। राधा और प्रेमतीर्थ को यहाँ आये आज तीसरा दिन है। ४ दिन की गुप्त यात्रा के उपरान्त वे यहाँ पर पहुँचे थे। प्रेम-तीर्थ ने आते ही राधा को बहुमूल्य अलङ्कारों से आलंकृत किया और सुन्दर वस्त्रों के द्वारा उसके मनोरम कलेवर को आवृत किया। राधा अपने हृदयेश्वर की इस महिमामयी विभूति को देख कर अत्यन्त उल्लसित हुई और प्रेमतीर्थ भी अपनी उस निर्जन कन्दरा में प्रेम की प्रतिमा को प्रतिष्ठित करके परम आह्लादित हुये। दोनों ही रस-रंग में प्रवृत्त हो गये और प्रकृति के उस नन्दन निकुञ्ज में निर्वाध, निश्चिन्त एवँ निर्भय होकर वे दोनों विलास की कलकलमयी सरिता में अवगाहन करने लगे। विश्व की सारी चिन्ताओं को उन्होंने तिलाञ्जलि दे दी; परलोक की समस्त कल्पनाओं को उन्होंने पाद-प्रहार कर दिया और भविष्य की समस्त भावनाओं को उन्होंने अपने दृष्टि-पथ पर से अवज्ञा के साथ हटा दिया।

रात्रि का प्रथम प्रहर व्यतीत होना ही चाहता है। उन्मुक्त नील गगन-मण्डल में चन्द्र-देव तो रोहिणी के साथ आनन्द

पूर्वक लीला कर रहे हैं। शीतल समीर के मधुर संस्पर्श से वन्य-गुलाब उत्फुल्ल हो रहा है और चन्द्रमा की उस स्निग्ध चन्द्रिका में तरल चन्द्रिका के समान, निर्मल-सलिला नर्मदा अठलाती हुई बही जा रही है। आनन्द के इस समारोह में रस की वर्षा हो रही थी ; शान्ति की रागिनी का मधुर स्वर चतुर्दिक परि-व्याप्त हो रहा था। ऐसी समुज्ज्वल रंगभूमि पर प्रेमतीर्थ और राधा रसरंग के समुल्लास में निमग्न हो रहे थे। राधा भी इस समय एक गेरुये रंग की ही रेशमी साड़ी पहिने हुई थी; उसके वक्ष-स्थल पर एक हार सुशोभित था; हाथों में मणि-जटित कंकण झलमला रहे थे। उसका सौन्दर्य्य इस समय परम शोभा के साथ देदीप्यमान हो रहा था। राधा को देख कर यह कोई नहीं कह सकता था कि वह इस लोक की रमणी है; वह तो मूर्तिमती उर्वशी सी प्रतीत होती थी। प्रेमतीर्थ इस सजीव माधुरी को हर्षोत्फुल्ल लोचनों से देख रहे थे। उनके नयनों से उल्लास की धारा, उनके अधरों पर हास्य की रेखा और उनके समस्त शरीर पर आनन्द की उज्ज्वल शोभा विलसित हो रही थी। सच पूछिये, तो दोनों, दोनों ही के योग्य थे। राधा जैसी अपूर्व सुन्दरी थी, प्रेमतीर्थ भी वैसे ही सुन्दर थे। यद्यपि उन दोनों का सम्मिलन धर्म से अनुमोदित नहीं था ; पर फिर भी उसमें एक प्रकार की विशिष्ठ माधुरी थी जिसकी ओर रसिक और कवि का कल्पना-प्रिय हृदय स्वतः ही आकृष्ट हो जाता है। अस्तु ; प्रेमतीर्थ ने बड़े अनुराग के साथ राधा का कर-पल्लव अपने हाथ में लेकर कहा—"प्राणेश्वरि ! बड़े भाग्य से

मैंने तुम्हें पाया है। साक्षात् वन-देवी की भाँति मानों तुम मेरी इस निर्जन कन्दरा को आलोकित करने के लिये आई हो। मेरे हृदय-साम्राज्य की अधीश्वरि! आज मेरे इस परम सौभाग्य को देख कर साक्षात् इन्द्रदेव भी ईर्ष्या से आकुल हो उठे होंगे।"

राधा ने मधुर स्वर में कहा—"प्राणेश्वर! तुम्हारा यह साधु संग-सुख मेरे अनेक जन्मों के पुण्यों का मधुर फल है। तुमने मेरे जीवन-वन को सार्थक किया है। क्या होता इस उत्फुल्ल यौवन का, इस प्रसन्न माधुरी का, इस उज्ज्वल सौन्दर्य्य का, यदि उस सरस सन्ध्या के समय, यमुना के नीरव निर्जन तट पर, तुम साक्षात् देवेश्वर की भाँति, मेरे प्रेम की अञ्जलि स्वीकार न करते!"

प्रेमतीर्थ ने हँस कर कहा—"कैसे न करता? वह क्या मेरे वश की बात थी। एक ही विदग्ध कटाक्ष में तुमने मेरे हृदय को वशीभूत कर लिया था और मैंने प्रथम दर्शन ही के अवसर पर तुम्हारे इन प्रफुल्ल कमल के समान राग-रञ्जित चरणों में अपनी समस्त साधना, अपनी समस्त विभूति, अपनी समस्त सम्पत्ति, एक तुच्छ भेंट के समान समर्पित कर दी थी। तुमने मेरे हृदय के रस-मन्दिर में प्रेम के काञ्चन-आसन पर आसीन होकर मेरे जीवन को अपार माधुरी से परिपूर्ण कर दिया है। आज मैं अपने समान त्रिभुवन में किसी को सौभाग्यशाली नहीं समझता हूँ।"

राधा ने अनुरागभरी दृष्टि से प्रेमतीर्थ को देखते हुये, सरस स्वर में कहा—"और तुम्हारे पवित्र प्रेम की अधिकारिणी

होकर आज मैं भी अपने समान किसी को सौभाग्यवती नहीं मानती हूँ, मेरे हृदयेश !"

प्रेमतीर्थ—"सच कहती हो, हृदयेश्वरी ! प्रेम और रसमयी विलास-वासना ही जीवन के मधुर सार हैं। कौन आनन्द इस सुख की समता कर सकता है, जो हमें इस समय प्राप्त है।"

राधा—"पर देखना मेरे हृदय-धन ! किसी दिन इस रसरंग की ओर से उदासीन होकर मुझे परित्याग मत कर देना। इसमें सन्देह नहीं कि लौकिक रीति से मेरा पाणि-ग्रहण एक निर्बल, निकृष्ठ बालक के साथ हुआ था; पर आदि-शक्ति को साक्षी बना कर मैं कहती हूँ कि मैंने मन, वचन और कर्म तीनों ही से तुम्हें पति वरण किया है। हृदयेश्वर ! मेरा विश्वास करना, मैं सब प्रकार से पवित्र हूँ। मेरे इस यौवन-वन में इससे पहिले किसी ने विहार नहीं किया है, मेरे सौन्दर्य-सुमन को इससे पहिले किसी ने नहीं सूँघा है और मेरे इस अधर ने इससे पहिले किसी के चुम्बन का रस नहीं चखा है। तुम्हीं मेरे प्राणेश्वर हो, तुम्हारे ही चरणों में मैंने अपने प्रेम-यौवन और रस-माधुरी की अञ्जलि समर्पित की है। देखना, प्यारे, किसी दिन इस अबला का तिरस्कार मत कर देना। इस विश्व में तुम्हीं मेरे एकान्त आधार हो।" राधा के विशाल मदमय लोचनों में उसी प्रकार दो बूँद आँसू छलक आये, जैसे प्रभात-पद्म पर ओस के दो कण शोभायमान होते हैं। राधा की उस अश्रुमयी दृष्टि में कितना अनुराग, कितनी विनय एवँ कितना रस था—इसे लिख कर बताना एकान्त असम्भव है। प्रेमतीर्थ ने उसकी

कटि में हाथ डाल कर प्रेम पूर्वक उसे अपनी ओर खींच लिया—उत्फुल्ल अनुराग से भरी हुई दृष्टि से उसे देख कर प्रेमतीर्थ ने कहा—"तुम्हें छोड़ूँगा? यह असम्भव है। कदाचित् तुम यही नहीं जानती हो कि तुम्हें छोड़ने का अर्थ क्या है? तुम्हें छोड़ना अपने इस रसमय जीवन को मरुभूमि में परिणत करना है; तुम्हें छोड़ना भगवान् की दी हुई इस अपूर्व माधुरी का तिरस्कार करना है; तुम्हें छोड़ना बड़े सौभाग्य से पाई हुई इस लावण्य-लक्ष्मी का अपमान करना है। प्राणेश्वरि! मैं तुम्हें उसी दिन छोड़ूँगा जिस दिन मैं अपने प्राणों को छोड़ दूँगा। तुम तो मेरे इस जीवन की अक्षय ज्योति-माला हो; तुम्हें छोड़ कर क्या मैं अन्धकार में ठोकरें खाता फिरूँगा?"

अपने प्रेमी के इस उल्लासमय आश्वासन को पाकर राधा का हृदय अनुराग और आनन्द से खिल उठा। उसने भी प्रेम सहित प्रेमतीर्थ के गले में अपनी कोमल बाहु-लता झुला दी। मन्द मन्द मुस्काते हुये उसने कहा—"प्यारे! तुम पुरुषों का क्या विश्वास? तुम्हारी प्रकृति तो उस रस-प्रिय मधुप की सी है, जो प्रत्येक विकसित कुसुम के रसपान करने को सदा लालायित रहता है?"

इसमें सन्देह नहीं कि राधा के यह वाक्य उस मधुर व्यंग्य से भरे हुये थे जो दो प्रेमियों की रस-धारा का अनिवार्य्य अंश होता है। उन्हें सुन कर प्रेमतीर्थ के हृदय में अनुराग की धारा उच्छ्वसित हो उठी। उन्होंने बड़े आदर पूर्वक राधा का चिबुक उठा कर कहा—"प्राणेश्वरि! आज प्रकृति के परम-पावन

मन्दिर में, पवित्र सलिला नर्मदा के विमल दुकूल पर, मैं देवताओं को साक्षी बना कर, तथाच महामाया के श्री-चरणों की शपथ खाकर कहता हूँ कि मैं तुझे सदा अपने हृदय का हार बना कर रखूँगा। दुःख में तुम मेरी सन्तोष-धारा बनना और सुख में तुम मेरी आनन्द-श्री का स्वरूप धारण करना। जगदीश्वरी साक्षी है, मैंने आज तक किसी से प्रेम नहीं किया है, सब से पहिले तुम्हारे ही चरणों में मैंने अपना हृदय समर्पित किया है। मैं भ्रमर नहीं हूँ, मैं चातक हूँ। समुद्रों, सरिताओं और सरोवरों का राशि राशि जल होने पर भी केवल एक श्वाति-बूँद ही मेरी पिपासा को शान्त कर सकती है और वह श्वाति-बूँद हो तुम—तुम—मेरे हृदय-मन्दिर की उज्ज्वल आलोकमाला!"

राधा—"प्राणेश्वर! क्या तुम मेरे इस व्यंग्य का बुरा मान गये। यदि ऐसा हो तो मैं उसके लिये क्षमा माँगती हूँ।"

प्रेमतीर्थ—"बुरा! नहीं प्रियतमे! तुम्हारी बातों का मैं बुरा मान सकता हूँ? तुम्हारे इस कोमल कण्ठ से निकली हुई मधुर वाणी को सुन कर तो मेरी आत्मा आनन्द से विभोर हो जाती है। वसन्त कोकिल की कोमल कूक सुन कर जिस प्रकार नन्दन-वन रोमाञ्चित हो जाता है, उसी प्रकार मेरा हृदय भी तुम्हारी इन मधुर रसमयी बातों को सुन कर आनन्दमय हो उठता है। तुम्हारी वाणी मेरे प्राणों के लिये दिव्य संगीत के समान है।"

राधा मुस्कुराई ; बोली—"जीवन-धन ! वास्तव में तुम बड़े वाक् चतुर हो। रमणी के सरल हृदय को एकान्त प्रलुब्ध करने की क्रिया में तुम परम कुशल हो, प्यारे !"

प्रमतीर्थ—"हो सकता है। कम से कम इतना तो मैं अवश्य अहङ्कार कर सकता हूँ कि प्राणेश्वरी के हृदय को अनुनय और विनय से द्रवीभूत करने का मन्त्र मुझे सिद्ध है।"

राधा—"अवश्य सिद्ध है। उस मन्त्र-शक्ति के प्रभाव से आज मैं इन श्री-चरणों की दासी हूँ और मेरी यही भगवती से प्रार्थना है कि वह मुझे सदा अपने इन चरणों से संयुक्त रखे। दुःख में, सुख में मैं सदा इन्हीं चरणों का ध्यान करती रहूँ और परलोक में भी इन्हीं चरणों की स्मृति अपने सङ्ग ले जाऊँ।"

राधा ने बड़े प्रेम से प्रेमतीर्थ की ओर देखा; प्रेमतीर्थ ने भी बड़े उल्लास पूर्वक उस कोमल दृष्टि का अभिनन्दन किया। आन्तरिक उल्लास से उस समय राधा का मुख-मण्डल प्रदीप्त हो रहा था। प्रेमतीर्थ भी उस उज्ज्वल माधुरी को देख कर अत्यन्त उत्फुल्ल हो रहे थे। प्रेमतीर्थ ने बड़े आदर और अनुराग से उसे अपनी ओर खींच कर हृदय से लगा लिया। दोनों के अधर एक दूसरे से मदमय चुम्बन में आबद्ध हो गये। रति की कलकलमयी सरिता में वे दोनों निमग्न हो गये !

रसरंगमयी रति-लीला का प्रोज्ज्वल विलास चाहे पापमय हो चाहे पुण्यमय, परन्तु उसके ललित लावण्य की ओर से दृष्टि फेर लेना किसी विरले ही योगीश्वर के लिये सम्भव है।

जिस समय राधा और प्रेमतीर्थ आनन्द से प्रेमालाप कर रहे थे, उस समय उन्हें पता तक नहीं था कि उनकी उस रस-लीला को कोई छिपे छिपे देख रहा है। परन्तु एक जन देख अवश्य रहा था। वन्य पुष्प-पादपों के निकुञ्ज के पीछे खड़ा होकर एक पुरुष उन दोनों की उस रंगमयी विलास-लीला को बड़ी उत्सुक दृष्टि से देख रहा था। परन्तु उस पुरुष की दृष्टि में उत्सुकता के साथ ईर्ष्या और आक्रोश का भी सम्मिलन था। प्रेमतीर्थ और राधा जितने ही उल्लास के साथ परस्पर वार्तालाप करते थे, उतना ही वह क्रोध और ईर्ष्या से प्रज्वलित होता जाता था। जिस समय राधा और प्रेमतीर्थ दोनों मदमय चुम्बन और अनुरागमय आलिङ्गन में आबद्ध हुये थे, उस समय उस पुरुष की मुद्रा कोप और विद्वेष से अत्यन्त भयंकर हो गई थी। उसने एक बार अपने वस्त्रों से चमचमाता हुआ छुरा निकाला; चन्द्रमा की चाँदनी में वह झलमला उठा। एक बार वज्र-मुष्टि से उसे उसने पकड़ा; पर दूसरे ही क्षण कुछ सोच कर उसने उसे फिर अपने वस्त्रों में छिपा लिया। वह अपने आप कहने लगा:—

"ओफ़! कैसा उज्ज्वल सौन्दर्य्य है? कितना सुन्दर, कितना मनोरम, कितना मधुर उसका मुख-चन्द्र है? नहीं; मैं इसे अवश्य अपनाऊँगा। कुछ भी हो, इस सुन्दरी को अपनी पर्य्यङ्क-शायिनी बनाये बिना मैं नहीं मान सकता। हत्या करनी होगी; करूँगा—प्राणों की बाज़ी लगा कर मैं उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। इस अपूर्व सुन्दरी को प्राप्त करने के प्रयास में यदि प्राणों की भी आहुति हो जाय तो मुझे वह स्वीकार है।"

क्षण भर के लिये वह चुप हो गया। राधा और प्रेमतीर्थ दोनों उस समय रस की धारा में शिखा पर्य्यंन्त डूबे हुये थे, उस समय उनकी उस मदमयी रति-लीला की रागिनी पञ्चम स्वर में पहुँच गई थी। दाँतों से अपने होठों को चबाता हुआ वह फिर कहने लगा :—

"सरदार! तुम्हें इस सौन्दर्य्य को मेरे हाथों में देना ही होगा। मैं जानता हूँ, तुम राज़ी से इस अमूल्य रत्न को नहीं दोगे। मैं जानता हूँ, तुम से मैं द्वन्द्-युद्ध में जीत नहीं सकूँगा। मैं जानता हूँ, तुम्हारा अतुल प्रभाव है; तुम्हारी अपूर्व शक्ति है; तुम्हारे सामने बड़े बड़े योद्धा भी काँप उठते हैं; तुम्हारी तीव्र दृष्टि के सामने केसरी तक काँप उठता है; पर फिर भी मैं तुम्हारे हाथों से इस उज्ज्वल मणि को छीन लूँगा। इसके लिये मैं तुम्हारी हत्या करूँगा; सामने से नहीं मार सकूँगा; पीछे से तुम्हारे वक्षस्थल में यह चमचमाता हुआ छुरा घुसेड़ दूँगा। जागते में यदि मैं तुम्हारी हत्या नहीं कर सकूँगा तो सोते में तुम्हारे इसी हृदय के, जिस पर तुम इस समय इस अपूर्व सुन्दरी को धारण किये हुये हो, तप्त शोणित से अपनी छुरी का अभिषेक कराऊँगा। छोड़ूँगा नहीं; मैं छोड़ना नहीं जानता हूँ। धर्म और पुण्य की चिन्ता मुझे भी संकल्प से विचल नहीं कर सकती। तुम्हारी हत्या मैं अवश्य करूँगा। कल प्रातःकाल होने से पहिले ही तुम परमधाम को पहुँच जाओगे। सावधान!"

पाठक-पाठिकायें संग्रामसिंह को नहीं भूले होंगे। यमुना-तट पर एक बार वे उससे साक्षात् कर चुके हैं। यह वही संग्राम-

सिंह है, जो अपने सरदार की हत्या के लिये व्याकुल हो रहा है। धन्य रे रमणी के विलासमय सौन्दर्य्य! तेरे कारण इस विश्व में आज तक जितना रक्त-पात हुआ है, उतना सम्भवतः किसी और कारण से न हुआ होगा। तेरा ही आश्रय लेकर शैतान दो हृदयों में भयंकर आक्रोश और विद्वेष उत्पन्न करा देता है।

संग्रामसिंह अपनी जगह से हट कर कुछ दूर चला गया और वहाँ से उसने ठीक वैसी ही ध्वनि की जैसी एक दिन हमने यमुना-तट पर सुनी थी। उस ध्वनि को सुनते ही प्रेमतीर्थ और राधा दोनों चौंक पड़े। प्रेमतीर्थ ने राधा को कन्दरा में जाने की आज्ञा देकर स्वयँ भी उसी प्रकार संकेत ध्वनि की। दो ही मिनट में संग्रामसिंह ने अपने सरदार के सामने आकर अभिवादन किया। सरदार ने मुस्करा कर उस अभिवादन का अभिनन्दन किया।

प्रेमतीर्थ ने पूछा—"संग्रामसिंह! दल का समाचार लाये; सब लोग कहाँ है?"

संग्राम०—"सरदार! इस समय वे सब नागपुर में हैं और एक धनाढ्य महाजन के घर पर आक्रमण करने की आयोजना कर रहे हैं।"

प्रेमतीर्थ—"अच्छी बात है। उन्होंने और कोई समाचार भेजा है?"

संग्रामसिंह—"हाँ; उन सबों ने कहा है कि बहुत दिनों से सरदार के दर्शन नहीं हुये। दूसरे इस वर्तमान आक्रमण में

आपकी प्रखर प्रतिभा और अजेय साहस की भी आवश्यकता होगी। उन्होंने आप से दर्शन देने की प्रार्थना की है।"

प्रेमतीर्थ क्षण भर तक कुछ सोच कर फिर बोले—"अच्छी बात है, मैं परसों यहाँ से प्रस्थान करूँगा।"

संग्रामसिंह—"सरदार की जय हो। मुझे आज्ञा हो तो मैं जाऊँ। उन्हें पहिले ही से समाचार दे दूँ।"

प्रेमतीर्थ—"जाओ।"

संग्रामसिंह की आँखों में एक प्रकार की कुटिलता प्रकट हुई, पर प्रेमतीर्थ उसे न देख सके। सरदार को अभिवादन करके संग्रामसिंह चला गया। पर वह गया कहीं नहीं और पास ही की किसी झाड़ी में उसी प्रकार छिप कर पड़ रहा; जिस प्रकार चीता अपने शिकार की प्रतीक्षा में चुपचाप, किन्तु सचेत होकर छिपा बैठा रहता है।

प्रेमतीर्थ कन्दरा में चले गये और उसी प्रकार रस-धारा में निमग्न हो गये। वे विचारे क्या जानते थे कि उनका वह रस-विलास प्रभात काल से पहिले ही मृत्यु की विकराल धारा में विलीन होने वाला है। मनुष्य का जीवन-तन्तु कितना सूक्ष्म है, कितना निर्बल है!

विलास की रस-सरिता विनाश की वैतरणी में किस समय विलीन हो जायगी—यह कौन कह सकता है?

चालीसवाँ परिच्छेद

अस्पष्ट आशंका

अन्नपूर्णा और राजेन्द्र के प्रेम-पथ को सौभाग्य ने स्वतः ही परिष्कृत कर दिया था। न तो उनके मंगल-मार्ग में कोई लौकिक वाधा ही समुपस्थित हुई थी और न किसी प्रकार के दुर्भाग्य-कण्टक ने ही उनके प्रणय की मृदुल गति में विघ्न डाला था। उसका कारण प्रत्यक्ष ही था; उनका प्रेम-पुण्य से अनुमोदित था; धर्म से समर्थित था; गुरु-जन ने स्नेह और आदर से उसका अभिनन्दन किया था। वहुत से लोगों का यह विचार है कि जो पदार्थ सरलता से समुपलब्ध हो जाता है, उसके प्राप्त हो जाने पर वैसा आनन्द नहीं होता है जैसा कठिनता से, विघ्न-वाधाओं को अतिक्रम करके प्राप्त होने वाले पदार्थ की प्राप्ति से। उनके इस तर्क को हम अंशतः स्वीकार करते हैं। हमारा विश्वास है कि यह उन्हीं विषयों से सम्वन्ध रखता है, जिनके द्वारा अपेक्षाकृत न्यून अथवा अधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। पर प्रणय के साफल्य पर जो आनन्द प्राप्त होता है, वह दूसरे ही प्रकार का आनन्द है। वह आत्यान्तिक

आनन्द है; उस आनन्द में दिव्य शान्ति, तथा मधुर त्याग भी सम्मिलित रहते हैं; इसी लिये उस सम्बन्ध में यह तर्क हमें मान्य नहीं है। हमारा विश्वास है कि प्रणय की गति चाहे मृदुल हो चाहे वाधा-पूर्ण परन्तु उसकी सफलता का आनन्द इससे कुछ घटता-बढ़ता नहीं है। चाहे प्रथम-दर्शन पर ही प्रेमियों का सम्मिलिन हो जाय और चाहे जन्म-जन्मान्तर की तपस्या के उपरान्त उनको परस्पर का संग-सुख प्राप्त हो, पर उस संगसुख का आनन्द समान ही रहेगा; उस आनन्द के महासागर में इससे कुछ कमी-बेशी नहीं होगी। भक्तवर प्रह्लाद को तीन ही महीने की तपस्या में भगवान् की मधुर मूर्ति का दर्शन मिल गया था, पर बड़े बड़े ऋषियों को वही सौभाग्य ६० हज़ार वर्ष बाद मिला था; इससे क्या यह सिद्ध होता है कि भक्तर्षि प्रह्लाद को उन तपोधन ऋषियों से भगवद्दर्शन के प्राप्त होने पर, कम आनन्द हुआ होगा। नहीं; यह उद्भ्रान्त कल्पना है। राजेन्द्र और अन्नपूर्णा ने भी इसी लिये उसी अखण्ड आनन्द, मधुर शान्ति तथा उत्फुल्ल उल्लास की त्रिवेणी में आनन्द पूर्वक स्नान किया। उनका प्रणय प्रयाग-तीर्थ में परिणत हो गया।

राजेन्द्र तो जिस दिन अपनी यात्रा से लौटा था, उसके तीसरे ही दिन से अपनी प्रजा की आवश्यकताओं की परिपूर्ति करने की व्यवस्था में लग गया। इसी लिये उसे तो बसन्त-कुमार की ओर ध्यान देने का समय मिला ही नहीं। वह तो अपनी ही धुन में तल्लीन था। अन्नपूर्णा के साथ अपने आनन्द-मिलन की बात सुन कर वह और भी अधिक उत्साह और

अध्यवसाय से अपने काम में लग गया था। परन्तु अन्नपूर्णा के हृदय में भाई की विषादमयी मुद्रा ने एक प्रकार का तुमुल आन्दोलन मचा रखा था। राजेन्द्र और सुभद्रा को आये हुये आज सात दिन व्यतीत हो गये थे, पर वसन्त की वह विषाद-छाया बढ़ती ही जाती थी। देवी सुभद्रा का भी ध्यान इस ओर आकर्षित नहीं हुआ था; केवल अन्नपूर्णा और बापू जी यही दो जन उनकी उस विषाद-छाया को ध्यान पूर्वक देखते थे और उसके मूल कारण को जानने की चेष्टा में संलग्न थे। बापूजी ने तो आज स्पष्ट रूप से उनकी इस विषाद-छाया का कारण जान लिया था; पर अन्नपूर्णा अभी तक इस विषय में अनभिज्ञ थी। वह देखती थी कि नित्य-प्रति भाई वसन्त की विषाद-मुद्रा अपेक्षाकृत अन्धकारमयी होती जाती है; उनकी मुख-कान्ति नित्य प्रति पीली पड़ती जाती है और उनका स्वास्थ्य नित्य-प्रति बिगड़ता जाता है। इसी लिये बिचारी अन्नपूर्णा का सरल हृदय हर समय उद्विग्न रहता था। यद्यपि देवी सुभद्रा के आ जाने से उसे बहुत कुछ सुविधा हो गई थी और वह अब भाई की परिचर्य्या में अधिक समय लगा सकती थी; पर वसन्त-कुमार तो घर पर केवल रात ही को आते थे। इधर कई दिनों से दिन में वह केवल थोड़ा सा दूध पी लेते थे; उन्होंने दिन का भोजन भी छोड़ दिया था। अन्नपूर्णा के हृदय में प्राणेश्वर के दर्शन और उनके साथ विवाह होने की निश्चित व्यवस्था से जो आनन्द-धारा उच्छ्वासित हो उठी थी, वह भाई की इस वेदनामयी विषाद-छाया के कारण वहाँ की वहाँ ही दब गई।

सच पूछिये तो उसका आनन्द भाई की विशाद-धारा में निमग्न हो गया था। इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय अकस्मात् राजेन्द्र उसकी दृष्टि-पथ पर पड़ जाता था, उस समय उसके हृदय में वही आनन्द-मन्दाकिनी उद्वेलित हो उठती थी। परन्तु उसका शेष समय भाई के विषय में ही सोचते सोचते व्यतीत होता था। हृदय की किसी अज्ञात प्रेरणा के कारण वह अपने इस दुःख की बात देवी सुभद्रा से नहीं कहती थी और बापूजी से फिर इस सम्बन्ध में बातचीत करने का उसे अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। उसका कारण यह था कि अब वह बापूजी से एकान्त में वार्तालाप करने का उसे समय ही नहीं मिलता था। एक तो वैसे ही उसे अब उनके सामने जाने से संकोच-सा प्रतीत होता था, दूसरे लगभग सभी समय देवी सुभद्रा उनके पास उपस्थित रहती थी। इस प्रकार अपने कोमल सरल हृदय में भयङ्कर आकुलता को लिये हुये वह घर के एक कमरे से दूसरे कमरे में मारी मारी फिरती थी। उसका किसी काम में मन नहीं लगता था; इधर कई दिनों से उसका स्वाध्याय भी बन्द था। रात में जब बापूजी और सुभद्रा उसे शास्त्रीयी ग्रन्थ पढ़ाते थे, उस समय भी उसका ध्यान गम्भीर विषयों की व्याख्या में न लग कर भाई की ही ओर प्रधावित होता था। अन्नपूर्णा अपने आनन्द की ओर से उदासीन होकर भाई के दुःख से व्यथित हो रही थी। यही निस्वार्थ स्नेह का मधुर स्वरूप है।

कभी अन्नपूर्णा के मन में आता था कि वह अपने प्राणेश्वर से सब बातें निवेदन कर दे और उनसे प्रार्थना करे कि वह

वसन्तकुमार की उस विषाद-वेदना का मूल कारण जानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करें परन्तु रमणी-सुलभ लज्जा उसके मुख पर ताला लगा देती थी। बिचारी अन्नपूर्णा बड़ी दुविधा में पड़ी हुई थी। भाई से पूँछ नहीं सकती थी; सुभद्रा से कह नहीं सकती थी; राजेन्द्र से कहते लज्जा आती थी और बापूजी को स्मरण दिलाने का अवसर नहीं मिलता था। तब क्या करे? इधर दिन दिन भाई की दशा बिगड़ती जाती थी। बहुत कुछ सोचने-विचारने पर उसने यही निश्चय किया कि वह भाई ही से फिर इस सम्बन्ध में बातचीत करेगी। इसके अतिरिक्त उस जटिल समस्या को हल करने का और कोई उपाय नहीं था।

बापूजी के चरणों की रज शिर पर धारण करके वसन्त सहसा वहाँ से उद्भ्रान्त होकर चल दिये थे—यह बात हम पहिले ही कह चुके हैं। यद्यपि पहिले तो वसन्तकुमार यमुना-तट की ओर ही प्रधावित हुये थे; परन्तु न मालूम क्या सोच कर वे आधे रास्ते से घर की ओर लौट पड़े। जाते समय उनकी गति जैसी वेगवती थी, आते समय उसमें बहुत कुछ कमी हो गई थी। जाते समय तो वे एक आन्तरिक आवेग के साथ प्रधावित हुये थे; परन्तु अब आते समय वे अपने उद्भ्रान्त, अग्निमय भावों को शान्त करने की प्रचेष्टा कर रहे थे। परन्तु उनके हृदय और मस्तिष्क में एक अग्निमय आन्दोलन हो रहा था और उसके बीच में उठ रहा था तुमुल कोलाहल। उनके मुख पर तीव्र वेदना और उनकी आँखों में विकल

उद्भ्रान्ति की छाया परिलक्षित हो रही थी। उन्होंने धीरे धीरे अपने अन्तःपुर वाले कमरे में प्रवेश किया। अपने कमरे में जाकर वे एक कोच पर पड़ रहे। पड़े पड़े वे अपने विचारों को एक सूत्र में गूँथने की प्रचेष्टा कर रहे थे; पर उस चेष्टा में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती थी। एक के उपरान्त एक भाव आता था, दूसरा जाता था और तीसरा उन दोनों को पीछे से ढकेल देता था। ज्वार के समय महासागर की तरंगों में परस्पर जैसा भयङ्कर युद्ध होता है, बसन्तकुमार के हृदय में भी वैसा ही भावों का भीषण संघर्षण हो रहा था। इस प्रकार लगभग २ घण्टे तक वे अपने कोच पर चुपचाप पड़े रहे। किसी प्रकार भी वे अपने उन उच्छृङ्खल भावों को शान्त नहीं कर सके।

सूर्य्य पश्चिम प्रान्त से थोड़ी ही दूर पर रह गये थे; उनकी यात्रा के अवसान में अब कठिनता से ½ घण्टा और था। धीरे धीरे बसन्तकुमार के कमरे में भी अँधेरा होता जाता था और उनके सामने की खिड़की से, जो दूर पर प्रकृति की हरित-श्यामल वन-स्थली दिखाई देती थी, उस पर भी धीरे धीरे छाया का आधिपत्य हो रहा था। बसन्त धीरे धीरे अपने कोच से उठे। उन्होंने अपना बॉक्स खोला और उस बॉक्स में से उन्होंने एक चमचमाता हुआ छुरा निकाला। उसे उन्होंने बड़ी सावधानी से अपने कोट के भीतर वाली बड़ी जेब में रखा। अभी इस कर्म को किये हुये उन्हें २ मिनट भी नहीं हुये होंगे कि विषाद-वदना अन्नपूर्णा ने उनके कमरे में मन्द मन्थर-गति से प्रवेश किया। उसकी आँखों में आँसू भरे हुये थे!

वसन्तकुमार अपनी सरल सहोदरा की इस विषण्ण मुख-मुद्रा को देख कर अत्यन्त दुखी हुये। उसका कारण उनसे छिपा नहीं रहा—वे जान गये कि उनकी उस दुखमयी दशा ही के कारण अन्नपूर्णा के हृदय में आकुलता की उत्पत्ति हुई है। वसन्तकुमार अपने आप को रोक नहीं सके और अन्नपूर्णा को हृदय से लगाकर वे बालकों की भाँति फूट फूट कर रोने लगे। बालिका अन्नपूर्णा भी भाई के संतप्त वक्षस्थल पर अपना सिर रख कर अश्रु-वर्षा करने लगी। उस समय उन दोनों की आँखों से आँसुओं की जो पवित्र धारायें निकल रही थीं, उनकी अपार महिमा थी। वे दोनों अपने लिये, अपनी व्यथा के लिये, नहीं रो रहे थे; अन्नपूर्णा भाई की दुःख-दशा देख कर अश्रु-वर्षा कर रही थी और वसन्तकुमार सरल सहोदरा की उस स्नेहमयी समवेदना को अवलोकन करके फूट फूट कर रो रहे थे। आज तक अपनी उस दारुण व्यथा से नित्य आकुल होकर भी वसन्त कभी इतने हाहाकार करके नहीं रोये थे; अन्नपूर्णा ने तो कदाचित् आज की जैसी आकुलता के साथ कभी विलाप नहीं किया था। उनकी आँखों से पतित होने वाली अश्रु धारायें, इसी लिये स्नेहमय त्याग की दो विमल कल्लोलिनी थीं; निस्वार्थ प्रणय रूपी विन्ध्याचल की नर्मदा और गोदावरी थीं। लगभग १० मिनट तक दोनों इसी भाँति रोते रहे। उस समय कोई तीसरा तो था ही नहीं जो उन दोनों को शान्त करता; वसन्तकुमार ही ने पहिले अपने आँसुओं को रोक कर अपनी स्नेहमयी सहोदरा के आँसू अपने रूमाल से पोंछे। बड़ी आदरमयी सान्त्वना के

उपरान्त अन्नपूर्णा को वे शान्त करने में समर्थ हुये। पर उन दोनों के अन्तर में जो व्यथा और समवेदना हाहाकार कर रही थी, उन्हें शान्त करने में वे दोनों अक्षम सिद्ध हुये।

वसन्तकुमार ने स्नेह और आदर से अन्नपूर्णा को कुर्सी पर बैठा दिया और आप भी उसी के पास कुर्सी डाल कर बैठ गये। प्रेम से भरे हुये स्वर में उन्होंने कहा—"अन्नपूर्णा! तू क्यों वृथा इतना दुःख करती है? तेरा यह आनन्द का अवसर है; भगवती की दया से तू ने देवता के समान वर पाया है; ऋषि के समान तेरे श्वसुर हैं और साक्षात् भगवती के समान तेरी ननद है। तुझे क्या चिन्ता है? बेटी! तू यह जानती है कि इस विश्व में तू ही मेरी सर्वस्व है; तेरे मुख पर विषाद की छाया देख कर मेरे हृदय को घोर कष्ट होता है।"

अन्नपूर्णा ने अपने सहज-मधुर स्वर में कहा—"दादा! सो सब ठीक है। पर तुम क्यों दुखी हो? तुम्हारे इस सुन्दर मुख पर दुःख की छाया क्यों छाई हुई है? तुमने तो मुझे वचन दिया था कि तुम अपनी इस दुःख को दमन करने का प्रयत्न करोगे; पर मैं देखती हूँ कि तुम्हारी यह विषाद-मुद्रा तो दिन पर दिन अन्धकारमयी होती जाती है।"

वसन्तकुमार इसका क्या उत्तर देते? इसका उत्तर उनके पास था ही नहीं। इसी लिये वे उस विषय को टाल कर बोले—"जाने दो बेटी इन बातों को। मेरे दुःख को लेकर तुझे दुखी होना क्या सोहता है? तू यह नहीं जानती है कि केवल इस विश्व में मैं ही एक ऐसा व्यक्ति नहीं हूँ जिसके सुख-दुःख को

लेकर तू सदा चिन्ता करती रहे। पहिले की बात दूसरी थी; पर अब तो राजेन्द्रकुमार का सारा परिवार तेरी मङ्गल भावना का पात्र है। बेटी! मूर्तिमती सेवा के समान तू सब की परिचर्या कर; यदि तू इसी भाँति आकुल होती रहेगी, तो अपने विशाल उत्तरदायित्व को तू कैसे निबाहेगी? अन्नपूर्णा! शास्त्र की आज्ञा तो तुझ से छिपी नहीं है। तू तो मुझ से भी अधिक विदुषी है। भाई नहीं, पति ही रमणी की समस्त चिन्ताओं, समस्त भावनाओं और समस्त धारणाओं का एक मात्र पात्र है।"

उस दुःख के अवसर में भी सरल हृदया अन्नपूर्णा के मुख पर एक बार, चञ्चल और सौदामिनी की भाँति, हँसी खिल गई। उसने कहा—"दादा! इस प्रकार मुझे भुलावा मत दीजिये। शास्त्र की बात जाने दीजिये। मैं आप से पूछती हूँ, क्या मैं उन देवता की ओर से एक बार ही उदासीन हो जाऊँ; जो मेरे कैशोर जीवन के प्रधान रक्षक थे, जिनकी गोद में बैठ कर दिव्य उपदेशों का रस-पान किया है और जिन्होंने स्वयँ भी कोमल कलेवर बालक होकर अपनी छोटी सहोदरा का, पिता माता के दुलार से भी अधिक, लालन-पालन किया था। न, दादा! यह असम्भव है। यदि यह मेरे आनन्द का अवसर है, तो यह आप के भी हर्ष का समय है।"

अन्नपूर्णा की स्नेहमयी वाणी ने वसन्तकुमार के हृदय में शीतल धारा प्रवाहित कर दी। उस प्रलय ज्वाला को उस शीतल धारा ने क्षण भर के लिये शान्त कर दिया। वसन्त ने सहोदरा की उस प्रसन्न शोभामयी मुख-श्री की ओर एक बार

देखा; उस पर अपार अनुराग की कान्ति विलसित हो रही थी। बसन्तकुमार ने आदर पूर्वक सहोदरा का दक्षिण कर-कमल अपने हाथ में लेकर कहा—"इसमें संदेह क्या है ? पिता जी की मृत्यु-शय्या पर मैंने जो उनकी इच्छा की पूर्ति के लिये जो प्रतिज्ञा की थी, उसे भगवती ने आज स्वयँ पूरी कर दी। आज मुझ से बढ़ कर आनन्द किसको है ? कौन मेरे समान आज सुखी है ? महामाया से मेरी यही प्रार्थना है कि तू सुख सौभाग्यवती हो; तू वीर सन्तान-प्रसविनी हो; तेरे ललाट पर महिषी का महिमामय मुकुट सुशोभित हो। पर अन्नपूर्णा, तू अब दुःख मत कर! तेरा भाई शीघ्र ही अपार व्यथा के हाथों से छुटकारा पा जायगा। आ बेटी! तुझे एक बार फिर हृदय से लगा लूँ। यह शरीर क्षण-भङ्गुर है; इस जीवन का क्या पता है किस समय समाप्त हो जाय। इसी लिये बेटी, कर्तव्य ही को जीवन का प्रमुख धर्म मानना चाहिये। संसार के दुःख सुख में पड़कर कर्तव्य की कभी अवहेलना मत करना। मैं तो अब निश्चन्त हूँ; तुझे अपने से कई लाख गुना अच्छे हाथों में सौंप कर मैं आज मानो बड़ी भारी चिन्ता से विमुक्त हो गया हूँ। देखना बेटी, भगवती की मङ्गलमयी व्यवस्था ने आज तुझे जिस साम्राज्य की अधीश्वरी बनाया है, उस पर तू असीम अनुराग के साथ, निस्स्वार्थ सेवा के साथ, पवित्र परिचर्य्या के साथ, शासन करना। यही मेरा तेरे लिये उपदेश है, यही भाई का तेरे लिये मङ्गल-उपहार है।"

इतना कह कर बसन्तकुमार ने अन्नपूर्णा के तेजोमय ललाट

को स्नेह पूर्वक चुम्बन किया और एक बार फिर उसे हृदय से लगा कर के सहोदरा को उसी उत्कण्ठित अवस्था में छोड़ कर शीघ्रता पूर्वक बाहर चले गये।

परन्तु सहोदर की इस अनुराग भरी मङ्गलमयी वाणी को सुन कर भी अन्नपूर्णा को पूर्ण परितोष नहीं हुआ। उसे इन शब्दों के अन्तराल में एक प्रकार की अमङ्गलमयी सूचना का सा आभास होने लगा और भाई का इस प्रकार का व्यवहार देख कर उसके हृदय की आकुलता घटने के स्थान पर बढ़ गई। सहोदर के वचनों में स्नेह था, आदर था, मङ्गल-आशीर्वाद था, पर साथ ही साथ "जीवन की क्षण-भङ्गुरता" की एक अमङ्गलमयी अस्पष्ट सूचना भी थी। अन्नपूर्णा इसी पर विचार करते करते अपने कमरे की छत पर चली गई। उस समय सूर्य्यास्त का समारोह हो रहा था। पश्चिम का लोहित-वर्ण आकाश प्रज्वलित स्मशान के समान प्रतीत होता था और धीरे धीरे पूर्व की ओर से अन्धकार का आधिपत्य बढ़ता जाता था। अन्नपूर्णा को प्रकृति के उस अभिनय में भी जीवन की असारता का एक अस्पष्ट संकेत दिखाई दिया। मन ही मन वह सरल बालिका राजराजेश्वरी भगवती त्रिपुर सुन्दरी के भाई के मङ्गल की भिक्षा माँगने लगी। भगवती क्या ऐसी पुण्यमयी याचना को अस्वीकार कर सकती हैं?

हृदय की भावना को चाहे कितनी ही क्यों न छिपाने की चेष्टा की जाय, पर वाणी के प्रमोद-वन में अवश्य ही उसका संकेत-अङ्कुर प्रस्फुट हो जाता है।

इकतालीसवाँ परिच्छेद

दैवी बाधा

होदरा अन्नपूर्णा को उसी उत्कण्ठित अवस्था में छोड़ कर बसन्तकुमार सीधे यमुना की निर्जन नीरव तट-स्थली की ओर अग्रसर हुये। उनके मन-मन्दिर में इस समय सरल हृदया सहोदरा की स्नेहमयी मूर्ति उस प्रलयङ्करी ज्वाला के भी ऊपर स्थित थी; बार बार उनके हृदय में उसकी उस विषादमयी छवि की स्मृति जाग्रत हो उठती थी। इसमें सन्देह नहीं कि सहोदरा की स्नेह-सलिला अश्रु धारा ने उनके हृदय की दारुण-ज्वाला को कुछ समय के लिये अवश्य शान्त कर दिया था, पर वह फिर धीरे धीरे अपना उग्र रूप धारण कर रही थी। आज की घटना ने उनके मन की शेष शान्ति को भी विनष्ट कर दिया था और अब तक जिस रहस्य को अपने हृदय की अमूल्य सम्पत्ति के समान उन्होंने रक्षा की थी, आज उसके सहसा उद्घाटन हो जाने से उनका विक्षोभ-सागर अपनी सीमा को अतिक्रान्त करने का उपक्रम करने लगा। अब तक उन्होंने मन की वेदना को मन ही की वस्तु मान कर उसे, प्राणों के समान, गुप्त रखा

था पर आज जब बापूजी के सामने ही उसका कुत्सित स्वरूप प्रकट हो गया, तब उन्होंने अपने हृदय को, उसकी अक्षम्य मूर्खता के लिये, दण्ड देने का भीषण संकल्प किया।

इस समय सूर्य्यास्त हो चुका था। वन-स्थली धूसर साया की साड़ी पहिन कर शान्ति के शयन-मन्दिर में निद्रित होने की तैयारी कर रही थी। आकाश मण्डल में धीरे धीरे चन्द्रदेव अपनी प्रभा का विस्तार कर रहे थे और धीरे धीरे, एक के उपरान्त एक, अग्नि स्फुलिङ्ग की भाँति, नक्षत्र-राशि का उदय हो रहा था। आज इस समय वायु भी विश्राम कर रहा था और प्रकृति का प्रत्येक पल्लव शान्त और स्थिर था। पर, उस शान्ति के बीच में, नील सलिला यमुना अपना दिव्य सङ्गीत गाती हुई, अनन्त महासागर की ओर अग्रसर हो रही थी। बसन्त यमुना के जन शून्य दुकूल पर आकुल भाव से इधर उधर घूम रहे हैं।

कुछ काल तक वे विमूढ़ भाव से इधर उधर पाद-संचरण करते रहे। उस समय उनका समस्त अन्तर व्याकुल भावों की वद्ध-भूमि हो रहा था और दारुण-ग्लानि की भीषण अग्नि उसको भस्मावशेष कर रही थी। पर थोड़ी ही देर बाद वे इस प्रकार अपने हृदय की भाव-माला को परिव्यक्त करने लगे :—

"ओफ़! आज सारा भेद खुल गया। जान गये, बापूजी भी जान गये कि मैं कितना नीच, कितना कृतघ्न और कितना पामर हूँ। वे अपने मन में आज मुझे क्या कह रहे होंगे? आज उनके मन में भी इस रहस्य को जान जाने से कैसी उत्कट अशान्ति

उत्पन्न हो गई होगी ? आह ! कैसी भयङ्कर अग्नि है; भगवती ! भगवती !! इस दारुण ज्वाला में मेरा समस्त हृदय अपने निवासियों के साथ जला जा रहा है।"

क्षण भर के लिये वे चुप हो गये—सामने वनस्थली के बीच में प्रगाढ़ होते हुये अन्धकार की ओर वे आकुल भाव से देखने लगे। फिर एक बार उन्होंने अपने चारों ओर देखा और वे फिर व्यथित वाणी में कहने लगेः—

"सच है, यह मेरे पूर्व जन्म के पापों का ही फल है। इस जन्म में तो मैंने अपनी जान कोई पाप किया नहीं है। शैतान ने मेरे हृदय को प्रलुब्ध करके मुझे इस प्रकार नरक की यातना में डाल दिया है। यह कौन जानता है। बापू जी तो यही सोचते होंगे कि मैंने जिसे आश्रय दिया, जिस अनाथ को इस संसार-सागर में विलीन हो जाने से बचाया, उसी पापी ने मेरे साथ इस प्रकार विश्वास-घात किया। पर हाय ! वे क्या जानते होंगे कि मैं अपनी इस ज्वाला को किस प्रकार दबा कर रक्खा था, उन्हें क्या मालूम कि आज मैं कितने समय से इस भयंकर अग्नि में जल रहा हूँ; पर फिर भी मैंने उसे प्राणों के समान अपने अन्तर में ही आवद्ध रखा है। पर वह आज कुक्षण में प्रकट हो गई; शैतान ने आज अपना पूरा प्रतिकार चुका लिया। विश्व मेरे इस कुत्सित स्वरूप को देख कर क्या कहेगा ? आकाश के देवता मेरे इस पापमय कृत्य को जान कर मुझे क्यों न शाप देंगे ? और हाय ! पितृ-लोक में शान्ति पूर्वक रहते हुये मेरे माता-पिता तथा अन्य पितृगण मेरे इस घोर कुकृत्य को

अवलोकन करके कितने व्यथित और अशान्त हो रहे होंगे? हाय! क्यों न मैं जन्म लेते ही मर गया? क्यों इस प्रलय-ज्वाला में जलने के लिये मैं जीवित रहा?

"हाय! अब कौन मुँह लेकर बापू जी के सामने जाऊँगा? कौन के साहस से मैं उनकी ओर देखूँगा? मेरे इस शैतानी कर्म की बात यदि राजेन्द्र ने जान पाई; तो न जाने, उसके मन को कितनी अपार ग्लानि पहुँचे और वह अपनी भावी प्राणेश्वरी के सहोदर के इस वीभत्स स्वरूप को देख कर, न जाने, कितने मर्माहत हों? तब क्या करूँ? क्या रंगपुर छोड़ कर चला जाऊँ? उससे भी क्या होगा? इस पाप-कर्म की महा-ज्वाला से मैं कैसे बच सकूँगा? नहीं! इतने बड़े कर्म का प्रायश्चित्त भी बहुत बड़ा होना चाहिये।"

बसन्तकुमार ने ऊपर आँख उठा कर चन्द्रदेव की ओर देखा। इस समय उनके मुख पर भयंकर संकल्प की कठोरता प्रादुर्भूत हुई। वेदना की उस अन्धकारमयी छाया में वह मानों अग्नि-ज्वाला के समान देदीप्यमान हो उठी। अब की बार स्थिर कण्ठ से, किन्तु व्याकुल वाणी में वे कहने लगे:—

"अच्छी बात है। यही ठीक है। देखता हूँ, मर कर भी मैं इस अग्नि की वेदना से बच सकूँगा या नहीं। यह भी एक अनुभव होगा। कुछ भी हो; इससे अधिक अग्नि तो नरक में भी नहीं हो सकती। सुनता हूँ, मृत्यु की शीतलता सकल संताप को दूर कर देती है; मैंने पढ़ा है कि अनेक आकुल आत्माओं ने इसी पथ का अवलम्बन किया है। चलूँगा! मैं भी इसी

पथ पर चलूँगा। आह, अन्नपूर्णा! बार बार तेरी स्मृति मेरे हृदय में जाग्रत हो उठती है। तुझे छोड़ कर इस विश्व से जाना मुझे अच्छा नहीं लगता है; पर मैं विवश हूँ; स्थिति मेरे इतने प्रतिकूल है कि बेटी तुझे छोड़ कर मुझे जाना ही पड़ेगा। आह! तेरी जैसी स्नेहमयी सहोदरा बड़े भाग्य से मिलती है। पर क्या करूँ, अन्नपूर्णा! आज जीवन के विशाल वन में जो भयंकर अग्नि प्रज्वलित हो उठी है, उसमें मुझे अपनी आहुति देनी ही पड़ेगी। शैतान के प्रबल प्रलोभन से प्रलुब्ध होकर मैं जिस भीषण पाप-पथ पर प्रवृत्त हुआ हूँ उसके प्रायश्चित में मुझे अपने प्राणों का विसर्जन करना आवश्यक हो उठा है। इसी लिये मैं अपरोक्ष रूप में तुझ से आज विदा होकर आया हूँ। तुझे मैंने इसी लिये आज अन्तिम बार आलिङ्गन और चुम्बन किया है। अन्नपूर्णा! अन्नपूर्णा!! अपने भाई के उद्भ्रान्त अपराधों का क्षमा करना!

"और देवी सुभद्रे! तुम्हारे प्रति मैंने भयंकर अपराध किया है। तुम्हारी जैसी महासती के सौन्दर्य को मैंने अपनी वासना की वस्तु बनाने का कुत्सित विचार किया था; मैंने प्रकान्तर से भागवती-महिमा का अपमान किया है; मैंने आदि शक्ति के पवित्र प्रतिनिधि की अप्रतिष्ठा की है। इसी लिये, आज अपने इस भीषण अपराध के लिये मैं तुम से क्षमा माँगता हूँ। तुम दयामयी हो। तुम विश्व की जननी हो; तुम करुणा की मन्दाकिनी हो। क्या तुम इस उद्भ्रान्त, संतप्त प्राणी को अपने उदार हृदय से क्षमा नहीं करोगी?"

इतना कह कर वसन्तकुमार ने फिर एक-बार सामने की ओर देखा। उन्होंने देखा कि सामने दूर पर, आकाश के अन्तिम छोर पर, एक दिव्य आत्मा खड़ी है। किन्तु वह क्षण भर ही में अन्तर्हित हो गई—वह मानों उन्हीं की अन्तरात्मा की एक सूक्ष्म आभा थी। उन्होंने चीत्कार करके कहा :—

"आता हूँ! हे आकाश के देवताओं! हे भौतिक ब्रह्माण्ड समूह! आज अपने महापाप के प्रायश्चित स्वरूप वसन्तकुमार अपने इस असार जीवन को विसर्जन कर रहा है। तुम साक्षी रहना!"

इतना कह कर उन्होंने धीरे धीरे अपने कपड़ों में से वह छुरा निकाला। एक बार वज्र-मुष्टि से उसे पकड़ कर उन्होंने उसे इधर उधर घुमाया। चन्द्रमा की सहस्र सहस्र किरणों ने उसे चूम लिया। वह झलमला उठा। उसकी ओर सतृष्ण नयनों से देख कर वसन्तकुमार ने एक बार स्थिर कण्ठ से, निरुद्वेग वाणी में, उच्च स्वर से कहा:—

"देवि यमुने! आज तुम्हारे इस पवित्र तट पर, प्रकृति के इस परम रम्य प्रमोद वन में, आकाश के अधीश्वर चन्द्रदेव और स्वर्ग के देवताओं को साक्षी बना कर मैं, अपने महापाप के लिये, अपने इसी हृदय को, जिसमें इतने दिन तक एक पाप-मयी वासना परिपुष्ट हुई है, विदीर्ण करता हूँ। देवि! तुम महामाया की करुण शीतल धारा हो! तुम्हारे श्री-चरणों में मेरा अनेक प्रणाम स्वीकार हो! जय जगदीश्वरि! जय मातेश्वरि!!"

इतना कह कर उन्होंने वह चमचमाता हुआ छुरा उठाया। अपने हृदय को विदीर्ण करने के लिये उन्होंने उसे चलाया ही था कि पीछे से किसी ने उनके हाथ को वज्र-मुष्टि से पकड़ लिया। उन्होंने पीछे फिर फिर देखा—देखा—विस्मय विमुग्ध, भय-विह्वल दृष्टि से देखा—उनके गुरुदेव श्री श्री आनन्द-स्वामी हैं !!

हृदय के आवेग में वे मूर्छित से हो गये। स्वामी जी ने उन्हें अपने हृदय पर धारण कर लिया।

जो अमूल्य जीवन-रत्न महामाया की महामाला में गुम्फित है, उसे उसकी मंगलमयी इच्छा के विरुद्ध कौन विनष्ट कर सकता है ?

बयालीसवाँ परिच्छेद

हत्याकाण्ड

त्रि के तीसरे प्रहर के अवसान में लगभग अभी दो घड़ी की देर है। सारी प्रकृति निस्तब्ध है; समस्त विश्व निद्रा की गोद में पड़ा हुआ विश्राम कर रहा है। आकाश में यद्यपि चन्द्रदेव विराजमान है परन्तु इस समय घन-कृष्ण मेघ के एक टुकड़े ने उन्हें आवृत कर लिया है और इसी लिये विन्ध्याचल की उस उपत्यका में घोर अन्धकार परिव्याप्त हो रहा है। उस अन्धकार को मुखरित करती हुई नर्मदा बही चली जा रही है; यही नर्मदा जो २ प्रहर पहिले प्रफुल्ल चन्द्र की चन्द्रिका में नृत्य करती हुई अत्यन्त मनोरम मालूम होती थी, इस समय बड़ी डरावनी प्रतीत हो रही है। यही वह समय है, जब पिशाच और पिशाचिनी, नर-मुण्ड-मालाओं को धारण करके, शव के गलित माँस को भक्षण करके तथाच अस्थि-पात्र में वध किये हुये अभागे पुरुष का तप्त शोणित पीकर, विकट कोलाहल करते हुये नृत्य करते हैं; यही वह समय है, जब धक धक करती हुई चिता के आलोक में एकत्रित होकर, निशाचर और निशाचरी, भुने हुये महामाँस

को खाकर भयँकर आमोद में प्रवृत्त होते हैं। इसी समय प्रति-हिंसा का दारुण कर्म अनुष्ठित होता है; इसी समय शैतान का विकराल विनाश-काण्ड प्रारम्भ होता है। कुत्सित भावना का वीभत्स स्वरूप इसी समय प्रकट होता है; पाप-कल्पना की कुटिल आयोजना का यही समय है। राजनीति के प्रकाण्ड पण्डित इसी समय भावी युद्ध की बात सोचते हैं; अत्याचारी शासक इसी समय निष्ठुर अत्याचार की परिपाटी का आविष्कार करते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि इसी समय संसार की अन्धकारमयी रंगभूमि पर शैतान का नृशंस मन्त्रि-मण्डल विश्व की विनाश की नित्य नूतन आयोजनाएँ प्रस्तुत करता है।

यद्यपि इस समय चारों ओर भीषण शान्ति का आधिपत्य है; परन्तु फिर भी कभी कभी, मृत्यु के काल प्रहरी के समान, उलूक-पुञ्ज कोलाहल कर उठता है। इस समय वायु भी निस्तब्ध-प्राय है; प्रकृति का प्रत्येक पल्लव इस समय सुख-निद्रा में निमग्न है। परन्तु इस शान्ति के मध्य में, प्रसुप्त प्रकृति के एक निस्तब्ध निकुञ्ज में; एक जन इस समय भी जाग रहा है। पाठक-पाठिकायें समझ ही गये होंगे कि यह व्यक्ति और कोई नहीं संग्राम-सिंह है। संग्रामसिंह की आँखों में नींद कहाँ; नींद तो बड़ी अभिमानिनी प्रेयसी है। जब वह देखती है कि हृदय किसी दुर्भावना अथवा चिन्ता को लेकर उससे बातें करने में निमग्न है, तब उसका मन अभङ्ग-भरन हो जाता है; फिर लाख लाख चेष्टा करने पर भी वह नहीं आती है। संग्रामसिंह के हृदय में इस समय भीषण ईर्ष्या का ताण्डव नृत्य हो रहा है; उसकी आँखें

उस अन्धकार में भी तप्त अंगार के समान जल रही थीं। उसके नास-पुटों से जो तीव्र एवँ ऊष्ण निश्वास विनिर्गत हो रहा था, उससे स्पष्ट ही प्रतीत होता था कि उसके हृदय की रंगभूमि पर क्रोध और विद्वेष की अग्नि ज्वाला धक धक करके जल रही है। वह धीरे धीरे अपनी जगह पर से उठा; उसने अपने वस्त्रों के भीतर से एक बहुत बड़ा तेज़ छुरा निकाला और वज्र-मुष्ठि से उसे पकड़ कर वह प्रेमतीर्थ के सुन्दर रति-मन्दिर की ओर अग्रसर हुआ। यद्यपि इस समय घोर अन्धकार था, पर तो भी उसका छुरा, मृत्यु की विकराल जिह्वा की भाँति, चमक रहा था। वह बहुत संभल संभल कर पैर रख रहा था, जिससे कहीं ठोकर न लग जाय। चीते की गति जिस प्रकार शब्द-शून्य होती है, संग्रामसिंह की गति भी उसी भाँति ध्वनि-रहित थी। जो रात्रि में पराये घरों के भीतर प्रवेश करके सम्पत्ति को ले आने का व्यवसाय करते हैं, उन्हें तो इस कला में एकान्त कुशल होना ही पड़ता है। संग्रामसिंह तो प्रसिद्ध डाकू था। अपने सरदार प्रेमतीर्थ के समान वह भी अत्यन्त निर्भीक एवँ साहसी था। परन्तु आज वह जैसा भीम-कर्म करने जा रहा था, उसमें उसके प्राणों का संकट था। वह जानता था कि यदि प्रेमतीर्थ (अर्थात् सरदार) से उसका द्वन्द-युद्ध हो गया, तो उसका मरण निश्चय है। पर राधा की मनोमोहिनी मूर्ति उसे उस भयंकर कर्म में प्रेरित कर रही थी, वह उसे प्राप्त करने का लोभ किसी भाँति भी संवरण नहीं कर सकता था। संग्रामसिंह और प्रेम-तीर्थ, यद्यपि दोनों ही एक पथ के पथिक थे, पर फिर भी प्रेम-

तीर्थ और संग्रामसिंह में विस्तर विभेद था। प्रेमतीर्थ का हृदय कोमल प्रवृत्ति से एकान्त शून्य नहीं था; वह वास्तव में राधा को प्यार करते थे, फिर चाहे उनका प्यार लालसा का रूपान्तर ही क्यों न रहा हो। पर संग्रामसिंह का हृदय कोमल प्रवृत्ति का लीला मन्दिर नहीं था; सच पूछिये तो राधा की अपूर्व सुन्दरता को देख कर उसके हृदय में एक भीषण काम-वासना प्रज्वलित हो उठी थी और वह उस काम-वासना में राधा के मधुर सौन्दर्य्य की आहुति देना चाहता था। प्रेमतीर्थ अकारण बिना किसी अत्यन्त प्रबल उत्तेजना के, राधा का बध नहीं कर सकते थे। यद्यपि वे इतने साहसी और वीर थे कि उन्होंने एक नहीं, अनेक बार सौ सौ पुलिस के सिपाहियों से अकेले युद्ध किया था; परन्तु संग्रामसिंह आवश्यकता होने पर केवल एक अँगूठी के लिये राधा के कोमल हृदय को विदीर्ण कर सकता था। यही प्रेमतीर्थ और संग्रामसिंह के स्वभावों का विभेद है। यहाँ पर उस प्रभेद के चित्रित करने से हमारा यही अभिप्राय है कि हम अपने पाठक-पाठिकाओं को यह बताना चाहते हैं कि ऐसा भीषण पुरुष इस समय प्रेमतीर्थ की हत्या करके राधा को अपनी अङ्क-शायिनी बनाने का संकल्प हृदय में धारण करके उनके रति-मन्दिर की ओर अग्रसर हो रहा है। यह किसने सोचा था कि राधा की रस-रंग धारा में इतनी जल्दी एक सप्ताह बीतते न बीतते एक ऐसा भयंकर व्याघात उत्पन्न हो जायगा और यही किसने सोचा था कि प्रेमतीर्थ इतने शीघ्र एक कुलाङ्गना को परिभ्रष्ट करने का समुचित दण्ड पायेंगे। इसी से कवि और दार्शनिक

ने ठीक ही कहा है कि विधि के रहस्यमय विधान की परिपाटी और प्रणाली का पता लगाना एकान्त असम्भव है। सर्प से बचाया व्याध ने और व्याध स्वयँ दमयन्ती के स्वरूप का लोभी बन कर उसका सतीत्व नष्ट करने को उद्यत हो गया। हाय रे रमणी का विलासमय सौन्दर्य्य! न जाने तेरे कारण कितने हृदयों को अपनी तप्त शोणित धारा से वधिक की विषमयी छुरिका की प्यास बुझानी पड़ती है? तेरे ही कारण अनेक विशुद्ध आत्माओं की शान्ति सदा के लिये काम की प्रज्वलित वासना में भस्म हो जाती है? तेरे ही लिये अनेक बार माता वसुन्धरा का श्यामल अञ्चल वीर आत्माओं के रक्त से रञ्जित हुआ है और तेरे ही लिये असंख्य अवसरों पर तपोधन की कुटियों में शैतान का ताण्डव नृत्य हुआ है। प्रेमतीर्थ ने साहसी, सुन्दर, सबल प्रेमतीर्थ ने काहे को यह सोचा होगा कि एक दिन उसी का एक विश्वासी सहयोगी उसके हृदय को रात्रि के अन्धकार में विदीर्ण करेगा? ओफ़! कैसा घोर कर्म है!

सग्रामसिंह धीरे धीरे प्रेमतीर्थ की विलास-कन्दरा के द्वार पर पहुँचा। कन्दरा में कपाट नहीं थे—केवल एक भारी मख़मली पर्दा पड़ा हुआ था। उसने धीरे से उस पर्दे को हटा कर देखा। उस समय उसने जो मनोहर सुन्दर दृश्य देखा, उसे देख कर कोई भी शृङ्गारी कवि अथवा रसिक अपना अहोभाग्य मानता और उसकी माधुरी पर बलि बलि जाता। पर संग्रामसिंह तो और ही धातु का बना हुआ था। उस दृश्य की माधुरी और सुषमा ने उसके हृदय को रत्ती भर भी संस्पर्श नहीं

किया, उल्टे और उसके हृदय में विद्वेष और आक्रोश भयंकर रूप से गर्जन कर उठे। उस कन्दरा के भीतर एक कोने में सुवर्ण के पात्र में एक सुरभित मोमबत्ती जल रही थी। कन्दरा मानो शृङ्गार की चित्रशाला थी; बड़े बड़े सुन्दर चित्र उसकी पाषाण-प्राचीर को अलंकृत कर रहे थे। चारों ओर कारचोबी के पर्दों से प्राचीर की कुरूपता आवृत कर दी गई थी। दो सुन्दर रत्नजटित पात्रों में वन्य-गुलावों के फूल सजाये हुये थे और उनके सौरभ से कन्दरा सुरभित हो रही थी। और इस विलास सामग्री के मध्य में, दुग्ध-फेन के समान कोमल सुन्दर शय्या पर राधा और प्रेमतीर्थ आनन्द पूर्वक शयन कर रहे थे। राधा का एक हाथ प्रेमतीर्थ के विशाल वक्षस्थल पर रक्खा हुआ था और दूसरा रक्खा था अपने वक्षस्थल पर। प्रेमतीर्थ के हाथ का तकिया लगा कर राधा सो रही थी। दोनों उस समय, उस स्निग्ध आलोक में, अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहे थे। राधा के उन्नत वक्षस्थल के ऊपर हीरों का हार चमक रहा था; और उसके ऊपर प्रेमतीर्थ का हाथ, मानो उसकी रक्षा के हेतु संस्थापित था। दोनों ही निद्रा में निमग्न थे—ऐसे गाढ़ निमग्न थे मानो वे निर्द्वन्द, निश्चिन्त होकर सोये हों। उस समय वे रति-केलि से परिश्रान्त होकर सोये थे; उसके सारे लक्षण उन दोनों के मुखों और शरीरों पर परिलक्षित हो रहे थे; परन्तु हम इस स्थल पर उनका वर्णन नहीं करेंगे। धीरे धीरे पर्दा हटा कर संग्रामसिंह उनकी शय्या के पास आकर खड़ा हुआ; यद्यपि उस समय प्रेमतीर्थ प्रगाढ़

निद्रा में निमग्न थे, मगर फिर भी उनका तेजोमय मुखमण्डल देख कर संग्रामसिंह का कलेवर भय से एक बार काँप उठा। उसने भय-विह्वल दृष्टि से एक बार अपने चारों ओर देखा। उसी समय प्रेमतीर्थ के मुख पर किसी आनन्दमय स्वप्न की हास्य रेखा आविर्भूत हुई। संग्रामसिंह का कलेजा यह देख कर काँप उठा, उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो प्रेमतीर्थ उसके उस दारुण कुकर्म की बात जान कर अवज्ञा और उपेक्षा से मुस्करा रहे हैं। पर शीघ्र ही संग्रामसिंह का वह भय जाता रहा; प्रेमतीर्थ की आँखें बन्द थीं; वह गम्भीर नींद में निमग्न था। संग्रामसिंह ने विशेष विलम्ब करना ठीक नहीं समझा। उसने वज्र-मुष्टि से अपने चमचमाते हुये छुरे को उठाया; दीपक के स्निग्ध प्रकाश में वह विकराल काल की लपलपाती जिह्वा के समान झलमला उठा और दूसरे ही क्षण मूठ तक उसने उसे प्रेमतीर्थ के दक्षिण-पार्श्व में घुसेड़ दिया। प्रेमतीर्थ ने आँखें खोल दीं; पर दूसरे ही क्षण वे चिर-निद्रा में बन्द हो गईं। मरते समय एक लम्बी गर-गराहट के अतिरिक्त प्रेमतीर्थ एक शब्द भी उच्चारण नहीं कर सके। परन्तु वह गरगराहट ऐसी भयंकर और तीव्र थी कि उसने राधा की नींद भंग कर दी। राधा भयंकर चीत्कार करके पलङ्ग से उछल कर खड़ी हो गई। संग्रामसिंह ने शून्य-निर्मम मुस्कराहट के साथ उस सुन्दरी की उस दारुण विकलता का अभिनन्दन किया। राधा अपने सामने अपने प्राणेश्वर का ऐसा निर्मम वध देख कर अत्यन्त विक्षुब्ध व्याकुल और विह्वल हो गई। उस समय उसके हृदय में जो भयंकर घबराहट उत्पन्न

हो गई थी। उसको वर्णन करने की अपेक्षा पाठक-पाठिकाओं को अपने हृदयों से उसका अनुमान कर लेना ही अच्छा है। राधा उस विह्वल दृष्टि से कभी शय्या पर पड़े हुये प्रेमतीर्थ के रक्त-रञ्जित शव को देखती और कभी अपने सामने खड़े हुये शैतान-स्वरूप हत्यारे को देखती है। जब उसने देखा कि हत्यारा उसकी हत्या न करके केवल उसकी ओर खड़ा खड़ा मुस्करा रहा है, तब तो उसे ओर अधिक आश्चर्य्य हुआ। वह भय-चकित होकर कभी शय्या की ओर और कभी शैतान की ओर देखने लगी!

उस दारुण दृश्य की शान्ति को भङ्ग करते हुये निशाचर-कल्प संग्रामसिंह ने कहा—"सुन्दरी! तुम्हारे इस प्रकार भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। मैं तुम्हारी हत्या नहीं करूँगा।"

इसमें सन्देह नहीं कि उसके इन आश्वासन वाक्यों से राधा का भय-विह्वल हृदय बहुत कुछ शान्त हुआ, पर फिर भी उस दृश्य की भयंकरता इतनी अधिक थी कि उसके प्रभाव को दो चार मिनट ही में दूर कर देना राधा के लिये सम्भव नहीं था। उसने एक बार फिर संत्रस्त नयनों से उसकी ओर देखा पर उसके मुख से कोई वाक्य नहीं निकला। वह उसी प्रकार पाषण-प्रतिमा की भाँति अपने स्थान पर खड़ी रही। वह हिली-डुली तक नहीं। वह मानसिक आघात साधारण नहीं था; उसके हृदय की समस्त वृत्तियाँ, समस्त विचार; समस्त भाव इस दारुण प्रहार से अस्त-व्यस्त होगये थे। इसी लिये वह विस्मय-विमुग्ध त्रिलोचनों से देखने लगी।

अब की बार अपेक्षाकृत मृदुल शब्दों में संग्रामसिंह ने कहा—"सुन्दरी! तुम व्यर्थ में इतना भय खा रही हो। तुम निश्चिन्त रहो। मैं तुम्हारा वैरी नहीं, प्रेमी हूँ।"

"प्रेमी हूँ?"—राधा इन शब्दों को सुन कर तो और भी चकित हुई। पर क्षण भर ही में उस हत्याकाण्ड का समस्त रहस्य उसकी दृष्टि में आ गया और वह जान गई कि उसी के कारण प्रेमतीर्थ की हत्या की गई है। यद्यपि राधा के प्रेम में विलास-वासना ही प्रमुख थी, पर फिर भी प्रेमतीर्थ की माधुरी ने, उसके सुन्दर व्यवहार ने और उसकी उस प्रतिभामयी विभूति ने राधा के मन को अच्छी तरह विमोहित कर लिया था। इसी लिये वह उस निर्मम बधिक के उन शब्दों को सुन कर अत्यन्त मर्माहत हुई। पर विष-घूँट के समान को उन्हें पी लेने के अतिरिक्त और वह कर ही क्या सकती थी? अब की बार उसने धीरे धीरे विकम्प कण्ठ से पूछा—"तुम कौन हो?"

संग्रामसिंह ने अट्टहास करके कहा—"मैं कौन हूँ? मैं तुम्हारे इस अनुपम लावण्य का प्रेमी हूँ। तुम्हारे ही कारण मैंने इस तुम्हारे प्रेमी की हत्या की है। सुन्दरी! तुम निश्चिन्त रहना। यदि तुमने एक प्रेमी खोया है, तो दूसरा पाया है। संग्रामसिंह भी तुम्हारा आदर करने में कोई त्रुटि नहीं करेगा।"

संग्रामसिंह? आज ही राधा को प्रेमतीर्थ ने बताया था कि संग्रामसिंह ही वह व्यक्ति था जिसने तीव्र सङ्केत ध्वनि की थी। संग्रामसिंह के विषय में केवल इतना ही प्रेमतीर्थ ने उसे बताया था "संग्राम मेरा एक विश्वासी मित्र है और वह सदा

दुःख-सुख में मेरा साथ देता रहा है।"—क्या यह वही संग्राम-सिंह है? राधा ने विक्षुब्ध भाव से कहा—"तुम्हारा नाम संग्रामसिंह है? तुम्हीं ने आज सङ्केत ध्वनि की थी? तुम तो इनके—इतने परम मित्र थे।"—इतना कह कर राधा रोने लगी। अभी तक शोक का जो उच्छ्वास भय के कारण बँधा हुआ था, वह फूट पड़ा। संग्रामसिंह ने कठोर कण्ठ से उत्तर दिया—"हाँ, वही संग्रामसिंह हूँ। तुम्हारे इस सुन्दर स्वरूप ही के कारण मैंने इनकी हत्या की है। मुझे आशा है, तुम अब मेरे साथ आनन्द पूर्वक निवास करोगी।"

राधा अभी रो रही थी—उसने इन शब्दों को सुना तो अवश्य पर उसका कुछ उत्तर नहीं दिया। संग्रामसिंह ने २-३ मिनट की प्रतीक्षा के उपरान्त तीव्र स्वर में कहा—"अच्छा, अब इस विलाप के अभिनय को बन्द करो। मैं यह सब पसन्द नहीं करता हूँ।"

अब की बार राधा उसकी बात को अमान्य करने का साहस न कर सकी। उसने आँख उठा कर देखा कि संग्रामसिंह के मुख पर भयङ्कर कठोरता विराज रही है। वह काँप उठी। पर उसने एक बार साहस करके कहा—"पर क्या यह अच्छी बात है? इस प्रकार हत्या करके एक अबला को सताना क्या वीर पुरुष का काम है? धर्म और जगदीश्वर क्या दोनों ही नष्ट हो गये?"

संग्रामसिंह ने अधीर होकर भयंकर गर्जन करते हुये कहा—"चुप रहो, रमणी! अपने इस पाप-पुण्य के पचड़े को अपने ही

पास रखो ; मैं इनकी चिन्ता नहीं करता। और देखो, मेरी ओर देखो, यदि तुमने मेरी बात स्वीकार करने में कण भर भी संकोच किया, तो तुम्हारी भी यही दशा होगी, जो तुम्हारे इस अभागे प्रेमी की हुई है—यह निश्चय जान लेना।"

इतना कह कर उसने एक दूसरा छुरा अपने वस्त्रों में से निकाला; उस क्षीण प्रकाश में वह झलमला उठा। राधा भय से विह्वल हो गई। उसका सारा शरीर काँपने लगा। यही पुण्य और पाप का प्रकाण्ड प्रभेद है। राधा यदि सती होती, यदि राधा के हृदय में विलास वासना का प्रमुख स्थान न होकर विशुद्ध प्रेम के लिये ही वह स्थान होता, तो एक संग्रामसिंह क्या, साक्षात् त्रिभुवन-पति भी उसे अपने प्रण और पातिव्रत से नहीं डिगा सकते थे। रावण ने अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये, अनेक प्रकार के भय दिखाये और अन्त में भगवान् रामचन्द्र का कटा हुआ मायावी मुण्ड भी दिखाया, पर सती शिरोमणि सीता के उज्ज्वल सतीत्व को वह रत्ती भर भी नहीं डिगा सका! पर राधा में वह दिव्य तेज, वह पवित्र साहस और वह तेजोमयी निर्भयता कहाँ से आती? वह तो पहिले ही विलास-वासना की बलि-वेदी पर अपनी पवित्रता की बलि दे चुकी थी। यद्यपि प्रेमतीर्थ के ऊपर वह विमुग्ध थी, पर उस अनुराग में लालसा का ही विपुल अंश था। इसी लिये जब संग्रामसिंह ने भयंकर मुद्रा धारण करके उसे मृत्यु-भय दिखाया, तब राधा काँप उठी। उसके हृदय में इतना साहस कहाँ था, जो वह संग्रामसिंह की छुरी के आगे अपनी छाती कर देती और स्पष्ट

रूप से कह देती "तेरा तो नहीं, पर तेरी इस छुरी का आलिङ्गन करने के लिये मैं तैयार हूँ।" राधा काँप उठी; प्राणों की ममता उसके हृदय में प्रबल हो उठी; अपने सामने साक्षात् विकराल काल को देख कर वह संत्रस्त हो उठी। यद्यपि उसने अपने मुख से कुछ नहीं कहा, पर उसकी भय-मुद्रा को देख कर संग्रामसिंह ने जान लिया कि राधा उसके प्रस्ताव को अस्वीकार नहीं कर सकती है। संग्राम ने कड़क कर कहा—"आओ! मेरे साथ बाहर आओ।" राधा उस आज्ञा का प्रतिवाद न कर सकी; वह उसके पीछे पीछे चल दी। और बाहर, उसी उन्मुक्त उपत्यका में, जहाँ दो प्रहर पहिले वह प्रेमतीर्थ के हृदय पर, प्रेम की प्रतिमा के समान, शोभायमान हुई थी, वह संग्रामसिंह को आलिङ्गन-दान देने के लिये बाध्य हुई। संग्रामसिंह नृशंस शैतान था; उसे इस बात की रत्ती भर भी चिन्ता नहीं थी कि राधा के हृदय पर क्या बीत रही है। वह उस रमणी को अपनी विषय-वासना की शान्ति का पात्र समझता था; उसकी आँखों के आँसुओं की चिन्ता न करके वह उसके सौन्दर्य्य सलिल से अपनी कामाग्नि को शान्त करने लगा। राधा को उसके अत्याचार-लीला के सामने बाध्य होकर नत-शिर होना पड़ा। राधा का प्रतिवाद व्यर्थ था; राधा का उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करना साक्षात् मृत्यु को आवाहन करना था!

सात दिन के भीतर ही पाप का दण्ड प्रारम्भ हो गया और जिस पाप के सौन्दर्य्य पर विमुग्ध होकर राधा, पति को, पति-परिवार को, रंगपुर को, और देवी के समान सखी सुभद्रा को

छोड़ कर चली आई थी, उस पाप का ऐसा वीभत्स स्वरूप देख कर राधा का मन ग्लानि और विक्षोभ में भर गया। आज उसने जाना कि धर्म और समाज का अत्याचार पाप के भीषण अनाचार के सामने स्वर्ग के समान वाँछनीय है। आज उसने जाना कि क्यों पति के गृह को पातिव्रत का दुर्ग कहते हैं और क्यों शास्त्रों की यह आज्ञा है कि पति के घर को प्रयाग-तीर्थ मान कर उसका सेवन करना चाहिये। पति-परिवार के अत्याचार में जो धार्मिक भावना विलीन हो गई थी, आज शैतान के निष्पीड़न के अन्धकार में वह दूर पर, आकाश के अन्तिम छोर पर, अक्षय-नक्षत्र के समान दैदीप्यमती हो उठी। परन्तु अब राधा क्या कर सकती थी? वह तो स्वतः ही पाप के प्रश्रय में आई थी; उसने तो वासना की शान्ति ही को संसार का एक मात्र सार और आनन्द का अनिवार्य्य अंश माना था। राधा का हृदय विक्षोभ और ग्लानि की ज्वाला में धाँय धाँय करके जलने लगा। असह्य यातना के यन्त्र में फँस कर राधा छटपटाने लगी!

पर उसी यातना के बीच में एक भयंकर संकल्प उठा। राधा संग्रामसिंह की वासना को शान्त करने के लिये विवश हुई थी; उसने मन ही मन यह संकल्प किया कि किसी न किसी भाँति संग्रामसिंह से उस अत्याचार का प्रतिशोध लेगी। उसने यह निश्चय किया कि जिस प्रकार उसने उसके सुवर्ण राज्य को नष्ट कर दिया है, वह भी उसी भाँति उसके जीवन का विनाश-साधन किये बिना चैन न लेगी!

उस असह्य व्यथा को उस संकल्प ने कुछ थोड़े बहुत अंश में शान्त अवश्य किया। वह अपने उस संकल्प को पूरा करने की विधि सोचने लगी।

पाप की प्रश्रय भूमि मरुस्थल की मरीचिका के समान है। जितना ही मनुष्य प्यास से आकुल होकर उसकी ओर दौड़ता है, उतनी ही वह पीछे हटती जाती है। परिणाम यह होता है कि शीतल शान्ति धारा की उपलब्धि तो होती नहीं है, उल्टे तड़फ तड़फ कर प्राण-विसर्जन करना होता है!

शैतान के प्रलोभन को स्वीकार करना जान बूझ कर विष-कन्या का अधर चुम्बन करना है।

* * *

राधा ने किसी प्रकार अपने भावों को दबा कर कहा—"संग्रामसिंह! जब तुमने मुझे स्वीकार ही किया है, तब क्या तुम मेरे अनुरोध की रक्षा नहीं करोगे?"

संग्रामसिंह ने उल्लास सहित कहा—"कहो प्यारी! यथा-शक्ति मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा।"

राधा ने प्रेम का नाट्य करते हुये कहा—"चलो! इस स्थान को छोड़ दो। मुझे इस स्थान पर बड़ा भय लगता है। प्यारे! विश्वास रखना; उस अभागे मृतक की आकुल आत्मा हमें यहाँ पर आनन्द पूर्वक रसरँग की सरिता में किलोल नहीं करने देगी। न, यहाँ से चले चलो। चलो, किसी दूर देश में हम दोनों अपना निवास बनावें। नहीं; अब मैं एकान्त में नहीं रह सकूँगी। रात दिन उस अभागे मृतक का भयँकर स्वरूप मुझे भयभीत

करता रहेगा। इसी लिये, चलो किसी बड़े शहर में रहें; जन-समाज के कोलाहल में मैं अपनी इस भयँकर स्मृति को विलीन कर दूँगी। हमारे पास यथेष्ट धन है; उससे हमारा निर्वाह अच्छी तरह हो जायगा।"

राधा के इस प्रस्ताव को सुन कर संग्रामसिंह और भी उत्फुल्ल हो उठे; उन्होंने कहा—"अच्छी बात है, प्यारी! आज प्रातः काल होने से पहिले ही हम इस उपत्यका से बाहर चले चलेंगे।"

राधा की यह पहिली कपट आयोजना थी। मूर्ख संग्रामसिंह रमणी के कपट-पाश में फँस गया।

प्रेमतीर्थ को उसी भाँति छोड़ दिया गया। जो कन्दरा उनकी रति-शाला थी वही उनकी मृतक-समाधि में परिणत हो गई! उनका सञ्चित किया हुआ धन लेकर वे दोनों उस भयंकर काण्ड की रंगभूमि को छोड़ कर प्रभात के उदय होने से पहिले ही चले गये!

प्रखर वासना से प्रमत्त मनुष्य, लोक, परलोक एवँ भविष्य की ओर से एकान्त उदासीन होकर पाप-पथ पर प्रबल वेग से अग्रसर होता है; पर वह यह नहीं जानता है कि थोड़ी ही दूर पर विनाश, अपना विकराल विवर फैलाये हुये उसकी प्रतीक्षा कर रहा है!

तैंतालीसवाँ परिच्छेद

शान्ति की प्रथम सूचना

बसन्तकुमार की मूर्छित देह को लिये हुये श्री श्री आनन्द स्वामी अपनी कुटी की ओर न जाकर सीधे ज़िमींदार-प्रासाद की ओर अग्रसर हुये। श्री श्री आनन्दस्वामी के शरीर में अपार बल था और इसी लिये बसन्तकुमार को वे कन्दुक के समान, उठाये हुये लिये जाते थे। चन्द्रमा की स्निग्ध चन्द्रिका उनके तेजोमय मुख-मण्डल का चुम्बन कर रही थी। उस समय उस तेजोमय वदन-मण्डल पर चिन्ता की एक रेखा प्रस्फुट हो रही थी। श्री श्री आनन्दस्वामी बसन्त की व्याकुलता के कारण से एकान्त अनभिज्ञ थे; उन्होंने केवल बसन्त के अन्तिम शब्द ही सुने थे। भगवती की मधुर प्रेरणा से वे उस समय सहसा वहाँ पर पहुँच गये थे; और ठीक अवसर पर पहुँच कर उन्होंने बसन्त के जीवन की रक्षा की थी। बसन्त उनका प्रिय शिष्य था; बसन्त उनके प्यारे सखा का अनाथ पुत्र था, इसी लिये बसन्त पर उनका अपार अनुराग था, असीम स्नेह था; इसी लिये बसन्त की आत्म-हत्या की चेष्टा ने उनके प्रशान्त मन-मानस को उद्वेलित कर दिया था।

उनके मन में भिन्न भिन्न प्रकार की दुर्भावनायें उत्पन्न होने लगीं; परन्तु वे किसी भी भावना को निश्चित स्वरूप से स्वीकार नहीं कर सके। उन्होंने अपने उदार एवँ पवित्र उपदेशों के द्वारा बसन्त के मधुर स्वभाव की गति को पुण्य-पथ की ओर परि-चालित किया था। उन्होंने स्वयँ देखा था कि बसन्त बड़ी बड़ी विपत्तियों में विचलित नहीं हुआ था; पिता की मृत्यु, माता का मरण, यह दोनों भयंकर दुर्घटनायें भी उसके हृदय को अत्यन्त विकल बनाने में समर्थ नहीं हुई थीं ; तब कौन सी ऐसी दारुण व्यथा ने बसन्त के ऊपर आक्रमण किया, जिसके विष-मय प्रहार को सहन करने में असमर्थ होकर वह आत्म-हत्या जैसे जघन्य कर्म में प्रवृत्त हुआ है ?—चिर शान्तिमय श्री श्री आनन्दस्वामी को बार बार यह विचार अशान्त करने लगा।

धीरे धीरे उन्होंने ज़िमींदार-प्रासाद में प्रवेश किया। अन्न-पूर्णा उन्हें देखते ही एक बार तो आनन्द से उत्फुल्ल हो उठी, पर जब उसने उनकी गोद में अपने सहोदर को मूर्छित दशा में देखा, तब तो वह एक बार ही विकल होकर विलाप करने लगी। उसकी विलाप-ध्वनि को सुन कर देवी सुभद्रा भी दौड़ आई, उनके भी करुण लोचनों से अश्रु-वर्षा होने लगी। पर ऋषिवर आनन्दस्वामी ने उन दोनों को सान्त्वना दी एवँ उन्होंने उन्हें अच्छी तरह समझा दिया कि बसन्त साधारण रूप से मूर्छित हो गये हैं और कोई विशेष घबड़ाने की बात नहीं है। शीघ्र ही कोमल शय्या पर उनका मूर्छित कलेवर लिटा दिया गया और सहोदरा, अन्नपूर्णा तथा देवी सुभद्रा ने उनकी सेवा का

भार ग्रहण किया। राजेन्द्र भी अपने प्रिय-सखा की मूर्छा की बात जान कर अत्यन्त उद्विग्न हुआ। पर न तो सुभद्रा और न राजेन्द्र ही उसकी मूर्छा का मुख्य कारण जानते थे। अन्नपूर्णा अवश्य इतना जानती थी कि आज उनकी वेदना बहुत बढ़ गई थी। केवल बापूजी ही उनकी उस व्यथा का मूल कारण जानते थे। उसी रात को बापू जी से ऋषिवर ने साक्षात् किया; बापू जी ने भी सारा रहस्य श्री श्री आनन्दस्वामी को बता दिया। श्री आनन्दस्वामी उस रहस्य को जान कर अत्यन्त चिन्तित हुये और बहुत देर तक वे मौन भाव से उस सम्बन्ध में विचार करते रहे। बापूजी से भी उन्होंने इस सम्बन्ध में बहुत देर तक बातें कीं और वे दोनों उस रोग की औषधि के विषय में मध्य रात्रि तक विचार करते रहे। अन्त में उन दोनों ने औषधि का निर्णय कर लिया। पाठक-पाठिकाओं को इसी परिच्छेद के अन्त में उस निर्णय का पता चल जायगा।

इधर अन्नपूर्णा और देवी सुभद्रा उत्कण्ठित भाव से बसन्त-कुमार की परिचर्य्या कर रही थी। श्री श्री आनन्दस्वामी स्वयँ चिकित्सक थे। उन्होंने मूर्छा को दूर करने के लिये जो जो उपचार बताये, उन दोनों ने उनका प्रयोग किया। परन्तु सारी रात बसन्तकुमार को होश नहीं हुआ; वे उसी भाँति आँखें बन्द किये हुये पड़े रहे। उस समय अन्नपूर्णा का हृदय भीतर ही भीतर टूक टूक हुआ जा रहा था; देवी सुभद्रा भी अपने धर्म-भाई बसन्तकुमार की इस भयंकर मूर्छा को देख कर अत्यन्त उद्विग्न हो रही थी। बड़ी कठिनता से वह रात बीती; वह रात्रि काल-

रात्रि के समान हो गई। अन्त में सूर्य्य की प्रथम प्रकाश रेखा के साथ साथ वसन्तकुमार ने धीरे धीरे आँखें खोल दीं। उन्होंने एक बार अपने चारों ओर उद्भ्रान्त भाव से देखा; उन्होंने देखा कि सरल स्नेहमयी सहोदरा एक टक उनके मुख की ओर देख रही है और शय्या के दूसरे पार्श्व में बैठी हुई देवी सुभद्रा भी बड़े आकुल भाव से उसकी ओर अवलोकन कर रही है। उन्होंने एक बार बड़ी स्नेहमयी दृष्टि से अन्नपूर्णा की ओर देखा; दूसरी बार उन्होंने बड़ी करुण-दृष्टि से देवी सुभद्रा की ओर देखा। उसके उपरान्त उन्होंने अपनी आँखें वन्द कर लीं और गत रात्रि की घटनावली पर विचार करने लगे। धीरे धीरे एक एक करके रात्रि की घटनाओं की समस्त स्मृतियाँ उनके मन-मन्दिर में दैदीप्यमान नक्षत्रों की भाँति चमक उठीं। उन्होंने फिर आँखें खोल दीं। धीरे धीरे बड़े निर्बल स्वर में उन्होंने पूछा—"अन्नपूर्णा! गुरुदेव कहाँ हैं?"

अन्नपूर्णा ने मधुर स्वर में उत्तर दिया—"गुरुदेव अभी थोड़ी देर हुई, बाहर स्नानादि कर्मों से निवृत्त होने के लिये गये हैं। वे शीघ्र ही लौट आने की बात कह कर गये थे। क्या दासी को भेज कर बुलाऊँ?"

वसन्त ने क्षीण स्वर में उत्तर दिया—"नहीं।"

सुभद्रा ने स्नेहभरी वाणी से पूछा—"भैया वसन्त! अब तुम्हारी तबियत कैसी है?"

वसन्त ने विकम्पित कण्ठ से कहा—"आप के श्री चरणों की दया से अब अच्छा हूँ।

सहृदय पाठक-पाठिकाओं से यह छिपा नहीं रह सकता कि इस मूर्छा ने बसन्त को अत्यन्त निर्बल बना दिया था। उस समय उनके मुख पर अत्यन्त पीलापन छाया हुआ था और उनकी वाणी में भी निर्बलता की प्रस्फुट झलक थी। लगभग ५ मिनिट के उपरान्त सुभद्रा देवी ने कहा—"अन्नपूर्णा! मैं भी स्नानादि से निवृत्त होने जाती हूँ। भगवती की असीम कृपा से विकट संकट दूर हो गया है। आगे भी महामाया दया करेगी। थोड़े ही देर में मैं आ जाऊँगी; अब चिन्ता करने की कोई बात नहीं है, अन्नपूर्णा।"

अन्नपूर्णा ने रुँधे हुये कण्ठ से कहा—"दीदी! महामाया की अपार अनुकम्पा से और तुम्हारे चरणों की कृपा से बुरी घड़ी टल गई है। दीदी! आशीर्वाद दो, मेरे भाई की शीतल छाया सदा मेरे ऊपर बनी रहे।"

सुभद्रा ने वात्सल्य-रस से परिपूर्ण स्वर में कहा—"भगवती परम मंगलमयी है; वह सदा ही मंगल करेगी।"

भाई और बहिन दोनों ने एक एक बार देवी सुभद्रा के पवित्र तेज से दैदीप्यमान मुख-मण्डल की ओर देखा। दोनों की दृष्टिओं में दो भाव थे—अन्नपूर्णा की दृष्टि में थी कृतज्ञता की शीतल-धारा और बसन्त की दृष्टि में थी क्षमा-याचना की विनय-मधुर भाव-माला! पर सुभद्रा ने उन दोनों की दृष्टिओं में केवल मंगलभावना की कल्पना की। शीतल वात्सल्य-धारा से उन दोनों को परिप्लावित करती हुई सुभद्रा देवी बाहर चली गई।

अब भाई-बहिन अकेले रह गये। यद्यपि बहुत कुछ अन्नपूर्णा

ने हृदय को रोका, पर वह रुका नहीं। अन्नपूर्णा भाई की ओर देख कर रोने लगी। रोते रोते उसकी हिचकी बँध गई। ठीक उसी समय धीर-गम्भीर गति से ब्रह्मर्षि आनन्दस्वामी ने उस कक्षा में प्रवेश किया। अन्नपूर्णा को इस प्रकार रोते हुये देख कर उस निरुद्वेग ऋषि के हृदय में भी असीम सहवेदना उत्पन्न हो गई। सरल बालिका के उस स्नेहमय विलाप को क्षण भर देख कर ऋषिवर बोले—"छिः, अन्नपूर्णा! इस प्रकार कोई रोता है। बेटी! बसन्त को कुछ हुआ थोड़े ही है। बहुत शीघ्र ही यह सब प्रकार से चँगे हो जाँयगे।"

आज अन्नपूर्णा को आश्वासन मिला, आज ऋषिवर की पवित्र वाणी को सुन कर उसे यह विश्वास हो गया कि अब उसके सहोदर की वह विषाद-छाया शीघ्र ही दूर हो जायगी। अन्नपूर्णा सहसा उठ कर ऋषिवर के चरणों में लोट गई। ऋषि ने उसे आदर पूर्वक हृदय से लगा कर कहा—"न, बेटी! चिन्ता मत करो। बसन्त की सारी व्यथा, सारी वेदना शीघ्र ही दूर हो जायगी। रुदन मत करो, मेरी बेटी! इससे बसन्त को और भी विक्षोभ होगा।"

अन्नपूर्णा ने कृतज्ञता भरी दृष्टि से ऋषिवर की ओर देखा। ऋषि ने मानो उस पवित्र दृष्टि का मृदुल उल्लास से अभिनन्दन किया।

बसन्त की ओर देख कर आनन्दस्वामी बोले—"बसन्त! तुम्हारे कोमल हृदय में शैतान का जो भीषण ताण्डव-नृत्य हो रहा है, वह शीघ्र ही अन्तर्हित हो जायगा। तुम निश्चिन्त रहो; मन

में ग्लानि को स्थान मत दो। पाप को प्रश्रय देने में ग्लानि है; पाप से युद्ध करने में तो उल्लास का भाव होना चाहिये। शीघ्र ही तुम असीम शान्ति की उपलब्धि करोगे।"

बसन्त ने मन ही मन गुरु-चरणों को उद्देश्य करके प्रणाम किया। क्षीण-स्वर से उसने कहा—"आपके पवित्र पाद-पद्म की कृपा से सब कुछ सम्भव है।"

लगभग एक सप्ताह में बसन्त अपनी उस मूर्छा-जनित निर्बलता से छुटकारा पाने में समर्थ हुये।

प्रज्वलित मरुभूमि को अतिक्रम करके बसन्त अब जगदीश्वरी की शीतल करुणा कल्लोलिन के दुकूल के सन्निकट पहुँच गये। उसकी मधुर कलकल ध्वनि उन्हें सुनाई देने लगी और उस ओर से प्रवाहित होने वाला शीतल वायु उनके गात्र को आनन्द देने लगा।

विश्वेश्वरी की मंगलमयी इच्छा से, कभी कभी, विश्व के नाट्य-मन्दिर में, दुःख की प्रचण्ड ज्वाला के ऊपर, शीतल शान्ति सरिता अत्यन्त आकस्मिक रीति से प्रवाहित होने लगती है।

*** *** ***

प्रातःकाल का समय है। गुलाब के प्रफुल्ल मुख पर छाये हुये ओस-कणों में सूर्य्य भगवान् की किरण-राशि इन्द्र-धनुष की शोभा उत्पन्न कर रही है। रात्रि के शान्तिमय विश्राम के उपरान्त इस समय प्रकृति का प्रत्येक पल्लव आनन्द से झूम रहा है और शीतल-वायु के मृदुल हिल्लोल से सुमन सज्जिता वेलि-बालाएँ लज्जा-विनम्र होकर मधुर मधुर मुस्करा रही हैं। विहङ्ग-गण वृन्दों

की सब से ऊँची डालों पर बैठ कर प्रभाती गा रहा है। ऐसे समय बापूजी की कुटी में राजेन्द्र, वसन्त, सुभद्रा और अन्नपूर्णा तथा स्वयँ बापूजी और आनन्दस्वामी एकत्रित हुये हैं। आनन्दस्वामी ही ने सब को इस समय यहाँ एकत्रित किया है और सभी (बापू जी को छोड़ कर) उत्कण्ठा पूर्वक उनके प्रशान्त मुखमण्डल की ओर देख रहे हैं। ऋषिवर के श्मश्रु मण्डित वदनमण्डल पर तेजोमयी माधुरी विराज रही है।

श्री आनन्दस्वामी ने कहा—"आज कई दिनों से वसन्त के हृदय में एक प्रकार की दारुण व्यथा उत्पन्न हो गई है। उस व्यथा के सम्बन्ध में मैंने और बापूजी ने यही निश्चय किया है कि थोड़े दिन तक वसन्त मेरे साथ परिभ्रमण करके अपनी उस वेदना को शान्त करें।"

राजेन्द्र—"पर महाराज! इस समय तो मुझे वसन्त भैय्या की अत्यन्त आवश्यकता है। मैंने जो जो काम, प्रारम्भ किये हैं, उनकी देख-भाल कौन करेगा?"

श्री आनन्द स्वामी—"सुभद्रा देवी तुम्हें सहायता देंगी, राजेन्द्र! वसन्त के ऊपर इस समय जैसा संकट है, उसको यदि निवारण नहीं किया गया तो बहुत बड़े अनिष्ट की सम्भावना है।"

सुभद्रा ने सरल भाव से पूछा—"वह संकट क्या है, गुरुदेव? क्या हमारी निरन्तर परिचर्य्या से उसका निवारण नहीं हो सकता है।"

देवी सुभद्रा का प्रश्न सुन कर वसन्त का हृदय उद्विग्न हो

उठा; उनका मुख विवर्ण हो गया। आनन्दस्वामी ने बसन्त की ओर अर्थभरी सान्त्वना की दृष्टि से देख कर कहा—"नहीं बेटी! अभी उस संकट की बात प्रकट करना ठीक नहीं है। वह एक आदि-दैविक विपत्ति है; साधना और स्वाध्याय ही उसकी औषधि है। बेटी, तुम बसन्त को प्रसन्नमन से मेरे साथ जाने की आज्ञा दो।"

सुभद्रा—"गुरुदेव! आप हम लोगों की अपेक्षा अधिक जानते हैं; आपकी आज्ञा और व्यवस्था की जय हो।"

बापूजी—पर बेटी, अन्नपूर्णा, तू तो बिल्कुल चुप है। तेरी क्या सम्मति है?"

अन्नपूर्णा—"मेरी? बापूजी, मेरी सम्मति ही क्या? भाई बसन्त का जिसमें कल्याण हो, वही मुझे स्वीकार है। गुरुदेव! मेरे इन सहोदर की रक्षा कीजिये; इन्हें सारी विपत्तियों से बचाइये। इस समय विश्व में आप और बापूजी ही हमारे अवलम्ब हैं और हमें आप ही की दया संसार को स्वर्ग में परिणत कर सकी है।"

अन्नपूर्णा की उस सरल स्नेहमयी वाणी को सुन कर सभी उपस्थित जनों की आँखें जलार्द्र हो गईं। बसन्त की आँखों से तो अश्रु-धारा बह चली। आनन्दस्वामी ने कहा—"बेटी! बहुत शीघ्र मैं इन्हें तेरे पास लौटा लाऊँगा। वैशाख सुदी द्वादशी को बापूजी ने तेरे विवाह की तिथि निश्चित् की है और मैं वैशाख सुदी अष्टमी तक बसन्त के साथ यहाँ पहुँच जाऊँगा। बेटी! तू मेरे परम-प्रिय सखा की पुत्री है। मैं, सन्यासी होकर भी,

तेरा कन्या-दान करूँगा। संसार की सारी विभूति को मैं तिलाञ्जलि दे बैठा हूँ, पर फिर भी तेरी जैसी स्नेहशीला पुत्री के प्रबल प्रेम-पाश को मैं छिन्न-भिन्न नहीं कर पाया हूँ। करना भी नहीं चाहता! तू साक्षात् अन्नपूर्णा की भाँति मेरे हृदय के वात्सल्य-आसन पर आसीन है। तेरे ही मुख-छवि में मैं महामाया दुर्गा का दर्शन करता हूँ। दूर प्रवास में; रात्रि की नीरव शान्ति में, मैं तेरी स्मृति के साथ घण्टों वार्तालाप करता हूँ। आज वसन्त पर संकट है; उसका संकट तेरी मङ्गल-भावना से दूर हो जायगा। तू निश्चिन्त होकर अपना कर्त्तव्य पालन कर। सुभद्रा बेटी जिसकी आचार्य्या है, बापूजी जिसके लिये मार्ग-दर्शक हैं, उसे उपदेश देना व्यर्थ है।"

श्री आनन्दस्वामी की पवित्र प्रेममयी वाणी ने सब को वात्सल्य-धारा में निमग्न कर दिया। आँखों में आँसू भर कर सबों ने वसन्त को विदा किया। वसन्त ने चलते समय बापूजी की चरण-रज उठा कर शिर पर लगाई। उन्होंने उसी प्रफुल्ल शान्ति के साथ उसे आशीर्वाद दिया; देवी सुभद्रा ने उन्हें प्रणाम किया, उन्होंने उसे विकम्पित स्वर में शुभाशीष दी; राजेन्द्र ने उसे अभिवादन किया, उन्होंने उसे हृदय से लगा कर उसकी मङ्गल-कामना की। पर जब सरल सहोदरा अन्नपूर्णा ने आँखों में आँसू भर कर उसके चरणों में प्रणिपात किया, उस समय उनके लोचनों से अश्रुधारा बह चली। स्नेह पूर्वक उसे हृदय से लगा कर वसन्त ने उसके प्रसन्न ललाट को चूमा; उसके शिर पर हाथ फेरा और अवरुद्ध

कण्ठ से उसे सान्त्वना दी। एक बार सब ने श्री आनन्दस्वामी के चरणों में शिर रख कर प्रणाम किया, उन्होंने भी सब को आशीर्वाद दिया।

उस पुण्य प्रभात में तरुण तापसी बसन्तकुमार अपने पूज्य गुरुदेव के साथ साधना के द्वारा हृदय की व्यथा शान्त करने के लिये चल दिये। सहोदरा की मङ्गल-कामना उनके पथ को परिष्कृत कर रही थी और बन्धु-बान्धवों की शुभ-भावना उनके साथ आलोकमाला के समान चल रही थी। साक्षात् कल्याण-कारी शिव के समान गुरुदेव उनके मार्ग-दर्शक थे।

अभी तक वासना की जटिल वीथियों में बसन्त उद्भ्रान्त होकर घूम रहे थे, पर अब उनके सौभाग्य से उनको एक ऐसा मार्ग-दर्शक मिल गया जो उन्हें मंगल-मार्ग पर ले चला। भाग-वती सहायता की यह प्रथम लीला थी। बसन्त ने देखा कि वासना के प्रचण्ड कोलाहल को दबाती हुई दिव्य रागिनी की प्रथम ध्वनि उत्थित हुई।

साधना के तपोवन ही में वासना को शान्त करने वाली शीतल शान्ति-धारा प्रवाहित होती है।

चौवालीसवाँ परिच्छेद

कपट-जाल

सुविशाल नगरी वम्बई को संग्रामसिंह और राधा ने अपना निवास-स्थान वनाया। लेमिङ्गटन रोड पर एक छोटा सा कमरा किराये पर लेकर वे दोनों रहने लगे। संग्रामसिंह ने पञ्जावियों का सा वेष धारण कर लिया था। शरीर का हृष्ट-पुष्ट तो था ही; उस पर वह वेष जँच भी गया। धन की उन दोनों को कमी नहीं थी क्योंकि प्रेमतीर्थ की समस्त धन-सम्पत्ति के वे ही मालिक हुये थे। इसी लिये निश्चिन्त निर्द्वन्द्व-भाव से वे दोनों वहाँ रहने लगे।

यद्यपि संग्रामसिंह राधा का यथेष्ट आदर करता था; परन्तु फिर भी राधा के हृदय में उसके प्रति जो घृणा उत्पन्न हो गई थी, वह नित्य-प्रति बढ़ती ही जाती थी। राधा के हृदय-पट पर प्रेमतीर्थ के वध का दृश्य अङ्कित हो गया था; उसके मन में यह भावना बद्ध-मूल हो गई थी कि संग्रामसिंह आवश्यकता पड़ने पर उसके हृदय में भी उतने ही सहज भाव से छुरी घुसेड़ सकता है। चाहे कितनी विलास-प्रिया रमणी क्यों न हो ? किन्तु जब

उसकी इच्छा के विरुद्ध उस पर अत्याचार किया जाता है, तब उसके हृदय में भी अत्यन्त विक्षोभ उत्पन्न हो ही जाता है। अपनी इच्छा से बहुत सी व्यभिचारिणी स्त्रियाँ पाप-पथ पर प्रवृत्त हो जाती हैं; परन्तु यदि कोई उनके साथ बरवश अनाचार करता है, तो उसका वे तीव्र विरोध करती हैं। राधा उस दृश्य को भूली नहीं थी, जब प्रेमतीर्थ के हृदय-शोणित से रञ्जित रंगभूमि में, बिना उसकी मानसिक अवस्था का विचार किये हुये, बिना उसके विक्षोभ की ओर दृष्टिपात किये, संग्रामसिंह ने उसको अपनी काम-वासना की शान्ति के लिये बाध्य किया था। यदि प्रेमतीर्थ और उसके सम्मिलन में किन्हीं कारणों से व्याघात उत्पन्न हो जाता और ऐसे समय संग्राम-सिंह उसे अपनी हृदयेश्वरी बनाने का प्रस्ताव करता, तो कदाचित् राधा उसे अस्वीकार न करती; परन्तु संग्रामसिंह के उस निर्मम हृदय-हीन आचरण ने उसके वासनामय हृदय को विक्षुब्ध कर दिया था और इसी लिये, क्रुद्ध केसरिणी की भाँति, वह उससे प्रतिकार लेने का उपाय मन ही मन सोच रही थी। इसमें सन्देह नहीं कि अब भी वह उसकी काम-वासना की शान्ति करती थी; परन्तु उससे उसका विक्षोभ नित्य-प्रति बढ़ता ही जाता था। संग्रामसिंह जब उसका चुम्बन करता था, उस समय यदि कोई एक्स-रे लगा कर देखता तो उसे प्रतीत हो जाता कि उसके हृदय की गति क्रोध के कारण, अत्यन्त तीव्र हो जाती थी; जब वह उसके आलिङ्ग-पाश में बद्ध हो जाती थी, उस समय मानसिक कष्ट से उसका समस्त

अन्तर हाहाकार कर उठता था। पर उसे यह सब करना और सहना ही होता था; उस नृशंस शैतान के हाथों से अपने प्राणों की रक्षा करने के लिये उसे हँसते हँसते उसकी अङ्क-शायिनी बनना ही पड़ता था। दूसरे, वह उसे कपट-जाल में फाँसे रखना चाहती थी और इसी लिये वह कभी कभी प्रेम का ऐसा रसरंगमय अभिनय करती थी जिसे देख कर संग्रामसिंह के हृदय में यह विश्वास बद्ध-मूल हो जाता था कि वह वास्तव में उसके ऊपर असीम अनुराग रखती है और प्रेमतीर्थ को वह एकान्त रूप से भूल गई है। पर मूर्ख संग्रामसिंह यह नहीं जानता था कि राधा भीतर ही भीतर उसके विनाश का विचार कर रही है और शीघ्र ही वह उसके अत्याचार का प्रतिशोध लेने वाली है।

स्त्रियाँ जिस प्रकार आजीवन अन्तःपुर में रह सकती हैं; पुरुष वैसा नहीं कर सकते। पहिले दो-तीन दिन तो संग्रामसिंह घर ही पर रहे, पर फिर वे भेष बदल कर बाहर आने-जाने लगे। यहाँ पर हम अपने पाठक-पाठिकाओं को यह भी बता देना चाहते हैं कि संग्रामसिंह प्रसिद्ध डाकुओं के एक दल प्रमुख सञ्चालक था और इसी लिये पुलिस सदा उसकी खोज में रहती थी। कई बार पुलिस से और उससे मुठ-भेड़ भी हो चुकी थीं; पर वह वीरता पूर्वक निकल भागा था। सरकार की ओर से उसकी गिरफ़्तारी के लिये ५०००) के पारितोषिक की भी घोषणा की गई थी। इसी लिये संग्रामसिंह को सदा भय लगा रहता था। पुलिस के पास उसकी प्रतिच्छवि तक थी; परन्तु उसने अपना

भेष भी ऐसा बदला था कि सहसा उस पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता था वह था। तो जाति का राजपूत, पर वह बना था सिक्ख। हाथ में उसके लोहे का कड़ा था; बगल में कृपाण झूमती थी; मुख-मण्डल पर नकली दाढ़ी फहराती थी और सिर पर सफ़ेद साफ़ा शोभायमान था। वह अपने को जौहरी बताता था और रत्नों का व्यवसाय करना भी उसने प्रारम्भ कर दिया था। बम्बई में आने के ७-८ दिन के भीतर ही वह कई भले आदमियों से परिचित हो गया था। उसका स्वरूप और आड-म्बर-दोनों ही आकर्षक थे; उसकी बातें भी मधुर और रसीली होती थी, रत्नों की भी उसे खासी पहिचान थी और उसके पास थे भी बहुत से अमूल्य रत्न। बस फिर क्या था, धीरे धीरे वह बम्बई के रत्न-व्यवसायियों की श्रेणी में प्रविष्ठ होने लगा। संग्रामसिंह नित्य प्रातःकाल ९ बजे घर से जाता और रात के ७ और ८ के भीतर लौट आता। इतने समय में राधा अकेली ही रहती थी। घर में एक दासी अवश्य थी; परन्तु राधा प्रायः अकेले ही रहना पसन्द करती थी। दासी बाहर वाले बरामदे में आनन्द से सुख-निद्रा में पड़ी पड़ी विश्राम करती। पर राधा के भाग्य में वह आनन्द कहाँ? वह तो चिन्तित, विक्षुब्ध और व्याकुल होकर दिन भर अपने कमरे में पाद-संचरण करती रहती थी।

जिस समय भीतर कमरे में टहलते टहलते उसका मन ऊब जाता; उस समय वह बाहर बरामदे में आकर खड़ी हो जाती और नीचे जनाकीर्ण सड़क की ओर देखने लगती। थोड़ी देर

तक के लिये अवश्य बाहर का कोलाहल उसके हृदय के विक्षोभ को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था; परन्तु राधा की मानसिक ग्लानि इतनी तीव्र हो गई थी कि शीघ्र ही वह फिर अपने इन्हीं अग्निमय विचारों में तल्लीन हो जाती और अपने दारुण संकल्प की सिद्धि की बात सोचते सोचते उसे अपनी सुध-बुध नहीं रहती थी। कभी कभी तो घण्टों वह बरामदे में खड़ी रहती; अनेक रसिक युवक और रंगीले सज्जन उसके सौन्दर्य्य-सुधा की ओर नीचे से एकटक देखते चले जाते, कोई कोई तो उसको लक्ष्य करके कविता भी पढ़ने लगते, परन्तु राधा इस ओर ध्यान नहीं देती। वह तो अपने ही विचारों की धारा में निमग्न रहती और रात-दिन वह यही सोचा करती कि किस प्रकार वह उस हृदय-हीन निशाचर से प्रतिशोध लेवे और किस प्रकार वह उसके दारुण अत्याचार से छुटकारा पाकर उन्मुक्त भाव से उन्मुक्त आकाश के नीचे विचरण करे।

राधा जहाँ पर रहती थी, उसके सामने ही एक वृद्धा वेश्या की अट्टालिका थी। यौवन-वसन्त के गत हो जाने के कारण यद्यपि वह इस समय अपना कुत्सित व्यवसाय नहीं करती थी, परन्तु फिर भी वह सदा इस खोज में रहती थी कि किसी रूपवती रमणी को अपनी धर्मपुत्री बना कर वह इस ओर प्रवृत्त करे। उसके पास धन की कमी नहीं थी। अपने कुत्सित व्यापार से उसने यथेष्ट सम्पत्ति उपार्जन की थी; परन्तु फिर भी वह सन्तुष्ट नहीं थी; वह उस धन को और भी वृद्धि करना चाहती थी। साथ ही साथ एक कारण और भी था; उसके यौवन-चन्द्र के

अस्त हो जाने से उसकी उस वृहत् अट्टालिका में भी अन्धकार छा गया था। न तो अब संगीत का वह मधुर-स्वर उसे मुखरित करता था; न युवकों की उच्छृङ्खल हास्य धारा उसे परिप्लावित करती थी और न रसरंग की विलास-लीला का वहाँ अभिनय होता था। वृद्धा वेश्या को अपनी एकान्त स्थिति असह्य सी हो उठी थी; जिस वायु-मण्डल में उसका समस्त जीवन व्यतीत हुआ था, उसके सहसा इस भाँति अन्तर्हित हो जाने से उसके हृदय में एक प्रकार का असन्तोष उत्पन्न हो गया था। किसी समय वह बम्बई की सर्वश्रेष्ठ वेश्या थी; किसी समय बड़े बड़े धनी-युवक, बड़े बड़े राजाओं के युवराज तथा बड़े बड़े नरेश, कोई छिप कर, कोई प्रकट रूप से, उसकी उस विलासमयी अट्टालिका में पधारते थे और उसके यौवन-सरोवर से अपनी काम-वासना को शान्त करते थे। परन्तु अब उसके यहाँ कोई नहीं आता है; कोई भी उसकी ओर अब आँख उठा कर नहीं देखता है। इसी लिये वृद्धा वेश्या चाहती थी कि यदि कोई रूपवती रमणी उसकी धर्मपुत्री बन कर फिर से उसके पुराने व्यवसाय को चलावे, तो धन की प्राप्ति के साथ साथ उसके जीवन की अशान्ति भी दूर हो जायगी। फिर एक बार उसका घर अमरावती के समान, सुरा, संगीत और सौन्दर्य्य की धाराओं से परिप्लावित हो जायगा; फिर एक बार उसके घर में विलास-लीला का ललित अभिनय प्रारम्भ हो जायगा और फिर एक बार अनेक युवक उसकी चाटु-कारिता करने लगेंगे। पहिले स्वयं उसके यौवन-रत्न के लिये वे उसकी खुशामद करते थे; अब वे उसके

द्वारा प्राप्त होने वाली सौन्दर्य्य-मणि के लिये उससे विनीत प्रार्थना करेंगे। पहिले वे उसे 'प्यारी' कहते थे, अब 'माँजी' कहेंगे। इसी 'माँजी' शब्द की मधुरता का उपभोग करने के लिये वह वृद्धा वेश्या एक बार ही विकल हो उठी। उसकी वह विकलता उस समय और भी बढ़ गई, जब उसने राधा को देखा। उसने राधा के अनुपम माधुर्य्य को देख कर यह निश्चय किया कि वह किसी भाँति उसके अधिकार में आ जावे, तो सारा काम बन जावे। वृद्धा वेश्या का सारा जीवन मानव-प्रकृति का अध्ययन करते करते ही व्यतीत हुआ था। वह नित्य ही राधा को अपने बरामदे में खड़े हुये देखा करती थी। उसे देख कर वृद्धा वेश्या ने भली भाँति जान लिया था कि राधा की प्रकृति रसरंगमयी है; विलासमयी वासना का उसके हृदय पर एकान्त आधिपत्य है। उसकी विक्षोभ-छाया को, उसकी विषादमयी तन्मयता को देख कर कुटिल वेश्या ने ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला था कि कोई दारुण विचार उसके मन को उद्वेलित कर रहा है। उसके भावों और चेष्टाओं को देख कर वेश्या को विश्वास हो गया था कि यदि चेष्टा की जाय तो उसमें सफलता मिलना असम्भव नहीं है। राधा की दासी को कुछ इनाम देकर उसने राधा के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर ली थी। दासी का अनुमान था कि राधा पञ्जाबी जौहरी की धर्मपत्नी नहीं है; उसके अनुमान के प्रबल कारण थे और जब उसने उन प्रबल कारणों को वृद्धा वेश्या के सामने, उसके चमचमाते हुये १० रुपयों के प्रलोभन में, विवृत किया, तब वृद्धा वेश्या ने उसकी

बुद्धि की बहुत सराहना की और स्वयँ भी उसकी बात का समर्थन किया। इस प्रकार राधा के विषय में बहुत-कुछ जान कर वृद्धा वेश्या ने उसे अपने कपटजाल में फँसाने का संकल्प किया। उसने राधा की दासी को दस सुन्दर स्वच्छ रुपये देते हुये कहा—"देखो रजनी, तुम बातों ही बातों में राधा से मेरी चर्चा करना। तुम केवल उससे यही कहना कि सामने के इस बड़े मकान में एक बड़ी धनाढ्य वृद्धा रहती हैं। उनके पास अपार धन है। स्वभाव की वे परम दयालु हैं; मैंने भी कुछ समय तक उनके यहाँ नौकरी की थी, पर उन्हीं दिनों मेरे देवर की बीमारी के कारण मुझे गाँव जाना पड़ा। वास्तव में वे बड़ी धर्मात्मा हैं; रात-दिन पुण्य-दान करती रहती हैं। सैकड़ों मनुष्य उनके दान पर पलते हैं। सैकड़ों अनाथ स्त्रियों को वे गुप्त दान देती हैं, इत्यादि।"

रजनी दासी स्वयँ अर्द्ध-वेश्या थी; वृद्धा वेश्या के धन के प्रलोभन से उसने उसकी झूठी प्रशंसा करनी प्रारम्भ कर दी। इसी प्रकार दो-तीन दिन व्यतीत हो गये।

मध्याह्न काल का समय था। हेमन्त के स्थान पर धीरे धीरे बसन्त का आधिपत्य हो चला था और इसी लिये इस समय न जाड़ा था, न गर्मी। राधा अपने सुसज्जित कमरे में एक शीतल-पाटी पर तकिये के सहारे बैठी थी। उस समय भी उसके सुन्दर मुख-मण्डल पर चिन्ता और विषाद की छाया छाई हुई थी। वही एक विचार, वही एक संकल्प, इस समय भी उसके हृदय

को उद्वेलित कर रहा था। राधा की विचार धारा का प्रवाह उस समय इस प्रकार था :—

"क्या करूँ? कुछ समझ ही में नहीं आता है। किस प्रकार से मैं अपने मन के संकल्प को पूरा करूँ। आह! आज भी मैं वह दृश्य नहीं भूली हूँ। हाय प्यारे प्रेमतीर्थ! मेरे ही कारण तुम्हें अपने जीवन से हाथ धोने पड़े! पर नहीं, मैं अवश्य तुम्हारा बदला इस शैतान से चुका लूँगी! कुछ भी हो, जब तक मैं भी इसके प्राणों की आहुति नहीं दे लूँगी, तब तक मुझे कदापि सन्तोष नहीं होगा।

"पर यह सब करूँ कैसे? यहाँ तो दूर दूर तक मेरा कोई सहायक भी नहीं दिखाई देता। तब क्या इसी नृशंस शैतान के साथ मुझे अपना सारा जीवन व्यतीत करना पड़ेगा? क्या इसी पापात्मा के वाम पार्श्व में मुझे जन्म भर शयन करना पड़ेगा? नहीं; कुछ भी हो; चाहे यह जीवन रहे चाहे न रहे पर यह नहीं हो सकता। इस हृदय-हीन पशु के साथ मैं जीवन नहीं व्यतीत कर सकती।

"तब क्या करूँ? भाग चलूँ? इस घर को छोड़ कर कहीं चल दूँ? पर चल भी कहाँ दूँ? कहाँ मुझे आश्रय मिलेगा? कौन मुझे सहायता देगा? और कहीं, फिर मैं इसी निशाचर के हाथ पड़ गई, तो यह बिना मेरे तप्त रुधिर से होली खेले मानेगा थोड़े ही। ओफ़! कैसा भयंकर शैतान है? जब उसने अपने परम मित्र प्रेमतीर्थ की हत्या कर डाली, तब मेरी तो बात ही क्या है? तब क्या करूँ? हाय! किस कुक्षण में घर

छोड़ा था ? जिस आनन्द के लिये मैं दौड़ी थी, उसका तो मैं केवल सात ही दिन उपभोग कर पाई और फिर गहरी विपत्ति-कन्दरा में पतित हो गई ! देखती हूँ; और दस-पाँच दिन देखती हूँ।"

इसी समय रजनी दासी ने घर में प्रवेश किया। उसने कहा—"सामने वाले घर की माँजी आपसे मिलने आई हैं।"

राधा—"बुला ला।"

रजनी दासी ने पहिले ही से "सामने वाले मकान की माँजी" की यथेष्ठ स्तुति कर रक्खी थी। राधा के मन में उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। माँजी ने घर में प्रवेश किया। उसका वेश-विन्यास, उसकी मुख-छवि, उसकी प्रसन्न मूर्ति देख कर राधा की श्रद्धा और भी बढ़ गई। "माँजी" एक धवल साड़ी पहिने हुये थीं; उनका शिर धवल केशों से आच्छादित था; उनके गले में सोने में मढ़ा हुआ रुद्राक्ष झूल रहा था; हाथ में तुलसी की माला थी; वृद्धत्व की रेखाओं से अङ्कित ललाट पर गोपी-चन्दन का तिलक शोभायमान था। कहने का तात्पर्य्य यह है कि उसका समस्त वेश-विन्यास एक आदर्श विधवा वृद्धा के वेश के समान था। राधा ने भक्ति भाव से तीन बार उनके पैर छुये। वृद्धा वेश्या ने (अर्थात् माँजी ने) मुस्करा कर उसे आशीर्वाद दिया।

थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। उसके उपरान्त वृद्धा ने कुटिल सहानुभूति के साथ पूछा—"बेटी! तू इतनी दुखी और मलीन क्यों है ?"

राधा ने ठंडी साँस ले कर कहा—"नहीं तो, माँजी !"

'माँजी' ने मुस्करा कर कहा—न बेटी ! मैंने दुनियाँ देखी है। मुझ से यह कैसे छिप सकता है ? तेरे मुख पर दुःख की छाया है; तेरे लोचनों में विषाद के आँसू है। तेरी बातों ही से यह प्रतीत होता है कि तेरे हृदय में कोई भयंकर क्लेश है।"

राधा ने इसका उत्तर नहीं दिया। वह फूट फूट कर रोने लगी। सभी जानते हैं कि ज़रा सी सहानुभूति मिलते ही हृदय का दुःख बाहर उमड़ पड़ता है। वृद्धा ने बड़े आदर पूर्वक अपने धवल अञ्चल से उसकी आँखों के आँसू पोंछे; सान्त्वना भरे शब्दों में कहा—"बेटी, दुःख मत कर ! तेरी यह अवस्था दुःख करने की नहीं है। कई दिनों से मैं तेरे पास आने का विचार कर रही थी; पर काम के कारण आ नहीं सकी। बेटी ! मुझे तू अपनी माँ के समान समझना; मैं यथा-शक्ति तेरे दुःख को दूर करने की चेष्टा करूँगी। अब आज तो मैं जाती हूँ—हो सका तो कल फिर आऊँगी।"

राधा ने वृद्धा की ओर बड़ी करुण दृष्टि से देखा। वृद्धा के मुख पर कपट-सहानुभूति और समवेदना की धारायें किलोल करती थीं। राधा ने उनके पैर छूते हुये अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"माँ ! जब तुमने मुझे अपनी बेटी बनाया है, तब तुम नित्य मेरे ऊपर दया करके एक बार यहाँ आया करना। किसी दिन मैं अपनी सारी कहानी तुम्हें सुनाऊँगी। माँजी ! इस घोर विपत्ति के सागर में तुम्हीं अब मेरी एक मात्र अवलम्ब हो।"

वृद्धा ने राधा को सान्त्वना दी। धीरे धीरे वह घर से बाहर

हो गई। राधा के हृदय-गगन में भी उस घोर विक्षोभ-तिमिर को कुछ कुछ नाश करती हुई आशा-चन्द्रिका उदय हुई। पर राधा क्या जानती थी कि वह भी शैतान की माया है। जानती भी होती तो भी कदाचित् वह उसकी उपेक्षा नहीं करती क्योंकि वह इतनी मधुर, इतनी सान्त्वनामयी, इतनी आनन्द-दायिनी थी।

राधा के जीवन-रंग-भूमि पर शैतान के अभिनय का दूसरा अङ्क प्रारम्भ हुआ!

वासना की उद्दाम धारा विनाश-सागर की ओर बड़े वेग से प्रधावित होती है। धर्म, पुण्य और शास्त्र तीनों उसके मार्ग को अवरुद्ध करने में कभी कभी असमर्थ होते हैं।

पैंतालीसवाँ परिच्छेद

विलास की मदिरा

वृद्धा वेश्या नित्य ही राधा के घर पर आने-जाने लगी और दो ही तीन दिन के परस्पर परिचय ने उन दोनों के हृदयों में एक दूसरे के प्रति परम विश्वास उत्पन्न कर दिया। इसी बीच में वृद्धा वेश्या ने कुछ अंश में अपना कुत्सित स्वरूप राधा के सामने प्रकट कर दिया था; परन्तु उसके उस वीभत्स स्वरूप की बात जान कर भी राधा के हृदय में उसके प्रति वैसी घृणा नहीं उत्पन्न हुई जैसी कुटिल कुटिला के स्वरूप को पहिचान लेने के उपरान्त सती साध्वी के मन-मन्दिर में उसके प्रति उत्पन्न हो जाती है। राधा तो स्वयँ ही वासना के महासागर में बही जा रही थी; उसने तो रसरंगमय विलास के ऊपर परिमुग्ध होकर ही अपने पूज्य पति-गृह को परित्याग किया था। संग्रामसिंह के प्रति उसके हृदय में जो भयंकर घृणा उत्पन्न हो गई थी, उसका कारण विलास-वासना का वहिष्कार नहीं था, वरन् उसका प्रमुख कारण था संग्रामसिंह का वह हृदय-हीन व्यापार, जो उसने राधा के साथ

उस भयंकर रात्रि के हत्याकाण्ड के समय किया था। राधा के मन-मन्दिर में अब भी विलास और भोग की प्रवृत्ति का वैसा ही एकान्त आधिपत्य था और प्रेमतीर्थ के वध ने तथा संग्राम-सिंह के दारुण अत्याचार ने उनकी प्रबल शक्ति को रत्ती भर हानि नहीं पहुँचा पाई थी। राधा का इस समय एक मात्र लक्ष्य यही था कि वह किसी न किसी प्रकार संग्रामसिंह से उसके हृदय-हीन व्यवहार के लिये भयंकर बदला लेवे, यद्यपि उसका उद्भ्रान्त हृदय इसे प्रेमतीर्थ के वध का प्रतिकार कह कर उद्घोषित करता था पर वास्तव में बात ऐसी नहीं थी। स्वयँ उसके हृदय में संग्रामसिंह के प्रति भीषण घृणा उत्पन्न हो गई थी और प्रतिशोध का वह दारुण संकल्प उसी घृणा का एक प्रबल अंश था। संग्रामसिंह से उसकी विलास और रसरंग की प्रवृत्ति शान्त नहीं हो सकती थी; क्योंकि संग्रामसिंह उसकी घृणा का पात्र बन गया था। वासना की शान्ति के लिये प्रेम की शीतलता की चाहे आवश्यकता भले ही न हो, पर कम से कम रुचि की अनुकूलता तो चाहिये ही। संग्रामसिंह तो एक बार ही उसकी रुचि के प्रतिकूल हो गया था; इसी लिये वह उसे अपनी विलास-वासना के पथ से हटा कर उन्मुक्त भाव से उन्मुक्त गगन-मण्डल के नीचे उच्छृङ्खल रसरंग की धारा में तैरना चाहती थी। इसी लिये उस वृद्धा वेश्या की वास्तविक मूर्ति का दर्शन करके भी राधा, क्रुद्ध-नागिन के समान, फुफकार नहीं उठी। विपरीत इसके उसके मन को एक प्रकार का परितोष-सा हुआ। उसने अच्छी तरह जान लिया कि संग्रामसिंह से रक्षा

करने में यदि कोई उसे विशेष सहायता दे सकता है, तो वह वृद्धा 'माँजी' ही है। इसी लिये उसने उसके सामने अपने हृदय का कपाट खोल दिया; अपने जीवन की सारी रहस्यमयी बातें राधा ने उसके सामने खोल कर रख दीं। वृद्धा वेश्या ने बड़े अनुराग के साथ उससे कहा था :—

"बेटी! तेरी यह कोमल अवस्था दुःख करने की नहीं है। तेरे तो यह आनन्द के दिन हैं। भगवान् ने तुझे अद्भुत रूप दिया है; हज़ारों नहीं किन्तु लाखों रमणियों में किसी एक विरली रमणी को ही तेरे जैसा मधुर माधुर्य्य प्राप्त हो जाता है। यह अमूल्य सौन्दर्य्य क्या एक हृदय-हीन मनुष्य की काम-वासना को शान्त करने के लिये है। जो तेरे पैर के तलुवे के समान भी सुन्दर नहीं है, वे आज अपार धन की स्वामिनी बन कर राज कर रही हैं; तब तू क्यों व्यर्थ में इस बन्दी-गृह में पड़ी है। मैंने भी अपने जीवन में इसी भाँति अपार धन-राशि एकत्रित की है। आज वह सारी की सारी तेरे वास्ते मैं उत्सर्ग कर सकती हूँ, यदि तू मेरी धर्म-पुत्री बनना स्वीकार करे। छोड़ दे इस शैतान के घर को; चल रानी की तरह जीवन व्यतीत कर। मोटर और जोड़ी पर जिस समय तू रत्न-जटित अलङ्कारों और बहुमूल्य वस्त्रों से विभूषित होकर साक्षात् उर्वशी के समान, बम्बई के बाज़ारों में, समुद्र के किनारे पर तथा ठंडी सड़कों पर विहार करने निकलेगी, उस समय बड़े बड़े धनी, बड़े बड़े राजकुमार, तेरे इस अपरूप माधुर्य्य पर विमुग्ध होकर तेरे इन कोमल चरणों में अपनी सम्पत्ति चढ़ावेंगे। बेटी! विश्व में पाप-पुण्य का पचड़ा

लेकर बैठे रहना व्यर्थ है; आज यदि मैंने धर्म की दुहाई सुनी होती, तो मैं भूखों मर गई होती। थोड़ी देर के लिये तू अपने उस विलासमय जीवन की कल्पना तो कर! वह कैसा सुन्दर, कैसा रँगमय एवँ कैसा उल्लासप्रद होगा! बड़े बड़े राजा, बड़े बड़े नवाब तेरे चरणों पर बैठ कर तुझे मनावेंगे; बड़े बड़े धनी युवक तेरे एक कटाक्ष पर अपना सर्वस्व वार देंगे। मेरा विश्वास कर, तू शीघ्र ही, १५ दिन के भीतर ही, सारी बम्बई की रानी हो जायगी।"

वृद्धा के इस विषाद व्याख्यान को सुन कर राधा के हृदय में एक विशेष उल्लास उत्पन्न हो गया था; भावी जीवन की इस विशद व्याख्या को सुन कर वह मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुई थी। पर संग्रामसिंह भी उसके मार्ग में मूर्तिमान् बाधा के समान खड़ा था; उसके भय से राधा केवल १० कदम की दूरी पर बने हुये विलास-मन्दिर में प्रवेश नहीं कर सकती थी। यद्यपि वृद्धा-वेश्या की बात सुन कर राधा ने उस समय केवल इतना ही सूक्ष्म उत्तर दिया था—"सोचने दो माँजी; मैं कल उत्तर दूँगी।" पर 'माँजी' से यह छिपा नहीं रहा था कि राधा के हृदय का प्रत्येक परिमाणु उसके प्रस्ताव का अनुमोदन कर रहा है। उस ऐश्वर्य्यमय विलास-जीवन की बात सुन कर राधा के मनोहर मुख-चन्द्र पर जो उल्लास प्रकट हुआ था, उसकी विशाल लोचनों में जो अरुण-राग आविर्भूत हुआ था, उसके अधर पर जो एक अस्फुट प्रसन्न-हास्य-रेखा प्रादुर्भूत हुई थी, उन्हें देख कर कुटिल वृद्धा की अन्तर्भेदिनी दृष्टि से उसके मन

का समर्थन गुप्त नहीं रह सका। यद्यपि राधा ने दूसरे दिन उत्तर देने के लिये कहा था, पर वृद्धा-वेश्या ने उसकी चित्त-वृत्ति का स्पष्ट उत्तर उसी दिन जान लिया था। वृद्धा वेश्या विलास-मयी रमणी के मर्म-स्थल के रहस्य से भली भाँति विदित थी; इसी लिये उसने ठीक लक्ष्य को वेधा था। एक प्रकार के संकोच ने यदि राधा की वाणी को रोक न दिया होता, तो वह उसी दिन उसकी बात को स्वीकार कर लेती। जो रमणी विलास के प्रस्ताव को सोचने के लिये समय माँगती है; जो स्त्री विना कुपित हुये, विना तीव्र प्रतिवाद किये, विना भयंकर विरोध किये आदि से अन्त तक पाप-प्रस्ताव को सुन कर विचारने के लिये कुछ समय चाहती है: वह उस प्रस्ताव को कदापि अस्वीकार नहीं कर सकती; सच पूछिये तो वह उसकी स्वीकृति की अस्फुट सूचना होती है। राधा का रोम रोम विलास और रसरँग का पक्षपाती था; जिस प्रकार कई दिनों का भूखा भोजन की ओर उद्भ्रान्त होकर टूट पड़ता है, राधा भी विलास और भोग की ओर उसी प्रकार से प्रवृत्त हुई थी। तब राधा कैसे उस प्रस्ताव को अस्वीकृत करती? राधा विलास के उस सरस स्वरूप की ओर कैसे उपेक्षा और घृणा की दृष्टि डालती? राधा उस ऐश्वर्य्य-भोग के शिर पर कैसे पाद-प्रहार करती?

दूसरे दिन अर्थात् जब वृद्धा-वेश्या राधा के पास आई, उस समय लगभग दिन के दो बज चुके थे। बड़ी देर से राधा उसकी प्रतीक्षा कर रही थी; एक बार तो राधा के मन में यह भावना उत्पन्न हो गई थी कि आज 'माँजी' आवेंगी ही नहीं।

कई बार उसने यह विचार किया कि वह दासी को भेज कर उन्हें बुलावे ; परन्तु फिर यह सोच कर कि कहीं वे बुरा न मान जावें, उसने उन्हें नहीं बुलाया। वृद्धा वेश्या ने आने में जान-बूझ कर देर की थी। वह एकान्त कुटिल रमणी थी; वह मनुष्य की प्रवृत्ति को उत्तेजित करने की क्रिया में एकान्त कुशल थी; वह जानती थी कि प्रतीक्षा ही उस क्रिया का मूल-मन्त्र है। इसी लिये वह आज बहुत विलम्ब करके आई; इतना विलम्ब करके आई कि राधा निराश ही हो चुकी थी। आते ही आते उसने कहा—"बेटी ! क्षमा करना ; आज बहुत देर हो गई। आज मैं गोपाल जी के दर्शनों को चली गई थी; वहाँ पर पण्डे-पुरोहितों ने घेर लिया; बड़ी कठिनता से १००) देकर उनसे पीछा छुड़ाया। (हँस कर) सभी जानते हैं; किसे नहीं मालूम है कि मेरे पास बहुत धन है।"

राधा ने नित्य की भाँति माँजी के पैर छुये। मधुर स्वर से उसने कहा—"माँजी ! आज तो मैं आपकी प्रतीक्षा करते करते थक गई; आँखें पथरा उठीं। थोड़ी देर और न आतीं, तो मैं अवश्य रजनी को आपकी सेवा में भेजती।"

'माँजी' ने मुस्करा कर उत्तर दिया—"देखती हूँ, बेटी ! तू तो मेरे पीछे व्याकुल होती जाती है। बुढ़िया से इतना प्यार करके क्या पावेगी ?"

राधा—"माँजी ! आप ही तो मेरे जीवन की रक्षा करने वाली हैं। सच जानना माँजी, आपको पाकर मुझे जितनी आशा हुई है, उसे मैं कह कर नहीं बता सकती।"

माँजी—"बेटी! मैं जो कर सकती हूँ, वह तेरे लिये सदा करूँगी। तुझे देखते ही मेरे हृदय में अपनी पुत्री की स्मृति जाग उठी है। वह तीन ही वर्ष की अवस्था में मर गई थी; आज वह होती तो ठीक तेरी ही जैसी होती। वैसी ही आँखें हैं; वैसी ही मुख की छवि है और वैसी ही कोमल वाणी है। बेटी! मैं तुझे बेटी से भी बढ़ कर प्यार करने लगी हूँ। तू तो मेरी आँखों की ज्योति सी हो गई है।"

राधा—"माँजी! आपके इस अकारण स्नेह से क्या मैं कभी उऋण हो सकूँगी? आपने मेरे ऊपर बड़ी दया की है।"

माँजी—"इन दुराव की बातों से क्या अभिप्राय है? जब तू मेरी बेटी है, तब तेरे लिये मैं जो न करूँ, सो थोड़ा ही है। हाँ! तो तूने कल वाली बात के विषय में क्या निश्चय किया?"

राधा—"माँजी! मैं तो आप से किसी भाँति बाहर नहीं हूँ। मैं जानती हूँ कि आप जो कुछ कर रही हैं, सो अच्छा ही कर रही हैं। पर माँ! उस नृशंस शैतान से कैसा छुटकारा मिले? वह तो मेरे पथ में साक्षात् बाधा के समान खड़ा है।"

माँजी—"बेटी! तू यदि मेरी बात को स्वीकार करे, तो मैं उसे भी मार्ग से हटा दूँगी। वह क्या चीज़ है; बड़े बड़े बहादुरों को मैंने मक्खी की तरह मसलवा डाला है। वह तो चीज़ ही क्या है?"

राधा—"नहीं माँजी! वह बड़ा ही शैतान है। मैं उसे

अच्छी तरह जानती हूँ। वह मुझे निश्चय जान से मार डालेगा। माँजी! मैं उसी के कारण इतनी भयभीत हो रही हूँ। उससे मेरी रक्षा कीजिये।"

माँजी ने निश्चित स्वर में कहा—"बेटी! तू रत्ती भर उस शैतान की चिन्ता मत कर! मैं उसे तेरे रास्ते से ऐसे हटा दूँगी, जैसे कोई मच्छर को मार डालता है। पर तू राज़ी हो तब न?"

राधा—"मैं तो राज़ी हूँ। यदि आप उसके हाथों से मेरी रक्षा कर सकें, तो मैं अभी आपके साथ चलने को तैयार हूँ।"

माँजी—"आज तो नहीं; पर कल ५ बजे तैयार रहना; मैं तुझे ले चलूँगी। वह तो क्या, स्वयँ शैतान भी तेरा बाल-बाँका नहीं कर सकता।"

राधा ने कृतज्ञता भरी दृष्टि से वृद्धा वेश्या की ओर देखा। बड़े वात्सल्य-भाव से वृद्धा वेश्या ने राधा को प्यार किया। अच्छी प्रकार सान्त्वना देकर वृद्धा अपनी विजय पर प्रफुल्लित होकर घर लौटी। राधा ने पाप के विलास-मन्दिर में प्रवेश करने का संकल्प किया। पाप की कपट-सुन्दर मूर्ति पर वह भी विमुग्ध हो गई।

विलास की रंगभूमि पर वासना का मदमय नृत्य प्रारम्भ होने में अब और विशेष विलम्ब नहीं है। रति की रसरंगमयी रागिनी पहिले ही से निनादित हो रही थी।

शैतान विजय गर्व के उल्लास से अट्टहास कर उठा!

छयालीसवाँ परिच्छेद

भीषण प्रतिशोध

धा ने जिस प्रकार अपने गत-जीवन की समस्त घटनावली वृद्धा वेश्या के सामने स्पष्ट रूप से विवृत कर दी थी, उसी प्रकार उसने संग्रामसिंह के विषय में भी जितना वह जानती थी, सब रत्ती रत्ती उसे बता दिया था। संग्रामसिंह ने किस प्रकार रात में अपने मित्र प्रेमतीर्थ की हत्या की, किस प्रकार उनकी विपुल रत्न-राशि पर अधिकार किया, किस प्रकार बम्बई में आकर उसने अपना वेष बदला और किस प्रकार उसने रत्न-व्यवसायियों में अपनी प्रतिष्ठा प्रतिष्ठित की, इत्यादि समस्त बातें उसने सविस्तार "माँजी" के सामने खोल कर रख दीं। उसने बता दिया कि संग्रामसिंह की दाढ़ी नक़ली है और एक ही झटके में वह उसके मुख पर से दूर की जा सकती है। उसने यह भी बताया कि संग्रामसिंह जाति का ठाकुर है, पर वह बन गया है आचार्य्य नानक का शिष्य। वृद्धा वेश्या एक ही कुटिल रमणी थी; कपट आयोजनाओं में वह एकान्त सिद्ध-हस्त थी; अपने यौवन के युग में उसने अनेक डाकू और

बदमाशों को अपने माधुर्य्य पर विमुग्ध करके तथा अरुण वारुणी के द्वारा उन्हें मूर्छित करके पुलिस के हाथों में सौंप दिया था। संग्रामसिंह के सम्बन्ध की उन सब बातों को जान कर वृद्धा ने अनुमान किया कि, बहुत सम्भव है, संग्रामसिंह कोई प्रसिद्ध डाकू हो। प्रेमतीर्थ की उस रति-कन्दरा के वर्णन से भी उसने यही अनुमान किया था कि प्रेमतीर्थ वास्तव में किसी प्रसिद्ध डाकू-दल का प्रमुख सेनापति रहा होगा; संग्रामसिंह ने राधा की माधुरी पर विमुग्ध होकर अपने सरदार को मार डाला और अब बम्बई की विशाल जनकीर्ण नगरी में भेष बदल कर वह राधा के साथ आनन्द उड़ा रहा है। पाठक-पाठिकाओं से संग्रामसिंह का कोई रहस्य छिपा नहीं है; तब उन्हें वृद्धा वेश्या की अनुमान-शक्ति की प्रशंसा करनी ही होगी। राधा के द्वारा इन सब सूचनाओं को पाकर वृद्धा-वेश्या ने उनसे समुचित लाभ उठाने का विचार किया।

यहाँ पर यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि पुलिस के कर्मचारी चोर-बदमाशों को पकड़ने के लिये उन्हीं की श्रेणी के जनों से सहायता लिया करते हैं। वृद्धा वेश्या ने भी समय समय पर पुलिस की सहायता की थी; और इसी लिये पुलिस के प्रधान कर्मचारी उससे पूर्णतया परिचित थे। दूसरे अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी नर्तकी होने के कारण तथाच वर्तमान समय की एक धनी वृद्धा-गणिका होने के कारण बम्बई में उसकी पर्य्याप्त प्रसिद्धि थी और उच्च समाज के सभ्यों से लेकर कुली-बैरक में रहने वाले साधारण मज़दूर तक, उसके मोहिनी

बाई नाम से परिचित थे। लेमिङ्गटन रोड पर उसकी विशाल अट्टालिका पाप के कीर्ति-मन्दिर के समान अटल अचल भाव से खड़ी थी। उसी के एक सुसज्जित विलास-मन्दिर में हम इस समय (रात्रि के ९ बजे) एक मखमल-मण्डित कुर्सी पर एक उच्च पुलिस कर्मचारी को बैठा हुआ देखते हैं और उसके सामने ही फ़ारिस देश के बने हुये कोमल ग़लीचे पर वृद्धा वेश्या धवल साड़ी पहिने हुये बैठी है। कमरे में बिजली की रोशनी हो रही है और एक ओर एक सुन्दर मेज़ पर सोने के दो पुष्प-पात्र रखे हुये हैं जिनमें सजाये हुये सद्यः-प्रस्फुटित गुलाबों का सौरभ उस सुन्दर मन्दिर को सुवासित कर रहा है।

पुलिस कर्मचारी ने पूछा—"कहिये! आज आपने मुझे कैसे याद किया?"

वृद्धा वेश्या ने मुस्करा कर कहा—"ठाकुर साहब! अब तो आपके दर्शन ही नहीं होते हैं। और क्यों होने लगे? यह हरि-चन्दन का वृक्ष तो अब सूख गया है।"

पुलिस कर्मचारी ने भी उसी भाँति हँस कर उत्तर दिया—यह बात नहीं है। चन्दन के सूख जाने पर उसकी सुगन्ध थोड़े ही दूर होती है। उसे तो ज्यों ज्यों घिसिये त्यों त्यों आनन्द देता है।"

वृद्धा—"अजी! बातों में आप से कोई जीत सकता है। फिर भी ठहरे न पुलिस के अफ़सर। आदमी की रग रग से आप वाक़िफ़ हैं।"

पुलिस०—"पर आप उन से भी बढ़ कर हैं। आपके निशाने से कोई विरला ही बच सकता है।"

वृद्धा०—"अच्छा ठाकुर साहब! अब काम की बातें हों।"

पुलिस०—"मैं तो ख़ुद ही यह अर्ज़ करने वाला था।"

वृद्धा०—"आज मैंने आपको एक ख़ास काम के लिये तकलीफ़ दी है। उम्मेद है कि आप मेरी मदद करेंगे।"

पुलिस०—"जहाँ तक होगा, मैं आपकी ख़िदमत करने से मुँह नहीं मोड़ूँगा।"

इसके उपरान्त वृद्धा वेश्या ने सारा क़िस्सा कह सुनाया। उसने यह भी कहा कि राधा जैसी सुन्दरी रमणी इस उपकार के लिये सदा उनकी कृतज्ञ रहेगी और उन्हें भी अपने यौवन के सुधा-रस का पान करावेगी। ठाकुर साहब भी विलासी पुरुष थे, वृद्धा वेश्या ने जिस प्रकार राधा के माधुर्य्य का वर्णन किया, उसे सुन कर ठाकुर साहब अत्यन्त उल्लासित हो उठे और तत्काल ही वृद्धा वेश्या के कहे अनुसार उन्होंने काम करने का वचन दे दिया। उन्होंने पूछा—"आख़िर, उस आदमी का नाम क्या है?"

वृद्धा०—"यहाँ बम्बई में तो उसने अपना नाम सरदार योगेन्द्रसिंह मशहूर कर रक्खा है; पर उसकी असली नाम है—संग्रामसिंह।"

पुलिस कर्मचारी चौंक पड़े; उन्होंने विस्मित भाव से कहा—"संग्रामसिंह?"

वृद्धा०—"हाँ, उसका नाम संग्रामसिंह है।"

पुलिस०—"तब तो आपने मुझे बहुत बड़ी ख़बर दी है। अगर यह वही संग्रामसिंह है, जिसके लिये पुलिस ३ वर्ष से परेशान हो रही है, तब तो फिर बड़ी ख़ुशी की बात है। यह एक मशहूर डाकू है और सरकार ने इसकी गिरफ्तारी के लिये ५०००) का इनाम रखा है।"

वृद्धा०—"सौ बिसे तो यह वही होगा। ठाकुर साहब ! अब तो ईश्वर की दया से आपका सितारा चमक उठा है।"

पुलिस०—"पर इसमें भी आप ही की मदद है।"

वृद्धा०—"ठाकुर साहिब ! सिर्फ़ इतनी इनायत कीजियेगा कि राधा को इस मामले में परेशानी न हो। उसे तो आप बिल्कुल इस मामले से दूर ही रखियेगा।"

पुलिस०—"इसके बारे में आप इतमीनान रखें। कल शाम को ८ बजे उसे मकान ही पर मैं गिरफ़्तार करूँगा। उसके पीछे आदमी तो कल सुबह से ही लगा दिये जाँयगे।"

वृद्धा०—"आपकी इस इनायत के लिये मैं आपका शुक्रिया अदा करती हूँ।"

पुलिस०—"अच्छा अब इजाज़त।"

वृद्धा०—"कैसे कहूँ ?"

इसके उपरान्त पुलिस कर्मचारी वहाँ से चल दिया। चलते समय एक रेशमी रुमाल में १०, गिनी रख कर वृद्धा वेश्या ने उसके अर्पण की। दो-एक बार इन्कार करने के उपरान्त ठाकुर साहिब ने उसे अपनी अन्दर की पॉकेट में रखा और संग्राम-सिंह की गिरफ़्तारी के बारे में तथाच ५०००) रुपये के विषय में

सोचते हुये वे पुलिस-थाने की ओर चल दिये। भविष्य की मधुर उज्ज्वल कल्पना से उनका हृदय उल्लास से भर गया था। उस समय नील नभो-मण्डल में चन्द्रदेव की हास्य-धारा प्रवाहित हो रही थी और विशाल बम्बई नगरी उस धारा में स्नान करके परम प्रसन्न सी प्रतीत होती थी।

विश्व-निन्यन्ता की शासन-प्रणाली कितनी रहस्यमयी है—इस पर विचार करने से हृदय विस्मय-विमुग्ध हो जाता है।

* * *

समस्त बहुमूल्य सम्पत्ति लेकर राधा वृद्धा 'माँजी' के साथ सायङ्काल को ५ बजे अपने उस बन्दीगृह को छोड़ कर चली गई। जिस समय वह उस घर से बाहर निकली, उस समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह किसी कठोर बन्धन को विच्छिन्न करके परम स्वतन्त्र हो गई हो। उन्मुक्त गगन-मण्डल के नीचे खड़े होकर, जब उसने अपने उस बन्दीगृह की ओर देखा, तब उसके हृदय में भय और उल्लास साथ ही साथ उत्पन्न हुये। रजनी के सिर पर उस सम्पत्ति-राशि को लाद कर, वह धीरे धीरे 'माँजी' की विशाल अट्टालिका की ओर अग्रसर हुई और ज्यों ही उसने उसकी देहरी को पार करके उसके भीतर पैर रक्खा, त्यों ही माँजी ने बड़े स्नेह और आदर पूर्वक अपने हृदय से लगा लिया। राधा ने अपने समस्त जीवन में गुरुजनों का ऐसा स्नेह और आदर नहीं पाया था, इसी लिये माँजी के प्रति उसके मन में असीम श्रद्धा उत्पन्न हो गई। शैतान जिस प्रकार सहानुभूति और स्नेह का अभिनय

करके मानव जाति को अपनी ओर आकृष्ट करता है, पुण्य यदि उसकी अपेक्षा आधा भी आदर और अनुराग प्रदर्शित करके व्यथित को हृदय से लगा लिया करता, तो आज धर्म की ऐसी हानि और पराजय कदापि नहीं होती। पर पुण्य तो उद्भ्रान्त पाप से इतनी दूर रहना चाहता है कि उसकी छाया भी उसके पवित्र कलेवर पर न पड़ सके; तब पाप का समुद्धार कैसे सम्भव है? जब तक धर्म अमृतमयी क्षमा की शीतल मन्दाकिनी में अधर्म को स्नान नहीं करावेगा; जब तक पुण्य दोनों हाथों को फैला कर असीम समवेदना के साथ पाप को अपने उदार वक्षस्थल में नहीं लगावेगा और जब तक कल्याणकारी शिव शैतान को अपने पवित्र पादारविन्द में आदर सहित स्थान नहीं देंगे, तब तक विश्व के मन्दिर में पाप की प्रबल वासना का ताण्डव नृत्य होता ही रहेगा। हमने माना कि माँजी ने अपने कपट-स्वार्थ की सिद्धि के लिये ही राधा के प्रति आदर और अनुराग प्रदर्शित किया था; परन्तु धर्म तो अपने मन्दिर में राधा का स्वागत करना तो दूर, उल्टे उसे दुतकार देता और यदि उसके निवास-स्थल पर राधा का चरण पड़ गया होता, तो वह उसे गंगा-जल छिड़क कर पवित्र करता। यही कारण है कि एक बार मनुष्य यदि पाप के प्रलोभन से प्रलुब्ध हो जाता है, तो फिर उसे सदा के लिये पाप का आश्रय अङ्गीकार करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता है। धर्म यदि उसे उसी समय ज्ञान का आलोक दिखा कर फिर अपनी पवित्र पुरी में लौटा लेवे, तो पाप की ऐसी अभिवृद्धि

होवे ही नहीं। अनेक आत्मायें किसी प्रबल उन्माद के क्षण में पाप की ओर प्रवृत्त हो जाती हैं; पर जब उन्हें चेत होता है, जब उन्माद की मात्रा कम होती है, जब मद की तीव्रता शान्त होती है, तब वे अत्यन्त विक्षुब्ध होकर रुग्ण-नेत्रों से धर्म की ओर देखती है; "त्राहि त्राहि" कह कर उससे आश्रय माँगती है, पर वह कठोर निर्मम न्यायाधीश की भाँति उनकी अश्रुधारा से रत्ती भर भी द्रवित नहीं होता है और उसके उस हृदयहीन व्यवहार का दारुण परिणाम यह होता है कि वह आकुल आत्मा सर्वदा के लिये शैतान का आधिपत्य स्वीकार कर लेती है। धर्म की यह ममता शून्य-लीला अत्यन्त मर्म-भेदी है। अस्तु;

सायंकाल के सात बजे संग्रामसिंह अपने घर लौटा। पर यह क्या? घर में तो घोर अन्धकार है। जिस मन्दिर को प्रकाश की विमल धारा आलोकित करती थी; उसमें घोर अन्धकार का आधिपत्य है। कहाँ गई राधा? कहाँ गई राधा की दासी, रजनी? संग्रामसिंह के हृदय में सहसा बड़ी बड़ी दुर्भावनायें उत्पन्न होने लगीं। उस घोर अन्धकार के बीच में खड़े होकर उसने तीव्र स्वर में पुकारा—"राधा! राधा!! राधा!!!" पर कोई उत्तर नहीं मिला, केवल प्रतिध्वनि ने मानो उसका उपहास करते हुये उत्तर दिया—"राधा! राधा!! राधा!!!" संग्रामसिंह की व्याकुलता और विक्षोभ क्षण क्षण में बढ़ता जाता था; उसके साथ ही साथ भयंकर क्रोध भी उसके मन-मन्दिर में गर्ज उठा था। बिजली का स्विच दबा कर उसने कमरे में रोशनी की

परन्तु उस समय उसने जो दृश्य देखा उसे देख कर तो उसके होश उड़ गये। कमरा बिल्कुल ख़ाली पड़ा था; सन्दूक़ खुले हुये थे और सारी बहुमूल्य सम्पत्ति ग़ायब थी। संग्रामसिंह ने जान लिया कि राधा, रजनी दासी की सहायता से, सारी धन-सम्पत्ति लेकर भाग गई है। क्रोध और विक्षोभ से संग्रामसिंह अत्यन्त आकुल हो गये; उनके मुख पर छायी हुई वीभत्स तथा भयंकर भावों की छाया बिजली के प्रकाश में स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर हो रही थी। पास ही पड़ी हुई कुर्सी पर वे बैठ गये; वे व्याकुल भाव से चारों ओर देखने लगे और बार बार क्रोध से अपना होंठ चबाने लगे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय वे यदि राधा अथवा रजनी को पा जाते, तो अवश्य उनकी हत्या कर डालते। संग्रामसिंह इस समय वीभत्स और रुद्र-रस की सम्मिलित धारा में शिखा-पर्य्यन्त निमग्न थे।

लगभग १५ मिनिट तक वे इसी प्रकार वहाँ बैठे रहे। उसके उपरान्त सहसा कोई भीषण संकल्प धारण कर के वे उठ बैठे। उन्होंने अपनी अन्दर की पॉकेट में हाथ डाल कर भरा हुआ पिस्तौल निकाला; उसे अच्छी तरह जाँचा और फिर उसे अपनी बाहरी जेब में रख कर वे प्रबल वेग से बाहर की ओर अग्रसर हुये। पर उन्होंने देहरी के बाहर पैर रखा ही था कि पुलिस के २५ जवानों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया, हमारे परिचित ठाकुर साहिब उस छोटी सी पुलिस सैन्य के सञ्चालक थे। उन्होंने कठोर गम्भीर स्वर में कहा—"हत्या और डाके के जुर्म में मैं तुम्हें गिरफ़्तार करता हूँ, संग्रामसिंह।" इतना

कह कर वे जल्दी से आगे बढ़े और एक ही झटके में उनकी नकली डाढ़ी उखेड़ ली। संग्रामसिंह एक बार तो विस्मय से अभिभूत हो गये; पर वे बड़े साहसी थे; प्रचण्ड वीर थे। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी वीरता की गति पाप की ओर थी पर फिर भी उनकी वीरता में रत्ती भर सन्देह नहीं था। उन्होंने सहसा पिस्तौल निकाल कर फ़ायर किया; सौभाग्य से ठाकुर साहब तो बच गये, पर एक दूसरे जवान की कनपटी पार करती हुई गोली निकल गई। दाँय दाँय करके दो फ़ायर उन्होंने और किये; दो सिपाही घायल हुये। तब तो ठाकुर साहब को भी पिस्तौल चलाना पड़ा, यद्यपि उन्होंने उनके पैर को लक्ष्य करके ही गोली चलाई थी, पर हाथ के हिल जाने से गोली संग्रामसिंह के हृदय को पार करती हुई निकल गई। संग्रामसिंह संग्राम में निहत हो गये। डाकू दल का दूसरा प्रमुख सञ्चालक भी मृत्यु की अन्धकार-मयी कन्दरा में पतित हो गया। राधा का प्रतिशोध पूरा हो गया, प्रेमतीर्थ की हत्या का प्रतिकार हो गया। राधा के विलास-पथ पर जो मूर्तिमती वाधा थी, वह हट गई। राधा का भोग-मार्ग परिष्कृत हो गया!

कभी कभी मनुष्य उद्भ्रान्त पशु के समान व्यवहार करने लगता है और यह नहीं सोचता है कि इस क्षण-भङ्गुर जीवन के लिये वह कितने पाप, कितनी हत्यायें, कितनी कपट आयोजनायें और कितनी स्वार्थमयी हिंसायें करता है। विलास-वासना और भोग-प्रवृत्ति की मदमयी प्रेरणाओं से उद्भ्रान्त, उन्मत्त एवँ उच्छृङ्खल होकर मनुष्य स्वप्न-सार संसार के

वास्तविक स्वरूप को एक बार ही विस्मृत कर देता है और उस विस्मृति के महासागर से धर्म, पुण्य और इन दोनों के इष्टदेव जगन्नियन्ता जगदाधार तक विलीन हो जाते हैं। माया की मरीचिका-मयी लीला का यह कैसा विलक्षण विलास है?

वासना के मद्-मय सङ्गीत से मुखरित-विश्व के विलास-मन्दिर में, उन्मादकारी सौन्दर्य्य सहवास में, तथाच अरुण रागमयी वारुणी की रस-धारा के प्रवाह में जो उन्मुक्त उल्लास के साथ विशुद्ध जीवन व्यतीत कर सकते हैं; उन्हीं के आनन्द-मय हृदय में देवी शान्ति लीला करती है और उन्हीं के पादारविन्द में सायुज्य मुक्ति नत-शिर होकर प्रणाम करती है।

सैंतालीसवाँ परिच्छेद

शान्ति का शीतल प्रवाह

हमारे शास्त्रों ने सन्यास-धर्म के पालन करने वाले उन्मुक्त पुरुषों के लिये निरन्तर पर्य्यटन का आदेश दिया है। सन्यासी को इसी लिये निरन्तर एक स्थान पर रहने की आवश्यकता नहीं है; वह तो नित्य-परिव्राजक है। जो उन्मुक्त महा-पुरुष अखिल ब्रह्माण्ड को अपनी आत्मा में निबद्ध करना चाहता है, वह एक स्थल में अपने आपको कैसे आबद्ध कर सकता है। दूसरे प्रकृति के परम रम्य दृश्यों को देख कर तथा प्रकृति के असीम विस्तृत सौन्दर्य्य का अवलोकन करके वह अपनी अन्त-रात्मा में एक अभिनव प्रकार आनन्द का अनुभव करता है; उन दृश्यों की माधुरी में वह अपूर्व शीतल शान्ति की प्राप्ति करता है। इसी लिये सन्यासी कभी एक स्थान पर नहीं रहते; कभी गम्भीर अरण्यों में, कभी हिमाच्छादित पर्वत शिखरों पर, कभी गद्गद् नादिनी कल्लोलिनी के शीतल दुकूल पर वे विहार करते हैं और कभी जनाकीर्ण विशाल नगरों में वे संसार-लिप्त माया-मोही नर-नारियों को दिव्य अमृतमय उपदेश प्रदान करते हैं।

श्री श्री आनन्द स्वामी भी इसी लिये कभी एक स्थान पर नहीं रहते थे; उनका कोई एक घर नहीं था। सारा विश्व उनका निकेतन था; आकाश उनका वितान था; प्रकृति उनकी माता थी, अतः उसकी गोद में वे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति करते थे; समीर उनका व्यजन था; प्रकाश उनका प्रदीप था; और एक निखिल विस्तृत ब्रह्माण्ड के वे अधिपति थे। अपने प्रिय वसन्त-कुमार को लेकर वे निरन्तर पर्य्यटन में प्रवृत हुये।

वासना की शान्ति का उपाय वे जानते थे। उनको विदित था कि नित्य नूतन प्राकृतिक दृश्यों के देखने से, निरन्तर सदुप-देशों को सुनने से और उपनिषदों की दिव्य अमृतमयी वाणी का रसास्वादन करने से हृदय की ज्वाला शान्त हो जाती है। और उन्होंने इसी भाग को अङ्गीकार किया। वसन्तकुमार को लिये हुये वे पर्य्यटन करने लगे। नित्य उन्हें सुन्दर सुन्दर उपदेश देने लगे; रात्रि की नीरव शान्ति में वे उनके सामने उपनिषदों की गम्भीर वाणी की व्याख्या करने लगे और प्रकृति के मनोरम भवनों में उन्हें विहार कराने लगे। वसन्तकुमार का समस्त जीवन अपनी जन्म-भूमि में तथा रंगपुर ही में व्यतीत हुआ था, उन्होंने यह नहीं अनुभव किया था कि प्रकृति के मधुर सौन्दर्य्य का असीम विस्तार है। प्रातःकाल के उद्दीप्यमान सूर्य्य की कोमल किरण राशि को जब उन्होंने हिमांचल के तुषार धवल शिखर पर नृत्य करते हुये देखा; जब मध्याह्न की प्रोज्ज्वल प्रभा में उन्होंने पर्वत-राज की गोद में कलकल करती हुई मन्दाकिनी का चपल नृत्य देखा और जब उन्होंने अरुण राग-मयी सन्ध्या

के स्निग्ध प्रकाश में असीम महासागर की उत्ताल तरङ्ग मालाओं को मणिमय मुकुट धारण करके तथा परस्पर आलिङ्गन करते हुये देखा, तब उनका हृदय उस ललित विशालत्व की माधुरी पर विमुग्ध हो गया; उन्होंने देखा कि महामाया प्रकृति परमेश्वरी का दिव्य सौन्दर्य्य विश्व के प्रत्येक परिमाणु में विलसित हो रहा है। गुरुदेव की सतत उपदेश-धारा में, प्रकृति की विमल माधुर्य्य-मन्दाकिनी में तथाच ब्रह्माण्ड के सुन्दर विशालत्व की महा सरिता में उनका हृदय स्नान करके बहुत कुछ शान्त हो गया था।

इसमें सन्देह नहीं कि अब भी उनके हृदय की रंग-भूमि में देवी सुभद्रा की मनोमोहिनी मूर्ति अपनी अभिनव माधुरी के साथ विराज रही थी, परन्तु उस वैराग्य-विभूषित सौन्दर्य्य-प्रतिमा के प्रति धीरे धीरे उनके भाव दूसरी ही भाँति के होते जाते थे। श्री श्री गुरुदेव ने उन्हें निरन्तर यही उपदेश दिया था कि सौन्दर्य्य की उपासना में कोई दोष नहीं है; दोष है उस उपासना की भावना में। उन्होंने उन से अनुरोध किया था कि वे देवी सुभद्रा के दिव्य माधुर्य्य में उसी अभिनव छबि के दर्शन करने की चेष्टा करें; जो उषा काल के समय प्रफुटित होने वाले गुलाब में विलसित होती है; जो साँध्य-श्री की अरुण-राग-मयी रंगभूमि में विहार करने वाली शाश्वत शान्ति में दृष्टि-गोचर हो जाती है; जो शरच्चन्द्रिका में स्नान करने वाली कुमुद-कुमारी के वदन-मण्डल पर परिलक्षित होती है और जो ब्राह्ममुहूर्त के समय शीतल सुरभित वनस्थली को मुखरित करने वाले साम-

संगीत के स्वरों में प्रकम्पित होती है। श्री श्री आनन्द-स्वामी ने अपने प्रिय शिष्य वसन्तकुमार को यह सब तत्व केवल वाणी के द्वारा ही नहीं बताये थे, वरन् उन्होंने उन तत्वों के उदाहरण उन्हें दिखा कर उनके मन में दिव्य शाश्वत माधुरी की विशुद्ध भावना को जागृत कर दिया था।

केवल प्रकृति की नीरव निकुञ्ज-स्थली ही में गुरुदेव के साथ वसन्तकुमार पर्य्यटन नहीं करते थे; बड़े बड़े विशाल नगरों की जनाकीर्ण वीथियों में भी वे अपने परम पूज्य आचार्य्य के साथ घूमते थे। वहाँ पर भी गुरुदेव की दिव्य शीतल उपदेश-धारा शान्त नहीं होती थी; माया-मोही संसार-लिप्त मानव-समूह के कोलाहल में भी श्री श्री गुरुदेव उन्हें स्वप्न-सार में संसार के सार-तत्व को अच्छी तरह समझाते थे। उस समय वसन्त-कुमार दर्शक के समान विश्व-विमुग्ध प्राणियों की स्वार्थ-लीला को देखते थे और उस स्वार्थ-लीला के अन्तराल में जो अग्नि-मयी वासना हाहाकार करती थी, उसके स्वरूप का विश्लेषण करते थे ज्ञान-निधि श्री श्री आनन्द स्वामी। प्रकृति के शीतल परम सौन्दर्य्य को देख कर वसन्तकुमार ने उसके प्रकृत तत्व को हृदयङ्गम कर लिया था और संसार के इस स्वार्थ-संघर्षण को देख कर उन्होंने विशुद्ध भावना के महत्व को भली भाँति जान लिया था। इसी लिये जहाँ वे देवी सुभद्रा के तपोमय लावण्य में प्रकृति-देवी की मधुर छवि के दर्शन करने की साधना कर रहे थे, वहाँ वे अपनी हृदय के भावना को विशुद्ध और विशाल बनाने के तपोमय अनुष्ठान में भी प्रवृत्त हुये थे। वसन्त-

कुमार धीरे धीरे अभिनव शीतल शान्ति की उपलब्धि कर रहे थे।

भारतवर्ष तीर्थ-भूमि है और इस धर्म-जननी वसुन्धरा के प्रत्येक परिमाणु में धर्म की महिमा का दिव्य प्रकाश दैदीप्यमान हो रहा है। आज इस दुर्दिन में भी भारत के तीर्थों में दैवी-विभूति का थोड़ा-बहुत अंश, प्राचीन स्मृति को प्रकाशमान करता हुआ, अवशिष्ट है। इन तीर्थों में भी बसन्तकुमार ने अपने आचार्य के साथ परिभ्रमण किया। उन तीर्थों के साथ धार्मिक इतिहास की जिन पवित्र घटनाओं का सम्बन्ध है, उन्हें भी गुरुदेव ने बसन्तकुमार को अपनी परम पवित्र वाणी में गुम्फित करके सुनाया। बसन्तकुमार को इन तप, त्याग और तेज की पवित्र गाथाओं को सुन कर परम आनन्द प्राप्त हुआ और उस आन्तरिक उल्लास ने उन्हें विषम विषाद के घोर अन्धकार को दूर करने में सहायता प्रदान की। प्रकृति के मनोरम भवनों में, तीर्थ के पवित्र स्थानों में तथाच जनाकीर्ण विशाल नगरों में—जहाँ कहीं बसन्तकुमार अपने गुरुदेव के साथ पहुँचे, वहाँ से वे कुछ न कुछ पवित्र भावना लिये बिना नहीं लौटे। प्रकृति की मधुर लावण्य-लक्ष्मी ने उन्हें अपूर्व शान्ति प्रदान की, पवित्र तीर्थ-स्थानों की विशुद्ध शोभा ने उनके मन में तप, त्याग एवँ तेज की महिमा का मधुर चित्र अङ्कित किया और स्वार्थ-संकुल विराट् नगरों की कोलाहलमयी स्वार्थ-लीला ने अपने विकृत स्वरूप को दिखा कर उनके हृदय में अपने प्रति असीम करुणा उत्पन्न कर दी। और इनके साथ ही साथ आनन्दमय आनन्द-

स्वामी ने अपने दिव्य वाणी के विशुद्ध प्रवाह से उनकी अग्निमयी वासना को धीरे धीरे शान्त कर दिया।

फिर से वसन्तकुमार के सौम्य-सुन्दर मुख-मण्डल पर स्वास्थ्य की शोभा प्रादुर्भूत हुई और उनके संतप्त हृदय में धीरे धीरे शान्ति सरिता का शीतल प्रवाह, दिव्य कलकल नाद करता हुआ प्रवाहित हुआ।

सत्सङ्ग की महा महिमा के पाद-पद्म पर स्वर्ग और अपवर्ग दोनों ही विनम्र भाव से नत-शिर होते हैं।

* * *

पश्चिम-पयोधि के शोभामय दुकूल पर सांध्य-लक्ष्मी का मनोहर विलास इस समय दृष्टि-गोचर हो रहा है। विन्ध्याचल के श्यामल शिखरों पर प्रकाश की सूक्ष्म रेखा अभी तक नृत्य कर रही है। नीचे प्रकृति-चित्रित उपत्यका में निर्मल-सलिला गोदावरी, चञ्चल युवती के समान, दिव्य संगीत गाती हुई चली जा रही है। अपने अपने पल्लवाच्छादित ड्योढ़ी के तोरण द्वार पर बैठ कर विहंगकुल सरस रागिनी को गा रहा है और वसन्त का शीतल सुरभित समीर, वन्य चमेली और गुलाब के सरस सौरभ को लिये हुये, मन्द-मन्थर गति से विहार कर रहा है। उपत्यका की प्रत्येक लता और वेलि इस समय शान्तिमय उल्लास से उत्फुल्ल हो रही है। बड़े बड़े विराट्काय वृक्ष अपने विशाल वक्ष स्थल पर अपनी अपनी प्रेममयी वेलि-बालाओं को धारण करके इस समय आनन्दमय हो रहे हैं। इसी समय, शान्ति के इस सुन्दर मन्दिर में, श्री श्री आनन्द स्वामी और

बसन्तकुमार विमल शिला-खण्डों पर असीन हैं। दोयों इस समय सांध्य-श्री की इस समारोह-शोभा को तथाच शान्ति की इस विमल-शीतल विलास लीला को विमुग्ध भाव से देख रहे हैं। उस मनोरम दृश्य की विशुद्ध माधुरी ने उनके हृदयों में आनन्द और शान्ति की सरिता प्रवाहित कर दी है।

श्री श्री आनन्द स्वामी ने कहा—"बसन्त! सांध्य-श्री की इस समारोह-माधुरी को देख कर तुम्हारे मन में क्या भावना उठ रही है?"

बसन्त इस प्रश्न को सुन कर विस्मय पूर्वक अपने गुरुदेव की ओर देखने लगे। दो-तीन क्षण के उपरान्त उन्होंने कहा—"भगवन्! मेरे मन में तो इस समय यही भावना विशेष रूप से लीला कर रही है कि जो प्रकृति की इस शान्तिमयी सौन्दर्य धारा में सदा स्नान करते हैं, उन्हें कभी विश्व की वासना विकल कर ही नहीं सकती है।"

आनन्द स्वामी ने हँस कर कहा—"ठीक कहते हो बसन्त, पर मानव जीवन की जटिल परिस्थिति में यह कैसे सम्भव है? प्रकृति के इस ललित लावण्य का सदा दर्शन मिलना संभव नहीं है। इसी लिये मनुष्य को यही साधना करनी चाहिये कि प्रकृति के इस मधुर माधुर्य्य के अन्तराल में शान्ति का जो अभिनव आनन्द विलसित हो रहा है, उसे वह अपने हृदय में धारण कर सके। प्रकृति के प्रत्येक परिमाणु में विमल शान्ति का प्रकाश है। साँध्य-श्री की इस अरुण-रागमयी शोभा को

देखो। कैसी उज्ज्वल है, कैसी मनोरम है; किन्तु शान्त है। बसन्त! शान्ति ही सौन्दर्य्य की महिमा है।"

बसन्त ने विनम्र स्वर में पूछा—"पर भगवन्! विश्व-व्यापी सौन्दर्य्य के समस्त स्वरूपों में तो यही अभिनव-शान्ति दृष्टि-गोचर नहीं होती है। तब क्या वहाँ सौन्दर्य्य नहीं, सौन्दर्य्य का आभास है?"

आनन्द०—"नहीं बसन्त! वहाँ भी सौन्दर्य्य होता है; पर वह सौन्दर्य्य अपनी दिव्य महिमा को विलास-वारुणी की मदमयी मूर्छा में खो बैठता है। पर बसन्त, हमारी साधना का तो यही लक्ष्य है कि हम उस मदमय सौन्दर्य्य के विलास को देख कर भी अशान्त न हों; इसी लिये मैंने उस दिन तुम से कहा था कि विश्व-व्यापी माधुर्य्य की उपासना में दोष नहीं है; दोष है उसकी भावना में। गणिका के उद्दाम लावण्य को देख कर भी यदि तुम उसमें मातृत्व की भावना कर सकते हो; विलासमयी स्वर्ग-वाराङ्गना का अञ्चल पकड़ कर भी यदि तुम उसे 'जननी' कह कर पुकार सकते हो, तो समझ लो कि तुम्हारी साधना सफल हो गई। मेरे कहने का तात्पर्य्य यह है कि निखिल-सृष्टि की रँग-भूमि में जितना भी सौन्दर्य्य विलसित होता है, यदि तुम उस में विश्व-माता की छवि का दर्शन कर सकते हो, तो तुम जगज्जननी की उपासना का मधुर फल प्राप्त करने में अवश्य सफल होगे।"

बसन्त०—"पर प्रभो! यह साधना अत्यन्त कठिन है। इसमें सिद्धि प्राप्त करना क्या कन्दुक-क्रीड़ा के समान है?"

आनन्द०—"कठिन भी है, सरल भी है। बसन्त, यह तो तुम भी जानते हो कि इस विश्व-व्यापी सौन्दर्य्य की धारा की उद्-गम-स्थली वही आदि सौन्दर्य्यमयी जगज्जननी हैं। वहीं से यह माधुर्य्य-मन्दाकिनी प्रवाहित होती है। यदि हम सदा इस बात को स्मरण रखें, तो इस साधना में सफल होना कठिन नहीं, अत्यन्त सरल है; परन्तु मदमयी वासना के प्रबल प्रवाह में, अनङ्ग-अग्नि के भयंकर हाहाकार में, हम इस तत्व को भूल जाते हैं और उसी समय वही मधुर सौन्दर्य्य, जो हमारी शान्ति और आनन्द का विधायक होना चाहिये था, हमारे पतन का कारण हो जाता है। इसी लिये तुम विश्व-व्यापी सौन्दर्य्य को उसी जगज्जननी के विमल माधुर्य्य का एक अंश मानो; तुम संसार की समस्त वस्तुओं में उसी मातेश्वरी की महा-महिमा के दर्शन करने की चेष्टा करो।"

बसन्त०—"सो ही कर रहा हूँ, महाराज! आपके आशीर्वाद से, आपके सतत उपदेश से तथा मातेश्वरी की असीम करुणा से मैंने अपनी अग्निमयी वासना को उस विशाल विस्तृत सौन्दर्य्य की धारा में बहुत कुछ निमग्न कर दिया है। पर प्रभो! अब भी कभी कभी, रात्रि के नीरव प्रहर में, वह अग्नि-मयी भावना हाहाकार कर उठती है।"

आनन्द०—"सो भी शान्त हो जायगी। पर बसन्त, एक बात सदा स्मरण रखना। इस उद्भ्रान्त-कल्पना को अपने मन में कदापि स्थान मत देना कि हाहाकारमयी वासना एकान्त-रूप से शान्त हो जाती है। नहीं; जिनके हृदय में शाश्वत शान्ति का

मधुर संगीत सदा निनादित होता रहता है, जिनके मन-मन्दिर में मधुर-सुन्दर विशुद्ध भावना की अभिनय-लीला सदा होती रहती है, जिनके चित्त में असीम आनन्द की विमल-प्रकाश-धारा सर्वदा हिल्लोलित होती रहती है, वे भी कभी कभी, किसी किसी अवसर पर, हाहाकारमयी वासना के प्रबल आक्रमण से विक्षुब्ध हो जाते हैं। एक दिन विश्व-नियन्ता कल्याणकारी आदि-योगीश्वर शङ्कर की अखण्ड समाधि भी काम के कुसुम-शर से खण्डित हो गई थी; एक दिन भक्ति-सूत्र के प्रणेता, भक्ति-रस के निरन्तर आस्वादन करने वाले तथाच भक्ति-संगीत की धारा में सतत निमग्न रहने वाले योगी नारद भी इसी विषय-वासना के मद से विह्वल हो गये थे। इसी लिये यदि कभी कभी तुम्हारे हृदय में वह उद्दाम-वासना भीषण कोलाहल करने लगती है, तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु उस समय भी तुम्हारा यही कर्तव्य है कि तुम उस वासना के उद्दाम वेग को शाश्वत शान्ति का आवाहन करके रोको। वसन्त! तुम अपनी शक्ति पर निर्भर मत रहना; सदा ही, प्रत्येक समय प्रत्येक अवसर पर, प्रत्येक जटिल परिस्थिति के बीच में, उसी आदि-माता का स्मरण करना। तुम्हें शान्ति मिलेगी; माता तुम्हारे हृदय को अपने वात्सल्य से शीतल कर देगी।"

पूज्यपाद आनन्द स्वामी की इस मधुर अमृतमयी वाणी को सुन कर वसन्तकुमार के हृदय में उल्लास और शान्ति की शीतल धारा प्रवाहित होने लगी। सन्ध्या देवी का मधुर सौन्दर्य्य, ज्योत्स्नामयी यामिनी की लावण्य-धारा में धीरे धीरे विलीन

हो रहा था; उसी समय उनकी दृष्टि सामने के उत्तुङ्ग-शिखर की ओर गई। अपनी भावना के आवेश में उन्होंने देखा कि ज्योत्स्ना की मधुर प्रकाश-धारा में, धवल-साड़ी पहिने हुये, चाँदी के समान धवल तुषारावृत शिखर पर वैराग्यमयी देवी सुभद्रा खड़ी है। उनके मुख-मण्डल पर शान्ति की सरस शोभा लीला कर रही है, उनके करुण लोचनों से वात्सल्य की विमल-धारा प्रवाहित हो रही है और उनका समस्त शरीर विशुद्ध वैराग्य विभूति के दिव्य लावण्य से देदीप्यमान हो रहा है। उन्होंने देखा कि उनके अधर पर विमल-शान्ति की सहज हास्य-रेखा है, उनके विशाल-मस्तक पर पुण्य का प्रकाशमान तिलक है। इसमें सन्देह नहीं कि यह कल्पनामयी मूर्ति उनके हृदय की भावना ही से उद्भूत हुई थी, परन्तु वे देख रहे थे मानों साक्षात् देवी सुभद्रा ही उस शिखर पर आरूढ़ होकर उनकी ओर माता की ममतामयी दृष्टि से देख रही है। बसन्त ने उस विमल सौन्दर्य्य को देख कर एक अपूर्व शान्ति की प्राप्ति की; उस दिन उन्होंने पहिली बार देवी सुभद्रा में उस मातृ-मूर्ति की शोभामयी छवि देखी, जिसने उनकी वासना को सदा के लिये शान्त कर दिया। क्षण भर ही में वह कल्पनामयी मूर्ति अन्तर्हित हो गई; वह मानसिक प्रतिभा मानों असीम शान्ति के आवरण में छिप गई। बसन्त का मन शान्ति की शीतल कल्लोलिनी में परिप्लावित होने लगा। और उसी समय उनके हृदय-निकुञ्ज में आनन्द का पारिजात प्रस्फुटित हो गया। बसन्त आत्म-विस्मृत होकर उस दिव्य-आनन्द का मधुर

अमृत-रस पान करने लगे। आश्चर्य्य, आनन्द-स्वामी भी अपने प्रिय-शिष्य की इस मधुर शान्ति को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुये; उन्होंने यह जान लिया कि वसन्त के हृदय में जो उद्दाम-वासना भयङ्कर रूप से हाहाकार कर रही थी, वह आज वसन्त-यामिनी की मृदुल मधुर ज्योत्स्ना में, पवित्र विंध्याचल की सुन्दर मनो-रम उपत्यका में, पुण्य-सलिला गोदावरी के विमल दुकूल पर, प्रकृति की मनोरम समारोह-लीला में, असीम-आनन्द-मयी शान्ति-मन्दाकिनी में विलीन हो गई। वसन्त उस शान्ति-लक्ष्मी के पाद-पद्म में अपने विशुद्ध विचार और भव्य-भावों की सुमनाञ्जलि लेकर उपस्थित हुये; शान्ति-देवी ने अपने मृदुल कर-पल्लव से उन्हें प्रस्फुटित पारिजात प्रदान किया। शिष्य की साधना के इस सुन्दर-संकल्प पर पूज्य-पाद गुरुदेव का विमल प्रशान्त मानस आनन्द की तरंगमाला से हिल्लोलित हो उठा!

वसन्त ने कहा—"गुरुदेव! आज मैंने पहिली बार जीवन के प्रमुख उद्देश्य को जाना है। आपकी पुण्य-प्रमोदमयी वाणी ने मेरे हृदय के उदभ्रान्त-कालुष्य को दूर कर दिया है और मेरे हृदय का भाव-वन आज विशुद्ध वसन्त के संस्पर्श से प्रस्फुटित हो उठा है। देव! आपने मेरे इस वासना-संतप्त जीवन को मंगल-मार्ग पर सञ्चालित करके मुझे पाप के प्रलोभन से बचा लिया है। आचार्य्य! आपकी जय हो।"

इतना कह कर वसन्त ने श्री श्री गुरुदेव के पवित्र पाद-पद्म पर अपना मस्तक रख दिया। गुरुदेव की आँखें भी जलार्द्र हो गईं। बसन्त की अन्तरात्मा विशुद्ध आनन्द से विलसित हो

गई। वह एक अनुपम दृश्य था; उस दृश्य की माधुरी स्वर्ग और पारिजात-बन की सौन्दर्य्य-श्री का उपहास कर रही थी। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो प्रफुल्ल-रजनी की उज्ज्वल-ज्योत्स्ना में, पुण्य-तोया गोदावरी से परिप्लावित विन्ध्याचल के पवित्र तपोवन में, धर्म के पाद-पद्म पर, विश्वास ने अपना मस्तक स्थापित कर दिया हो, मानो मोक्ष के चरणार-विन्द पर पुण्य नत-शिर हो गया हो; मानो साक्षात् शिव-शङ्कर, के पद-प्रान्त पर मूर्तिमान् आनन्द ने, अपना शिर रख दिया हो। कैसा महिमामय दृश्य था? कैसा सत्य का समुज्ज्वल विलास था? कैसा पुण्य का मनोरम उत्सव था? सुधा-स्रावी चन्द्रदेव हास्य-मुखी रजनी-देवी, देदीप्यमती प्रकृति-परमेश्वरी, संगीत-मयी गोदावरी, उल्लासमयी उपत्यका,—सब विमुग्ध होकर उस आनन्दमय दृश्य को देखने लगे।

श्री श्री आनन्द स्वामी ने आदर और अनुराग से बसन्त-कुमार को हृदय से लगा लिया। बसन्तकुमार ने एक बार फिर गद्गद् कण्ठ से कहा—"देव! एक दिन आपने उस शीत-रात्रि में मुझे और मेरी सहोदरा को जीवन-दान दिया था और आज बसन्त रात्रि में आपने मुझे असीम शान्ति प्रदान की है। जिस समय पाप अपना समस्त प्रलोभन लेकर मुझे उद्भ्रान्त कर रहा था; जिस समय अग्निमयी वासना मुझे विकल बना कर पाप की ओर सञ्चालित कर रही थी और जिस समय मायावी शैतान मुझे बरवश नरक-पुरी की ओर लिये जा रहा था, उस समय आपने, साक्षात् दैवी विभूति के समान, मेरी रक्षा की है, मुझे

पाप के पाश से बचाया है। देव ! मङ्गलमय मुहूर्त में मैं अपने हृदय की समस्त श्रद्धा के सहित आपके पवित्र पादारविन्द में में प्रणाम करता हूँ और केवल आप से यही बर माँगता हूँ कि इसी भाँति आपकी असीम-करुणा की शान्तिमयी छाया हम दोनों भाई-बहिनों पर बनी रहे।"

गुरुदेव ने यद्यपि इसका कुछ उत्तर नहीं दिया किन्तु उनके पवित्र मुख-मण्डल का प्रत्येक परमाणु कह रहा था—"एवमस्तु।" उस ज्योत्स्नामयी यामिनी में उनके लोचनों के प्रान्त पर एक अश्रु-बिन्दु नीरव खण्ड के समान, झलमला उठा और गुरुदेव ने फिर एक बार आनन्द के साथ वसन्तकुमार को अपने हृदय से लगा लिया।

आदि-माता की पवित्र चरण-श्री शान्ति-सलिला आनन्द-मन्दाकिनी की जन्म-भूमि है।

* * *

गुरुदेव ने कहा—"वसन्त ! अन्नपूर्णा के विवाह में अभी २० दिन और हैं। चलो न ! भगवान् रामेश्वर के दर्शन कर आवें।"

वसन्त—"गुरुदेव की आज्ञा की जय हो।"

दूसरे दिन उषा-काल के पवित्र प्रकाश में गुरुदेव और बसन्तकुमार पुण्य-तीर्थ रामेश्वर की ओर चल दिये। निकट के स्टेशन से रामेश्वर की ओर जाने वाली रेलगाड़ी पर वे दोनों सवार हुये।

संसार के दुस्तर महासागर को पार करने के लिये ज्ञान-निधि गुरुदेव की दिव्य-सहायता अनिवार्य्य है। संसार का

समस्त धार्मिक साहित्य इस सिद्धान्त का समर्थन करता है और ज्ञान के महिमामय आसन पर उन्हें आसीन करके, उनके चरण-तल को श्रद्धा की शीतल धारा से प्रक्षालन करता है; विश्वास के सुवर्ण पात्र में आनन्द-ज्योति को स्थापन करके वह उनकी आरती उतारता है और भावमयी कोमल-कविता के द्वारा उनकी स्तुति करता है। कोई कोई तो साक्षात् परब्रह्म के ही समान उन्हें मानते हैं, क्योंकि उन्हीं की कृपा से साधक सच्चिदानन्द की लय में लय हो जाता है।

गुरुदेव ही ज्योतिर्मय ब्रह्म के साकार स्वरूप हैं और उनकी अमृतमयी वाणी शान्ति की शीतल कल्लोलिनी बन कर विश्व के संताप को शान्त करती है।

अड़तालीसवाँ परिच्छेद

सेवा का संकल्प

वृद्धा वेश्या ने सुन्दरी राधा के आदर करने में कोई बात उठा नहीं रखी। एक अत्यन्त सुसज्जित कमरा उसके निवास के लिये निश्चित किया गया; दूसरे ही दिन उसके लिये बहुत से बहुमूल्य वस्त्र ख़रीदे गये और बहुत सी विलास की सामग्रियाँ उसके वास्ते एकत्रित की गईं। कुछ तो बहुमूल्य अलङ्कार राधा के पास पहिले ही से थे; कुछ वेश्या ने अपने पास से दिये और कुछ को शीघ्र ही बना कर भेजने के लिये बम्बई के एक प्रसिद्ध जौहरी को ऑर्डर दिया गया। रजनी दासी को तो नौकर रख ही लिया गया पर और भी ३-४ सुन्दरी युवतियों को राधा की सेवा के लिये नियुक्त किया गया। वृद्धा वेश्या के पास पहिले ही से ४ सुन्दर घोड़े और २ लैण्डो गाड़ियाँ थीं, अब एक नया मोटर भी ख़रीदा गया और एक मोटर-ड्राइवर नौकर रक्खा गया। इस प्रकार वृद्धा वेश्या ने राधा के लिये वे सभी उपकरण जुटा दिये जिन्हें पाकर एक रानी भी अपने को भाग्यवती मानने लगती। राधा अपने सौभाग्य का ऐसा सुन्दर

विकास देख कर आनन्द से उत्फुल्ल हो गई। हम यह कहना भूल गये कि राधा को संगीत की शिक्षा देने के लिये भी तीन-चार विशेषज्ञ नियुक्त किये गये।

राधा अपूर्व सुन्दरी थी और इन विलासमय-उपकरणों की सहायता से तो उसका मधुर सौन्दर्य्य और भी प्रदीप्त हो उठा। जिस समय राधा अपने मोटर पर बैठ कर बम्बई के प्रसिद्ध बाज़ारों में से होकर जाती, उस समय सारी आँखें उसी की ओर उठ जातीं। वृद्धा ने ठीक ही कहा था कि एक ही पक्ष के भीतर राधा बम्बई की सर्व श्रेष्ठ वाराङ्गना का स्थान अधिकृत कर लेगी। हुआ भी ठीक ऐसा ही; राधा के सरस सौन्दर्य्य ने एक बार बम्बई के समस्त रसिक-मण्डल को उद्वेलित कर दिया; जहाँ चार धनी युवक अथवा राजकुमार एकत्रित होते, वहाँ राधा ही की चर्चा होती। जब संध्या के स्निग्ध प्रकाश में, अपनी किसी सुन्दरी दासी के साथ, राधा, बहुमूल्य वस्त्रों से और रत्न-जटित आभूषणों से अलंकृत होकर, सहज भाव से मन्द-मन्द मुसकराती हुई, कभी मोटर पर, कभी गाड़ी पर सवार होकर, समुद्र के शीतल दुकूल पर वायु-सेवन करने के लिये जाती, उस समय अनेकों हृदय उस विमल-लावण्य पर बलिहार हो जाते। पर वृद्धा वेश्या के आदेशानुसार वह किसी की ओर नहीं देखती—हँसती, पर अपनी सुन्दरी सखी के साथ; बोलती, पर अपनी युवती परिचारिका से। वह अपने दिव्य लावण्य के अलंकार से गर्वीली होकर, अपने वसन्त-प्राप्त यौवन-वन की माधुरी से उल्लसित होकर एवँ अपने आन्तरिक

आमोद की वारुणी से मदमयी होकर विशाल महासागर के दुकूल पर इधर से उधर इठलाती फिरती और इस ओर रत्ती भर भी ध्यान नहीं देती कि कितने हृदय उसके आरक्त चरण-कमलों के नीचे दलित हो रहे हैं, कितने उत्कण्ठित लोचन उसके पाद-पद्म पर बलिहार हो रहे हैं और कितने रसिक उसके उस दिव्य-लावण्य की पूजा करने के लिये आकुल हो रहे हैं। वह अपने ही यौवन की उल्लास-धारा में निमग्न थी; वह अपने ही माधुर्य्य के विजय-गौरव पर उन्मत्त थी; वह अपने ही दिव्य-यौवन के प्रकाश पर विमुग्ध थी। आध घण्टे तक सागर-तट पर विहार करके वह अपने विलास-मन्दिर को लौट आती।

धीरे धीरे वृद्धा-वेश्या की वह विशाल अट्टालिका रसिक-युवकों की विहार-भूमि बन गई। अनेक धनी युवक राधा के सौन्दर्य्य-सरोवर का शीतल जल-पान करने के लिये वहाँ आने लगे। वे बिचारे क्या जानते थे कि वे मायामयी मरीचिका के पीछे उद्भ्रान्त होकर आकुल भाव से प्रधावित हो रहे हैं। राधा के दिव्य-लावण्य के रस को आस्वादन करने के लिये धनियों की मण्डली में परस्पर होड़ होने लगी। राधा के चरणों पर सम्पत्ति की अञ्जलि चढ़ाने के लिये वे परस्पर प्रतिस्पर्धा करने लगे। राधा—राधा स्वर्ग-वाराङ्गना के समान विलास की आलोकमयी रङ्गभूमि पर विहार करने लगी।

रे रे हिन्दू समाज! यह है तेरे अनियमित अत्याचार और अन्ध-अनाचार का दारुण परिणाम! देख, तेरे धर्म्म और शास्त्रों को अवज्ञा के सहित पैरों से ठुकरा कर, तेरे विधि निषेधमय

नियमों के बन्धन को उपेक्षा पूर्वक छिन्न-भिन्न करके, और स्वयँ तेरे शिर पर तिरस्कार पूर्वक पाद-प्रहार करके, आज राधा उच्छृङ्खल विलास और उद्दाम भोग की सम्मिलित धारा में उन्मत्त भाव से किलोल कर रही है। क्यों? कहाँ है तेरा वह असार आदेश, जिसके द्वारा तू एक पूर्ण-यौवना सुन्दरी को एक निर्बल-बालक के साथ विवाह-बन्धन में बाँध कर उससे पवित्र पातिव्रत का पालन कराना चाहता था? कहाँ है तेरी वह व्यर्थ की व्यवस्था, जिसके द्वारा तू एक युवती की सहज उद्दाम-वासना की ओर से एकान्त उदासीन होकर, उसे बाल-पति की उपासना में प्रवृत्त करना चाहता था? और कहाँ है तेरी वह परम्परा-परिपाटी, जिसकी दुहाई देकर तू एक परिपुष्ट कलेवरा पूर्ण-युवती के हृदय की प्रदीप्त-प्रवृत्ति को एक शीर्ण निर्बल बालक के चरणारविन्द में रत कराना चाहता था? हाय रे उद्भ्रान्त समाज! तू प्रलय की अग्नि-ज्वाला को प्रभात की ओस-विन्दु से बुझाना चाहता है; तू कुपित-केसरी को कच्चे सूत से बाँध कर रखना चाहता है; तू प्रदीप्त उन्माद को तर्क के द्वारा शान्त करना चाहता है। पर यह कैसे सम्भव है? सब से बड़ा दुःख तो यह है कि तू विश्व की रंगभूमि पर नित्य इन्हीं स्थूल लोचनों के सामने घटित होने वाली घटनाओं को भी नहीं देखता है और न तू लाभ उठाता है। अपने प्राचीन इतिहास के पृष्ठों में अङ्कित की हुई चित्रावली से जिन महासतियों के श्री चरण रज से हमारी यह पुण्यमयी वसुन्धरा पवित्र हुई थी, वह किनकी अर्धाङ्गिनी थीं, तू इस पर थोड़ी देर विचार कर!

जगज्जननी सीता, प्रकाण्ड-वीर भगवान् रामचन्द्र की प्राणेश्वरी थीं; विश्वमाता पार्वती योगेश्वर शंकर की हृदय-साम्राज्ञी थीं और प्रातः-स्मरणीया देवी सावित्री राजकुमार सत्यवान् की सहधर्मिणी थीं। पर तू आशा करता है कि जीर्ण-शीर्ण-बालक की, मरणासन्न वृद्ध की, अत्याचारी नपुंसक की भी स्त्रियाँ उसी प्रकार सती धर्म का पालन करें। न ! यह नहीं हो सकता; अपवाद की बात दूसरी है, पर नियम इसके विरुद्ध है। जब तपोमय ब्रह्मर्षि गौतम की धर्मपत्नी अहिल्या भी इसी उद्दाम-वासना की प्रदीप्त अग्नि में अपने सतीत्व की आहुति दे बैठीं; जब इसी प्रचण्ड-प्रवृत्ति की बलि-वेदी पर एक दिन सुन्दरी कुन्ती के कौमार्य्य की भी बलि हो गई, जब इसी प्रखर काम-ज्वाला में एक दिन सुर-गुरु बृहस्पति की धर्मपत्नी का पातिव्रत भी भस्मीभूत हो गया, तब क्या इन शुष्क शास्त्रीय आदेशों से वासना-व्यथित युवती के हृदय की यह सहज वासना शान्त की जा सकती है ? नहीं; इसके लिये जिस पवित्र वायु-मण्डल की आवश्यकता है। जो सुन्दर परिस्थिति अनिवार्य्य है, उसकी अवहेलना करने से काम नहीं चलेगा ! समाज ! इस महासत्य को इस प्रकार विस्मृत कर देने ही से आज तुम्हारी यह दारुण दुर्दशा हुई है; यदि तुम अब भी नहीं चेते, अब भी तुमने यदि पापमयी प्राचीन-परम्परा का अनुचित पक्षपात नहीं छोड़ा और यदि तुमने अब भी मानव-हृदय की सहज वासना को अवज्ञा की दृष्टि से देख कर उसको पुण्य-पथ पर परिचालित करने का समुचित प्रयत्न नहीं किया, तो शीघ्र ही विनाश की

उत्तुङ्ग तरङ्ग-मालाओं में तुम सदा के लिये विलीन हो जाओगे !!

वैसे तो भविष्य के आवरण को भेद कर उसके अन्तराल में छिपे हुये प्रकृत-सत्य को जान लेना केवल योगीश्वर के त्रिकाल-दर्शी ज्ञान-प्रकाश के लिये ही सम्भव है; परन्तु हम संसारी पुरुष भी, परिस्थिति की आलोचना करके, इतिहास की समान घटनाओं से उदाहरण लेकर तथाच कार्य्य-कारण का सम्बन्ध निर्धारित करके भविष्य की कुछ घटनाओं का आंशिक-स्वरूप निश्चित कर सकते हैं। महापुरुषों ने अपने अनुभव से यह बात कही है कि इतिहास निरन्तर अपनी आवृत्ति करता रहता है; और इस तत्व के अन्तराल में यही महा-सत्य निहित है कि जहाँ समान परिस्थिति होगी, समान कारण होंगे, तथाच समान वायु-मण्डल होगा, वहाँ परिणाम भी समान होगा। इसी लिये हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि यदि सुन्दरी राधा का पाणिग्रहण किसी सुन्दर परिपुष्ट युवक से कर दिया गया होता, तो आज वह शैतान का प्रश्रय स्वीकार करके समाज के वक्षःस्थल पर पापमय विलास का ऐसा ताण्डव-नृत्य कदापि नहीं करती। यदि उसे किसी प्रेमी युवक का आलिङ्गन प्राप्त होता, यदि वह किसी बलिष्ठ सुन्दरपति के पर्य्यंङ्क की प्रान्त-भामिनी होती, यदि वह किसी बलवान् मनोहर प्राणेश्वर के पाद-पद्म की उपासना का अवसर प्राप्त करती, तो आज वह इस प्रकार परिभ्रष्ट होकर अपने दिव्य-लावण्य को पण्य-पदार्थ कदापि नहीं बनाती और हिन्दूगृहस्थ की अनेक सलज्ज, सरल

कुलाङ्गनाओं के समान वह भी अपने पति-गृह रूपी प्रयाग-तीर्थ में आनन्दपूर्वक निवास करती। राधा का कैसा भीषण पतन हुआ है?—इस बात पर विचार करने से हृदय क्षोभ और लज्जा से परिपूर्ण हो जाता है। धर्म की शीतलछाया को छोड़ कर आज वह पाप के विलास-मन्दिर में निर्लज्जभाव से युवक-मण्डल के साथ रस-किलोल कर रही है। सब से बड़ा दारुण दुःख यह है कि राधा अपने इस पाप-पतन पर रत्ती भर भी विक्षुब्ध नहीं है; वह इस कलुषित-विलास और भ्रष्ट आनन्द की प्राप्ति को अपना अशेष सौभाग्य मान रही है। हिन्दू ललना का इससे अधिक क्या पतन हो सकता है? कहाँ गई राधा के विशाल-लोचनों की वह सलज्ज-श्री, जो कुल-वधू के करुण-नयनों की सहज शोभा है? वह वारुणी के अरुण-मद में विलीन हो गई। कहाँ है राधा के हृदय का वह पवित्र-पातिव्रत का पक्षपात जो हिन्दू-रमणी के मन-मन्दिर का अक्षय पुण्य-प्रदीप है? वह विलास की रसरंगधारा में निमग्न हो गया। कहाँ है राधा की बुद्धि का वह धार्मिक अनुराग, और कहाँ है भगवती के चरणारविन्द में उसकी वह शान्तिमयी श्रद्धा, जो हिन्दू कुल-ललना की जीवन-व्यापिनी साधना के अपरिहार्य्य अंश हैं? उद्भ्रान्त व्यभिचार की वलि-वेदी पर उन दोनों का बलिदान कर दिया गया। पर इसमें क्या राधा का ही एकान्त अपराध है? नहीं; समाज ही राधा के इस पतन के लिये विपुलांश में उत्तरदायी है। राधा आज विपुल-सम्पत्ति की स्वामिनी है, अनियमित-रसरंग की धारा में नित्य किलोल करती है और

वासना की उद्दाम-पिपासा, को भोग की वारुणी से नित्य प्रति बढ़ाती जाती है। आज वह जिस स्थिति में है, एक नीच जाति की हिन्दू-ललना भी अपनी दुःखमयी स्थिति को उस से बदलना स्वीकार नहीं करेगी। राधा ने भी स्वेच्छा से उसे स्वीकार नहीं किया है। सास-ससुर के राक्षसी अत्याचार से आकुल होकर, प्रखर-वासना के प्रबल वेग से उद्भ्रान्त होकर, वह शैतान के आश्रय की ओर प्रधावित हुई थी। शैतान ने उसे हृदय से लगा लिया; उसने उसे अशेष-सम्पत्ति प्रदान की, वासना की शान्ति का सुन्दर अवसर दिया, रसरंग की धारा में आनन्द-पूर्वक तैरने की सुविधा कर दी और विलास के ऐसे ऐसे उपकरण उसके लिये जुटा दिये जिन के भोगने की तो दूर, देखने तक की उसने कभी कल्पना नहीं की थी। इस प्रकार शैतान ने उस उद्भ्रान्त एवँ उत्पीड़ित सुन्दरी को अपनी ऐसी पक्ष-पातिनी बना लिया कि अब यदि स्वयँ धर्मराज भी, हाथ बाँध कर उसके सामने समुपस्थित हों, तो भी वह कदाचित् अपने विलास-मन्दिर को छोड़ कर उनके छायामय तपोवन में लौट जाने के लिये समुद्यत न होगी! आज वह शैतान के बल से प्रमत्त होकर समाज की छाती पर ताण्डव-नृत्य कर रही है; कोई दिन था कि वह अपनी उद्दाम-वासना की आकुल पिपासा को शान्त करने के लिये दूर दूर तक कोई प्रणय-पात्र नहीं पाती थी और आज समाज के अनेक "सभ्य, प्रतिष्ठित और महामान्य सज्जन" उसकी वासना को शान्त करना अपना अहोभाग्य, अपने पूर्व-जन्म के अनेक पुण्यों का मधुर फल मानते हैं!! धर्म ने एक दिन राधा को उत्पी-

ड़ित किया था, आज वह धर्म के शिर पर पाद्-प्रहार कर रही है; समाज ने एक दिन उसे अशेष यातना दी थी, आज वह समाज की छाती पर पाप का ताण्डव-नृत्य कर रही है; पिता ने एक दिन उसे अन्धे बन कर निर्बल-बाल-पति के साथ विवाह-बन्धन में बाँध दिया था, आज वह उनके ही नहीं, उनकी सात पीढ़ी पहिली, और सात पीढ़ी आने वाली तक में भी कलङ्क-कालिमा पोत रही है; ससुर ने अपनी युवती पत्नी का पक्ष लेकर उस पर असह्य अत्याचार किया था, आज वह उनके प्रतिष्ठित वंश के शुभ नाम को अपकीर्ति के अन्धकारमय गह्वर में ढकेल रही है। पाप की प्रचण्ड-शक्ति का प्रश्रय पाकर राधा अपनी व्यथा, यातना और अपमान का भीषण प्रतिशोध ले रही है। उच्च-वंश की कुलाङ्गना का इस प्रकार वेश्या बन कर अपने सौन्दर्य्य को पण्य-पदार्थ बना देना यदि मर्म-भेदी और विक्षोभ-कारी दृश्य नहीं है, तो कहना ही पड़ेगा कि इस विशाल-विश्व में सब कुछ—शिव का शैतान में परिणत हो जाना भी,—एक अत्यन्त साधारण घटना है, एक क्षुद्र असार अभिनय है।

माया-मृग के समान शैतान का बाहर, जितना सुवर्णोज्ज्वल है, भीतर वैसा ही घन-कृष्ण है!

* * *

आशुतोष भगवान् रामेश्वर के पुण्य-दर्शन करके श्री श्री आनन्द स्वामी अपने प्रिय-शिष्य बसन्तकुमार के साथ महा नगरी बम्बई में आये। उन्होंने यह विचार किया था कि बम्बई से श्री द्वारिकाधाम और वहाँ से सीधे रंगपुर चले जाँयगे। यद्यपि

श्री आनन्द स्वामी एक नहीं अनेक बार बम्बई आये थे; पर वे बसन्तकुमार को भी उस विशाल नगरी का दर्शन कराना चाहते थे। स्वयँ बसन्तकुमार भारत के इस प्रसिद्ध नगर को देखना चाहता था। बम्बई में कई एक धनिक व्यवसायी श्री श्री आनन्द स्वामी के शिष्य थे; स्वामी जी ने रामेश्वर से ही उन्हें समाचार भेज दिया था और उन्होंने बड़े आदर और श्रद्धा से अपने गुरुदेव का स्टेशन पर स्वागत किया। उन्हीं में से एक धनिक का शहर के बाहर की ओर एक मनोरम उद्यान था; श्री श्री आनन्द स्वामी बसन्तकुमार के साथ उसी में ठहरे थे। श्री श्री आनन्द स्वामी ने जिस समय से बम्बई में पदार्पण किया था; उस समय से (केवल आधी रात को छोड़ कर) उन्हें एकान्त-सेवन का अवसर नहीं मिला था। उनका शिष्य सम्प्रदाय उनके अमृतमय उपदेशों को श्रवण करने के लिये उन्हें परिवेष्ठित किये रहता था। कारण यह था कि जनाकीर्ण विशाल बम्बई नगर में श्री श्री आनन्द स्वामी बहुत कम आते थे। किसी पुण्य-धाम की यात्रा करते समय जब वह बीच में पड़ जाता था, तभी वे वहाँ पदार्पण करते थे। इसी लिये उनका शिष्य समुदाय उनके पदार्पण करने पर विशेष उत्फुल्ल हो उठता था और जितने समय वे वहाँ रहते थे उतने समय उनकी सेवा करके तथाच उनके दिव्य-वचनों के अमृत-रस का पान करके वे सब कृत-कृत्य होते थे। दूसरे वे सब जानते थे कि जिस समय उमङ्ग आई नहीं और स्वामी जी ने वहाँ से प्रस्थान किया नहीं; फिर वे किसी के रोके नहीं रुकते थे। कभी कभी तो वे रात्रि की

नीरव शान्ति में, शिष्य समुदाय से बिना कहे हुये ही, चल देते थे। इसलिये उनका शिष्य मण्डल उनकी पुण्य समुपस्थिति से जितना लाभ उठा सकता था, उतना उठा लेता था। उनका सारा समय उसी उद्यान ही में व्यतीत होता था; वे सदा इसी मनोरम प्रमोद्-वन में ठहरा करते थे। इस बार भी वही दशा हुई; उनके शिष्यों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया।

पर बसन्तकुमार का मन चाहता था नगर की शोभा देखने के लिये तथाच हिल्लोलित होते हुये महासागर की महिमा अवलोकन करने के लिये। पर गुरुदेव को इतना अवकाश कहाँ जो वे स्वयँ उसे लेकर बम्बई के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानों का निरीक्षण करा लाते। इसी लिये बसन्तकुमार ने विनम्र-भाव से गुरुदेव के श्री-चरणों से देख आने की आज्ञा माँगी। गुरुदेव ने मुस्कुराकर आज्ञा दे दी। यद्यपि गुरुदेव के कई शिष्यों ने अपने साथ लेकर उन्हें नगर दिखलाने की इच्छा प्रकट की; परन्तु बसन्तकुमार नहीं चाहते थे कि वे गुरुदेव के सत्संग की थोड़ी-बहुत हानि भी सहन करें। इसी लिये उन्होंने कृतज्ञता-पूर्वक उनकी सेवाओं को अस्वीकार कर दिया। एक धनिक-युवक के अनुरोध से उन्होंने उनके मोटर पर बैठ कर नगर का निरीक्षण करना स्वीकार कर लिया और उसने भी मोटर-ड्राइवर को अच्छी तरह समझा दिया कि वह उन्हें सारा नगर अच्छी तरह दिखा दे। गुरुदेव ने तीन दिन तक बम्बई में निवास करने का निश्चय किया था। तीन दिन तक मोटर पर सवार होकर बसन्त ने बम्बई नगर का निरीक्षण

किया। बम्बई का विशालत्व, बम्बई की विभूति, बम्बई की शोभा, यह सब देख कर बसन्तकुमार विस्मय से विमुग्ध हो गये। रंगपुर—रंगपुर तो उसके एक मुहल्ले का दशांश भी नहीं था। कितना विशाल, विभूतिमय नगर है?

आज तीसरा दिन है और आज रात्रि को १ बजे वाली गाड़ी से वे बम्बई से प्रस्थान करेंगे। बसन्त समस्त बम्बई की सैर कर चुके हैं और आज मोटर-ड्राइवर उन्हें समुद्र-दुकूल की शोभा दिखाने के लिये लाया है। जिस समय की बात हम कह रहे हैं उस समय सूर्य्यास्त का समारोह हो रहा था। सामने जहाँ तक दृष्टि जाती है वहाँ तक अगाध गम्भीर विशाल महासागर हिल्लोलित हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो पृथ्वी और आकाश के बीच में यह विशाल जल-राशि विस्तृत है। मानो इसका एक दुकूल है मर्त्य-लोक और दूसरा है स्वर्ग-धाम। यद्यपि इस समय समुद्र शान्त था किन्तु फिर भी उसकी भीमकाय तरङ्ग-राशि एक दूसरे को आलिङ्गन कर रही थी। पश्चिम दुकूल पर स्थित होकर सूर्य्यदेव उस गम्भीर सलिल-राशि को मानो विमुग्ध-नयनों से देख रहे थे और उसके विशाल वक्षःस्थल पर उनकी प्रोज्ज्वल-कान्ति सुवर्ण-केतु के समान विस्तृत थी। सागर की लीलामयी तरङ्गमाला सूर्य्य-किरणों की चूड़ामणि धारण करके अशेष उल्लास के साथ नृत्य कर रही थीं। विशाल हंस-श्रेणी के समान कहीं कहीं पर पालदार नौकायें झूमती हुई तैर रही थीं। कैसी महिमा का दृश्य था? महसागर के उस विशाल उन्मुक्त-स्वरूप को देख कर हृदय की सारी क्षुद्र

भावनायें उसकी गम्भीर-सलिल-राशि में विलीन हुई जा रही थी। उसका वह महिमामय विस्तार देख कर मन का समस्त समुपस्थित अहङ्कार आन्तरिक आनन्द में विलुप्त हुआ जाता था। भारत-जननी के श्री-चरणों को चूमता हुआ महासागर मानों प्रचण्ड उद्घोष के साथ भगवान् की लीला-भूमि का जय-जय-कार रहा था। और उस जय-जय-कार को सुन कर हृदय-मन्दिर में भारतीय प्राचीन गौरव की उज्ज्वल स्मृति जाग उठती थी।

इस समय सागर दुकूल पर नर-नारियों का बहुत बड़ा समूह विहार कर रहा था। कोई रसमयी युवती अपने प्रेमी से हँस रही थी; कोई रसिक युवा किसी अनिन्द्य सुषमामयी युवती से रस-परिहास कर रहा था; कोई कोई विमुग्ध-नयनों से प्रसन्न शोभामयी चञ्चल-सुधा का लावण्य देख रहे थे; कोई नयन-विमोहिनी किशोरिका एक एक बार रसिक-युवकों की ओर देख कर उनके हृदयों को अपने सरस हास्य से विकल और साथ ही साथ उत्फुल्ल कर रही थी। वहाँ पर सभी प्रकार के पुरुष थे। कवि उस महिमा-दृश्य को देख कर विमुग्ध हो रहा था; दार्शनिक उस सुन्दर विशालत्व को देख कर अपूर्व आनन्द अनुभव कर रहा था; चित्रकार अपने चित्र की साकार-कल्पना का वहाँ दर्शन कर रहा था—कहने का तात्पर्य्य है वहाँ पर उस समय सभी श्रेणी की जनता उपस्थित थी। परन्तु उस विशाल समूह में सबसे अधिक अंश था रसिक और रसिकाओं का; समुद्र के उस दुकूल पर, सन्ध्या के उस

महिमामय समारोह में, इस ओर आनन्द का अभिनय अभिनीत हो रहा था। वह उस समय प्रेम और शृङ्गार की लीला-भूमि बना हुआ था।

बसन्तकुमार प्रकृति के उस महिमामय मनोमुग्धकर अभिनय को देख कर विस्मय-विमुग्ध हो रहा था। एक नहीं अनेक बार उसने रंगपुर में नील-सलिला यमुना के निर्मल तट पर सूर्य्यास्त का सरस सुन्दर उत्सव देखा था। पर आज उसने जो अपूर्व दृश्य देखा, उसे देख कर उसे अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ। लगभग १५ मिनट तक वह उस उज्ज्वल अभिनय को देखता रहा। जिस अभिनय की रंगमयी रंगभूमि हो सुवर्ण-रेणुमय पश्चिम-दुकूल, जिसका दृश्य-पट हो विशाल विस्तृत-महासागर, जिसकी नायिका हो अरुण-राग-मयी संध्या-सुन्दरी, नायक हो अनन्त विस्तृत आकाश मण्डल, जिसकी नटी हो स्वयँ प्रकृति-परमेश्वरी और सूत्रधार हो जगन्नियन्ता जगदाधार—उस अभिनव अभिनय की शोभा और महिमा का क्या कहना है? शान्ति की दिव्य-रागिनी का स्वर-समूह उस समय उत्थित हो रहा था; शृङ्गार का सरस विलास उस समय विलसित हो रहा था और उसके बीच में नृत्य कर रही थी श्रीमयी रस-माधुरी! बसन्तकुमार का उस दृश्य को देख कर आत्म-विस्तृत हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक था।

पर धीरे धीरे यह दृश्य रजनीदेवी के अन्धकार में विलीन हो गया अथवा यों कहिये कि उस दृश्य का पट-परिवर्तन होकर उसके स्थान पर किसी दूसरे अभिनव-दृश्य के विलास की

आयोजना होने लगी थी। उस समय बसन्तकुमार भी इस महिमामय दृश्य की ओर से आँख हटा कर दुकूल पर एकत्रित जनसमूह की ओर देखने लगे। यद्यपि उस समय सूर्य्यास्त हो चुका था परन्तु अभी वहाँ पर इतना प्रकाश अवश्य था कि मनुष्य अपने से १०--२० हाथ की दूरी पर खड़े हुये व्यक्ति के मुख की सूक्ष्म से सूक्ष्म छवि-रेखा को देख सकता था। बसन्त-कुमार उस परिहास-निमग्न जन-समूह को देखने लगे। देखते देखते सहसा उनकी दृष्टि एक सुन्दरी के ऊपर जाकर ठहर गई—"ऐं! यह कौन है? ऐसा मालूम होता है, मानो इसे कहीं देखा है? कैसा मनोहर स्वरूप है? कैसा उज्ज्वल लावण्य है? पर, ऐं! इसकी भाव-चेष्टाओं से यह कोई वाराङ्गना सी प्रतीत होती है! तब इसे कहाँ देखा होगा? कौन? राधा, राधा? हाँ; ठीक वही है। मैंने उसे और स्थिति में देखा था, अब वह और स्थिति में है? पर यह यहाँ कहाँ? क्या यहीं कहीं प्रेमतीर्थ भी तो नहीं हैं? नहीं; वह होते तो अवश्य इसके साथ होते। वह देखो, वह उस युवक से मुस्करा कर बातें कर रही है, वह देखो, वह अब दूसरे पुरुष से परिहास करने लगी। आह! क्या राधा ने वेश्यावृत्ति धारण कर ली?

बसन्तकुमार के मन-मन्दिर में इस प्रकार के भाव उत्पन्न होने लगे; पर अब पहिचानने में कोई कसर नहीं रह गई थी। वह राधा ही है—अवश्य राधा ही है। न हो, इससे एक बार वार्ता-लाप तो कर देखूँ। यदि हो सका तो इसे इस नरक-कुण्ड से उबारने की चेष्टा करूँगा। क्या जाने इस विश्व की

रहस्यमयी व्यवस्था किस नियम के अनुसार निश्चित की जाती है ?

धीरे धीरे बसन्तकुमार उसी ओर को अग्रसर हुये। इस समय राधा किसी युवक से रस-परिहास नहीं कर रही थी; केवल अपनी युवती दासी रजनी से वह इस समय कुछ बातें कर रही थी। उसी समय उसके सन्निकट पहुँच कर अत्यन्त कोमल मधुर-स्वर में बसन्त ने कहा—"बहिन राधा!"

बसन्तकुमार का मधुर-पवित्र सम्बोधन सुन कर राधा चौंक पड़ी और आश्चर्य-चकित दृष्टि से बसन्तकुमार की ओर देखने लगी। वह विस्फारित लोचनों से उसकी ओर अवलोकन कर रही थी। उसे उनका स्वर परिचित सा प्रतीत हुआ, पर वह सहसा उन्हें पहचान न सकी। बसन्त ने फिर पूछा—"बहिन! क्या तुम मुझे भूल गईं?"

अब की बार राधा पहिचान गई कि वे उसकी परमप्रिय सखी देवी सुभद्रा की प्यारी शिष्या अन्नपूर्णा के बड़े भाई हैं। राधा ने कई बार उन्हें देखा था; परन्तु उन दोनों में कभी वार्तालाप नहीं हुआ था। आज उन दोनों के जीवन में परस्पर वार्तालाप करने का प्रथम अवसर था। पहिले तो राधा उनके पवित्र-सम्बोधन को सुन कर और उसकी पुण्य उपस्थिति को देख कर अत्यन्त संकुचित हुई, पर शीघ्र ही उसका संकोच दूर हो गया। उसका प्रधान-कारण यही था कि वृद्धा वेश्या के आदेशानुसार उसने लज्जा और संकोच को तिलाञ्जलि दे दी थी; धीरे धीरे उसने इन गुणों को उच्छृङ्खल विलास और निर्लज्ज

भोग के चरणों में बलिदान कर दिया था। मधुर-लज्जा वेश्या की शृङ्गारमणि नहीं है; वह तो कुलाङ्गनाओं की विभूति है। वाराङ्गना के व्यवसाय को स्वीकार कर लेने पर लज्जा और संकोच का क्या काम? तब तो चाहिये उन्मत्त-कटाक्ष, मदमय विलास, निर्लज्ज परिहास, संकोच शून्य रसरंग, उच्छृङ्खल रति-लीला तथाच उद्दाम-भोग-क्रिया! राधा ने भी इसी लिये इन्हें अङ्गीकार करके लज्जा और संकोच का बहिष्कार कर दिया था। राधा ने संकोच रहित वाणी में कहा—"पर आप कदाचित् यह नहीं जाते हैं कि मैंने वाराङ्गना-वृत्ति स्वीकार कर ली है। यह जान कर कदाचित् आप मुझे बहिन कह कर सम्बोधन नहीं करेंगे।"

वसन्त ने अत्यन्त करुणाभरी वाणी में कहा—"नहीं बहिन! वेश्या बन जाने से भी बहिन-भाई का पवित्र सम्बन्ध खण्डित नहीं होता है। मेरी प्यारी बहिन! तुमने यह जघन्य व्यवसाय क्यों स्वीकार किया?"

वसन्तकुमार के इन मधुर-शब्दों को सुन कर राधा एक बार फिर आश्चर्य-विमुग्ध हो गई। उन शब्दों ने उसके निर्लज्ज हृदय को भी उद्वेलित कर दिया। उस वचनावली में असीम करुणा, अनन्त-स्नेह, अपार सहानुभूति थी। राधा क्षण भर के लिये मौन हो गई। पर उसी समय उसके हृदय में पति-परिवार के उस दारुण अत्याचार का दृश्य जाग्रत हो उठा। उसने तीव्र-स्वर से कहा—"जघन्य व्यवसाय? नहीं, मैं इसे जघन्य व्यवसाय नहीं मानती हूँ। और यदि वह जघन्य व्यव-

साय हो भी, तो भी इसे स्वीकार करके मैं सुखी हूँ। पर एक बात पूछती हूँ, जो समाज असहाय युवती को निर्बल बाल-पति के साथ बरवश बाँध देता है, जो रमणी के हृदय की समस्त आकाँक्षाओं को अपनी दारुण व्यवस्था से कुचल डालना चाहता है, जिस समय सास ससुर अपनी पुत्र-वधू पर असह्य अत्याचार करते हैं, वह समाज कौन से मुँह से वेश्या-वृत्ति को जघन्य कर्म कहता है? हमारे क्या हृदय नहीं है? उस हृदय में क्या आकाँक्षा, आशा, वासना और पिपासा नहीं है? पर समाज हमारे उस हृदय को अत्याचार की अग्नि में भस्मसात् करता है और जब हम उस अग्नि की वेदना को न सह कर इस विशाल विश्व की रंगभूमि में अपने हृदय की परिशान्ति के लिये शैतान का प्रश्रय लेती हैं; तब वह हमारे कर्म को जघन्य कर्म कहता है? कैसी निर्लज्जता है? कैसी नीचता है? कैसी कपट-लीला है? जघन्य कर्मा शैतान उत्पीड़ित के रक्षा कर्म को जघन्य कहता है; इससे बढ़ कर नीच-निर्लज्जता और क्या हो सकती है?"

अवज्ञा की हास्य-रेखा राधा के अधर पर प्रकट हुई। राधा की आँखें अङ्गार के समान चमकने लगीं; पर बसन्तकुमार ने सहानुभूतिमयी वाणी में कहा—"आह! मेरी प्यारी बहिन! मैं जानता हूँ, समाज ने तुम्हें बहुत दुःख दिया है। मुझे मालूम है, तुमने अपने इस कोमल-हृदय पर वज्र के समान आघात सहन किये हैं। बहिन! यदि तुम्हें अरुचिकर न हो, तो तुम रंगपुर छोड़ने के समय से लेकर अब तक का अपना इतिहास मुझे

सुना दो। हो सका, तो मैं अपने प्राणों की आहुति देकर भी। तुम्हें इस नरक-कुण्ड से निकालने की प्रचेष्टा करूँगा।"

राधा क्षण भर के लिये मौन होकर इस विषय में विचार करने लगी। उसके उपरान्त वह अवज्ञा की हँसी हँस कर बोली—"नहीं, मुझे सहायता न चाहिये। पर यदि तुम मेरा इतिहास सुनना चाहते हो, तो चलो उस स्थल पर चलें। यहाँ हम दोनों की बातें और कोई भी नहीं सुन सकता है। पर एक बात का वचन दो कि तुम मेरे साथ विश्वासघात नहीं करोगे?"

वसन्त—"बहिन के साथ विश्वासघात करूँगा? नहीं! जगज्जननी साक्षी है।"

जन-समूह के निकट से हट कर वे दुकूल के एक निर्जन-स्थान पर पहुँचे। राधा ने अपने पतित-जीवन का समस्त-इतिहास ब्यौरेवार कह सुनाया। वसन्तकुमार उस इतिहास को सुनकर अत्यन्त मर्माहत हुये; उन्होंने प्रेमतीर्थ के विषय में जो कल्पना की थी, वह अक्षरशः सत्य निकली। पर वसन्त-कुमार अब दिव्य-शान्ति की उपासना का तत्व जान गये थे; महामाया की महाव्यवस्था का अंश कह कर उन्होंने अपने हृदय के उस दारुण-विक्षोभ को भगवती के श्रीचरणों में समर्पित कर दिया। उस समय रजनी का अन्धकार क्रमशः प्रगाढ़ होता जाता था।

वसन्त ने मधुर प्रेममयी वाणी में कहा—"बहिन! इसमें सन्देह नहीं कि तुमने अशेष-यातनायें सहन की हैं। पर चलो! अब इस नरक-कुण्ड को छोड़ दो। चलो! मैं तुम्हें अपनी

बहिन बना कर रखूँगा और निरन्तर-सेवा के शीतल-सलिल से तुम्हारे हृदय की समस्त वेदना शान्त कर दूँगा।"

राधा ने कहा—"नहीं; बहुत दिनों तक मैंने शिव के मन्दिर की बहार देख ली; अब तो मैं शैतान के ही आश्रय में यह जीवन समाप्त कर दूँगी। मुझे यहाँ क्या दुःख है? सम्पत्ति है, विलास के उपकरण हैं, वासना की शान्ति के साधन हैं। न! अब मैं फिर समाज के इसी बन्दी-गृह में नहीं लौटूँगी। इसके लिये मुझ से अनुरोध मत करो।"

बसन्त ने आकुल स्वर में कहा—"नहीं, बहिन! भाई का कहना मानो, इस शैतान के आश्रय को छोड़ दो। चलो; मेरी कुटी में रहना, मैं तुम्हारी आदर और अनुराग सहित पूजा करूँगा।"

राधा का हृदय बसन्त के आकुल-स्वर को सुन कर विक्षुब्ध हो उठा; पर उसने अपने आकुल-भाव को दबा कर कहा—"तुमने मुझे बहिन बनाया है, तब मैं तुम्हें भाई ही कह कर पुकारूँगी। सुनो भाई! मैं स्पष्ट-रूप से कहती हूँ कि मैं इस नरक-कुण्ड को नहीं छोड़ सकूँगी। मैंने वेश्या-वृत्ति स्वीकार कर ली है, तब मुझे सच कहने में क्या लज्जा है? मेरे हृदय की वासना उन्मत्त भाव से रस-रंग और विलास की ओर प्रधावित हो रही है; मैं तो शिखा-पर्य्यन्त भोग के कुण्ड में निमग्न हूँ। मैं जानती हूँ, तुम मेरे लिये समस्त सुख जुटा दोगे; पर भाई, मैं फिर इसी ओर दौड़ूँगी। अब तक जो वासना समाजिक नियमों में आबद्ध थी, वह अब स्वतंत्र होकर गरज रही है। तुम सब

कुछ मुझे दे सकते हो, पर तुम मेरी इस वासना की शांति का साधन नहीं जुटा सकते। अब समाज का कोई युवक मेरे साथ विवाह करने को उद्यत नहीं होगा। समाज मेरे उच्छृङ्खल व्यभिचार को सह सकता है, पर वह मुझे एक पुरुष की प्राणेश्वरी बनने का अवसर नहीं दे सकता है। नहीं, भाई ! तुम व्यर्थ मुझ से अनुरोध मत करो। पड़ी रहने दो; मुझे इसी नरक-कुण्ड में पड़ी रहने दो।"

राधा की बातें सुन कर बसन्त रोने लगे; राधा के हृदय में भी एक तीव्र-व्यथा उत्पन्न हो गई और उसके लोचनों में से मोती झरने लगे। पर उसने अपने अञ्चल से बसंतकुमार के आँसू पोंछे। विकम्पित स्वर में उन्होंने कहा—"रोओ मत, मेरे भाई ! मैं जानती हूँ, तुम्हारे उदार हृदय को। मेरी बातों से बड़ी व्यथा पहुँची है। मैं देखती हूँ कि तुम्हारा सहानुभूति-सागर उच्छ्वसित हो उठा है। पर भाई ! बात यह है कि मैं नहीं चाहती कि आज तो मैं तुम्हारी बात मान लूँ; पर कल तुम्हें इससे भी अधिक दुःख दे कर फिर मैं इसी नरक-पुरी में लौट आऊँ। नहीं भाई ! अब समय नहीं रहा। मैं सच कहती हूँ, यदि मुझे मेरे पति-परिवार में इससे आधी भी सहानुभूति और आदर प्राप्त होता, तो आज मैं इस पाप-पथ की पथिक कदापि न बनती।

बसंत ने ठंडी साँस लेकर कहा—"अच्छी बात है, बहिन ! जैसी इच्छा हो वैसा करो ; पर तो भी मेरा तुमसे यही अनुरोध है कि यदि किसी दिन तुम्हें इस पाप-व्यवसाय से ग्लानि

उत्पन्न हो और उस समय यदि शैतान अपनी समस्त-शक्ति के साथ तुम्हारे मार्ग में मूर्तिमती वाधा के समान आ कर खड़ा हो जाय, तो तुम अपने इस अधम भाई को स्मरण करना; मैं अपने सर्वस्व की आहुति देकर भी तुम्हारी रक्षा करूँगा। और आज, महासागर के इस पुण्य-दुकूल पर, सायंकाल के इस पवित्र मुहूर्त में, मैं जगज्जननी राजराजेश्वरी भगवती कल्याण-सुन्दरी से यही प्रार्थना करता हूँ कि वे तुम्हारे हृदय में शीघ्र ही वैसी तीव्र-ग्लानि उत्पन्न कर दें।"

राधा ने भी उस समय उच्छ्वलित स्वर में कहा—"ऐसा ही हो। पर भाई! क्या मेरी एक प्रार्थना स्वीकार करोगे?"

बसन्त—"अवश्य।"

राधा—"मेरे इस पतन का इतिहास देवी सुभद्रा के सामने मत प्रकट करना। उसका प्रधान कारण यही है कि वे अपनी इस अधम-सखी पर अत्यन्त अनुराग रखती थीं; मुझे वे अपने परम आदर की वस्तु मानती थीं। वे जब मेरे इस दारुण-पतन की बात सुनेगीं, तब उनके कोमल-हृदय को अत्यन्त क्षोभ होगा। व्यर्थ में उन्हें दुःख देना ठीक नहीं। सच कहती हूँ, भाई! जिस पाप-मुहूर्त में मैंने रंगपुर छोड़ा था, उस समय वे यदि वहाँ होती तो कदाचित् आज राधा का यह वाराङ्गना-स्वरूप नहीं होता।"

बसन्त—"अच्छी बात है।"

राधा—"भाई! तुम धन्य हो! हाय! बड़ी देर में मैंने जाना कि तुम इतने उदार, इतने महिमामय हो! जो हृदय-

पतित-वेश्या को भी बहिन मान कर आदर और आग्रह पूर्वक अपनी उज्ज्वल-रंगभूमि में अनुराग के आसन पर उसे आसीन कर सकता है; वह इस सामने हिल्लोलित होते हुये महासागर में भी विशाल और ऊपर के गगन-मण्डल से भी विराट् है ! वही विश्व-प्रेम की लीला-भूमि है; अक्षय-आनन्द का शान्ति निकेतन है और शीतल-शान्ति की कुञ्ज-कुटी है ! भाई ! अपने इस अन्धकारमय जीवन में तुम्हारी पुण्य-स्मृति को अपनी अवशिष्ट पुण्य-मणि के समान धारण करूँगी और, सम्भव है, यही एक दिन मेरे उस अग्निमय जीवन के उद्भ्रान्त पथकी अक्षय आलोक-माला बन जाय । तुम्हारी यह पतित बहिन तुम्हारे श्रीचरणों में प्रणाम करती है ।"

इतना कह कर जल्दी से राधा ने वसन्तकुमार के चरणों की रज लेकर मस्तक पर लगाई और उस अन्धकार में वेग पूर्वक विलीन हो गई ।

वसन्तकुमार कुछ समय तक विचार-मग्न अवस्था में उसी स्थल पर खड़े रहे । पर सहसा उनके मन में एक पुण्य-संकल्प, देदीप्यमान ध्रुव-नक्षत्र के समान उदय हुआ । उस संकल्प के उदय होते ही वसन्तकुमार का सारा विक्षोभ विलुप्त हो गया और वे उत्फुल्ल हो उठे । समाज के प्रत्येक परमाणु में पाप का जो एकान्त आधिपत्य हो गया है, उसे दूर करने के लिये वसन्त-कुमार सन्नद्ध हुये । समाज की निस्वार्थ सेवा के मधुर, स्थिर संकल्प ने वसन्त के मन-मन्दिर को आलोकित कर दिया ।

इस लिये दार्शनिक ने कहा है कि भगवती व्यवस्था चिर-

कल्याणमयी है, उसके रहस्य को हम उद्घाटन कर सकें या न कर सकें; ऊपर से वह कठोर दिखाई दे चाहे मृदुल, पर उसके अन्तराल में महामाया की चिरमङ्गलमयी, चिरशान्तिमयी एवँ चिदानन्दमयी इच्छा का ही उज्ज्वल विलास होता है। राधा यदि अपने उस पाप-व्यवसाय को छोड़ कर बसन्त के साथ चली जाती, तो सम्भव था बसन्त के हृदय में इस शाश्वत-संकल्प का वैसा मधुर विकास न होता। इसी को पाप-पङ्क से पुण्य-पद्म का प्रस्फुटन होना कहते हैं; विश्व के महा काव्य का यह विरोधाभास नामक पवित्र अलङ्कार है।

विशुद्ध हृदय के तपोवन में निस्वार्थ सेवा की पुण्यमयी भावना का प्रस्फुटित होना ही पवित्र साधना की सुमधुर सफलता है और यह सफलता ही महामाया की मङ्गलमयी इच्छा की विमल विजय-वैजयन्ती है।

उनचासवाँ परिच्छेद

जयमाला

श्री आनन्द स्वामी, जैसे दिव्य चिकित्सक ने भाई बसन्तकुमार की तीव्र अन्तर्व्यथा को शान्त करने का भार अपने ऊपर लिया था। यह देख कर यद्यपि अन्नपूर्णा के हृदय को अत्यन्त परितोष और प्रसन्नता हुई थी; परन्तु फिर भी सहोदर के लिये इसके मन-मन्दिर में सदा चिन्ता बनी रहती थी। रात-दिन वह जगन्माता से उनकी कल्याण-कामना किया करती थी और उनके लौट आने की बड़े उत्सुक भाव से प्रतीक्षा करती थी। ज्यों ज्यों उनके लौटने का समय सन्निकट आता जाता था, त्यों त्यों उसकी उत्कण्ठा बढ़ती जाती थी और उस उत्कण्ठा के साथ उद्वेलित होती जाती थी उसके हृदय की आनन्द-सरिता। शीघ्र ही वह मङ्गल-मुहूर्त आने वाला था, जब वह सदा के लिये राजेन्द्रकुमार के अन्तर और बाहर का समस्त विभूति की अधीश्वरी की आसन पर आसीन होगी। अन्नपूर्णा के चिन्ता-मधुर-मुख-मण्डल पर आनन्द की धारा हिल्लोलित हो रही थी।

विशाल उन्मुक्त आकाश के प्राङ्गण में अष्टमी का अर्धचन्द्र अपनी समस्त शोभा के साथ विहार कर रहा है। वासन्ती समीर पुष्पों के मकरन्द रस को पान कर आनन्द से झूम रहा है और वेलि-बालाओं के पल्लव-पट को हटा कर उन्हें बार बार गुदगुदा रहा है। लतायें भी आनन्द से विभोर होकर लजीले भाव में मुस्करा रही हैं। दिन के विस्तृत साम्राज्य पर रजनी के अधिपत्य को हुये अभी ½ घड़ी से अधिक नहीं हुआ है। कभी कभी दूर से यमुना के निर्जन तट की ओर से प्रेम-रागिनी का स्वर समीर पर आरूढ़ होकर ज़िमींदार के उद्यान में भी प्रति-ध्वनित हो उठता है। धीरे धीरे आनन्दमयी शान्ति का मधुर प्रभाव विस्तृत हो रहा है।

हमने अब तक अपने पाठक-पाठिकाओं को यह नहीं बताया था कि ज़िमींदार के उस प्रमोद-वन में उत्तर की ओर भगवती का एक सुन्दर मन्दिर है। आशा है, पाठक-पाठिकायें हमारी इस असावधानी के लिये हमें क्षमा करेंगे, अपने निर्बल पक्ष में हमें केवल इतना ही कहना है कि अभी तक हमारी कथा का कोई दृश्य इस मन्दिर के सुरम्य पट पर अभिनीत नहीं हुआ था, और इसी कारण हमने उसकी चर्चा भी नहीं चलाई थी। परन्तु इस समय हम उसी मन्दिर की ओर अग्रसर हो रहे हैं; वहीं पर हमें अपने प्रस्तुत-परिच्छेद की घटना का अभिनय अभि-नीत कराना है। मन्दिर विशुद्ध धवल संगमर्मर का बना हुआ है और उसके चारों ओर सुगन्धित फूलों के वृक्ष वासन्ती-समीर के संस्पर्श से हिल्लोलित हो रहे हैं। सुधाकर की मधुर चन्द्रिका

में स्नान करता हुआ धवल मन्दिर इस समय ठीक ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो वह किसी कवि की कान्तिमयी कविता का धवल निवास हो। उस मन्दिर के भीतर का दृश्य और भी अधिक पवित्र और सुन्दर है। सुवर्ण के सुन्दर सिंहासन पर कारचोबी के काम किये हुये मख़मली गद्दे पर आदि-माता की प्रसन्न शोभामयी सुवर्ण प्रतिमा विराजमान है। भगवती का महा-लक्ष्मी स्वरूप है; इनके एक हाथ में है कमल, एक में शङ्ख, एक में गदा, और एक में सुदर्शन-चक्र। भगवती की अपूर्व श्री है; मणिमाला के ऊपर सद्यः प्रस्फुटित वेले का गजरा शोभायमान है; प्रसन्न सुन्दर ललाट पर रत्न-जटित किरीट है और उस किरीट के ऊपर एक सुन्दर सुवर्ण-छत्र शोभा पा रहा है। जगन्माता के मुख पर वात्सल्य की आभा विलसित हो रही है और उनके लोचनों से असीम स्नेह की शीतल मन्दाकिनी प्रवाहित हो रही है। जिसके श्रीचरणों से विश्व सौन्दर्य्य की सरस धारा प्रवाहित होती है, उसके निज के सौन्दर्य्य का वर्णन करना हमारे लिये कैसे सम्भव है। वैदिक-भारती भी तो 'नेति नेति' कह कर ही शान्त हो जाती है।

अन्नपूर्णा नित्य दोनों समय भगवती की शृंगार करती है और बड़े भक्ति-भाव से उनके पवित्र पाद-पद्म में श्रद्धाञ्जलि समर्पण करती है। नित्य ही वह उनसे भाई की मंगल-कामना करती है और नित्य ही वह मन ही मन उनसे अपने प्राणेश्वर की कल्याणमयी समृद्धि और पवित्र दीर्घ-जीवन के लिये याचना करती है। अपने ही कोमल हाथों से वह भग-

वती का सुरभित फूलों से शृङ्गार करती है और कभी कभी तो बहुत देर तक आत्म-विस्मृत होकर उस दिव्य लावण्य की धारा में निमग्न रहती है। जिस समय की बात हम कर रहे हैं, उस समय अन्नपूर्णा इसी मन्दिर में उपस्थित थी और बड़े भक्ति-भाव से आदि-माता का पवित्र पूजन कर रही थी। मन्दिर के बीच में एक बड़ा झाड़ था, उसकी प्रोज्ज्वल-प्रभा से मन्दिर देदीप्यमान हो रहा था; भगवती के दोनों पार्श्वों में घी के प्रदीप जल रहे थे और उस प्रसन्न मधुर आलोक के बीच में जगन्माता मधुर रहस्य करती हुई अन्नपूर्णा की पूजा से सन्तुष्ट और प्रसन्न हो रही थी। महामाया के प्रफुल्ल मुख-मण्डल पर देदीप्यमान हो रहा था विशुद्ध-स्नेह का पवित्र प्रोज्ज्वल-प्रकाश और सरल किशोरी अन्नपूर्णा के वदन-चन्द्र पर विलसित हो रही थी सरस श्रद्धा की विमल आभा। उस समय का दृश्य अत्यन्त सुन्दर और पवित्र था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो स्वयँ श्रद्धा, मातेश्वरी की समर्चना कर रही हो, मानो स्वयँ अन्तरात्मा भगवती की पूजा कर रही हो; मानो मूर्तिमती आर्ष-कविता जगदीश्वरी के श्री चरणों में भावों की पराग-पूर्ण अञ्जलि अर्पण कर रही हो; मानो, साक्षात् पवित्रता जगन्माया के पादारविन्द में प्रणिपात कर रही हो। भगवती का शृङ्गार समाप्त हुआ; अन्नपूर्णा की पूजा पूरी हुई; अन्नपूर्णा ने भक्ति-भाव से जगदीश्वरी को प्रणाम किया।

परन्तु एक जन इस अभिनव मधुर दृश्य को मन्दिर के एक कोने में खड़ा खड़ा देख रहा था। वह भी उस दृश्य को

देख कर उतना ही विमुग्ध था, जितनी स्वयँ अन्नपूर्णा। अन्नपूर्णा यह नहीं जानती थी कि उसके पीछे निभृत कोण में खड़े होकर उसके हृदयेश्वर पवित्र पूजा के इस मधुर दृश्य को विमुग्ध दृष्टि से देख रहे हैं। अहा! कैसी मनोहर लीला थी? राजेन्द्र का मुख-मण्डल आनन्द और उल्लास की सरल सम्मिलित धारा से परिप्लावित हो रहा था; उसके विशाल लोचन प्रभात पद्म के समान उत्फुल्ल हो रहे थे। उसके सहज-कोमल अधर पर उषा की प्रथम प्रकाश रेखा के समान हास्य-श्री विलसित हो रही थी। मधुर-कण्ठ से अन्नपूर्णा ने स्तुति की :—

"नित्यानन्दकरी वराभयकरी सौन्दर्य्य-रत्नाकरी।
निर्धूताखिलघोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी॥
प्रालेयाचलवंशपावनकरी काशीपुराधीश्वरी।
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥१॥
"नानारत्नविचित्रभूषणकरी हेमाम्बराडम्बरी।
मुक्ताहारविलम्बमान विलसद्वक्षोजकुम्भान्तरी॥
काश्मीरागरुवासिता रुचिकरी काशीपुराधीश्वरी।
भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी॥२॥"

अन्नपूर्णा की ललित मधुर स्तुति-रागिनी के सरस-स्वरों से मन्दिर गूँज उठा। प्रकाश मानो और भी प्रसन्न हो उठा; भगवती के मुखारविन्द पर ललित हास्य-रेखा और भी प्रोज्ज्वल-भाव से लीला करने लगी। अन्नपूर्णा ने हाथ जोड़ कर भक्ति और प्रेम से भरी हुई वाणी में, आदि-माता से प्रार्थना की—

"मातेश्वरी! तुम्हीं विश्व की सञ्चालिका हो; तुम्हीं संसार

की परिपालन करने वाली हो। जननि! दया करके मेरे भाई के हृदय की अन्तर्व्यथा को अपनी मधुर-करुणा की शीतल धारा से शान्त कर दो। माँ! तुम परम मंगलमयी हो; तुम्हीं चराचर की संरक्षिका हो। यह तुम्हारा ही मधुर-विधान था कि उपयुक्त समय पर गुरुदेव ने आकर भाई की रक्षा की; नहीं तो......नहीं तो आज मेरे प्यारे सहोदर की न जाने क्या दशा होती! जगज्जननि! तुम्हीं सहाय्य हो; तुम्हीं अवलम्ब हो। उनकी रक्षा करना और शीघ्र ही उनके दर्शन दिलाना। और माँ! तुम जानती हो; हृदय की बात तुम से छिपी नहीं है। जिस महाभाग के श्रीचरणों में तुमने मेरा स्थान निश्चय किया है; जिन उदार देवता ने मुझे अपनी दासी बनाना स्वीकार किया है; जिन परम सुन्दर प्राणेश्वर की प्रतिमा को अपने इस हृदय में धारण किये रहती हूँ और जिनकी मनोमोहिनी मूर्ति मेरे दुःख और सुख की स्नेहमयी सखी है, उनके ऊपर तुम सदा अपनी दया बनाये रखना; उनके मार्ग के सारे कण्टकों को कुसम-संभार में परिणत कर देना। जय जननि!"

उसी समय मधुरस्वर में राजेन्द्र ने पीछे से मुस्कराते हुये कहा—"एवमस्तु!"

अन्नपूर्णा चौंक उठी। उसने पीछे फिर कर देखा उसके हृदय-देवता खड़े खड़े मुस्करा रहे हैं। अन्नपूर्णा का मुख-मण्डल लज्जा से और भी अरुण हो गया और उसका हृदय पवित्र प्रेम और प्रोज्ज्वल आनन्द से आलोकित हो उठा। लाज से उसकी आँखें नीची हो गईं। उसी समय राजेन्द्र ने कहा—"भगवती ने

तुम्हारी प्रार्थना सुन ली है, प्राणेश्वरि ! आचार्य आनन्द स्वामी के साथ तुम्हारे सहोदर बसन्तकुमार लौट आये हैं और वे दोनों बापूजी की कुटी में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

इस मधुर आनन्द-प्रद समाचार को सुनकर अन्नपूर्णा अत्यन्त उत्फुल्ल हो उठी। एक बार उसने अपनी अरुण-रागमयी दृष्टि को ऊपर उठा कर बसन्तकुमार की ओर देखा। उस प्रसन्न-दृष्टि में कितना प्रेम, कितना रस, कितना माधुर्य्य एवँ कितनी कृतज्ञता थी—यह लिख कर बताने की बात नहीं है। सरस पाठिकायें और रसिक पाठक उस प्रफुल्ल सुन्दर दृष्टि की माधुरी का स्वयँ अनुमान लगाने में समर्थ हैं। अन्नपूर्णा भाई के पास जाने के लिये विकल हो उठी; कई महीने के उपरान्त भाई प्रवास से लौटे थे; तब सहोदरा का मन क्यों न उनके दर्शन के लिये विकल हो उठे। अन्नपूर्णा ने बड़ी कृतज्ञता के साथ मातेश्वरी के श्री चरणों में प्रणाम किया। ज्यों ही प्रणाम करके अन्नपूर्णा ने मस्तक उठाया, त्यों ही आदि-माता की किरीट-माला पृथ्वी पर पतित हुई। उस समय जगज्जननी, आनन्द की हास्य-धारा से मन्दिर को और उन दोनों के हृदयों को परिप्लावित कर रही थी।

अन्नपूर्णा ने वह माला उठा ली। उसने उसे शिर पर लगाया। और फिर सौदामिनी की चञ्चल गति से उसने वह पवित्र विजय-माला अपने प्राणेश्वर के गले में पहिना दी। जल्दी से उनके पाद-पद्म को स्पर्श करके अन्नपूर्णा मन्दिर से बाहर हो गई और बापूजी की कुटी की ओर प्रधावित हुई। एक निमेष भर में यह सब हो गया; राजेन्द्र जब तक संभले तब तक तो

अन्नपूर्णा, चञ्चलसौदामिनी की भाँति; अन्तर्हित हो गई थी। राजेन्द्र का हृदय भी उल्लास और आदर से भर गया। माता के चरणों में प्रणाम करके उन्होंने कहा :—

"जय हो मातेश्वरी ! तुमने दया करके मुझे अमूल्यरत्न प्रदान किया है; तुम्हारे चरणों में मेरी यही प्रार्थना है कि तुम्हारा दिया हुआ यह पवित्र-रत्न नित्य मेरे हृदय और गृह को आलोकित करता रहे।"

विश्व की दृष्टि में अभी राजेन्द्र और अन्नपूर्णा का विवाह भले ही न हुआ हो; पर आज मन्दिर में वह शुभ-कृत्य सम्पन्न हो गया। माता के पवित्र मन्दिर में अन्नपूर्णा ने स्वयँ अपने कर-कमलों से राजेन्द्र को वर-माला पहिना दी; माता ने स्वयँ अपने आशीर्वाद के सहित उन दोनों को अविच्छिन्न-सूत्र में बाँध दिया। धर्म साक्षी था; और स्वयँ भागवती विधान ने वह मंगल-मुहूर्त उस पवित्रकृत्य के लिये निर्णीत किया था। आन्तरिक आनन्द की रागिनी उस समय गाई गई थी।

विशुद्ध प्रेम की ललितलीला ही इस स्वप्न सार-संसार की सार वस्तु है।

* * *

सहोदर और सहोदरा का वह मधुर मिलन कैसा आनन्दमय था ? दोनों के लोचनों से हर्ष की अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। दोनों ही स्नेह और आदर के साथ एक दूसरे को हृदय से लगाये हुये थे।

अन्नपूर्णा ने सहोदर के सुन्दर वदन-मण्डल की ओर दृष्टि-

पात करके देख लिया था कि अब उस पर शीतल शान्ति और मनोरम आनन्द की सम्मिलित धारा प्रवाहित हो रही है और भाई की वह गूढ़ अन्तर्व्यथा उसमें विलीन हो गई है। भाई का स्वास्थ्य भी अब अच्छा था; बाहर के स्वास्थ्यकर जल-वायु ने उनके शरीर को परिपुष्ट कर दिया था और उनके संतप्त पीले कपोलों पर फिर से पके हुये सेवों की अरुणिमा दृष्टिगोचर हो रही थी। सहोदर के इस सुन्दर परिवर्तन को देख कर सरला बालिका आनन्द से उत्फुल्ल हो गई; उसका निर्मल मन-मानस प्रेम और उल्लास की तरङ्ग-राशि से हिल्लोलित होने लगा। बसन्तकुमार ने भी सहोदरा के इस सरल आनन्द का मूल कारण जान लिया था; इसी लिये उनके मुख पर इस समय विमल हास्य-रेखा लीला करने लगी थी। बहिन की उत्फुल्लता सहोदर की परम परितुष्टि का कारण हो गई।

बसन्तकुमार ने अपने वेतन में से अब तक लगभग ५०००) रुपये बचाये थे; बम्बई में इन्हीं ५०००) का उन्होंने एक हीरक-हार ख़रीदा था। इसी समय, इस मधुरमिलन के समय, सहोदर ने धीरे धीरे उस रत्नहार को अन्नपूर्णा के गले में पहिना दिया। प्रसन्नचन्द्रमा की किरण-राशि के संस्पर्श से वह झलमला उठा और उससे भी अधिक देदीप्यमान हो उठा अन्नपूर्णा का मधुर सुन्दर मुख-मण्डल!

सहोदर और सहोदरा का सरल सुन्दर स्नेह सुरेन्द्र के प्रमोद-वन में प्रस्फुटित होने वाले प्रभात-पारिजात से भी अधिक सुरभित और सरस होता है।

यथा-समय पुण्य-मुहूर्त में राजेन्द्रकुमार और अन्नपूर्णा का शुभ पाणिग्रहण-संस्कार सम्पन्न हो गया। उस मधुर सरस सम्बन्ध से सभी सुखी हुये। बापूजी की मंगलमयी इच्छा आज पूरी हो गई और अन्नपूर्णा जैसी स्नेहमयी पुत्र-बधू पाकर वे परम परितुष्ट हुये; सुभद्रा के आनन्द का आज पारावार नहीं था; आज उस वीतराग सन्यासिनी के मनोहर मुख-मण्डल पर भी हास्यधारा आनन्द से नृत्य-लीला कर रही थी। और राजेन्द्र! राजेन्द्र ने तो मानों कौस्तुभ-मणि पायी थी, उसने तो मानों स्वर्ग की समस्त सुषमा, आनन्द की समस्तआभा, प्रेम की समस्त शोभा—साकार रूप में प्राप्त कर ली थी। उसके समान आज कौन सुखी था! बसन्त का हृदय भी आज परम सन्तोष और प्रचुर आनन्द से परिपूर्ण था; पिता की अन्तिम आज्ञा का पालन करने का ऐसा मधुर अवसर पाकर आज वे परम कृत-कृत्य हुये थे। माया-मोहसहित आनन्दस्वामी भी आज बालकों के समान हँस रहे थे; उनके उस तेजोमय मुख-मण्डल पर आज मूर्तिमान् प्रमोद की प्रभा परिलक्षित हो रही थी। उन्होंने स्वयँ राजेन्द्र के हाथों में अन्नपूर्णा का दान दिया था; उन्होंने आज अपने मृत-सखा का आसन-ग्रहण करके उनका कृत्य सम्पन्न किया था। और स्वयँ अन्नपूर्णा! अन्नपूर्णा राजेन्द्र के समान सुन्दर, सरल, एवँ स्नेहमय पति पाकर, देवी सुभद्रा के समान तपोमयी, तेजोमयी ननद पाकर एवँ मूर्तिमान् कल्याणकारी शङ्कर के समान श्वसुर को पाकर आमोद से उत्फुल्ल हो उठी। उसका वैवाहिक शृङ्गार इस आन्तरिक-उल्लास की उज्ज्वल

मधुर आभा में और भी विलसित हो उठा। दाम्पत्य जीवन के प्रारम्भिक पथ पर खड़े होकर राजेन्द्र और अन्नपूर्णा ने गुरुजनों के चरणों में प्रणाम किया, कुल-देवताओं की प्रार्थना की और महामाया की बड़े भक्तिभाव से पूजा की। गृहस्थ-मन्दिर के कुसुम-भूषित तोरण द्वार पर महामाया की विशुद्ध-विभूति की साकार प्रतिमा के समान देवी सुभद्रा ने उन दोनों का स्वागत किया।

आनन्द के प्रमोद-वन में राजेन्द्र और सुभद्रा, पारिजात-सौरभ से प्रमुदित होकर, कोकिल की दिव्य रागिनी से आह्लादित होकर और वसन्त-वायु के शीतल हिल्लोल से उल्लसित होकर, विहार करने लगे।

जीवन-गगन में प्रणय-चन्द्र समुदित होकर, आनन्द के शीतल आलोक-धारा से हृदय की पुण्य-भूमि को परिप्लावित करते हैं!

पचासवाँ परिच्छेद

मंगल-प्रभात

विशाल नील गगन-सरोवर में प्रस्फुटित श्वेत पद्म के समान चन्द्रदेव शोभायमान हैं। धारिणी देवी दूध की धारा में स्नान कर रही है। प्रस्फुटित बेले का सौरभ लेकर समीर मन्द-मन्थर गति से चल रहा है। प्रकृति इस समय प्रसन्न भाव से पल्लवों और पुष्पों की शय्या पर लेटी हुई है। दूर पर यमुना का चिर-संगीत सुनाई पड़ता है और धवल चन्द्रिका की धारा उसमें संयुक्त होकर गंगा-यमुना के मधुर-सम्मिलन का दृश्य समुपस्थित कर रही है। शीतलशान्ति का सरस-प्रभाव चारों ओर परिलक्षित हो रहा है। शान्ति के सजीव महाकल्प के समान इस समय के मधुर समारोह की मञ्जुल माधुरी प्रतीत हो रही है। ऐसे समय हम अपने पाठक-पाठिकाओं को बापूजी की कुटी के सामने बिछे हुये हरितदूब के मृदुल फ़र्श पर लिये चलते हैं। इस समय वहाँ पर बापूजी, गुरुदेव, राजेन्द्र और बसन्त बैठे हुये हैं। बापूजी और आनन्दस्वामी पास पास बैठे हैं और बसन्त और राजेन्द्र बैठे हैं एक दूसरे के आमने-सामने।

ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास-चारों आश्रम मानों वहाँ पर मूर्तिमान् स्वरूप में आसीन थे।

बापूजी ने सरस स्वर में कहा—"तब वसन्त! क्या तुम्हारा यह दृढ़ निश्चय है?"

वसन्त ने विनम्रभाव में कहा—"हाँ बापूजी! मैंने महा-सागर के दुकूल पर, देवता को साक्षी देकर यह संकल्प धारण किया है कि मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य्य को धारण करके समाज, धर्म और देश की सेवा में अपने इस जीवन को उत्सर्ग कर दूँगा। इसी लिये मैं आज आपके चरणों में यह प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे इस पवित्र व्रत को धारण करने की आज्ञा दीजिये। बापूजी! आपने पिता के समान मेरा लालन-पालन किया है; आपके मधुर-स्नेह की छाया में हम दोनों भाई-बहिन बड़े हुये हैं। आपकी आज्ञा के बिना हम कोई काम नहीं कर सकते हैं और करने पर भी उसमें सफल नहीं हो सकते। धर्म और शास्त्र की भी यही आज्ञा है।"

बापूजी—"गुरुदेव! आपकी क्या सम्मति है?"

गुरुदेव ने मुस्करा कर कहा—"मेरी सम्मति? मेरी सम्मति तो पहिले ही से वसन्त ने प्राप्त कर ली है। मैं किस प्रकार उसके इस पुण्य-संकल्प और दिव्य उत्साह के पथ पर बाधा बन कर खड़ा हो सकता हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि मैंने वसन्त को यह अच्छी तरह समझा दिया था कि इस दुर्गम-पथ पर अग्रसर होना सहज काम नहीं है। वसन्त भी इस पथ की कठिनाइयों से भली भाँति परिचित है। पर मैं देख रहा हूँ कि

इस पथ पर प्रवृत्त होने के लिये बसन्त के विशुद्ध हृदय में कोई दैवी-प्रेरणा हुई है और मुझे विश्वास है कि वह अपने जीवन को देश, धर्म और समाज की सेवा में हँसते हँसते उत्सर्ग कर सकता है। बसन्त का यह सत्य-सुन्दर संकल्प मेरी दृष्टि में उसके द्वारा पूर्ण होने वाली किसी भागवती इच्छा की प्रथम सूचना है।"

बापूजी—"तब बसन्त तुम आनन्दपूर्वक इस पुण्य-पथ पर प्रवृत्त हो सकते हो। मैं देख रहा हूँ कि बाल्यकाल ही से तुम्हारी प्रवृत्ति का झुकाव सेवा और साधना ही की ओर रहा है। अच्छी बात है, बसन्त, पर एक बात स्मरण रखना। संसार में तुम्हें पाप और पुण्य की अभिनय लीला दिखाई पड़ेगी; पर पाप का कुत्सित-स्वरूप देख कर तुम उसके प्रति घृणा मत करना; यह भी मत विस्मृत करना कि पाप बुरा है, पापी बुरा नहीं है। वहिष्कार और अनादर से पाप को दूर करने की असार-चेष्टा मत करना; असीम सहानुभूति और उदार आदर से पापी का संतप्त जीवन शीतल बनाना। बसन्त; मैं जानता हूँ, तुम पुण्य के कर्मक्षेत्र में अवतीर्ण हो रहे हो, तुम सेवा के सुमधुर मन्दिर में प्रविष्ट हो रहे हो, तुम, तुम साधना की पवित्र कुटी में प्रवेश कर रहे हो, पर फिर भी पिता का यह वात्सल्य भरा हृदय वियोग की भावना से व्याकुल हो रहा है। पर क्या किया जाय; कर्तव्य, स्नेह और आदर से ऊँचा है, एक दिन इसी कर्तव्य के परिपालन के लिये पिता की विलाप-ध्वनि को अमान्य करके भी मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान्

रामचन्द्र वनवास को पधारे थे। जाओ, बेटा! मेरा आशीर्वाद मंगल-कवच के समान तुम्हारी रक्षा करे ”

वसन्त के भी आँखों में आँसू आगये। बापूजी के लोचनों में तो बहुत पहिले से आँसू छलक रहे थे। वसन्त ने आगे बढ़कर बापूजी के श्री-चरणों में अपना मस्तक रख दिया; बापूजी ने आदर से उसे उठाकर हृदय से लगा लिया। थोड़ी देर के उपरान्त वसन्त विकम्पित कण्ठ से बोले—"बापूजी! विष के कठोर-कोलाहल में सेवा, की शीतल सुषुप्ति में तथा कर्तव्य के समस्त परिपालन में, कहीं पर भी किसी अवसर पर भी, मैं आप की इस दिव्य सौम्य मूर्ति को भूल नहीं सकता। कुछ भी हो; पर क्या मैं इस दिव्यपरिवार को विस्मृत कर सकता हूँ जिसने मुझ अनाथ को और मेरी अभागिनी बहिन को आदर और अनुराग सहित आश्रय दिया था। और जिस समय आप अपने इस पुत्र को स्मरण करेंगे, उसी समय वह सात समुद्र पार करके भी आपके श्री-चरणों में समुपस्थित होगा!"

राजेन्द्र अब तक चुप था, अब उसने व्यथित-स्वर में कहा पर क्या वसन्त भैया, आप का यह संकल्प रंगपुर ही में पूरा नहीं हो सकता है? क्या यहीं आप अपने पुण्यकृत्य का परिपालन नहीं कर सकते हैं?"

बसन्त ने कहा—"हो सकता है, भाई; पर मैं जानता हूँ कि यहाँ की सेवा करने के लिये तुम्हारे जैसा त्यागी युवक विद्यमान है। मैं चाहता हूँ कि तुमने समाज-सेवा की जो क्रियात्मक आयोजानायें की हैं, मैं उनका सुन्दर स्वरूप देश के

सामने समुपस्थित करूँ और देश के और और भागों में तुम्हारी आयोजनाओं का प्रचार करूँ। भाई! मेरी अन्तरात्मा बार बार यही प्रेरणा करती है कि मैं अपनी इस अभागी जन्म-भूमि की दारुण-दुर्दशा का सन्देश देश के युवक-मण्डल में उद्घोषित करके उन्हें देश की सेवा के लिये जागृत करूँ। उन्होंने एक दिन यमुना के निर्मल तट पर रात्रि की सरस शान्ति में कहा था कि शीघ्र ही देश में एक क्रान्ति होगी, जो अपनी अग्नि-ज्वाला में समस्त कुरीतियों को, समस्त निर्बलताओं को और समस्त कुसंस्कारों को भस्म कर देगी! मैं देश के उत्साही युवक-मण्डल को उसी क्रान्ति के लिये आह्वान करूँगा; देश के स्वतन्त्रता-यज्ञ के लिये मैं देश के उन्हीं वीर युवकों को आमन्त्रित करूँगा, इसी लिये मैं आज इस पुण्य-पथ पर जा रहा हूँ।

बसन्तकुमार की उल्लासमयी वाणी सुन कर राजेन्द्र विस्मय-विमुग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। उन्होंने देखा कि बसन्त के प्रदीप्त मुख-मण्डल पर दिव्य तेज, संकल्प एवं विशुद्ध त्याग का पवित्र-प्रकाश प्रतिविम्बित हो रहा है। राजेन्द्र ने फिर बसन्त को रोकने के लिये एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया; उसकी वाणी का वह उत्तर दे सकता था, पर उसके उस उल्लास प्रकाश के सामने वह एक बार ही निरुत्तर हो गया; उससे साधारण प्रतिवाद करते भी नहीं बना।

उसी समय बापूजी और ऋषिवर आनन्द स्वामी के लिये दूध और फल लिये हुए सरल-सुन्दरी अन्नपूर्णा ने वहाँ पर

प्रवेश किया। सब चीजें उन दोनों गुरुजनों के सामने रख कर वह भाई के पीछे जाकर खड़ी हो गई।

बापूजी ने पूछा—"बेटी! वसन्त के संकल्प की बात तूने सुनी है?"

अन्नपूर्णा—"हाँ, दादा ने पहिले ही इस सम्बन्ध में मुझ से बातचीत कर ली है।"

बापूजी ने हँसकर कहा—"वसन्त ने तो पहिले ही से सब को अपनी ओर मिला लिया था और तब उसने मुझ से आज्ञा माँगी थी। कुछ भी हो, पर आज-कल के बालक बड़े चतुर होते हैं। बेटी! वसन्त के इस विशुद्ध-संकल्प के सम्बन्ध में तेरी क्या सम्मति है?"

अन्नपूर्णा—"बापूजी! मेरी सम्मति ही क्या? जब पूज्य पिता ने और आराध्य आचार्य्य ने आशीर्वाद सहित आज्ञा दे दी है, तब यह निश्चय है कि इस पुण्य-पथ पर प्रवृत्त होने से दादा का कल्याण ही होगा। आप ही ने तो एक दिन मुझे उपदेश किया था कि धर्म के मंगल-मार्ग पर सहर्ष प्राणोत्सर्ग कर देना चाहिये और अपने एक मात्र पुत्र को भी, धर्म के पीछे जीवन का बलिदान करने से, कदापि नहीं रोकना चाहिये। इसी लिये, यदि देश के उद्धार-साधन में दादा अपने इन अमूल्य-प्राणों की भी आहुति दे देंगे, तो भी मैं एक बूँद आँसू नहीं बहाऊँगी और गर्व और उल्लास से दादा की जय-जय-कार कर उठूँगी। बापूजी! दादा सानन्द देश और समाज की सेवा के लिये यह पवित्र व्रत धारण कर सकते हैं।"

सब के सब प्रफुल्ल-सुन्दरी अन्नपूर्णा की ओर देखने लगे। उसकी तेजोमयी वाणी ने उन सब के हृदयों को दिव्य आवेश से भर दिया। उस समय अन्नपूर्णा के सरल-सुन्दर मुख-मण्डल पर प्रदीप्त तेज की शोभा विलसित हो रही थी। भागवती ज्योति की मूर्तिमती प्रतिमा के समान वह दैदीप्यमान हो उठी।

विशुद्ध-संकल्प साधना का प्रथम सोपान है।

* * *

उषा का स्निग्ध-प्रकाश विश्व की रंगभूमि में विस्तृत हो गया है। बासन्ती-समीर बेला और गुलाब को चूम रही है और वेलि-बालायें रात्रि की निद्रा के उपरान्त अब फिर से मृदु-मधुर हास्य करने लगी हैं। विहङ्ग-कुल प्रभाती गा रहे हैं और संसार के मन्दिर में परिश्रम का धीरे धीरे प्रवेश हो रहा है। ज़िमींदार के प्रमोद-वन में, मौलश्री के वृक्ष के नीचे, फूली हुई गुलाब-लता के पास, देवी सुभद्रा खड़ी हैं और उनके सामने विनम्र भाव से खड़े हैं सेवा-संकल्प धारी ब्रह्मचारी बसन्तकुमार!

बसन्तकुमार ने कहा—"बहिन! आज मैं अपनी इस पुण्य-यात्रा के अवसर पर तुम से क्षमा माँगने के लिये आया हूँ।"

देवी सुभद्रा ने कहा—"क्षमा! भाई बसन्त! तुमने तो मेरा कोई अपराध नहीं किया। तब तुम क्यों मुझ से क्षमा माँगते हो? तुम्हारे जैसी विमल आत्मा को भाई के स्वरूप में पाकर मैं तो परम-प्रसन्न हुई हूँ।"

बसन्त—"यह तुम्हारी महिमामयी उदारता है; मैं तो

तुम्हारे श्रीचरणों की रज के बराबर भी नहीं हूँ। बहिन! किया है—मैंने तुम्हारे प्रति घोर अपराध किया है। वह बड़ा भयंकर अपराध है—तुम उसे नहीं जानती हो! मुझ में इतना आत्म-बल नहीं है कि मैं उसे तुम्हारे सामने खोल कर कह सकूँ। पर देवि! अपनी इस मंगल-यात्रा पर जाने से पहिले मैं तुम्हारी क्षमा प्राप्त कर लेना चाहता हूँ। मैं सच कहता हूँ कि मेरी यह पुण्य-यात्रा तुम्हारी क्षमा के अभाव में कदापि सफल नहीं होगी। इसी लिये आज इस पुण्य मूहूर्त्त में, मैं हाथ जोड़ कर तुम्हारे श्री-चरणों में यह प्रार्थना करता हूँ कि तुम दया करके मुझे क्षमा कर दो। एक वार अपने मुख से कह दो 'भाई वसन्त तुम्हें क्षमा किया' और मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा।"

सजल-नेत्र होकर वसन्तकुमार ने देवी सुभद्रा के चरणों में घुटने टेक दिये। देवी सुभद्रा ने अत्यन्त आदर से उन्हें उठाया। उन्होंने मन्दस्मित के साथ मधुरवाणी में कहा—"यदि तुम्हारी यही इच्छा है, यदि तुम्हें इसी में शान्ति मिल सकती है, तो मैं कहती हूँ—जगन्माता को साक्षी बना कर कहती हूँ, कि मैं तुम्हारे अपराधों को क्षमा करती हूँ। तुम मेरे लिये वैसे ही हो जैसे राजेन्द्र। तुम्हारी प्रसन्नता के लिये तुम्हारी यह बहिन तुम्हें सब कुछ दे सकती है।"

वसन्त ने उल्लसित स्वर में कहा—"जय हो, देवि! आज तुमने मेरी इस पुण्यमयी यात्रा के पवित्र मुहूर्त में अपनी कल्याणमयी क्षमा प्रदान करके मेरे हृदय को शीतल शान्ति से परिपूर्ण कर दिया है। मेरे हृदय के आकाश में अशान्ति का जो

अवशिष्ट अन्धकार था वह भी आज दूर हो गया । इसी लिये आज मेरे जीवन का **मंगल-प्रभात** है और उसी समय मंगल-प्रभात की प्रथम प्रकाश-रेखा ने बाल-ब्रह्मचारी बसन्तकुमार के तेजोमय-ललाट का चुम्बन किया ।